प्रकाशक
विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कम्पनी
'विद्या-विहार', ४ बलबीर ऐवेन्यू
देहरादून

२. आर्य-संस्कृति के मूल-तत्व

लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धातालकार

[कुछ समालोचनाओं का सार]

"दैनिक-हिंदुस्तान" (१० जनवरी, १९५४)—

"हम तो यहाँ तक कहने का साहस रखते हैं कि भारत से बाहर जाने वाले सास्कृतिक-मिशन के प्रत्येक सदस्य को इस पुस्तक का अवलोकन अवश्य करना चाहिए। लेखक की विचार-शैली, प्रतिपादन-शक्ति, विषय-प्रवेश की सूक्ष्मता डा० राधाकृष्णन से टक्कर लेती है। आज के देश के अंग्रेजीमय वातावरण में यदि इस पुस्तक का अंग्रेजी मे अनुवाद करा दिया जाय, तो पुस्तक विशेष रूप से लोकप्रिय होगी।"

"नव-भारत टाइम्स" (१० दिसम्बर, १९५३)—

"लेखक ने आर्य-संस्कृति के अथाह-समुद्र में पैठ कर, उसका मन्थन करके उसमें छिपे रत्नो को बाहर लाकर रख दिया है। भाषा इतनी परिमार्जित है कि पढते ही बनती है। इस ग्रन्थ को अगर आर्य-संस्कृति का दर्शन-शास्त्र कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी। हिन्दी के संस्कृति-सबधी साहित्य में इस ग्रन्थ का स्थान अमर रहने वाला है।"

"जनसत्ता" (१० जनवरी, १९५४)—

"लेखक ने बडी परिमार्जित भाषा मे भारतीय-संस्कृति के उन मूल-तत्वो का वर्णन किया है जो इसके आधार हैं। उन्होंने एक दार्शनिक और वैज्ञानिक की तरह 'आर्य-संस्कृति' का विश्लेषण कर दिया है, और उसके प्रत्येक तत्व को पाठक के सामने निखार कर रख दिया है। 'संस्कृति' के विषय मे अनेक पुस्तकें हमने देखी है, परन्तु प्रो० सत्यव्रत जी की इस पुस्तक का स्थान अद्वितीय है। पुस्तक हिन्दी-साहित्य के मस्तक को ऊँचा करने वाली है। ऐसी पुस्तको से ही देश का स्थिर-साहित्य बनता है। प्रत्येक भारतीय को इस ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिए—यह हमारी हार्दिक इच्छा है।"

साप्ताहिक-हिंदुस्तान (३ जनवरी, १९५४)—

"हमारी सम्मति में आर्य-संस्कृति के सबध में आजतक जो पुस्तकें लिखी गई हैं, उनमें प्रो० सत्यव्रत जी की लिखी इस पुस्तक का बहुत ऊँचा स्थान है। समस्त पुस्तक गहन विषयो को सरल भाषा में व्यक्त किये गये विचारो से भरी पडी है। आर्य-संस्कृति के सबध में इस प्रकार की मार्मिक-विवेचना करने वाली यह पहली पुस्तक हमारे देखने मे आयी है। जो लोग 'आर्य-संस्कृति' के सबध में जानकारी हासिल करना चाहें, उनका ज्ञान इस पुस्तक को पढे बिना अधूरा रहेगा। प्रत्येक पुस्तकालय के लिए इस पुस्तक का सग्रह करना पुस्तकालय की शोभा को बढाएगा। पुस्तक सुन्दर कागज़ पर छपी है, बढिया जिल्द है, मोनो टाइप है, यह सब-कुछ देखते हुए मूल्य भी उचित ही है।"

सजिल्द पुस्तक का दाम चार रुपया।

३. ब्रह्मचर्य-संदेश

[पाँचवाँ संस्करण]

भूमिका लेखक—**स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज**

लेखक--प्रो० सत्यव्रत सिद्धातालकार

नवयुवको को 'ब्रह्मचर्य' जैसे गभीर विषय पर, सरल-सुन्दर भाषा में जो-कुछ कहा जा सकता है, इस पुस्तक में कह दिया गया है। स्वर्गवासी श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने इस पुस्तक की भूमिका लिखी थी। स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज भारत-भूमि के पहले व्यक्ति थे जिन्होने शिक्षा के क्षेत्र में 'ब्रह्मचर्य' को क्रियात्मक रूप देने के लिए गुरुकुल-कागडी की स्थापना की थी। ऐसे महा-पुरुष ने इस पुस्तक की भूमिका इसीलिए लिखी थी क्योकि उन्होने पुस्तक के महत्व को देख लिया था। इस पुस्तक ने हिन्दी-साहित्य में अमर स्थान बना लिया है। पुस्तक का यह पाँचवाँ सस्करण है। पुस्तक की श्रेष्ठता इसी से सिद्ध है कि इसके गुजराती भाषा मे दो स्वतत्र अनुवाद हो चुके हैं। कुछ समालोचनाओ का सार निम्न है —

खडवा का 'कर्मवीर' लिखता है—"इस विषय पर हिन्दी मे सबसे अधिक प्रामाणिक, सब से अधिक खोजपूर्ण और सबसे अधिक ज्ञातव्य बातो से भरी हुई यही पुस्तक देखने मे आयी है।"

दिल्ली का 'वीर अर्जुन' लिखता है—"हम चाहते हैं कि प्रत्येक नव-युवक के हाथ मे यह पुस्तक हो।"

लखनऊ की 'माधुरी' लिखती है—"भाषा परिमार्जित तथा वर्णन-शैली एकदम अछूती है। मालूम होता है, कोई विज्ञान-वेत्ता सामारिक तत्व-विवेचना पर व्याख्यान दे रहा है। आजकल जितनी पुस्तकें इस विषय पर निकली हैं उन सब में यह बढिया है।"

कपड़े की सुन्दर जिल्द। दाम साढे चार रुपया।

४. शिक्षा-शास्त्र

भूमिका लेखक—**श्री डा० सम्पूर्णानन्द जी**

पुस्तक लेखक—प्रो० सत्यव्रत तथा चन्द्रावती लखनपाल

एम०ए०, बी०टी० (एम०पी०)

'शिक्षा' के सबध मे जितने आधुनिक विचार है, वे सब इस ग्रन्थ में थोडे-से में, अत्यन्त सरल तथा रोचक भाषा मे दे दिये गए हैं। शिक्षा के सिद्धान्त (Principles of Education), शिक्षा की विधि (Method of Education), शिक्षा का विधान (Organisation of Education) तथा भारतीय-शिक्षा का आदि-काल से आज तक का इतिहास (History of Indian Education) —ये सब विषय एक स्थान पर दे दिये गए है। इस पुस्तक की उपयोगिता इसी बात से स्पष्ट है कि शिक्षा-सस्थाओ में जहाँ-जहाँ 'शिक्षा' विषय पढाया जाता है, वहाँ-वहाँ इस पुस्तक का सर्वोत्कृष्ट स्थान है।

सजिल्द पुस्तक का दाम चार रुपया।

इस पुस्तक पर उत्तर-प्रदेश सरकार ने १०००) रु० पारितोषिक दिया है

५. समाज-शास्त्र के मूल-तत्व

[नवीन सस्करण]

पुस्तक लेखक—प्रो० सत्यव्रत जी सिद्धातालकार

समाज-शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् डा० रामनारायण सक्सेना इस पुस्तक के विषय में लिखते हैं —"इस पुस्तक मे 'समाज-शास्त्र' के सभी विषयो का सुन्दर तथा सरल विवेचन दिया गया है। वैसे तो पुस्तक 'समाज-शास्त्र' से परिचय प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले सभी पाठको के लिए उपयोगी है, परन्तु विश्व-विद्यालयो के उन विद्यार्थियो के लिए तो, जो 'समाज-शास्त्र' का अध्ययन कर रहे है, यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी, क्योकि इसमे बी० ए० तथा एम० ए० की पाठविधि के इस क्षेत्र के किसी विषय को छोडा नही गया, हर विषय की गहन तथा विशद विवेचना की गई है। 'समाज-शास्त्र' के सभी विश्व-विद्यालयो के विद्यार्थियो के लिए यह पुस्तक वडी आसानी से 'पाठ्य-पुस्तक' का काम दे सकेगी।"

आचार्य जुगलकिशोर जी जब लखनऊ विश्वविद्यालय के वाईस-चासलर थे तब उन्होने इस पुस्तक के विषय में लिखा था —"यद्यपि 'समाज-शास्त्र' पर अग्रजी में वडे-वडे विद्वानो के अनेक ग्रन्थ विद्यमान है, तथापि हिन्दी मे इस विषय पर प्रो० सत्यव्रत जी की पुस्तक के समान विशद विवेचन करने वाली तथा इसके समान उच्च-स्तर की दूसरी कोई पुस्तक नही है। यह पुस्तक 'समाज-शास्त्र' के हर पहलू पर वडी सुन्दर, सरल भाषा मे तथा उतनी ही गहराई मे जाकर प्रकाश डालती है। इतनी गहराई में जाते हुए भी विषय का प्रतिपादन इस ढग से किया गया है कि साधारण पाठक भी विषय को आसानी से समझ लेता है। निस्सन्देह यह पुस्तक सामाजिक-विज्ञानो की वृद्धि मे एक ठोस देन है। मुझे पूरा विश्वास है कि हिन्दी-जगत् मे इस पुस्तक का हार्दिक स्वागत किया जायगा और अबतक इस विषय को हिन्दी मे न पढा सकने की जो शिकायत थी वह इस पुस्तक से एकदम दूर हो जायगी।"

उत्तर-प्रदेश सरकार ने इस पुस्तक को अपने विषय की अद्वितीय पुस्तक होने के कारण लेखक को इस पुस्तक पर एक हजार रुपया पारितोषिक दिया है।

पुस्तक का प्रथम सस्करण समाप्त होने के बाद अब इसका द्वितीय-सस्करण निकला है जिसमे पहले सस्करण की अपेक्षा १०० पृष्ठ का मैटर वढा दिया गया है। इस द्वितीय-सस्करण के विषय में निस्सन्देह कहा जा सकता है—'यदन्यत्र तदिहास्ति यदिहास्ति न तत्क्वचित्'—'जो-कुछ अन्य कही नही मिलेगा वह सब तो इस पुस्तक मे मिलेगा ही, परन्तु जो इसमे मिलेगा वह कही नही मिलेगा।'

इतना मैटर वढ जाने पर भी ६०० पृष्ठो की कपडे की सजिल्द पुस्तक का दाम वही दस रुपया रखा गया है।

इस पुस्तक पर उत्तर-प्रदेश सरकार ने ८००) परितोषिक दिया है

६. समाज-कल्याण तथा सुरक्षा

(SOCIAL-WELFARE AND SECURITY)

लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धातालकार

अपने ढग की यह बिल्कुल नई पुस्तक है। इस विषय पर अभी तक न के बराबर लिखा गया है। इस पुस्तक की विषय-सूची देखने से स्पष्ट हो जायगा कि सामाजिक कार्यकर्ताओ के लिए यह एक प्रामाणिक पुस्तक का काम कर सकती है। बी० ए० तथा एम० ए० के विद्यार्थियो के लिए अबतक सब विषयो का विस्तार मे वर्णन करने वाली अभी तक कोई पुस्तक नही थी। इस पुस्तक ने इस कमी को पूरा कर दिया है।

५५० पृष्ठो की कपडे की सजिल्द पुस्तक का मूल्य केवल दस रुपया है।

७. समाज-शास्त्र तथा बाल-कल्याण

(SOCIOLOGY AND CHILD-WELFARE)

लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धातालकार

कन्याओ की पाठशालाओ में इन्टरमीजियेट में गृह-विज्ञान (Home Science) विषय पढाया जाता है। गृह-विज्ञान के अन्दर 'समाज-शास्त्र तथा बाल-कल्याण'—इस नाम से एक विषय रखा हुआ है जिस पर अभी तक कोई प्रामाणिक पुस्तक नही थी। प्रो० सत्यव्रत जी की इस पुस्तक ने यह समस्या पूर्ण रूप से हल कर दी है। पुस्तक सजिल्द है और दाम चार रुपया है।

८. प्रारम्भिक-समाजशास्त्र

(ELEMENTS OF SOCIOLOGY)

ले०—प्रो० सत्यव्रत सिद्धातालकार

१९५८ से इन्टरमीजियेट मे भी 'समाजशास्त्र' का विषय पढाया जाने लगा है। इस सम्बन्ध मे समाजशास्त्र के माने हुए विद्वान् प्रो० सत्यव्रत जी ने हाल ही में दो पुस्तकें लिखी हैं जिनके नाम "प्रारम्भिक-समाजशास्त्र" तथा "भारतीय-सामाजिक-सगठन" हैं। ये दोनो पुस्तकें समाजशास्त्र के प्रारम्भिक ज्ञान के लिए अद्वितीय हैं और बोर्ड द्वारा इन्टरमीजियेट के लिए स्वीकृत हैं। "प्रारभिक समाजशास्त्र" इन्टर की सोशियोलोजी के प्रथम पत्र के लिये निर्धारित की गई है। इसका दाम तीन रुपया है।

९. भारतीय-सामाजिक-संगठन

(INDIAN SOCIAL ORGANISATION)

लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धातालंकार

इन्टरमीजियेट में सोशियोलोजी के दो प्रश्न-पत्र रहेंगे। पहला प्रश्न-पत्र तो 'प्रारम्भिक-समाज-शास्त्र' का होगा, दूसरा प्रश्न-पत्र 'भारतीय-सामाजिक-सगठन' पर होगा। हमारी पुस्तक 'भारतीय-सामाजिक-सगठन' में इटरमीजियेट के द्वितीय-पत्र के सब विषयो पर विस्तारपूर्वक बहुत ही सरल तथा रोचक भाषा में प्रकाश डाला गया है। इन्टरमीजियेट के सोशियोलोजी के विद्यार्थियो के लिये यह पुस्तक बोर्ड द्वारा स्वीकृत है। दाम दो रुपया है।

इस पुस्तक पर पाच सौ रुपया सेकसरिया-पारितोषिक मिला है

१०. स्त्रियों की स्थिति

भूमिका लेखिका—श्रीमती लीलावती मुन्शी, एम० पी०

लेखिका–श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल एम०ए०, बी०टी० (एम० पी०)

इस पुस्तक की लेखिका को इस पुस्तक के लिखने पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, अलाहाबाद ने उस वर्ष की सर्वोत्तम लेखिका घोषित कर पाँच सौ रुपए का 'सेक्सरिया पुरस्कार' दिया था। इस पुस्तक मे स्त्रियों सबधी प्रश्नो पर बिल्कुल मौलिक ढग से विचार किया गया है। पुस्तक की विचार-धारा मे एक प्रवाह है, जो साहित्यिक-पुस्तको में कम देखने में आता है। यह पुस्तक पिता अपनी पुत्री को, पति अपनी पत्नी को और भाई अपनी बहिन को भेंट दे, तो इससे बढकर दूसरी भेट नही हो सकती। यह पुस्तक का नवीन सस्करण है जिसमे स्त्रियो से सबध रखने वाले अनेक नवीन विषयो का समावेश किया गया है।

कपडे की सजिल्द पुस्तक का दाम चार रुपया ।

मगलाप्रसाद-पारितोषिक-प्राप्त ग्रन्थ

११. शिक्षा-मनोविज्ञान

लेखिका–श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल एम०ए०, बी०टी० (एम०पी०)

'शिक्षा-मनोविज्ञान' पर यह हिन्दी में सर्वोत्तम पुस्तक है। इस पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने १२०० (बारह सौ) रुपए का मगलाप्रसाद-पारितोषिक देकर लेखिका को सम्मानित किया था।

काशी-विश्वविद्यालय के ट्रेनिग-कालेज के उस समय के प्रिन्सिपल, जिस समय यह पुस्तक लिखी गई थी, रायबहादुर प० लज्जाशकर झा, आई० ई० एम० ने इस पुस्तक पर निम्न सम्मति प्रकट की थी —

"मुझे शिक्षा-मनोविज्ञान विषय से विशेष प्रेम है, और मुझे इस विषय की अनेक पुस्तकें देखने का अवसर मिला है। हिन्दी में इस विषय पर अभी तीन-चार ही पुस्तकें छपी है, वे भी देखी है, परन्तु चद्रावती जी की पुस्तक में निम्न गुण मुझे बहुत अधिक पसन्द आये —

१ चन्द्रावती जी ने विषय का बहुत ही अच्छा अध्ययन कर लिया है, और उनकी बुद्धि कुशाग्र और निर्मल होने के कारण उन्होंने विषय की बारीकियो को भी खूब समझा है।

२ विषय बहुत ही रोचक रूप से सामने रखा गया है, शब्दाडबर नही है। भाषा सरल तथा शुद्ध है। पारिभाषिक शब्द मन को एकदम ठीक जॅचते है।

३ उदाहरण अपने अनुभव से दिये हैं।

४ मनोविज्ञान जटिल विषय है, परन्तु लेखिका ने ट्रेनिग कालेज की पद्धतियो का अनुकरण करके विषय अत्यन्त रोचक तथा स्पष्ट बना दिया है।

चन्द्रावती जी ने ऐसी उत्तम पुस्तक लिख कर हिन्दी-साहित्य की भारी सेवा की है, और ट्रेनिग कालेज को तो वरतंतु के शिष्य के समान १४ करोड़ की दक्षिणा चुका दी है।" पुस्तक सचित्र है, सजिल्द है, दाम पाँच रुपया है।

१२. मानव-शास्त्र

मूल्य साढे बारह रुपया।

विषय-सूची

भूमिका

'मानव-शास्त्र' का अर्थ है—मनुष्य से सबंध रखने वाला शास्त्र। इसके मुख्य तौर पर दो भाग हैं—'भौतिक मानव-शास्त्र' तथा 'सांस्कृतिक मानव-शास्त्र'। 'भौतिक मानव-शास्त्र' मे मनुष्य के भौतिक पहलू का अध्ययन किया जाता है। उदाहरणार्थ, मनुष्य का शरीर कब बना, कैसे बना, उसके रुधिर मे कौन-से तत्व है जो दूसरे प्राणियो मे नही पाये जाते, कौन-से शारीरिक गुण सन्तति मे सक्रान्त होते है, कौन-से नही होते, पर्यावरण का मनुष्य की शारीरिक भिन्नताओ पर क्या प्रभाव पडता है, एक ही रुधिर के लोगो के पारस्परिक सबंध मे प्रजातियो मे क्या भेद पड जाता है, प्रजातीय-भेद क्या है, भिन्न-भिन्न प्रजातियो के सम्मिश्रण से उनमे शारीरिक तथा मानसिक क्या-क्या भेद आ जाते हैं—इन सब बातो का अध्ययन 'भौतिक मानव-शास्त्र' के अन्तर्गत है। 'सांस्कृतिक मानव-शास्त्र' मे मनुष्य के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा धार्मिक सगठनो का अध्ययन किया जाता है। उदाहरणार्थ, परिवार की रचना क्या है, मनुष्य ने अपनी आर्थिक समस्या को हल करने के लिए सृष्टि के प्रारभ से लेकर अब तक क्या-क्या उपकरण बनाये, राजा तथा प्रजा का भाव कब और कैसे पैदा हुआ, ईश्वर की पूजा या जादू के विचार का समाज मे कैसे विकास हुआ—इन तथा ऐसी बातो का अध्ययन 'सांस्कृतिक मानव-शास्त्र' के अन्तर्गत है। 'भौतिक' तथा 'सांस्कृतिक' दोनो प्रकार के मानव-शास्त्र का अध्ययन वर्तमान तथा प्राचीन दोनो कालो की दृष्टि से हो सकता है। 'मानव-शास्त्र' का विज्ञान के रूप मे प्रयोग मुख्य तौर पर प्राचीन-मानव के 'भौतिक' तथा 'सांस्कृतिक' अध्ययन के लिए किया जाता है। हम भी इस शब्द का इसी अर्थ मे प्रयोग करेंगे और इस ग्रन्थ मे प्राचीन-मानव के 'भौतिक' तथा 'सांस्कृतिक' इतिहास का अध्ययन करेंगे।

मनुष्य के विकास आदि समस्याओ पर अटकलें तो देर से लडती चली आ रही हैं, परन्तु मानव-शास्त्र का विज्ञान के तौर पर अध्ययन लगभग पिछले सौ वर्ष से होने लगा है। पहले तो मानव-शास्त्र का रूप था यात्रियो द्वारा जगली जन-जातियो के अद्‌भुत रीति-रिवाजो के किस्से-कहानियो की चर्चा करना, परन्तु १८५९ मे जब डार्विन ने अपनी विकासवादी विचार-धारा को ससार के सामने रखा, तब से मानव-शास्त्र को भी विचार करने के लिए एक नवीन पृष्ठ-भूमि का सहारा मिल गया। विकासवाद की कल्पना के एक निश्चित विचार-धारा का रूप ले लेने के बाद मे आदिवासियो के सबंध मे यात्रियो के वर्णनो को विकासवादी दृष्टिकोण से देखा जाने लगा। इस काल मे मानव-शास्त्र पर जो-कुछ लिखा-पढा जाता था, उसके आधार मे विकासवाद की विचार-धारा काम

कर रही होती थी। यह मान लिया जाता था कि मनुष्य की 'भौतिक' तथा 'सांस्कृतिक' प्रगति नीचे से ऊँची तरफ, सरल से विषम की तरफ, अविकसित से विकसित की तरफ जा रही है। मानव-शास्त्री घर में बैठे-बैठे यात्रियों के वर्णनों के आधार पर आदि-मानव के परिवार, आर्थिक-व्यवस्था, राजनैतिक तथा धार्मिक संगठन आदि के संबंध में विकासवादी दृष्टिकोण को आधार में रख कर एक ढाँचा खड़ा कर देते थे, जिन जन-जातियों के विषय में यह ढाँचा खड़ा किया जाता था उनके बीच में जाकर ये विद्वान् किसी बात को देखने-अजमाने का प्रयत्न नहीं करते थे। इनकी मानव-शास्त्रीय विचार-शृंखला का आधार विकासवाद था, वे जन-जातियाँ नहीं थीं, जिन्हें, असल में, मानव-शास्त्रीय विचार-शृंखला का आधार होना चाहिए था।

मानव-शास्त्र के अध्ययन की इस कमी को अमरीका में श्री बोआस (Boas) तथा इंगलैण्ड में श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने अनुभव किया। इन दोनों मानव-शास्त्रियों ने मानव-शास्त्र को एक नई दिशा दी। इनका कहना था कि हमें घर में आराम कुर्सियों पर बैठे-बैठे, विकासवाद को वेद-वाक्य मान कर नहीं चलना। मानव-शास्त्र की प्रयोगशाला आजकल की जीवित जन-जातियाँ हैं। उन जन-जातियों में जाकर, उनमें रहकर, उनके साथ एक होकर उनके रीति-रिवाजों, उनकी धारणाओं, उनके पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा धार्मिक संगठनों का अध्ययन करने से ही हम उनके वास्तविक रूप को समझ सकते हैं। इस प्रकार के मानव-शास्त्र के अध्ययन को उन्होंने 'क्षेत्र-कार्य' (Field-work) का नाम दिया। अमरीका में बोआस ने क्रोबर, लोई, हरस्कोविट्स आदि को 'क्षेत्र-कार्य' में दीक्षित किया और इन लोगों ने भिन्न-भिन्न जन-जातियों में जाकर उनके जीवन, रीति-रिवाजों, प्रथाओं आदि का अध्ययन कर मानव-शास्त्र को अपना ऋणी बनाया। इसी प्रकार इंगलैण्ड के मैलिनोवस्की ने १९१४ से १९१८ तक मैलेनेशिया में ट्रोब्रियेंड द्वीप-वासियों के बीच रह कर उनके जीवन का अध्ययन किया और 'क्षेत्र-कार्य' करने वाले अपने-सरीखे विद्वानों की परंपरा को जन्म दिया।

कुर्सी पर बैठे-बैठे कल्पनाएँ लड़ाने वाले विकासवादियों तथा क्षेत्र-कार्य करने वाले इन मानव-शास्त्रियों में विचारों की अनेक टक्करें होती रहीं, जिनका वर्णन हम पुस्तक में जगह-जगह करेंगे, परन्तु 'क्षेत्र-कार्य' करने का एक प्रत्यक्ष फल राजनैतिक-क्षेत्र में दीख पड़ा। कुर्सी पर बैठ कर कल्पनाएँ लड़ाने वालों को तो किसी व्यक्ति के संपर्क में आने की आवश्यकता नहीं थी, परन्तु 'क्षेत्र-कार्य' करने वाले जन-जातियों के संपर्क में आने लगे। इस संपर्क से सभ्य-असभ्य, शिक्षित-अशिक्षित को एक-दूसरे के निकट आने का अवसर मिला। संसार के सब भागों में असभ्य तथा अशिक्षित मानव-जातियाँ मौजूद हैं, उन पर सभ्य तथा शिक्षित जातियों का राज है, इस राज से अनेक समस्याएँ पैदा हो जाती हैं, इन समस्याओं के पैदा होने का मुख्य कारण होता है अशिक्षित जन-जातियों के रीति-रिवाजों, उनकी प्रथाओं आदि से परिचित न होना। 'क्षेत्र-कार्य' करने वालों

न इस विचार को जन्म दिया कि अगर इन जन-जातियो के रीति-रिवाजो, प्रथाओ आदि के सबध में जानकारी रखी जाय, तो इनके सबध की अनेक समस्याएँ, जो बिना मतलब के उठ खडी होती है, आसानी से सुलझाई जा सकती है। इस दृष्टि मे राजनैतिक-क्षेत्र में मानव-शास्त्र के अध्ययन को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होने लगा, खास कर उन देशो में जिनमे 'साम्राज्यवाद' का बोलवाला था क्योकि उन्हें दूसरे देशो के साथ ही नही उलझना पडता था, उन देशो की जन-जातियो के साथ उलझने से पैदा होने वाली समस्याओ को भी सुलझाना पडता था। ऐसे देशो में भारत भी एक ऐसा देश था जिसमें विदेशी शासन था। इन शासको के लिए यहाँ की जन-जातियो का अध्ययन इसलिए आवश्यक हो गया जिसमे इनके सबध की शासन की गुत्थियो को सुलझाया जा सके।

इसी उद्देश्य को सम्मुख रख कर लार्ड कर्जन के समय १९०५ में सर हर्बर्ट रिज़्ले की अध्यक्षता में भारत में 'प्रजातीय-पर्यवेक्षण-विभाग' (Ethnographical Survey Department) खुला जिसका काम देश के भिन्न-भिन्न भागो की प्रजातियो का अध्ययन कर उनकी प्रथाओ, उनके रीति-रिवाज़ो, उनके धर्म आदि का अन्वेषण करना था। यह विभाग कुछ दिनो तक चल कर बन्द हो गया। १९१६ में जब भारत के पशुओ के पर्यवेक्षण के लिए नया विभाग खुलने लगा तब डा० नेलसन अनेन्डेल ने भारतीय प्रजातियो के पर्यवेक्षण के विभाग को फिर-से खोलने पर बल दिया। उस समय से मानव-शास्त्र को सरकारी तौर पर मान्यता प्राप्त होने लगी।

सरकारी तौर पर मान्यता प्राप्त होने के साथ-साथ इस समय अन्य सस्थाओ का भी मानव-शास्त्र की तरफ ध्यान खिचने लगा। १९२१ में श्री आशुतोष मुकर्जी के उद्योग से कलकत्ता विश्व-विद्यालय ने इस विषय को पाठ्य-विषयो मे सम्मिलित किया। १९२१ में ही राँची के एस० सी० रॉय महोदय ने 'मैन इन इडिया' नाम का एक त्रैमासिक पत्र जारी किया जिसका काम विशेष तौर पर आदिवासियो की चर्चा करना था। इसी समय बगाल की 'एशियाटिक सोसायटी' के प्रकाशनो में भी जन-जातियो के सबध में कई खोजपूर्ण लेख प्रकाशित हुए।

१९४५ में डा० बी० एस० गुहा तथा डा० सेमऊर सेवेल को भारत-सरकार ने मानव-शास्त्र के एक पृथक् विभाग की योजना बना कर सरकार के सम्मुख उपस्थित करने का आदेश दिया। इस योजना के अनुसार १९४६ में भारत-सरकार की तरफ से 'मानव-शास्त्र-विभाग' खोल दिया गया जिसके डायरेक्टर का काम श्री गुहा के सुपुर्द हुआ। इस विभाग के आधीन पांच वर्ष की योजना बनाई गई और पांच वर्षो मे खर्च करने के लिए ८ लाख रुपया इस विभाग को दिया गया। इस समय मानव-शास्त्र का पृथक् विभाग भारत सरकार के केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय के आधीन काम कर रहा है। इस विभाग में अनुसधान के लिए आठ विभाग खोले गये है। वे आठ विभाग है—'सामाजिक मानवशास्त्र-

विभाग', 'सामाजिक मनोविज्ञान-विभाग', 'भाषा-विभाग', 'मानव जीव-शास्त्र तथा एक्स-रे विभाग', 'नृ-वंश-विभाग', 'जीव-रसायन-विभाग', 'तुलनात्मक आकार विज्ञान विभाग' (जिसमे शरीर रचना और रीढदार जन्तु-शास्त्र सम्मिलित है) तथा 'देह-विज्ञान-विभाग'।

मानव-शास्त्र के उक्त आठो विभागो का अध्ययन करने के लिए भारत-सरकार की तरफ से तीन अनुसधान-केन्द्र खुले हुए हैं। ये अनुसधान-केन्द्र शिलाग, नागपुर तथा पोर्टब्लेयर (अडमान तथा निकोबार द्वीप-समूह) मे स्थापित है और एक केन्द्र दक्षिण भारत मे खोले जाने की योजना विचाराधीन है। जहाँ-जहाँ आदिवासियो की सख्या ज्यादा है, वहाँ-वहाँ उक्त प्रकार के केन्द्र खोल कर भारत सरकार मानव-शास्त्र के कार्य को 'क्षेत्र-कार्य' (Field Work) की पद्धति के अनुसार आगे बढाना चाहती है।

सरकारी तौर पर मानव-शास्त्र के अध्ययन के साथ-साथ भारत के विश्व-विद्यालयो ने भी इस विषय की तरफ विशेष ध्यान देना शुरु कर दिया है। १९२१ मे कलकत्ता विश्वविद्यालय मे मानव-शास्त्र के पढाये जाने की बात हम ऊपर कह आये है। १९४७ मे भारत-सरकार के शिक्षा-मत्रालय की प्रेरणा से दिल्ली-विश्वविद्यालय के उस समय के वाइस चान्सलर सर मॉरिस ग्वायर ने इस विषय को दिल्ली-विश्वविद्यालय मे जारी किया। इस सस्था के अध्यापको तथा छात्रो ने उत्तर-प्रदेश के देहरादून जिले के जौनसार-बावर तथा टिहरी-गढवाल की जन-जातियो मे जाकर 'क्षेत्र-कार्य' किया। १९५४ मे इन्ही लोगो ने कुल्लू की घाटी की कनेत जन-जाति का भी अध्ययन किया। इसी साल इन लोगो ने प्लानिंग-कमीशन के आग्रह पर इस बात की पडताल की कि अपराधी जन-जातियो के कानून (Criminal Tribes Act) के रद्द किये जाने के बाद से दिल्ली की सॉसी नाम की अपराधी जन-जाति का किस हद तक पुनर्वास हुआ और किस हद तक नही हुआ।

१९५० मे डा० मजमदार की देख-रेख मे लखनऊ विश्वविद्यालय ने भी 'मानव-शास्त्र' का अध्यापन शुरू कर दिया। इनकी मडली ने भी कानपुर तथा देहरादून के जौनसार-बावर मे 'क्षेत्र-कार्य' किया। इसके बाद से तो अनेक विश्व-विद्यालयो ने इस शास्त्र का अध्यापन जारी कर दिया है। कलकत्ता, दिल्ली तथा लखनऊ के अतिरिक्त आगरा, सागर, बिहार, बडौदा, गौहाटी तथा हैदराबाद—इन स्थानो के विश्वविद्यालयो मे अब 'मानव-शास्त्र' एक मुख्य विषय के तौर पर पढाया जाने लगा है।

जब से भारत स्वतत्र हुआ है तब से भारत-सरकार तथा विश्वविद्यालयो के साथ-साथ अन्य क्षेत्रो मे भी मानव-शास्त्र के प्रति दिलचस्पी बढती चली जा रही है। इस सबध मे कई पत्र भी प्रकाशित हो रहे है। लखनऊ विश्वविद्यालय से डा० मजूमदार की देख-रेख मे अग्रेजी की एक त्रैमासिक पत्रिका १९५० से 'ईस्टर्न ऐन्थ्रोपौलोजिस्ट' नाम से निकल रही है। दिल्ली मे आदिम-जातियो की

ममस्याओं को मुख्य विषय बनाकर एक 'आदिम-जाति-सेवा-सघ' स्थापित है जिनके प्रधान भारत के राष्ट्रपति तथा उप-प्रधान ट्राइबल कमिश्नर महोदय हैं। इस सघ की तरफ से 'वन्य-जाति' नाम की एक त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित हो रही है। इन दोनो पत्रिकाओं के अतिरिक्त दिल्ली-विश्वविद्यालय के मानव-शास्त्र-विभाग की तरफ से एक द्वि-वार्षिक पत्रिका प्रकाशित हो रही है, जिसका नाम है—'ऐन्थ्रोपौलोजिस्ट'। इन पत्रो में भी मानव-शास्त्र के भिन्न-भिन्न पहलुओं तथा भिन्न-भिन्न क्षेत्रो में जो लोग कार्य कर रहे हैं, उनकी गति-विधियों पर प्रकाश डाला जाता है।

जैसा हमने ऊपर कहा, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से भारत-सरकार ने 'मानव-शास्त्र' पर विशेष ध्यान देना शुरू किया है। विदेशो के भी कई मानव-शास्त्री इस देश की जन-जातियो के अध्ययन के लिए आने लगे हैं। इस अर्से मे जो लोग आये हैं, उनमे से मुख्य-मुख्य मानव-शास्त्री हैं—ग्रीस के प्रिंस पीटर, इगलैण्ड के हैमनडोर्फ तथा ड्यूमॉट, अमरीका के ओस्कर ल्यूइस तथा मौरिस ओपलर। इन सब मानवशास्त्रियो को भारत-सरकार का पूरा-पूरा सहयोग प्राप्त रहा है।

ऊपर हमने जो-कुछ लिखा उससे स्पष्ट है कि आज के युग में मानव-शास्त्र के अध्ययन की तरफ सरकार का, विश्वविद्यालयो का तथा जनता का ध्यान दिनों-दिन अधिकाधिक आकर्षित हो रहा है। ऐसी हालत में इस विषय पर हिन्दी में उच्च-कोटि के ग्रन्थो का होना भी आवश्यक है। यही सब-कुछ सोच कर हमने 'मानव-शास्त्र' पर यह ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ के लिखने में इस विषय के प्राय सभी हिन्दी-अग्रेजी ग्रन्थो का सहारा लिया गया है, इसलिए एतद्विषयक सब ग्रन्थो का हम एक-साथ आभार स्वीकार करते हैं। हमे पूरी आशा है कि 'मानव-शास्त्र' के विषय में जो जिज्ञासा दिनोदिन बढ रही है, उसे यह ग्रन्थ कुछ अश तक पूरा करेगा।

विद्या-विहार
बलवीर रोड,
देहरादून

—सत्यव्रत

मानव-शास्त्र

१

मानव-शास्त्र का विषय-क्षेत्र

(SUBJECT-MATTER AND FIELD OF ANTHROPOLOGY)

इस पुस्तक का मुख्य विषय 'मानव-शास्त्र' ([1]Anthropology) है। विषय को ठीक तौर से समझने के लिए यह उचित जान पड़ता है कि हम 'मानव-शास्त्र' की जरूरी बातो पर प्रकाश डालें। इस अध्याय में उन्हीं बातों पर हम प्रकाश डालेंगे।

१ 'मानव-शास्त्र' की व्याख्या

'मानव-शास्त्र' (Anthropology) क्या है ? जेकब्स तथा स्टर्न ने 'मानव-शास्त्र' की निम्न व्याख्या की है —

"मानव-समुदाय का सृष्टि के प्रारभ से लेकर अब तक जो शारीरिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक विकास हुआ है, उसका वैज्ञानिक अध्ययन मानव-शास्त्र कहाता है।"[2]

मानव-समुदाय के शारीरिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास का वैज्ञानिक अध्ययन कैसे किया जाता है ? गप-शप के लिए तो लोग बैठ कर जंगली तथा सभ्य जातियो के रीति-रिवाजों पर टीका-टिप्पणी किया ही करते हैं। इसी कारण पहले-पहल अरस्तु ने 'एन्थ्रोपोलोजिस्ट'—यह शब्द गढा था, इसका उस समय अभिप्राय था मनुष्य का मनुष्य के विषय में गप-शप लडाना। यह गप-शप, यह टीका-टिप्पणी वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती। वैज्ञानिक-दृष्टि से मानव-समुदाय के शारीरिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक विकास का अध्ययन करने के लिए 'मानव-शास्त्र' को कुछ क्षेत्रों में विभक्त किया गया है। जिन क्षेत्रो में इसे विभक्त किया गया है, वे निम्न हैं —

---

1 Anthropology = Greek word *Anthropos*, a man, and *Logos*, discourse

2 "Anthropology is the scientific study of the physical, social and cultural development and behaviour of human beings since their appearance on earth"—*Jacobs and Stern*

२ मानव-शास्त्र के क्षेत्र

(क) मानव का विकास या प्रस्तरित-मानव का अध्ययन (Human Evolution or the Study of Fossil Man)

(ख) शारीरिक-मानव-शास्त्र (Physical Anthropology)

(ग) पुरातत्व-विज्ञान या प्रागैतिहासिक पुरातत्व-विज्ञान ([1]Archeology or Prehistoric Archeology)

(घ) सांस्कृतिक मानव-शास्त्र (Cultural Anthropology)

(ङ) वैज्ञानिक भाषा-विज्ञान (Scientific Linguistics)

ये पांच वैज्ञानिक-क्षेत्र हैं जिनका आधार लेकर 'मानव-शास्त्र' आगे कदम बढ़ाता है, और इन पांचों के कारण ही 'मानव-शास्त्र' एक 'विज्ञान' का रूप धारण करता जा रहा है। इन पांचों पर हम संक्षेप से प्रकाश डालेंगे —

(क) मानव का विकास या पथराये हुए अर्थात् प्रस्तरित मानव का अध्ययन (Human Evolution or the Study of Fossil Man)—'मानव-शास्त्र' को विज्ञान का रूप देने वाली पहली चीज प्राचीन मानव के विकास का अध्ययन है। प्राचीन मानव का अध्ययन कैसे होता है ? प्राय देखा जाता है कि पृथ्वी में तह-के-ऊपर तह जमी हुई हैं। इस प्रकार मट्टी और पानी के जमते-जमते कहीं-कहीं पत्थर की चट्टानें बन जाती हैं। इसी प्रकार जहां नदियां समुद्र से मिलती हैं वहां नदी का वेग धीमा पड जाता है, और वह कर आये हुए रेत और कीचड से मुहाने पर उनकी तहें जमती चली जाती हैं जिनसे भी समुद्र के किनारे चट्टानें बन जाती हैं। पृथ्वी की इन तहों तथा नदी के इन मुहानों में जो पौधे तथा मृत जीव-जन्तु आ पडते हैं, वे भी उन तहों के चट्टान बनने के साथ-साथ पथरा जाते हैं। इन पथराये हुए अवशेषों को अंग्रेजी में 'फौसिल' (Fossil) कहते हैं। इन्हें हिन्दी के कई लेखकों ने 'निखातक' नाम दिया है, 'निखातक' इसलिए क्योंकि ये खोदने से मिलते हैं, परन्तु 'फौसिल' के लिए ठीक शब्द पथराये हुए या 'प्रस्तरित' है, क्योंकि 'प्रस्तर' का अर्थ पत्थर है। मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के इन 'प्रस्तरितों' (Fossils) का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वे किस युग में थे। इन के युग के पता लगाने के अनेक साधन निकाले गये हैं। पहला साधन तो यह है कि जो 'प्रस्तरित' जिस युग की चट्टान में पाया जाय, वह उस युग में था। चट्टानों की आयु भूगर्भ-शास्त्र के नियमों से पता चल जाती है। भूगर्भ-शास्त्र द्वारा चट्टान की जो आयु निश्चित हो, उसमें 'प्रस्तरित' का होना सिद्ध करता है कि उस 'प्रस्तरित' की भी वही आयु है। इसके अतिरिक्त फ्लोरीन गैस की मात्रा की न्यूनाधिकता से भी 'प्रस्तरित' की आयु निश्चित की जाती है। वैज्ञानिकों ने यह मालूम किया है कि पत्थरों में पड़ी हड्डियां ज्यों-ज्यों पथराने

---

1 Archeology=Greek word *Archaios*, ancient, and *Logos*, discourse

लगती है, त्यों-त्यो फ्लोरीन गैस को अपने भीतर जज्ब करने लगती है। जिस हड्डी में जितनी अधिक फ्लोरीन गैस होगी, वह उतनी ही पुरानी होगी। इस उपाय से 'प्रस्तरितो' की आयु निश्चित कर ली जाती है। इस प्रकार 'प्रस्तरितों' के अध्ययन से प्राचीन-मानव के विषय में बहुत-कुछ जानकारी प्राप्त की जा रही है।

पुराने 'प्रस्तरितों' के अध्ययन से 'मानव-शास्त्र' ने यह पता लगाया है कि मनुष्य कितना पुराना है, उससे मिलते-जुलते अन्य प्राणी कौन-से हैं, वन्दर तथा मनुष्य में क्या साम्य तथा क्या वैषम्य है। हम आगे चलकर इस बात की चर्चा करेंगे कि कौन-कौन-से पुराने 'प्रस्तरित' मिले हैं, और उनसे आदि-मानव के संबंध में क्या प्रकाश पडता है।

(ख) शारीरिक-मानव-शास्त्र (Physical Anthropology)—'मानव-शास्त्र' को विज्ञान का रूप देने वाली दूसरी चीज शारीरिक-मानव-विज्ञान है। हम ज्यों-ज्यो भिन्न-भिन्न नस्लों (प्रजातियो) का अध्ययन करते हैं, हमें मालूम पडता है कि कुछ नस्लो का सिर वडा है, कुछ का छोटा, किन्हीं की नाक चपटी है, किन्हीं की उठी हुई। ये शारीरिक भेद सिद्ध करते हैं कि मनुष्यों की अनेक नस्लें (प्रजातियां) हैं। कद, सिर, नाक आदि—इन सब का मानव-शास्त्रियो ने नाप-तोल किया है। इन सब की चर्चा भी हम आगे करेंगे। इसी सिलसिले में मानव-शास्त्रियो का कथन है कि कद, सिर की लम्बाई-चौडाई, नाक का चपटा या नोकीला होना, रग आदि 'वशानुसक्रमण' (Heredity) पर आश्रित हैं। कई लोग इनको वशानुसक्रमण द्वारा आया हुआ न मान कर 'पर्यावरण' (Environment) द्वारा इनका सन्तति में आना मानते हैं। इन वातो पर भी हमें विचार करना होगा। शारीरिक-मानव-शास्त्र में पुराने 'प्रस्तरितो' तथा वर्तमान जीवित मनुष्यों की हड्डियो तथा अगों का नाप-तोल तो किया ही जाता है, साथ ही उनकी आपस में तुलना भी की जाती है। उदाहरणार्थ, पुराने 'प्रस्तरित' कई तरह के जीवों की हड्डियों के हैं, वन्दरो के, वनमानुसो के, मनुष्यों के 'प्रस्तरित'। 'शारीरिक-मानव-शास्त्र' में हमें देखना होता है कि मनुष्य की खोपडी वन्दर की खोपडी से कितनी वडी है। इसी प्रकार अन्य हड्डियो की तुलना करनी होती है। पुराने वन्दर की पीठ की हड्डी क्या ऐसी थी कि वह दो पाओ पर खडा होकर चल सकता था, या ऐसी थी कि वह चारों पाओं से ही चल सकता था, दो से नहीं, क्या उसके हाथ के पजे चलने का काम करते थे, या पकडने का? 'शारीरिक मानव-शास्त्र' में शरीर-सबधी इन सब बातों का अध्ययन किया जाता है जिससे हम प्राचीन-मानव के शारीरिक रूप का चित्र अपनी आंखों के सामने ला सकें।

'शारीरिक-मानव-शास्त्र' की वातो का सहारा लेकर कई लोग इसका दुरुपयोग करने लगते हैं। वे कहने लगते हैं कि ससार में शुरू से भिन्न-भिन्न नस्लें रही हैं, भिन्न-भिन्न प्रजातियां रही हैं। इनमें कई ऊँची हैं, कई नीची हैं। गोरी नस्लें अपने को ऊँचा तथा काली नस्लों को नीचा गिनती रही हैं। क्या 'शारीरिक-मानव-शास्त्र' इस वात की पुष्टि करता है? हम आगे चलकर देखेंगे कि नस्लों

के ऊँचे तथा नीचा होने के सिद्धान्त की 'शारीरिक-मानव-शास्त्र' पुष्टि नहीं करता। ऊँच-नीच, उन्नत-अवनत—ये अवस्थाएँ 'पर्यावरण' पर आश्रित हैं, 'वंशानुसंक्रमण' पर नहीं। हबशी को पढ़ने-लिखने वालों की संगति में रखा जाय, तो वह सोफ्स हो जायगा, अंग्रेज को जंगलियों की संगति में रखा जायगा, तो वह निरा जंगली-का-जंगली रहेगा।

(ग) प्रागैतिहासिक पुरातत्व-विज्ञान (Archeology or Pre-historic Archeology)—'मानव-शास्त्र' को विज्ञान का रूप देने वाली तीसरी चीज 'प्रागैतिहासिक पुरातत्व-विज्ञान' या 'पूर्व-इतिहास', अर्थात् पुराना-इतिहास है। प्रचलित भाषा में जिसे इतिहास कहते हैं, वह तो उन घटनाओं का वर्णन करता है जो लिखित में आ गई हैं। परन्तु हमारे लिखित में संसार की कितनी घटनाएँ हैं? संसार के पुराने इतिहास का बहुत बड़ा हिस्सा ऐसा है जिसका कहीं कोई उल्लेख नहीं, जिसके विषय में किसी को कुछ पता नहीं। ऐसी बातें कभी-कभी जमीन खोदने से सामने आ जाती हैं। उदाहरणार्थ, मोहन-जो-दड़ो और हरप्पा के विषय में हमें कुछ पता नहीं था। १९२१ में श्री राखालदास बैनर्जी और रायबहादुर दयाराम साहनी की अध्यक्षता में पंजाब में जो खुदाई हुई, उससे जमीन के नीचे दबे हुए दो पूरे-के-पूरे शहर निकल आये जिनका लिखित इतिहास में कहीं उल्लेख नहीं था। इन शहरों से सिंधु-घाटी की एक नवीन सभ्यता पर प्रकाश पड़ा। जमीन की इस प्रकार की खुदाई से और पुरानी चीजों के मिलने से प्राचीन-काल की सभ्यता पर, प्राचीन-काल का मानव किस प्रकार जीवन व्यतीत करता था—इन सब बातों पर प्रकाश पड़ता है। जमीन के पेट में से जो-कुछ मिला है उससे आज हम यह कह सकते हैं कि प्राचीन-काल के मानव ने अपने औजारों में क्रमशः उन्नति की। पहले वह पत्थर के औजारों से काम लेता था, फिर ब्रोंज और फिर लोहे के औजारों से काम लेने लगा। इतिहास की दृष्टि बहुत सीमित-क्षेत्र तक परिमित है, पुरातत्व-विज्ञान की दृष्टि इतिहास से आगे निकल जाती है। पुरातत्व-विज्ञान द्वारा एकत्रित सामग्री के आधार पर इतिहास अतीत-काल का लिखित निर्माण करता है।

हम आगे जाकर देखेंगे कि 'पुरातत्व-विज्ञान' (Archeology) तथा 'पुरातन-विज्ञान' (Palcontology) में भेद है। 'पुरातत्व' में मनुष्य की पुरानी चीजों, उसके हथियार, औजार, बर्तन, जेवर, मकान आदि का अध्ययन किया जाता है। 'पुरातन' में पौधों, जन्तुओं, मनुष्यों के पथराये हुए पुराने अस्थि-पंजरों का अध्ययन किया जाता है। इन दोनों प्रकार के अध्ययनों से प्रागैतिहासिक-काल का चित्र खींचा जाता है।

(घ) सांस्कृतिक मानव-शास्त्र (Cultural or Social Anthropology)—'मानव-शास्त्र' को विज्ञान का रूप देने वाली चौथी चीज 'सांस्कृतिक-मानव-शास्त्र' है। हम पहले 'शारीरिक-मानव-शास्त्र' का वर्णन कर आये हैं। शारीरिक-मानव-शास्त्र का आधार 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity)

है। माता-पिता के रज-वीर्य के द्वारा सन्तान का शरीर बनता-बिगड़ता है। माता-पिता के रज-वीर्य के द्वारा सन्तान के कद, रंग, रूप आदि पर प्रभाव पड़ता है। परन्तु सन्तान जो-कुछ है, वह रंग-रूप ही तो नहीं है। पशुओं की बात दूसरी है। उनमें तो शारीरिक-गुण ही मुख्य होते हैं, इसलिए उनमें 'वंशानु-सक्रमण' (Heredity) की ही प्रधानता है, परन्तु मनुष्य में तो शारीरिक रग-रूप-कद के अलावा उसे बनाने वाली और भी तो बहुत-सी बातें हैं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे माता-पिता से ही शारीरिक-गुणो के रूप में विरासत नहीं मिलती, उसे समाज से भी सामाजिक-परपराओं के रूप में विरासत मिलती है। मनुष्य जो-कुछ है, 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) का ही परिणाम नहीं है, वह 'पर्यावरण' (Environment) का भी परिणाम है। 'पर्यावरण' से मनुष्य को जो 'सामाजिक-विरासत' (Social heritage) मिलती है, वह 'शारीरिक' (Physical) न होकर 'सांस्कृतिक' (Cultural) है। पुरातन-मानव के शरीर का ही हम अध्ययन नहीं करते, हम उसके रीति-रिवाज, रहन-सहन, उसके परिवार, कायदे-कानून, सामाजिक परम्पराएँ, उसकी कला, उसके धर्म, उसकी सभा-सोसाइटी, उसके आर्थिक-जीवन, शासन-प्रणाली—सब का अध्ययन करते हैं। इन सब का अध्ययन 'सांस्कृतिक-मानव-शास्त्र' (Cultural Anthropology) कहाता है।

(ङ) वैज्ञानिक भाषा-विज्ञान (Scientific Linguistics)—'मानव-शास्त्र' को विज्ञान का रूप देने वाली चौथी चीज 'वैज्ञानिक-भाषा-विज्ञान' है। जिन लोगो ने वैज्ञानिक तौर पर ससार की २,७०० भाषाओं में से किन्हीं का अध्ययन किया है, वे हर भाषा के शब्दों की, उनके उच्चारण की, उनके व्याकरण की, दूसरी भाषाओं के शब्दों से, उनके उच्चारण से, उनके व्याकरण से तुलना करते हैं। इस प्रकार तुलनात्मक भाषा-विज्ञान से वे प्राचीन सभ्यताओं का एक ढांचा खड़ा कर देते हैं। उदाहरणार्थ, संस्कृत में दुहिता, अंग्रेजी में डॉटर, पर्शियन में दुख़तर—ये इतने मिलते-जुलते शब्द हैं कि इनके तुलनात्मक रूपों से भाषा-शास्त्री यह परिणाम निकालते हैं कि किसी समय इन तीनों भाषाओं के बोलने वाले किसी एक ही स्थान पर रहते होंगे। भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन मानव-शास्त्र पर बहुत अधिक प्रकाश डालता है। मानव-शास्त्र का यह क्षेत्र इतना महत्वपूर्ण है कि भाषा-विज्ञान एक स्वतंत्र विज्ञान बन गया है।

हमने देखा कि मानव-शास्त्र के पांच आधार-स्तम्भ हैं—मानव का विकास, शारीरिक-मानव-शास्त्र, पुरातत्व-विज्ञान, सांस्कृतिक मानव-शास्त्र तथा भाषा-विज्ञान। इन पांचों विज्ञानों के निष्कर्षों, इनके परिणामों का संग्रह करके मानव-शास्त्र का विशाल भवन खड़ा हो जाता है।

३ प्रो० लिन्टन का मानव-शास्त्र संबंधी वर्गीकरण

'मानव-शास्त्र' को ऊपर पांच अन्य विज्ञानों में बांटा गया है। प्रो० आर० लिन्टन (Linton) ने 'मानव-शास्त्र' का दूसरी तरह वर्गीकरण किया

है। प्रो० लिन्टन ने 'मानव-शास्त्र' (Anthropology) को दो मुख्य भागो में बांटा है

(क) शारीरिक-मानव-शास्त्र (Physical Anthropology)

(ख) सास्कृतिक अथवा सामाजिक मानव-शास्त्र (Cultural or Social Anthropology)

इन दोनो की व्याख्या तो हम ऊपर कर ही आये है। इन में से प्रो० लिन्टन ने दोनों के फिर आगे विभाग किये है। 'शारीरिक मानव-शास्त्र' (Physical Anthropology) के उन्होने निम्न दो भाग किये है —

(क) पुरातन मानव-विज्ञान (Human [1]Paleontology)

(ख) शारीरिक-विज्ञान ([2]Somatology or Human Anatomy and Physiology)

'पुरातन-मानव-विज्ञान' में पुरातन-काल के मानव की पथराई हुई हड्डियो या पथराये अस्थि-पजरों का अध्ययन आ जाता है, जिन्हें हम 'प्रस्तरित' (Fossils) कह आये है। 'शारीरिक-विज्ञान' में पुरातन काल के मानव की नस्लो का अध्ययन आ जाता है। 'शारीरिक मानव-शास्त्र' में एक तो अध्ययन भू-गर्भ स्थित इन 'प्रस्तरितों' का है जिसे श्री लिंटन ने पुरातन-मानव-विज्ञान' (Human Paleontology) का नाम दिया है, 'शारीरिक मानव-शास्त्र' में दूसरा अध्ययन भिन्न-भिन्न नस्लो का, उनके रग-रूप-कद-रुधिर, उनके नाप-तोल का है जिसे श्री लिन्टन ने 'शारीरिक-विज्ञान' (Somatology) का नाम दिया है।

'मानव-शास्त्र' के श्री लिन्टन ने दो भाग किये थे—'शारीरिक-मानव-शास्त्र' (Physical Anthropology) तथा 'सास्कृतिक अथवा सामाजिक-मानव-शास्त्र' (Cultural or Social Anthropology)। इनमें से 'शारीरिक-मानव-शास्त्र' के विषय मे हम लिख आये। 'सास्कृतिक अथवा सामाजिक-मानव-शास्त्र' के श्री लिन्टन ने निम्न भाग किये है

(क) पुरातत्व-विज्ञान या पूर्व-इतिहास (Archeology or Prehistory)

(ख) प्रजाति-विज्ञान ([3]Ethnology or Study of Races)

(ग) भाषा-विज्ञान (Linguistics)

'पुरातत्व-विज्ञान' (Archeology) तथा 'भाषा-विज्ञान' (Linguistics) के विषय में हम पहले लिख आये है। इन दोनो का सबध प्राचीन से

---

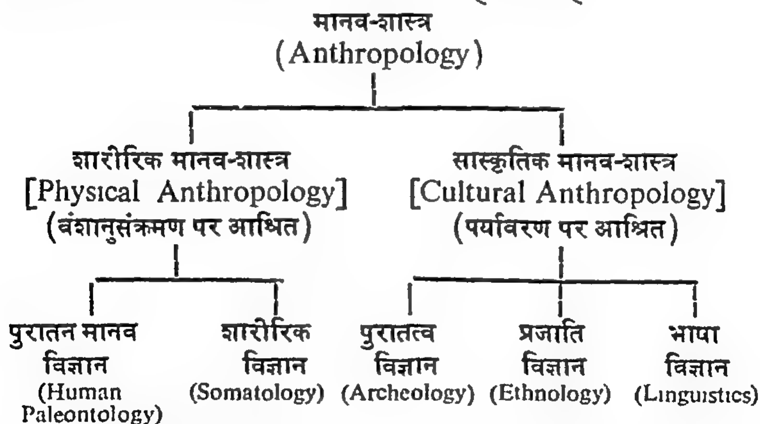
1 Paleontology=Greek word *Palaios* ancient, and *Logos*, discourse (Paleontology is that branch of biological science which treats of ancient life of the earth by studying fossils)

2 Somatology=Greek word *Soma*, body, and *Logos*, discourse

3 Ethnology=Greek word *Ethnos*, nation or race, *Logos*, discourse

है। 'प्रजाति-विज्ञान' (Ethnology) का सबंध प्राचीन से न होकर नवीन से है। यह विज्ञान उन प्रजातियों (नस्लों) का वर्णन करता है जो मौजूद हैं, या अगर नष्ट भी हो चुकी हैं, तो भी उनका सम्पूर्ण विवरण उपलब्ध है। इन विवरणो के आधार पर 'प्रजाति-विज्ञान' भिन्न-भिन्न समाजो, समुदायों तथा सस्कृतियो का तुलनात्मक अध्ययन करता है और पता लगाता है कि ससार के समाज और ससार की सस्कृतियां कैसे उत्पन्न हुई, कैसे उनमें परिवर्तन आया, और वे क्या रूप धारण कर रही हैं। भिन्न-भिन्न प्रजातियो के रीति-रिवाजों, कायदे-कानूनो, सास्कृतिक-परम्पराओ—इन सब का अध्ययन 'प्रजाति-विज्ञान' कहाता है।

मानव के विकास में मुख्य कारण दो हैं—'वशानुसक्रमण' (Heredity) तथा 'पर्यावरण' (Environment)। इन दोनो में 'पुरातन-मानव-विज्ञान' (Human Paleontology) तथा 'शारीरिक-विज्ञान' (Somatology) का सबध 'वशानुसक्रमण' से है, 'पुरातत्व-विज्ञान' (Archeology), 'प्रजाति-विज्ञान' (Ethnology) तथा 'भाषा-विज्ञान' (Linguistics) का सबध 'पर्यावरण' से है। इस प्रकार श्री लिन्टन ने 'मानव-शास्त्र' का जो वर्गीकरण किया है उसमें 'वशानुसक्रमण' तथा 'पर्यावरण' से सबध रखने वाले पाँचो विज्ञान जिनका हमने अभी वर्णन किया, आ जाते हैं। सक्षेप में, श्री लिन्टन के निम्न वर्गीकरण से 'मानव-शास्त्र' का विषय क्षेत्र स्पष्ट हो जाता है —



उपर हम 'मानव-शास्त्र' के जिन-जिन क्षेत्रो की चर्चा कर आये हैं, और 'मानव-शास्त्र' का जो वर्गीकरण हमने किया है—यह सब 'मानव-शास्त्र' का विषय-क्षेत्र है, 'मानव-शास्त्र का वर्णन करते हुए हम इस पुस्तक में इन्हीं सब बातो की चर्चा करेंगे।

४ 'मानव-शास्त्र' के अध्ययन की आवश्यकता

'मानव-शास्त्र' बहुत पुराना विज्ञान नहीं है। ज्यादा-से-ज्यादा इसे १०० साल पुराना कहा जा सकता है। शुरू-शुरू में यह यात्रियों के जगली जातियो

के सपर्क में आने की कहानियो और उनके चुटकलो के सिवाय कुछ नहीं था। जगली लोग क्या खाते हैं, कैसे रहते हैं, उनके रीति-रिवाज क्या हैं—ये बातें उपन्यास की तरह रोचक होती हैं। उस समय 'मानव-शास्त्र' इन्हीं बातो तक सीमित था, परन्तु धीरे-धीरे यह अवस्था बदलती गई। यह समझा जाने लगा कि जगली जातियों का रहन-सहन, उनके रीति-रिवाज, कायदे-कानून हँसी-मजाक में उडा देने की बातें नहीं हैं। इनके सग्रह से हम सैकडों और हजारो सालो से चले आ रहे मानव के विकास को समझ सकते हैं। मनुष्य विकास की प्रक्रिया में से गुजरता हुआ किस-किस क्रम में से गुजरा, उसके औजारों में क्या-क्या परिवर्तन हुआ, उसके धर्म, जादू-टोने के विचारो में क्या प्रक्रिया आयी, उसके कायदे-कानून किस तरह बने-बिगडे—यह सब जगली जातियों के जीवन के अध्ययन से समझ में आ जाता है।

इसके साथ-साथ 'मानव-शास्त्र' के अध्ययन को एक और दिशा से भी उत्तेजना मिली। इग्लैण्ड तथा हॉलैण्ड के निवासी ससार में जगह-जगह अपने उपनिवेश स्थापित कर रहे थे। इन उपनिवेशों के लिए ये अपने देश से शासक भेजते थे, वहाँ प्रचार करने के लिए पादरी भेजते थे। जबतक ये शासक उपनिवेश-वासियों के जीवन, उनके रीति-रिवाज, कायदे-कानून को न जानें, तब तक ये शासन में सफल नहीं हो सकते थे। लडाई के समय इन उपनिवेशो से जो भर्ती की जाती थी, उसमें सैकडों, हजारों आदमी एक जगह जमा होते थे। अगर शासको से ऐसा-कुछ हो जाय जिससे इन लोगो की भावनाओं को ठेस पहुँचे, तो शासकों को लेने के देने पड सकते थे। भारत का सिपाही-विद्रोह भारतीय सिपाहियों की गौ की पवित्रता के सबध में भावनाओ को न जानने के कारण ही तो हुआ था। इन सब बातो से उपनिवेश बसाने वाली सरकारों ने 'मानव-शास्त्र' को प्रोत्साहन दिया। भारत में भी कभी नागाओं की समस्या उठ खडी होती है, कभी किसी अन्य प्रजाति की। इन के लिए शासन की व्यवस्था भी अलग तौर से करनी पड रही है। गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट—१९५३ में भारत के कुछ भाग शासन की दृष्टि से अन्य भागो से अलग रखे गये हैं। ये वे ही भाग हैं जिनमें वन्य-जातियों की समस्या का प्रश्न है। इन भागो के शासन में सुव्यवस्था लाने के लिए 'मानव-शास्त्र' के पडितो से बहुत सहायता ली जा सकती है क्योंकि उनका इन प्रजातियो के साथ निकट का सबध होता है, वे इनके रीति-रिवाजो को इन प्रजातियों में 'क्षेत्र-कार्य' (Field-work) करने के कारण जानते-पहचानते हैं, और किसी भी समस्या का झट-से समाधान कर सकते हैं।

२

'मानव-शास्त्र' का अन्य विज्ञानों के साथ संबंध

(RELATION OF ANTHROPOLOGY TO OTHER SCIENCES)

'मानव-शास्त्र' का 'शारीरिक-मानव-शास्त्र' (Physical Anthropology), 'सास्कृतिक अथवा सामाजिक मानव-शास्त्र' (Cultural or Social Anthropology), 'पुरातन मानव-विज्ञान' (Human Paleontology), 'शारीरिक-विज्ञान' (Somatology) 'पुरातत्व-विज्ञान' (Archeology), 'प्रजाति-विज्ञान' (Ethnology) तथा 'भाषा-विज्ञान' (Linguistics) से जो सबध है उसकी चर्चा पिछले अध्याय में की जा चुकी है क्योकि ये सब ही तो 'मानव-शास्त्र' के मुख्य क्षेत्र है। इनके अलावा 'मानव-शास्त्र' का 'प्राकृतिक-विज्ञानों' (Natural Sciences), 'सामाजिक-विज्ञानों' (Social Sciences) तथा 'मानवीय-विज्ञानो' (Human Sciences) के साथ भी घनिष्ठ सबध है। हम इस विषय में यहाँ कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

इससे पहले कि हम 'मानव-शास्त्र' का अन्य विज्ञानो से सबध दर्शाएँ, सबसे पहला प्रश्न यह उठ खडा होता है कि क्या 'मानव-शास्त्र' स्वय एक विज्ञान है ?

१ 'मानव-शास्त्र' एक विज्ञान है

'विज्ञान' (Science) किसे कहते है ? 'विज्ञान' हमारे ज्ञान की उस अवस्था का नाम है जिसमें हमारा ज्ञान सुव्यवस्थित हो, शृखलाबद्ध हो, तरतीब तथा सिलसिले में बँधा हुआ हो। 'विज्ञान' (Science) क्या करता है ? 'विज्ञान' के पास कुछ घटनाएँ होती है, कुछ तथ्य होते है, उन्हें इकट्ठा किया जाता है, उनका अवलोकन किया जाता है, उन पर ऊहापोह की जाती है, उन घटनाओ तथा तथ्यों को सिलसिलेवार जमा कर उनसे कुछ परिणाम निकाले जाते है। ठीक यह काम 'मानव-शास्त्र' (Anthropology) भी करता है। 'मानव-शास्त्र' के मुख्य तौर पर दो हिस्से है—'भौतिक मानव-शास्त्र' (Physical Anthropology) तथा 'सास्कृतिक मानव-शास्त्र' (Cultural Anthropology)। 'भौतिक मानव-शास्त्र' ने भिन्न-भिन्न स्थानों में आदि-मानवो के अस्थि-पजर ढूंढे, उन्हें नापा-तोला और आदि-मानव कहाँ हुआ, उसकी खोपड़ी कैसी थी—यह सब सामग्री एकत्रित की। 'सास्कृतिक मानव-शास्त्र' ने

ईजिप्ट, वैवीलोन, पर्शिया, मैडिटरेनियन आदि स्थानो के आदिम निवासियों की सभ्यता का अध्ययन किया, वहां के प्राचीन लोगो के रीति-रिवाजो, उनके कायदे-कानूनो को जानने का प्रयत्न किया, उन के यहां किस प्रकार की शासन-व्यवस्था थी, धर्म का क्या रूप था—इस सारी सामग्री को एकत्रित किया, इस सामग्री से 'मानव-शास्त्र' ने कुछ परिणाम निकाले। उदाहरणार्थ, 'भौतिक-मानव-शास्त्र' ने यह परिणाम निकाला कि आदि-मानव आफ्रीका में हुआ, या जावा में हुआ, या और जहां-कहीं उसकी खोपडी मिली, वहां हुआ। 'सास्कृतिक मानव-शास्त्र' ने अपनी एकत्रित सामग्री से यह परिणाम निकाला कि मनुष्य का विकास क्रम से हुआ है। पहले वह शिकारी हालत में था, फिरन्दर था, जगह-जगह घूम-फिर कर आजीविका का उपार्जन करता था, फिर वह चरवाहे का जीवन व्यतीत करने लगा, फिर खेती करने लगा। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्राचीन जातियों का अध्ययन कर के 'मानव-शास्त्र' ने यह परिणाम निकाला कि पहले वह पत्थरो के औजारो से काम लेता था, फिर विकसित हो जाने के वाद ब्रोंज के, और बाद को लोहे के औजारो से काम लेने लगा। भिन्न-भिन्न सस्कृतियो का आपस में लेन-देन हुआ—यह भी 'मानव-शास्त्र' का परिणाम है, जो भिन्न-भिन्न सस्कृतियो के तुलनात्मक अध्ययन से निकलता है। 'मानव-शास्त्र' का यह सब भौतिक तथा सास्कृतिक अध्ययन विज्ञान नहीं तो क्या है?

इसमें सन्देह नहीं कि 'भौतिक-विज्ञानो' में जो नियम और परिणाम निकाले जाते हैं उनमें मनुष्य की भावनाओं को स्थान नहीं होता। गुरुत्वाकर्षण का एक भौतिक नियम है—इस नियम में मनुष्य की भावना काम नहीं कर सकती। न गुरुत्वाकर्षण से हमें प्रेम हो सकता है, न द्वेष। 'भौतिक-विज्ञानों' के नियमो, परिणामो, निष्कर्षो के प्रति हम निस्सग होते है, उनके साथ हमारा बेलागपने का सम्बन्ध होता है। 'मानव-शास्त्र' के परिणामो के विषय में जहां तक 'भौतिक मानव-शास्त्र' का खोपड़ियो और पजरो के नाप-तोल का सबध है, यह बात ठीक है, परन्तु 'सास्कृतिक-मानव-शास्त्र' के सबध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। अगर हम इस परिणाम पर पहुँचें कि मानव-समाज के कुछ वर्ग स्त्री के विधवा होते ही उसे पति के साथ आग में जला देते थे, तो हमारे भीतर उस वर्ग के प्रति घृणा की भावना पैदा हो जाना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से जहां 'भौतिक-विज्ञानों' में भावना को स्थान नहीं, वहां 'मानव-शास्त्र' के 'सांस्कृतिक मानव-शास्त्र' में भावना आ जाती है, परन्तु भावना के आ जाने से इसके विज्ञान होने में कोई रुकावट नहीं पडती। विज्ञान तो यह इसलिए है क्योंकि अन्य विज्ञानो की तरह यह तथ्यो और घटनाओ का सकलन करके अपने विषय के परिणाम निकालता है। इसमें भी सन्देह नहीं कि 'भौतिक-विज्ञानों' की तरह 'भौतिक मानव-शास्त्र' को छोड कर 'सास्कृतिक मानव-शास्त्र' में गणित के-से नपे-तुले परिणाम नहीं निकलते, फिर भी 'मानव-शास्त्र' की वह शाखा जिसे 'भौतिक मानव-शास्त्र' कहा जाता है, अपने परिणामों को नाप-तोल में लाने का प्रयत्न

अवश्य करती है। उदाहरणार्थ, हम आगे चलकर देखेंगे कि प्राचीन-मानव की खोपडी, उसके नाक तथा अन्य अगो-प्रत्यगो को 'भौतिक मानव-शास्त्र' में जो 'मानव-शास्त्र' की ही एक शाखा है, नापा-तोला भी जाता है, और इस नाप-तोल से यह परिणाम निकाला जाता है कि अमुक खोपड़ी आर्य-जाति की है या नीग्रो जाति की।

हमने अभी जो-कुछ कहा उससे यह तो स्पष्ट है कि 'मामव-शास्त्र' अन्य विज्ञानो की तरह एक विज्ञान है। अब प्रश्न है कि इसका अन्य विज्ञानो के साथ क्या संबध है?

२ मानव-शास्त्र, प्राकृतिक-विज्ञान तथा सामाजिक-विज्ञान

आज से ९०–१०० साल पहले 'मानव-शास्त्रियो' को इस बात की चिंता नहीं थी कि 'मानव-शास्त्र' किस वर्ग में आता है। कोम्टे (Comte) ने समाज-शास्त्र की नींव रखी थी और वह इसे विज्ञानो का विज्ञान कहता था। समाज-शास्त्र में समाज के विकास का अध्ययन होता था, और विकासवाद 'प्राकृतिक-विज्ञान' (Natural Science) माना जाता था, इसलिए समाज-शास्त्र भी स्वय 'प्राकृतिक-विज्ञान' माना जाता था। मानव-शास्त्र क्योकि समाज-शास्त्र का ही हिस्सा था इसलिए मानव-शास्त्र के भी 'प्राकृतिक-विज्ञान' होने में क्या सदेह हो सकता था? इतना अवश्य था कि क्योकि मानव-शास्त्र का विषय प्राचीन-मानव था, इसलिए प्राचीन होने के कारण मानव-शास्त्र को 'प्राकृतिक-विज्ञान' न कह कर 'प्राकृतिक-इतिहास' (Natural History) कहा जाता था। यह समझा जाता था कि जैसे 'प्राकृतिक-विज्ञान' प्रकृति के नियमो का पता लगाते हैं, वैसे 'समाज-शास्त्र' समाज तथा वर्तमान-मानव के और 'मानव-शास्त्र' आदि-मानव के नियमों का पता लगाता है। परन्तु किसी वर्ग में भी क्यो न हो, १०० साल पहले के मानव-शास्त्रियो को मानव-शास्त्र के वर्गीकरण की कोई चिंता नहीं थी।

आज वह बात नहीं है। आज मानव-शास्त्री यह बहस करते है कि मानव-शास्त्र को 'प्राकृतिक-विज्ञानो' (Natural Sciences) में रखा जाय, या 'सामाजिक-विज्ञानो' (Social Sciences or Humanities) में रखा जाय। रैडक्लिफ ब्राऊन (Radcliffe-Brown), फोर्टेज (Fortes) तथा नेडल (Nadel) आदि का कहना है कि मानव-शास्त्र की गणना 'प्राकृतिक-विज्ञानों' अर्थात् 'भौतिक-विज्ञानो' में है। मानव-शास्त्र का काम प्राचीन-काल की भिन्न-भिन्न सस्कृतियों के किस्से-कहानिया इकट्ठा करना नहीं, अपितु उनके आधार पर, 'प्राकृतिक-विज्ञानों' की तरह, जैसे वे 'प्राकृतिक-नियमों' (Natural Laws) का पता लगाते है, वैसे इनका काम 'सामाजिक-नियमो' (Social Laws) का पता लगाना है। मानव-शास्त्र का काम यह पता लगाना है कि आदि-समाज में कौन-से ऐसे नियम थे, जो समाज में वैसी ही आदि-कालीन अवस्थाओं के उपस्थित होने पर स्वय प्रकट हो जायेंगे, जिन

नियमो में किसी तरह का परिवर्तन नहीं हो सकता, जो गुरुत्वाकर्पण जैसे नियमो की तरह के स्थिर नियम हैं। इस विचार-धारा के विरोध में कुछ दूसरे विचारक हैं जिनका कहना है कि मानव-शास्त्र 'प्राकृतिक-विज्ञानों' की तरह समाज के किन्हीं स्थिर नियमो का पता नहीं लगाता, अपितु समाज की गतिशील, परिवर्तनशील अवस्थाओ का अध्ययन करता है। हर समाज में एक-से नियम कैसे हो सकते हैं ? इस प्रकार के विचारक मानव-शास्त्र को 'प्राकृतिक-विज्ञान' की श्रेणी में न रखकर 'सामाजिक-विज्ञान' (Social Science or Humanities) की श्रेणी में रखते हैं। ऐसे विचारको में क्रोवर (Kroeber), विड्ने (Bidney) आदि का नाम मुख्य है।

अस्ल में मानव-शास्त्र को दो भागो में बांटा जाता है—'भौतिक मानव-शास्त्र' (Physical Anthropology) तथा 'सामाजिक मानव-शास्त्र' (Cultural Anthropology)। इनमें से 'भौतिक-मानव-शास्त्र' का काम पुरानी खोपडियो तथा प्रस्तरो को नापना-तोलना और उनके सबध में निश्चित, स्थिर नियम निर्धारण करना है। इस दृष्टि से मानव-शास्त्र की यह शाखा 'प्राकृतिक-विज्ञान' के अन्दर आ जाती है, इसलिए आ जाती है क्योंकि प्राकृतिक-विज्ञानों की तरह इसका काम भी स्थिर, निश्चित नियम पता लगाना है। मानव-शास्त्र की दूसरी शाखा 'सास्कृतिक-मानव-शास्त्र' है जिसका काम आदि-मानव के धर्म, उसकी सस्कृति, उस समय के सामाजिक सगठन आदि का पता लगाना है। आदि-मानव के धर्म आदि के साथ-साथ 'सास्कृतिक मानव-शास्त्र' वर्तमान समय की जीवित जगली जातियों और नस्लों का अध्ययन भी करता है। इस अध्ययन में प्राकृतिक-विज्ञानों की तरह के कोई निश्चित नियम नहीं पता लगाये जा सकते। इस दृष्टि से मानव-शास्त्र की यह, शाखा—'सास्कृतिक मानव-शास्त्र'—'सामाजिक विज्ञान' के क्षेत्र में आ जाती है। मानव-शास्त्र के उक्त दो पहलू इसे 'प्राकृतिक-विज्ञान' तथा 'सामाजिक-विज्ञान'—इन दोनो के साथ बांध देते हैं।

३ मानव-शास्त्र तथा प्राकृतिक-विज्ञान (Anthropology and Natural Sciences)

प्राणी-शास्त्र आदि का मानव-शास्त्र से सबध (Relation of Biology etc with Anthropology)—'प्राकृतिक-विज्ञानों' (Natural Sciences) का सबध प्राकृतिक ससार से है। इन 'प्राकृतिक-विज्ञानों' में वनस्पति-शास्त्र (Botany), जन्तु-शास्त्र (Zoology) तथा प्राणी-शास्त्र (Biology) भी आ जाते है। वनस्पति-शास्त्र, जन्तु-शास्त्र तथा प्राणी-शास्त्र का मानव-शास्त्र के साथ बहुत घनिष्ठ संबध है। हम पहले लिख आये हैं कि प्राचीन चट्टानों मे वनस्पतियों, जानवरों तथा प्राचीन-मानवों के पथराये हुए अवशेष जब-तब मिलते रहते हैं। इन अवशेषों के आधार पर मानव-शास्त्र पता लगाता रहता है कि मनुष्य किस वनस्पति तथा किस

जानवर का समकालीन है। जहाँ मानव तथा किसी खास प्रकार की वनस्पति एव मानव तथा किसी खास प्रकार का जानवर एक-साथ पाये जाते हैं, वहाँ इन दोनों का समकालीन होना स्वय-सिद्ध हो जाता है।

इसके अतिरिक्त प्राणी-शास्त्र का 'वशानुसक्रमण तथा पर्यावरण' (Heredity and Environment) का सिद्धान्त मानव-शास्त्र में हर समय काम में आता रहता है। एक नस्ल से दूसरी नस्ल कैसे वनी, माता-पिता के कौन-से गुण सन्तान में गये—यह-सव प्राणी-शास्त्र का विषय है, और इसी वशानुसक्रमण के सिद्धान्त के आधार पर मानव-शास्त्र नस्लो (प्रजातियो) की समस्या का हल करता है।

मनुष्य के शरीर की रचना का वन्दर से, गोरिल्ला तथा चपांझी से मेल है। दोनों की खोपडी एक-सी है, दोनो की हड्डियो का ढांचा एक-सा है। मानव-शिशु गर्भावस्था में से गुज़रते हुए पहले वेरीढ का होता है, फिर उसमें रीढ वन जाती है, फिर उसके पूंछ निकल आती है जो धीरे-धीरे शरीर में खप जाती है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न योनियों की शक्लों को धारण करता हुआ मानव का गर्भस्थ वालक अपने वर्तमान रूप में आ जाता है। इस सब प्रक्रिया को देखकर विकासवादी कहने लगते हैं कि मानव अपने ऐतिहासिक विकास में भी इसी प्रक्रिया में से गुज़रा है जिसमें से वह गर्भावस्था में गुज़रता है। ये सव विषय प्राणी-शास्त्र से संवध रखते हैं और क्योकि इन सव का प्राचीन-मानव से भी संवध है इसलिए 'मानव-शास्त्र' का 'प्राणी-शास्त्र से जो एक प्राकृतिक-विज्ञान है, सवध स्पष्ट हो जाता है।

३ मानव-शास्त्र तथा सामाजिक-विज्ञान
(Anthropology and Social Sciences)

(क) मानव-शास्त्र का 'इतिहास' तथा 'पुरातत्व-विज्ञान' से सबंध (Relation of Anthropology with History and Archeology)—सामाजिक-विज्ञानो में मानव-शास्त्र का 'इतिहास' तथा 'समाज-शास्त्र' के साथ सव से अधिक घनिष्ठ संवध है। इतिहास को दो भागो में वाटा जा सकता है। एक तो वह इतिहास जो लिखित में आ चुका है, दूसरा वह इतिहास है जो लिखित नहीं है, जो हजारो और लाखो साल पुरानी चट्टानो, पुरातन-भवनो, पथराये हुए पुरातन पौधो, जानवरो या मानवो की 'प्रस्तरित-अस्थियों' (Fossils) में भरा पडा है, जिसे 'इतिहास' न कह कर 'पूर्व-इतिहास' या 'पुरातत्व-विज्ञान' (Archeology) कहा जाता है। 'इतिहास' तथा 'पूर्व-इतिहास' दोनों का 'मानव-शास्त्र' के साथ घनिष्ठ सवंध है। 'इतिहास' प्राचीन घटनाओ तथा प्राचीन-तथ्यो का उल्लेख करता है, भूत की घटनाओं का वर्णन करके उनके आधार पर अपने परिणाम निकालता है; 'पूर्व-इतिहास' या 'पुरातत्व-विज्ञान' इस इतिहास की पहुँच से भी पहले जो-कुछ था, उस पर नजर डाल कर, उस सामग्री को एकत्रित करता है, और उस सामग्री से एक नवीन इतिहास का

निर्माण करके उसे मानव-शास्त्र के सुपुर्द कर देता है। एक दृष्टि से 'इतिहास' तथा 'पूर्व-इतिहास' दोनो भूत-काल का वर्णन करते हैं, 'इतिहास' निकट-भूत का और 'पूर्व-इतिहास' सुदूर-भूत का वर्णन करता है। निकट-भूत तथा सुदूर-भूत को समझने में मानव-शास्त्र इतिहास तथा पूर्व-इतिहास या 'पुरातत्व-विज्ञान' (Archeology)—इन दोनो का सहारा लेता है। 'मानव-शास्त्र' इतिहास का सहारा तो आये-दिन लिया करता है। जो भी जीवित जगली जातियां हैं, उनके रीति-रिवाज, कायदे-कानून, उनकी शासन-व्यवस्था, धर्म-कर्म—यह सब तो इतिहास का विषय है, और मानव-शास्त्र इस सब को अपने अन्दर समा लेता है, इस सब का अध्ययन करता है। इसके साथ-साथ 'मानव-शास्त्र' पूर्व-इतिहास या 'पुरातत्व-विज्ञान' से तो बहुत अधिक सहायता लेता है। आफ्रीका के जगलों में कहीं एक खोपडी मिल गई। यह खोपडी इतिहास का विषय तो नहीं है, परन्तु 'पूर्व-इतिहास' या 'पुरातत्व-विज्ञान' (Archeology) का विषय यह ज़रूर है। इस 'पूर्व-इतिहास' या 'पुरातत्व-विज्ञान' का सहारा लेकर आफ्रीका के जगलो में पायी जाने वाली यह खोपडी अपनी कहानी कहने लगती है, और यह कहानी मानव-शास्त्र की तो मानो जान है। इस प्रकार हमने देखा कि 'मानव-शास्त्र' का 'इतिहास' तथा 'पूर्व-इतिहास' या 'पुरातत्व-विज्ञान' के साथ घनिष्ठ सबध है।

(ख) मानव-शास्त्र का समाज-शास्त्र के साथ सबध (Relation of Anthropology with Sociology)—'इतिहास' तथा 'पुरातत्व-विज्ञान के अतिरिक्त 'मानव-शास्त्र' का 'समाज-शास्त्र' (Sociology) के साथ भी बहुत निकट का नाता है। 'समाज-शास्त्र' तथा 'मानव-शास्त्र' को तो कइयो ने जुडवॉ बहनें कहा है। 'समाज-शास्त्र' हमारे वर्तमान समाज की सभ्यता तथा सस्कृति का विश्लेषण करता है, उस पर विचार-विमर्श करता है, 'मानव-शास्त्र' समाज की भूत-काल की सभ्यता तथा सस्कृति को लेकर चलता है, भूत-काल के अवशेषों से उसका निर्माण करता है, उसकी वर्तमान-काल की सभ्यता तथा सस्कृति से तुलना करता है, और भविष्य में क्या होगा—इस की तरफ भी इशारा करता जाता है। 'समाज-शास्त्र' का एक ही काल से सबध है, 'मानव-शास्त्र' का तीनों कालों से सबध है, 'समाज-शास्त्र' वस्त्रों से एक सजा-सजाया मनुष्य है, 'मानव-शास्त्र' मनुष्य का एक ढांचा है जिसे हमने वस्त्र ढूंढ-ढूंढ कर सजाना है, 'समाज-शास्त्र' के वस्त्र उतार दिये जायें तो वह 'मानव-शास्त्र' बन जाता है, 'मानव-शास्त्र' को वस्त्र पहना दिये जायें तो वह 'समाज-शास्त्र' बन जाता है, 'समाज-शास्त्र' का मुख्य विषय वर्तमान-समाज तथा उसकी समस्याएँ हैं, 'मानव-शास्त्र' का मुख्य विषय प्राचीन-मनुष्य तथा उसकी समस्याएँ हैं। समाज का व्यवहार, समाज के रीति-रिवाज, समाज की शासन-व्यवस्था, समाज का कर्म-धर्म—यह सब 'समाज-शास्त्र' तथा 'मानव-शास्त्र' दोनो के अध्ययन के विषय हैं, भेद इतना ही है कि 'समाज-शास्त्र' इनका

अध्ययन करते हुए वर्तमान-काल पर दृष्टि रखता है, 'मानव-शास्त्र भूत-काल पर।

४ मानव-शास्त्र तथा मानवीय-विज्ञान
(Anthropology and Human Sciences)

मनुष्य से सवध रखने वाले दो विज्ञान हैं—मनोविज्ञान तथा दर्शन-शास्त्र। मानव-शास्त्र का भी मुख्य तौर से सवध मनुष्य से ही है, इसलिए मनुष्य के इर्द-गिर्द घूमने वाले इन तीनो विज्ञानो का पारस्परिक सवध होना अनिवार्य है।

(क) मानव-शास्त्र तथा मनोविज्ञान (Relation of Anthropology with Psychology)—मनोविज्ञान का काम मनुष्य की मानसिक-रचनाओ तथा उसके मानसिक-व्यवहार का अध्ययन करना है। मनोविज्ञान मनुष्य के सांस्कृतिक विकास पर कुछ नहीं कहता, वह क्षेत्र मनोविज्ञान का विषय नहीं है। मानव-शास्त्र मनोविज्ञान की तरह मनुष्य को अपने अध्ययन का विषय तो बनाता है, परन्तु उसकी मानसिक-रचनाओ तथा उसके मानसिक व्यवहारो का स्वय अध्ययन न कर मनोविज्ञान के परिणामो को जैसे-का-तैसा ले लेता है, उनकी वहस में नहीं पडता। हाँ, मनुष्य के सास्कृतिक-विकास का यह अध्ययन अवश्य करता है जो काम मनोविज्ञान नहीं करता। मनोविज्ञान 'सस्कृति' पर कुछ नहीं वोलता, मानव-शास्त्र 'मानसिक-व्यवहार' पर कुछ नहीं वोलता क्योकि 'सस्कृति' मानव-शास्त्र के अध्ययन का विषय है, 'मानसिक-व्यवहार' मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय है। 'सस्कृति' के सवध में मानव-शास्त्र के परिणामो को मान कर मनोविज्ञान यह जानने का प्रयत्न करता है कि भिन्न-भिन्न सस्कृतियो में मनुष्य का मानसिक-व्यवहार क्या रहा होगा, 'मानसिक-व्यवहार' के सवध में मनोविज्ञान के परिणामो को मान कर मानव-शास्त्र यह जानने का प्रयत्न करता है कि भिन्न-भिन्न कालो के मनुष्यो ने किस-किस प्रकार की संस्कृति को जन्म दिया होगा। मनोविज्ञान का मुख्य विषय 'मन' तथा मानव-शास्त्र का मुख्य विषय 'सस्कृति' है, परन्तु दोनो का एक-दूसरे के साथ आदान-प्रदान होता रहता है। प्रो० लिन्टन (Linton) का कथन है कि मनोविज्ञान के मानव-शास्त्र के संपर्क में आने से वहुत उत्तम परिणाम निकले हैं। मनोविज्ञान की सहायता से हम समझ सकते हैं कि प्राचीन-मानव के क्या विचार रहे होंगे, वह कैसे सोचता होगा, उसकी क्या भावनाएँ रही होंगी। मानव-शास्त्र जव प्राचीन-मानव का ढाचा खडा करता है तव उसमें मानवीयता की पुट मनोविज्ञान ही दे सकता है।

मनोविज्ञान तथा मानव-शास्त्र का सवध वीसवीं शताब्दी से पहले इतना निकट कः नहीं समझा जाता था। वीसवीं शताब्दी में, और खास कर फ्रॉयड (Freud) के मनोविश्लेषणवाद के अधिकाधिक प्रचार से, मनोविज्ञान तथा मानव-शास्त्र का सवध प्रगाढ़ होता गया है। फ्रायड का कहना था कि वालक के जन्म के प्रथम पाँच-छः वर्ष उसके जीवन के आधारभूत वर्ष होते हैं और इस काल में उसका जैसा 'व्यक्तित्व' (Personality) वन जाता है वैसा ही जन्म भर

३

मानव की उत्पत्ति तथा विकास

(HUMAN ORIGINS AND HUMAN EVOLUTION)

१ विकासवाद का दृष्टिकोण

युरोप में १८५९ में चार्ल्स डार्विन (Darwin) ने अपनी एक पुस्त लिखी जिसका नाम 'ओरिजिन ऑफ स्पेशीज' (Origin of Species) था इस पुस्तक ने युरोप में 'विकासवाद' के सिद्धान्त पर अन्तिम मोहर लगा दी अ इस सिद्धान्त को एक वैज्ञानिक सिद्धान्त माना जाने लगा।

विकासवाद से पहले मानव की उत्पत्ति के सबध में यह माना जाता कि सृष्टि के प्रारभ में परमात्मा ने सब प्राणियो के जोडे उत्पन्न कर दिये। हाथ घोडा, बैल, मनुष्य—सब एक-साथ पैदा किये, सब के नर तथा मादा ये जं पैदा किये, और सृष्टि का चक्र चल पडा। उस समय यह भी माना जाता कि क्योंकि शुरू-शुरू में सृष्टि परमात्मा ने पैदा की इसलिए वह पूर्ण थी, आ का युग सतयुग था, उस समय परमात्मा ने मनुष्य के व्यवहार के लिए र ईश्वरीय-ज्ञान भी दिया था, हिन्दुओ में इस ईश्वरीय-ज्ञान को 'वेद' का न दिया जाता है। विकासवाद ने इस विचार से उल्टी विचारधारा को जन्म दिय विकासवाद का कहना था कि सृष्टि की उत्पत्ति जब हुई, तब शुरू-शुरू में आजक की तरह विकसित प्राणी नहीं उत्पन्न हुए। शुरू-शुरू में करोडों सालो तक कोई प्राणी ही पैदा नहीं हुआ। सृष्टि का यह काल 'अजीव-काल' कहाता है। इसक बाद 'जीव-काल' आया जिसमें जीवो की उत्पत्ति शुरू हुई। इस काल में भी पहले बहुत निम्न श्रेणी का जीवन उत्पन्न हुआ। इस जीवन का पर्यावरण के प्रभाव के कारण विकास होने लगा। धीरे-धीरे इसी प्रारभिक जीवन से अन्य प्राणियों की उत्पत्ति हुई। सृष्टि का आदि-काल सतयुग नहीं था, उसमें तो मनुष्य ही नहीं था, मनुष्य तो सृष्टि प्रारभ होने के अरबों साल पीछे पैदा हुआ, उसका तो शुरू में नामोनिशान तक न था। शुरू-शुरू में, मनुष्य के पैदा होने से पहले अन्य प्राणी उत्पन्न हुए, फिर चौपाये हुए, फिर दोपाये हुए, फिर वानर हुए, और तब कहीं जाकर मनुष्य पैदा हुआ। वह भी पहले जगली हालत में था, पत्थर के औज़ारो से काम करता था, शिकार से पेट भरता था, जगलों में गुफाओं में रहता था। लाखों सालों के निरीक्षण-परीक्षण के बाद विकास के क्रम में से गुज़रता हुआ वह उस अवस्था में पहुँचा है जिसमें हम उसे आज पाते हैं।

विकासवाद के पास अपनी इस स्थापना का क्या प्रमाण है—यह हमने देखना है। हम पहले अध्याय में लिख आये हैं कि 'मानव-शास्त्र' का एक आधार-स्तम्भ 'पुरातन-विज्ञान' ([1]Paleontology) है। 'पुरातन-विज्ञान' (Paleontology) तथा 'पुरातत्व-विज्ञान' (Archeology) में भेद है। यह भेद क्या है ? 'पुरातत्व-विज्ञान' (Archeology) में तो जमीन में गडे या जमीन के बाहर मिले प्राचीन मानव के उपकरणों, उसके हथियारो, उसकी वस्तुओ, बरतनो, जेवरो, मकानो—इन सब का अध्ययन किया जाता है, 'पुरातन-विज्ञान' (Paleontology) में जमीन में गडे, चट्टानो में दबे, गुफाओ में पडे वनस्पतियो, जन्तुओं तथा मनुष्यों के 'प्रस्तरित-अस्थि-पजरों' (Fossils) का अध्ययन करके भू-गर्भ-शास्त्र के आधार पर इन 'प्रस्तरितों' का काल निर्णय करना होता है। 'पुरातन-विज्ञान' (Paleontology) ने भूमि के गर्भ में स्थित प्राणियों के 'प्रस्तरितों' (Fossils) का जो अध्ययन किया है, उसके आधार पर विकासवादी कहते हैं कि सृष्टि के शुरू-शुरू में जीवधारी प्राणी नहीं उत्पन्न हुए थे, इसलिए नहीं उत्पन्न हुए थे क्योकि अत्यन्त प्राचीन-काल के भूमि के स्तरो में किसी जीवधारी का कोई नामोनिशान, उसकी हड्डी आदि कुछ नहीं मिलता, उसके बाद धीरे-धीरे प्राणियों के अवशेष मिलने लगते हैं। बहुत पुराने स्तर में मानव की अस्थियो के अवशेष नहीं पाये जाते, अन्य प्राणियों के पाये जाते हैं। भूमि के जिस स्तर में मानव की अस्थियो के 'प्रस्तरित-अवशेष' (Fossilized remains) पाये जाते हैं, मनुष्य उसी स्तर के काल का माना जाना उचित है, उससे पहले के काल का नहीं।

भूमि के अत्यन्त प्राचीन-स्तरो का अध्ययन करते-करते 'पुरातन-विज्ञान' (Paleontology) जब उस स्तर पर आ जाता है जहां मानव के पथराये हुए अस्थि-पजर मिलने लगते हैं, तब इसी 'पुरातन-विज्ञान' (Paleontology) को 'पुरातन-विज्ञान' न कहकर 'पुरातन मानव-विज्ञान' (Human Paleontology) का नाम दे दिया जाता है। 'पुरातन-विज्ञान' में सब जीव-जन्तुओ के प्रस्तरित-अवशेषो का भूमि के स्तर के काल के आधार पर उनका काल-निर्णय किया जाता है, 'पुरातन-मानव-विज्ञान' में मनुष्य के प्रस्तरित-अवशेषो का भूमि के स्तर के काल के आधार पर काल-निर्णय किया जाता है।

'पुरातन-विज्ञान' (Paleontology) तथा 'पुरातन मानव-विज्ञान' (Human Paleontology) ने भूमि के प्राचीन स्तरो तथा प्रस्तरित प्राणियो और प्रस्तरित मानव के अवशेषो के आधार पर जीव-जन्तुओं का तथा मानव का जो काल निर्णय किया है, वह निम्न प्रकार है

---

1 Paleontology=Greek word *Palaios*, ancient, *Onta*, being, *Logos*, discourse

२ अति-प्राचीन-युगो के विकास का क्रम

(मनुष्य के विकाम मे पहले)

सब से प्राचीन युग में तो जीवन था ही नहीं, इसे 'अजीव-युग' (Azoic period) कहा जाता है। इसके बाद 'जीव-युग' आता है जिसके दो भाग हैं। पहले भाग में तो मनुष्य से इतर प्राणी उत्पन्न हुए, दूसरे भाग में मनुष्य से मिलते-जुलते प्राणी तथा मनुष्य हुआ। मनुष्य से इतर प्राणियो का काल निम्न-प्रकार है:

(क) 'अति-सुपुरा जीव-युग' ([1]Archeozoic period)—जीवन की दृष्टि से यह सृष्टि का सबसे पहला युग है। इसके साथ हमने 'अति' और 'सुपुरा' लगा दिया है। 'सुपुरा' का अर्थ है, 'सु' और 'पुरा' अर्थात् पुराने से भी बढ़ा-चढा —'अति सुपुरा'—अर्थात् अत्यन्त, अत्यन्त पुराना युग। इसे 'अति-अति प्राथमिक युग' (Remotest Primary Period) भी कहा जा सकता है। इस युग में 'एक-कोशीय-जीव' (Uni-cellular life) उत्पन्न हुआ। जीव-जन्तुओ का शरीर कई कोशो (Cells) से मिल कर बनता है, परन्तु उस समय जीवन का प्रारभ ही हुआ था, इसलिए जो भी जीव था, वह 'अनेक कोशों' से मिल कर नहीं बना था, सिर्फ 'एक कोश' का जीव था। 'पुरातन-शास्त्रियों' तथा 'भू-गर्भ-शास्त्रियों' का कहना है कि पृथिवी की आज तक की २ अरब साल आयु है। इस २ अरब साल की आयु का ३० प्रतिशत समय इसी एक-कोशीय-जीव में बीता। यह समय आज से १,५००,०००,००० साल पहले शुरू हुआ। बहुत दीर्घ काल तक हमारी पृथिवी पर 'एक-कोशीय-जीव' (Uni-cellular life) ही रहा।

(ख) 'सुपुरा जीव-युग' ([2]Proterozoic period)—यह पृथिवी का अगला युग है। इसमें हमने 'अति' हटा कर सिर्फ 'सुपुरा' रहने दिया है। इसे 'अति-प्राथमिक-युग' (Remote Primary period) भी कहा जा सकता है। इस समय 'एक-कोशीय-जीव' (Uni-cellular life) से 'अनेक-कोशीय-जीव' (Multi-cellular life) का प्रारभ हुआ। 'अनेक-कोशीय-जीव' में भी दो तरह के प्राणी होते है—रीढ़ की हड्डी वाले, और बिना रीढ़ की हड्डी वाले। इस युग में बिना रीढ़ की हड्डी वाला 'अनेक-कोशीय जीव' विकसित हुआ। इसे 'अपृष्ठ-वंशीय-जीव' (Invertebrate life) कहा जाता है क्योंकि रीढ की हड्डी को सस्कृत में 'पृष्ठ-वश' कहते है। घोंघे, कीड़े आदि इसी युग की उपज हैं। पृथिवी की आज तक की २ अरब साल की आयु का २५ प्रतिशत समय इसी युग के विकास में बीता। यह समय आज से ९२५,०००,००० साल पहले शुरू हुआ।

---

1 Archeozoic=Greek word . *Archaios*, ancient, *Zoe*, life
2 Proterozoic=Greek word *Proteros*, before, *Zoe*, life

(ग) 'पुरा-जीव युग' ([1]Paleozoic period)—इस युग में से हमने 'सु' भी हटा दिया है, सिर्फ 'पुरा' शब्द रखा है। पहले युग को 'अति-अति प्राथमिक', दूसरे युग को 'अति प्राथमिक' तथा इस युग को 'प्राथमिक-युग' (Primary period) भी कहते हैं। इस समय 'अपृष्ठ-वंशीय' (Invertebrate) के स्थान में 'पृष्ठ-वंशीय' (Vertebrate life) जीव उत्पन्न हुए। मछलियाँ, ग्राह, जल-थल-चारी, रेंग कर चलने वाले जानवर (सरीसृप) इसी युग में उत्पन्न हुए। इस युग में पृथिवी की आज तक के २ अरब साल का ३० प्रतिशत समय लगा। यह समय आज से ५५०,०००,००० साल पहले शुरू हुआ।

(घ) 'मध्य-जीव-युग' ([2]Mesozoic period)—पहले तीन युगों को हमने 'पुरा-जीव' या 'प्राथमिक' कहा है, इसलिए इन तीनों के बाद आने वाला यह युग 'मध्य-जीव-युग' या 'द्वितीय-युग' (Secondary period) कहा जाता है। इस युग में 'सरीसृप' (Reptiles) तो हुए ही, साथ ही उड़ने वाली चिड़ियाएँ, और छोटे दर्जे के 'स्तनन्धय' (Mammals) भी इस समय प्रकट हुए। इस युग में पृथिवी की आज तक की २ अरब आयु का ११ प्रतिशत समय लगा। यह समय आज से १९०,०००,००० साल पहले शुरू हुआ।

(ङ) 'नव-जीव-युग' ([3]Cainozoic or Cenozoic period)—पुरातन-शास्त्री तथा भूगर्भ-शास्त्री इस युग को 'तृतीय तथा चतुर्थ युग' (Tertiary and Quarternary period) भी कहते हैं। इस युग का बड़े-बड़े 'स्तनन्धयों' (Mammals) से प्रारंभ हुआ, और अन्त मनुष्य के प्रादुर्भाव से हुआ। यह समय आज से साढ़े पाँच करोड़ अथवा ५५,०००,००० साल पहले शुरू हुआ।

मनुष्य का प्राणी-जगत् में स्थान समझने के लिए अन्य युगों को समझना इतना आवश्यक नहीं जितना इस युग को समझना आवश्यक है—इसलिए हम इस युग का कुछ विस्तार से वर्णन करेंगे :—

३ 'नव-जीव-युग' में मनुष्य का प्रादुर्भाव

(मनुष्य के विकास का काल)

जैसा हमने अभी कहा, भूगर्भ-शास्त्री इस 'नव-जीव-युग' को दो भागों में बाँटते हैं—'तृतीय-युग' (Tertiary period) तथा 'चतुर्थ-युग' (Quarternary period)। 'तृतीय' तथा 'चतुर्थ' इसलिये क्योंकि इनसे पहले युगों को हम 'प्राथमिक' तथा 'द्वितीय' कह आये हैं। 'तृतीय-युग' में 'जेरवाले स्तनन्धय' (Placental mammals) उत्पन्न हुए, मनुष्य-जैसी शक्लवाले छोटे-छोटे बन्दर सरीखे जानवर उत्पन्न हुए, और 'चतुर्थ-युग' में दो पाँओं से खड़े होकर चलने वाले जानवर उत्पन्न हुए, और होते-होते आज का मनुष्य प्रकट हो गया। भूगर्भ-शास्त्रियों ने 'तृतीय-युग' तथा 'चतुर्थ-युग' को तीन-तीन हिस्सों में बाँटा है।

---

1 Paleozoic=Greek word *Paleos*, ancient, *Zoe*, life
2 Mesozoic=Greek word . *Mesos*, middle, *Zoe*, life

इस प्रकार इस सम्पूर्ण 'नव-जीव-युग' (Cainozoic period) को उन्होंने छ हिस्सों में बांट दिया है।

['नव-जीव-युग'-सबंधी तृतीय-युग के तीन हिस्से]

(क) 'प्रादि-नूतन-युग' ([1]Eocene period)—इसमें 'जेरवाले स्तनन्धय' (Placental mammals) उत्पन्न हुए। यह युग ४५,०००,००० साल पहले शुरू हुआ। इसे हमने प्रादि इसलिए कहा है क्योंकि सस्कृत में 'प्र' का अर्थ है—वहुत, 'आदि' का अर्थ है—शुरू का। 'प्रादि' का अर्थ हुआ—'वहुत शुरू का'।

(ख) 'आदि-नूतन-युग' ([2]Oligocene period)—इसमें मनुष्य जैसी शक्ल के छोटे-छोटे वन्दर सरीखे जानवर (First Small Anthropoid Apes) उत्पन्न हुए। यह युग ३०,०००,००० साल पहले शुरू हुआ। इसे हमने 'आदि-नूतन-युग' का नाम दिया है, इसमें 'प्रादि' के साथ लगे 'प्र' अर्थात् 'वहुत' को हटा दिया है।

(ग) 'मध्य-नूतन-युग' ([3]Miocene period)—इसमें वर्तमान वन्दरों के पूर्वज (Ancestors of Present Great Apes) तथा मनुष्य की-सी शक्ल (Humanoid forms) के जानवर उत्पन्न हुए। यह युग १९,०००,००० साल पहले शुरू हुआ। इस युग के 'आदि' के वाद होने के कारण हमने इसे 'मध्य' का नाम दिया है, 'मध्य'—अर्थात् 'वीच का'।

उक्त तीनो तो 'तृतीय-युग' के विकास के क्रम हैं। इसके वाद 'चतुर्थ-युग' के विकास के तीन क्रम निम्न हैं —

['नव-जीव-युग'-सबंधी चतुर्थ-युग के तीन हिस्से]

(क) 'अति-नूतन-युग' ([4]Pliocene period)—इस काल में पहले-पहल वह जानवर पैदा हुआ जो खडा होकर चल सकता था। पुरातन-शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र तथा प्राणी-शास्त्र में उस जानवर को 'पियेकैन्थ्रोपस इरेक्टस' (Pithecanthropus erectus) कहा है। आज से ७,०००,००० साल पूर्व यह युग शुरू हुआ।

(ख) प्राति-नूतन-युग या 'हिम-युग' ([5]Pleistocene or glacial period)—इस युग में मनुष्य मनुष्य के रूप में प्रकट हुआ। भूगर्भ-शास्त्र के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस युग में कम-से-कम चार बार भूमि के उत्तरीय गोलार्ध में हिम का महापात तथा प्रवाह हुआ। हिमपात से

---

1 Eocene=Greek word *Eos*, the dawn, *Kainos*, recent
2 Oligocene=Greek word *Oligos*, little, *Kainos*, recent
3 Miocene=Greek word , *Meion*, less, *Kainos*, recent
4 Pliocene=Greek word *Pleion*, more, *Kainos*, recent
5 Pleistocene=Greek word *Pleistos*, most, *Kainos*, recent

पहले का समय १,०००,००० साल है। उसके बाद प्रथम हिमपात (First glacial) आज से ९,००,००० साल पहले हुआ, द्वितीय हिमपात (Second glacial) ७५०,००० साल पहले हुआ, तृतीय हिमपात (Third glacial) २५०,००० साल पहले हुआ; चतुर्थ हिमपात (Fourth glacial) ५०,००० साल पहले हुआ। इसी युग में मनुष्य से मिलते-जुलते किसी प्राणी के अवशेष उपलब्ध होते हैं।

इस युग में जिसे हमने 'प्राति-नूतन-युग' या 'हिम-युग' का नाम दिया है मनुष्य के जो अवशेष उपलब्ध होते हैं उनसे प्रतीत होता है कि इस युग में वह विकास की तीन प्रक्रियाओं में से गुजरा है। इन तीन प्रक्रियाओं के कारण उसके इस समय तीन वर्ग पाये जाते हैं :—

(i) 'भूमिवासी वानर-मानव' (Ground-dwelling Ape-man)—पहला वर्ग तो वह है जिसमें वह भूमि पर रहने वाले बन्दर-के-से मनुष्य के रूप में था। इससे पहले तो वह वृक्षों पर रहा करता था, परन्तु इस युग में वृक्षों के स्थान पर वह भूमि पर रहने लगा। ऐसे मनुष्यों के तीन प्रकार दक्षिण-आफ्रीका में रहते थे, जिन्हें 'आस्ट्रालोपिथेकस' (Australopithecus), 'प्लेसी एन्थ्रोपस' ([1]Plesianthropus) तथा 'पेरेन्थ्रोपस' ([2]Paranthropus) कहते हैं। ये प्राणी बन्दरों से इतने नहीं मिलते थे जितने मनुष्यों से मिलते थे। इनके मस्तिष्क मनुष्य से बहुत छोटे थे। मनुष्य की तरह ये भूमि पर दो पाओं से चलने लगे थे।

(ii) 'प्राचीन-मानव' (Ancient man)—दूसरा वर्ग वह है जिसमें उसका मस्तिष्क कुछ बड़ा पाया जाता है, और वह वर्तमान मनुष्य के कुछ अधिक निकट आ गया है। ऐसे मनुष्यों के अस्थि-अवशेष जावा में पाये गये हैं जिन्हें 'पिथेकैन्थ्रोपस' ([3]Pithecanthropus) कहते हैं, पेकिंग में पाये गये हैं जिन्हें 'सिनैन्थ्रोपस' (Sinanthropus) कहते हैं, साउथ इंगलैण्ड में पाये गये हैं जिन्हें 'इओन्थ्रोपस' ([4]Eoanthropus) कहते हैं, पश्चिमी-युरोप, सुदूर-पूर्व तथा मध्य-एशिया में पाये गये हैं जिन्हें 'निएन्डरथल-मानव' (Neanderthal Man) कहते हैं। यह 'निएन्डरथल-मानव' वर्तमान-मानव के अत्यन्त निकट है, और ऐसा पता चलता है कि जहाँ-जहाँ यह मानव वर्तमान-मानव के सपर्क में आया, इन दोनों ने आपस में सन्तानोत्पत्ति की। भूगर्भ-शास्त्रियों का कहना है कि 'प्राति-नूतन-युग' (Pleistocene period) के अन्तिम भाग

---

1 Plesianthropus = Greek *Plesios*, near, *Anthropos*, man
2 Paranthropus = Greek *Para*, beside. *Anthropos*, man,
3 Pithecanthropus = Greek *Pithekos*, an ape; *Anthropos*, man
4 Eoanthropus = Greek : *Eos*, (संस्कृत-उषस्) dawn, *Anthropos*, man

में पैलेस्टाइन के कारमल पर्वत के निकट 'निएन्डरथल-मानव' और 'वर्तमान-मानव' के मिल-जुल कर सन्तति उत्पन्न करने के अनेक प्रमाण मिलते है। हम इन सब मानवो पर आगे चल कर कुछ विस्तार से लिखेंगे।

(iii) वर्तमान-मानव (Modern Man)—वर्तमान-मानव जिस रूप में दीख पडता है वह लगभग २५ हजार वर्ष पहले पश्चिमी-युरोप तथा भूमध्य-सागर के प्रदेश में प्रकट हुआ। इस मानव का प्रारंभिक रूप जो पुरातन-शास्त्रियो तथा भूगर्भ-शास्त्रियो को ज्ञात है, उसे 'क्रो-मैगनन' (Cro-Magnon Man) कहते हैं, क्योकि पहले-पहल उसके अवशेष क्रो-मैगनन प्रदेश में ही पाये गये। यह मानव युरोप में कहां से आया, इस विषय में अभी तक कुछ ज्ञात नहीं है, परन्तु इतना कहा जा सकता है कि इसने क्षेत्र में पदार्पण करने के बाद 'निएन्डरथल-मानव' का स्थान ग्रहण कर लिया, और इससे पूर्व मानव के जो रूप थे, वे सब लुप्त हो गये, और तब से आज तक यही 'वर्तमान-मानव' ससार में राज्य कर रहा है। इस 'क्रो-मैगनन' (Cro-Magnon) को ही 'होमो-सेपियन्स' ([1]Homo Sapiens) कहते हैं—'होमो सेपियन्स' जिसे हिन्दी के लेखक 'मेधावी-मानव' का नाम देते हैं।

'वर्तमान-मानव' कहां से आ टपका—इस सबध में विकासवाद ने अभी तक अपना अन्तिम निर्णय नहीं दिया। इसमें सन्देह नहीं कि बन्दर से मनुष्य की शारीरिक-रचना का बहुत साम्य है, फिर भी शरीर-रचना-शास्त्रियों की दृष्टि में इन दोनों की शारीरिक-रचना में इतना भेद भी है कि बन्दर से मनुष्य का विकास हुआ—ऐसा नहीं कहा जा सकता। ज्यादा-से-ज्यादा विकासवादी जो कहते हैं वह यही है कि ऐसा कोई प्राणी हुआ होगा जिससे बन्दर तथा मनुष्य—इन दोनो का विकास हुआ, जिसे विकास की शृंखला में 'लुप्त-कडी' (Missing link) कहा जाता है। परन्तु यह प्राणी कहां हुआ, कब हुआ, हुआ भी या नहीं हुआ—इस विषय में विज्ञान सर्वथा मौन है।

(ग) 'सर्व-नूतन-युग' ([2]Holocene or Recent period)—'नव-जीव-सबधी' दो युगों का वर्णन हमने अभी किया। एक तृतीय युग, दूसरा चतुर्थ-युग। तृतीय-युग के हमने तीन भाग किये थे जिनका वर्णन हम कर चुके हैं। चतुर्थ-युग के भी हमने तीन भाग किये थे जिनमें से दो का वर्णन हमने अभी-अभी किया—'अति नूतन-युग और 'प्राति-नूतन-युग'। चतुर्थ-युग के इन दो युगों के अलावा तीसरा युग है—'सर्व-नूतन-युग'। 'सर्व-नूतन-युग' वर्तमान-युग का ही दूसरा नाम है। जैसा हमने अभी कहा था, इस युग का प्रारभ २५ हजार वर्ष पहले हुआ। अनुमान किया जाता है कि आज से १० हजार वर्ष पूर्व मनुष्य ने फिरन्दर-

---

1 Homo sapiens = Latin. *Homo*, man, *Sapiens*, wise
2 Holocene = Greek : *Holos*, entire, *Kainos*, recent

जीवन छोड कर पशु-पालन, कृषि करना, और छोटी-छोटी झोपडियां बना कर एक जगह रहना सीख लिया था। इससे पहले युग में वह अघड पत्थरो के उपकरणों का इस्तेमाल करता था और उसे 'पूर्व-पाषाण-युग' ([1]Paleolithic age) कहते हैं। आज से १० हजार से ५ हजार वर्ष पहले मनुष्य ने पत्थरो के सुगढ़ औजार बनाने शुरू कर दिये थे, और 'नव-पाषाण-युग' ([2]Neolithic age) का सूत्र-पात हो गया था। इसके बाद भिन्न-भिन्न पदार्थों का उपयोग करना उसने सीखा। 'पाषाण-युग' (Stone age) के बाद के युगो को 'ब्रोंज-युग' (Bronze age), 'लौह-युग' (Iron age), 'कोयला-युग' (Coal age) आदि नाम दिये जाते हैं। बीसवीं सदी के हाल के युग को 'अणु-युग' (Atomic age) कहा जा सकता है—इसमें मनुष्य धातुओं की अपेक्षा सभवत. अणु-शक्ति से अधिक काम लेना शुरू करे। धीरे-धीरे इसी प्रकार संसार की सभ्यताओं ने जन्म लिया—भारत, मैसेपोटामिया, ईजिप्ट आदि सभ्यताएँ हजारो वर्ष पुरानी हैं। होते-होते मनुष्य ने अन्य अनेक सभ्यताओं का विकास किया, और विकसित होते-होते वह वर्तमान समय पर आ पहुँचा।

सृष्टि के प्रारंभ से आज तक ससार विकास के जिन-जिन युगों में से गुजरा है, उन सब युगों का एक-दृष्टि में निरीक्षण करने के लिए अगले पृष्ठ में एक चित्र दिया जा रहा है जिससे यह स्पष्ट हो जायगा कि सृष्टि किस-किस क्रम में से गजरी है, और आज कहाँ आकर खडी हुई है:—

---

1 Paleolithic = Greek : *Palaios*, ancient, *Lithos*, stone.
2 Neolithic = Greek : *Neos*, new ; *Lithos*, stone

जब कोई प्राणी नही था तब 'अजीवीय-काल' (Azoic p) था, उसके बाद दो अरब वर्ष हुए 'जीवीय-काल' आया। उसका चित्र –

१ अति-सु-पुरा-जीवीय काल (Archeozoic p)	अति-अति प्राथमिक काल (Remotest primary p)		इस युग में पृथ्वी की आयु का ३० प्रतिशत समय लगा और यह डेढ से दो अरब वर्ष पहले शुरू हुआ	इस युग में एक-कोशीय-जीव (Uni-cellular life)
२ सु-पुरा-जीवीय काल (Proterozoic p)	अति-प्राथमिक काल (Remote Primary p)		इसमें २५ प्रतिशत समय लगा और ६२५,०००,००० वर्ष पहले शुरू हुआ	अपृष्ठ-वशीय जीव (Invertebrate)
३ पुरा-जीवीय काल (Paleozoic p)	प्राथमिक काल (Primary period)		इसमें ३० प्रतिशत समय लगा और ५५०,०००,००० वर्ष पहले शुरू हुआ	पृठ-वशीय जीव (Vertebrate)
४ मध्य-जीवीय काल (Mesozoic p)	द्वितीय काल (Secondary period)		इसमें ११ प्रतिशत समय लगा और १६०,०००,००० वर्ष पहले शुरू हुआ	सरीसृप (Reptiles)
५ पर-वर्ती काल (Cainozoic p)	तृतीय काल (Tertiary period)	प्रावि नूतन काल (Eocene p)	यह युग ६ से ४॥ करोड वर्ष पहले शुरू हुआ	जेर वाले स्तनन्धय (Placental mammals)
		आदि नूतन काल (Oligocene p)	यह युग ३ करोड वर्ष पहले शुरू हुआ	छोटे मानव-सदृश वानर (Small Anthropoid Apes)
		मध्य नूतन काल (Miocene p)	यह युग १६,०००,००० वर्ष पहले शुरू हुआ	महा-वानर के पूर्वज (Ancestors of great Apes)
	चतुर्थ काल (Quarternary p)	अति नूतन काल (Pliocene p)	यह युग ७,०००,००० वष पहले शुरू हुआ	सीधे खडे होने वाले वानर (Pithecanthropus Erectus)
		प्राति नूतन या हिम काल (Pleistocene or Glacial p)	यह युग १,०००,००० वर्ष पहले शुरू हुआ	१ अति प्राचीन मानव २ प्राचीन मानव ३ वर्तमान मानव ४ फिरदर मानव ५ चरवाहा मानव
		सर्व-नूतन काल (Holocene p)	यह युग २० से २५ हजार वर्ष पहले	

४ भारत में सृष्टि का युग

जिस प्रकार आज के मानव-शास्त्री सृष्टि के युग मानते हैं, इसी प्रकार भारत के मानव-शास्त्री अपने ढग से सृष्टि के युग मानते थे जिन्हें उन्होंने सत-युग, द्वापर, त्रेता तथा कलियुग का नाम दिया था। इन युगों की गणना के अनुसार सन् १९५८ में सृष्टि को बने १,९७,२९,४९,०६० वर्ष हुए हैं। यह संख्या वर्तमान भूगर्भ-शास्त्रियो की सख्या से आश्चर्यजनक तौर पर मिलती है। हिन्दुओ की गणना का आधार निम्न हैं .

ससार कितने वर्ष रहेगा, इसका उत्तर अथर्ववेद में देते हुए लिखा है—'शत तेऽयुत हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्म '—अर्थात्, ४, ३, २—इन अको के आगे दस लाख सख्या सूचित करने वाले शून्य लगा देने से जो सख्या बनती है, वह सृष्टि का समय है—सृष्टि प्रारंभ से अत तक इतने समय रहेगी। यह सख्या ४,३२,००,००,००० (चार अरब बत्तीस करोड वर्ष) बनती है। इतने वर्ष सृष्टि रहती है, फिर इतने ही वर्ष प्रलय रहता है।

सृष्टि के ४ अरब बत्तीस करोड वर्ष होते हैं, परन्तु सृष्टि में १४ मन्वन्तर माने गये हैं, और, एक-एक मन्वन्तर में ७१ चतुर्युगी मानी गई हैं। चतुर्युगी का मतलब है—कलियुग द्वापर, त्रेता, सत्ययुग। कलियुग के जितने वर्ष हैं, उससे दुगुने द्वापर के, तिगुने त्रेता के, चौगुने सत्ययुग के माने गये हैं। कलियुग का काल ४३,२००० (चार लाख बत्तीस हजार वर्ष) माना गया है। इस प्रकार एक चतुर्युगी का समय हुआ, ४३,२०००+८,६४,०००+१,२९,६०००+१७ २८,०००=४३,२०,००० (तिरतालीस लाख बीस हजार) वर्ष। क्योंकि ७१ चतुर्युगी का एक मन्वन्तर होता है, इसलिए एक मन्वन्तर का समय हुआ, ४३,२०,०००×७१ = ३० ६७,२०,००० (तीस करोड सरसठ लाख बीस हजार) वर्ष।

एक सृष्टि में १४ मन्वन्तर होते हैं, अत १४ मन्वन्तरो का समय हुआ, ३०,६७,२०,०००×१४=४,२९,४०,८०,००० (४ अरब, २९ करोड ४० लाख, ८० हजार) वर्ष।

परन्तु एक-एक मन्वन्तर के बाद एक-एक सन्धिकाल आता है, और सृष्टि के प्रारंभ में भी एक सन्धिकाल होता है। इस हिसाब से १४ मन्वन्तर हैं, तो १४ सन्धिकाल हुए, और एक सन्धिकाल है सृष्टि से प्रारभ का। कुल १५ सन्धिकाल हो गये। एक-एक सन्धिकाल का समय एक सत्ययुग का समय माना गया है। सत्ययुग का समय है—कलियुग से ४ गुणा—अर्थात्, १७,२८,००० वर्ष। इस प्रकार सृष्टि में १५ सन्धिकालो का कुल समय हुआ १७,२८,०००×१५=२,५९,२०,००० (दो करोड, उनसठ लाख, बीस हजार) वर्ष।

इस हिसाब से सृष्टि का कुल समय निम्न प्रकार हुआ —

१४ मन्वन्तरों का समय—	४,२९,४०,८०,००० वर्ष
१५ सन्धिकालों का समय—	२,५९,२०,००० वर्ष
कुल	४,३२,००,००,००० वर्ष

हिन्दू-गणना के अनुसार इस समय तक ६ मन्वन्तर वीत चुके हैं, और ७वें मन्वन्तर की २७ चतुर्युगियां बीत चुकी हैं। २८वीं चतुर्युगी के ३ युग बीत गये, और कलियुग चल रहा है। इस हिसाब से सृष्टि को उत्पन्न हुए जो वर्ष बीते हैं, उनका हिसाब निम्न है —

(१) छ मन्वन्तरो के बीते वर्ष ३०,६७,२०,००० × ६ = १,८४,०३,२०,०००

(२) २७ चतुर्युगियों के बीते वर्ष ४३,२०,००० × २७ = १,१६,६४०,०००

(३) २८वीं चतुर्युगी के ३० युगो के बीते वर्ष
(एक चतुर्युगी में से कलियुग के वर्ष घटा दिये) = ३८,८८,०००

(४) छ मन्वन्तरो के सन्धिकाल
(५) तथा ७वां प्रारभिक सधिकाल } = १७,२८,००० × ७ = १२,०९,६०००

(६) प्रचलन के अनुसार सन् १९५८ तक वीते वर्ष सवत् २०१५ तक ५०५९

इस प्रकार अब तक का सृष्टि का समय = १९६२९४९०५९

यह सख्या २ अरब वर्ष के लगभग आ पहुँचती है, जो वर्तमान भू-गर्भ-शास्त्रियो की सख्या से मिलती है।

ऊपर के हिसाब में जो प्रचलन के अनुसार ५०५९ वर्ष हमने जोडे हैं, वह प्रचलन है—"द्वितीय परार्द्धे वैवस्वत मन्वन्तरे। अष्टाविंशतिकलौ युगे ५०५९ गताब्दे जम्बू द्वीपे भरत खडे "—इत्यादि। यह सकल्प प्रत्येक हिंदू अपने सस्कार कराता हुआ पढ़ता है।

ऊपर जो १४ मन्वन्तरों का वर्णन किया गया है, वे हैं—१ स्वायभुव, २ स्वारोचिष, ३. औत्तमि, ४ तामस, ५ रैवत, ६ चाक्षुष, ७ वैवस्वत, ८ सावर्णि, ९ दक्ष सावर्णि, १०. ब्रह्म सावर्णि, ११. धर्म सावर्णि, १२ इन्द्रपुत्र, १३ रौच्य तथा १४ भौत्य।

५. भिन्न-भिन्न प्रकार के मानव-अवशेषो की कहानी

भूगर्भ-शास्त्र की दृष्टि से सृष्टि के कौन-कौन-से काल हैं, और इन कालों में किस काल में मानव का प्रादुर्भाव हुआ—यह हमने संक्षेप में देखा। अगले प्रकरण में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि प्राचीन-काल की मानव-सम प्राणियों की जो प्रस्तरित अस्थियां (Fossils) मिली हैं, वे कौन-कौन-सी हैं ? यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें से कौन किसका पूर्वज है। हो सकता है कोई किसी का पूर्वज हो, हो सकता है न भी हो, हो सकता है सब स्वतन्त्र रूप से धराधाम में अवतीर्ण हुए हों, हो सकता है वे सब किसी एक विकास की शृखला में कडी हो। प्राचीन-मानव को जानने के लिए इनका जानना आवश्यक है इसलिए, यद्यपि इनमें से मुख्य-मुख्य का ऊपर के विवरण में जहाँ-तहाँ उल्लेख आया है, हम इनका अलग-से वर्णन करेंगे। मनुष्य के इन आदि-गामियो या मनुष्य के इन मिलते-जुलते मानव-प्राणियो का, जिनके अवशेष जहाँ-तहाँ मिले हैं, विवरण अगले अध्याय में दिया जा रहा है। इन आदि-गामियो में से मुख्य-मुख्य निम्न हैं :—

आफ्रीका में मिले प्रस्तरित अवशेष

(१) आफ्रीकन मानव-वानर (Australopithecus Africanus or Taungs ape)
(२) टेलेंन्थ्रोपस केपेनसिस (Telanthropus capensis)
(३) रोडेशियन-मानव (Rhodesian man)
(४) बोस्कोप-मानव (Boskop man)

एशिया मे मिले प्रस्तरित अवशेष

(५) जावा का मानव (Pithecanthropus erectus or Ape-man of Java)
(६) मोडजोकरटेनसिस-मानव (Homo Modjokertensis or Pithecanthropus II)
(७) चीनी-मानव (Sinanthropus Pekinensis or Peking man)
(८) वादजक-मानव (Wadjak man)
(९) सोलो-मानव (Solo-man or Homo Solensis)

युरोप में मिले प्रस्तरित अवशेष

(१०) डाउसन-मानव या उष मानव (Eoanthropus dawsoni or Piltdown man or Dawn-man)
(११) स्वानकोम्बे-मानव (Swancombe man)
(१२) हीडलवर्ग-मानव (Heidelberg man)
(१३) नियेन्डरथल-मानव (Neanderthal man)
(१४) मेंघावी-मानव (Homo Sapiens)
(१५) ग्रिमाल्डी-मानव (Grimaldi man)
(१६) क्रो-मैंग्नन-मानव (Cro-Magnon man)

४

मानव की उत्पत्ति तथा विकास में प्रस्तरित-मानव

(FOSSIL MAN IN HUMAN EVOLUTION)

१ 'नव-जीव-युग' के 'प्राति-नूतन-काल' में मनुष्य हुआ

(Man appeared in Pleistocene period of Cainozoic age)

हम अभी पिछले अध्याय में लिख आये हैं कि सृष्टि के जितने भी युग हैं, उनमें मानव के विकास के अध्ययन के लिए 'नव-जीव-युग' (Cainozoic age) ही आवश्यक है। इस युग के हमने दो भाग किये थे—तृतीय तथा चतुर्थ युग (Tertiary and Quarternary periods)।

तृतीय के हमने निम्न तीन हिस्से किये थे —

(क) 'प्रादि-नूतन-युग' (Eocene period)
(ख) 'आदि-नूतन-युग' (Oligocene period)
(ग) 'मध्य-नूतन-युग' (Miocene period)

चतुर्थ के हमने निम्न तीन हिस्से किये थे —

(क) 'अति-नूतन-युग' (Pliocene period)
(ख) 'प्राति-नूतन-युग' (Pleistocene or Glacial period)
(ग) 'सर्व-नूतन-युग' (Holocene or Recent period)

उक्त छ युगो में से 'अति-नूतन-युग' (Pliocene period) को कई लेखक तृतीय की श्रेणी में रख कर पहले के चार और दूसरे के दो हिस्से करते हैं, जिन्हे निम्न प्रकार प्रकट किया जा सकता है —

तृतीय के निम्न चार हिस्से :—

(क) 'प्रादि-नूतन-युग' (Eocene period)
(ख) 'आदि-नूतन-युग' (Oligocene period)
(ग) 'मध्य-नूतन-युग' (Miocene period)
(घ) 'अति-नूतन-युग' (Pliocene period)

चतुर्थ के निम्न दो हिस्से —

(क) 'प्राति-नूतन-यग' (Pleistocene or Glacial period)
(ख) 'सर्व-नूतन-युग' (Holocene or Recent period)

इनमें से पहले चार युगो में लेमूर, टारसीयस, बन्दर, ओरगटाग, चिपाञ्जी, गोरिल्ला आदि हुए, 'प्राति-नूतन-युग' (Pleistocene period) में मानव-सम प्राणी हुए, 'सर्व-नूतन-युग' (Holocene period) में मानव हुआ।

२ 'प्राथमिक-वर्ग' तथा 'मनुष्य' (Primates and Man)

मनुष्य का पूर्वज कौन था—क्या वन्दर से मनुष्य हुआ या किसी अन्य प्राणी से मानव का विकास हुआ—इस विषय में निश्चित तौर पर कुछ भी कह सकना कठिन है। कई लोगों का कथन है कि मनुष्य के निर्माण में प्रकृति के असफल प्रयास का नाम वन्दर है, परन्तु यह तभी कहा जा सकता है अगर यह सिद्ध हो जाय कि धीरे-धीरे वन्दर से ही मनुष्य का विकास हुआ, स्वतत्र रूप में नहीं। ऐसा-कुछ अभी तक विज्ञान ने सिद्ध नहीं किया। पुरातन-शास्त्रियो का कहना सिर्फ इतना है कि मनुष्य में जो गुण पाये जाते हैं, उन्हें ढूंढते-ढूंढते हमें अनेक प्राणी ऐसे मिलते हैं जिनकी शारीरिक रचना मनुष्य के कुछ-कुछ आस-पास की है, इनमें वन्दर की रचना अन्य प्राणियो की अपेक्षा मनुष्य से बहुत अधिक मिलती है। मनुष्य का विकास ढूंढते-ढूंढते पुरातन-शास्त्री जिन प्राणियो से अपनी कहानी प्रारभ करते हैं उनका सामूहिक नाम उन्होंने 'प्रायमिक वर्ग' (Primates) रखा है। इन्हें 'प्रायमिक-वर्ग' इसलिए कहते हैं क्योंकि इनसे पहले जो प्राणी हैं उनके साय मनुष्य का किसी प्रकार का सवंध नहीं जोडा जा सकता। हम भी इसी 'प्रायमिक-वर्ग' (Primates) से मनुष्य के विकास की कहानी का प्रारभ करेंगे।

'प्रायमिक-वर्ग' (Primates) में कौन-कौन-से प्राणी आते हैं? इस वर्ग में जो प्राणी गिने जाते हैं उनमें लेमूर, वन्दर, वन-मानुस तथा मानव—ये मुख्य हैं। सबसे पहले १८वीं शताब्दी के मध्य-काल में श्री लिनेइयस (Linnaeus) ने इन सब प्राणियों के लिए 'प्राथमिक-वर्ग' (Primates)—यह नाम रखा। इस नाम का अभिप्राय यह था कि इस 'प्रायमिक-वर्ग' के प्राणियो से शुरू करके ही विकास की शृखला एक-एक कडी के साथ आगे वढती-वढती मनुष्य तक जा पहुँची। इन 'प्रायमिक-वर्ग' के प्राणियो का आपस में सम्वन्ध है—यह कैसे पता लगा? इसका पता लगाने में 'तुलनात्मक शारीर-विज्ञान' (Comparative Anatomy), 'गर्भ-विज्ञान' (Embryology), 'पुरातन-शास्त्र' (Paleontology), 'जीव-रसायन-शास्त्र' (Biochemistry) आदि सभी विज्ञानो से सहायता मिलती है। 'तुलनात्मक शारीर-विज्ञान' से पता चलता है कि किन-किन प्राणियो की शरीर की हड्डियो में समानता है, दाँत एक-से हैं, खोपडी एक-सी है, 'गर्भ-विज्ञान' से पता चलता है कि कौन-कौन-से प्राणी शरीर की वनावट में भिन्नता रखते हुए भी गर्भावस्था में एक-समान हैं; 'पुरातन-शास्त्र' से पता चलता है कि किन प्राणियो के प्रस्तरित अस्थि-पजर सुदूर भूत में पाये जाते हैं और उन अस्थि-पजरों की आजकल के किन प्राणियों से समानता है, 'जीव-रसायन-शास्त्र' से पता चलता है कि किन प्राणियों के रुधिर में एक-दूसरे से समानता है। उदाहरणार्थ, यद्यपि वन्दर और मनुष्य की शारीरिक रचना में भेद है तो भी इन की हड्डियों की रचना, इनके दाँत,

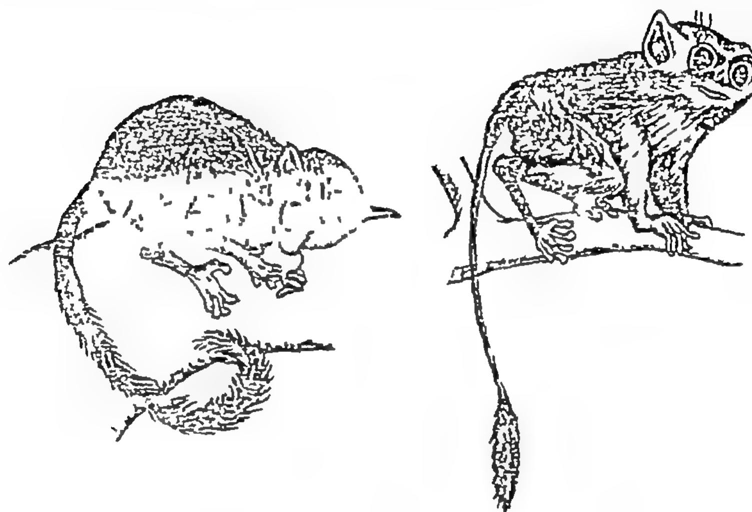
इनकी खोपडी एक-समान हैं, इन की गर्भावस्था की शक्लें एक-सी हैं, इनके प्रस्तरित अस्थि-पजरो में समानता है, इनके रुधिर में समानता का अश है । इन सब बातो से बन्दरो, वनमानुसो तथा अन्य 'प्रायमिक-वर्ग' के प्राणियो का मनुष्यों के साथ एक वर्ग में परिगणित किया जाना स्वाभाविक है ।

जिस प्रकार विकास-वादी प्रायमिक-वर्ग की चर्चा करते हैं उसी प्रकार भारत में भी सृष्टि के प्रारभ में कौन-कौन-से प्राणी हुए—इस बात की चर्चा पायी जाती है। पुराणों में लिखा है कि सृष्टि के प्रारभ में मत्स्यावतार हुआ—उसके बाद अन्य अवतार हुए। मत्स्यावतार का यही अभिप्राय हो सकता है कि पहले-पहले जल-चारी प्राणी हुए। मत्स्यावतार के बाद कूर्मावतार हुआ। कूर्म का अर्थ है—कछुआ। कछुआ जल-थल दोनो पर रह सकता है इसलिए कूर्मावतार का अर्थ है—ऐसे प्राणी जो पानी तथा भूमि दोनो में विचरण कर सकते थे। कूर्मा-वतार के बाद वराहावतार हुआ। इसका अभिप्राय यह है कि कूर्म के बाद ऐसे प्राणी हुए जो पानी से विशेष प्रेम रखते थे, परन्तु भूमि पर निवास करते थे। वराहावतार के बाद नृसिहावतार हुआ। नृसिहावतार में मनुष्य तथा पशु दोनो का मिश्रण है। इसका अभिप्राय ऐसे मानव से हो सकता है जो मनुष्य तथा पशु का मेल था, जिसे आज के विकासवादी 'एन्थ्रोपॉयड' का नाम देते हैं। नृसिहावतार के बाद वामनावतार हुआ—ऐसे मानव का विकास हुआ जो सक्षिप्त रूप में मनुष्य था, अभी मनुष्य रूप में पूर्ण विकसित नहीं हुआ था। इसके बाद रामावतार तथा कृष्णावतार हुए जो पूर्ण कलाओ के मानव थे । बहुत सभव है कि ये सब वर्णन प्राचीन हिन्दुओ के जीवन के विकास की कहानी को सूचित करते हों। इसी प्रकरण में यह भी ध्यान देने की बात है कि मनुष्य-जन्म चौरासी लाख योनियो के बाद मिलता है—यह विचार हिन्दुओ में घर घर पाया जाता है। क्या इसका यह अभिप्राय तो नहीं कि अनेक जीवनों में से विकसित होता होता मनुष्य वर्तमान अवस्था में पहुँचा है? अगर इसका यह अभिप्राय हो, तब तो विकासवादी दृष्टि-कोण पर भारत के विचारक बहुत पहले पहुँच चुके थे। यह ठीक है कि जितने प्रमाण डार्विन तथा उसके अनुयायियो ने अपने पक्ष की पुष्टि में इकट्ठे कर दिये उतने भारतीय विचारको ने नहीं एकत्रित किये, परन्तु विचार की दृष्टि से पहुँचे वे भी वही पर थे जहा आज के विकास-वादी विचारक पहुँचे हैं ।

३ 'प्राथमिक-वर्ग' का श्रेणी-विभाजन
(Classification of the Primates)

'प्रायमिक-वर्ग' (Primates) को विकासवादी तीन भागो में बाँटते हैं—'लेमूर-सदृश' (Lemuroidea), 'टारसियस सदृश (Tarsioidea) तथा 'मानव-सदृश' (Anthropoidea) । 'लेमूरोयाड्डिया' (लेमूर सदृश) में छोटे बन्दर की-सी शक्ल के लेमूर तथा उससे मिलते-जुलते प्राणी गिने जाते हैं। इनके प्रस्तरित अवशेष उत्तरी अमरीका तथा युरोप में पाये गये हैं। ये मैडा-

गास्कर, आफ्रीका तथा ईस्ट इन्डीज में अब भी जीवित पाये जाते हैं। 'टारसिय डिया (टारसियस-सदृश) में टारसियस तथा उससे मिलते-जुलते प्राणी गिने जा हैं। इनके भी प्रस्तरित अवशेष उत्तरी अमरीका तथा यूरोप में पाये गये है टारसियस, लेमूरोयोडिया तथा एन्थ्रोपोयोडिया इन दोनों के बीच का प्राण है। 'एन्थ्रोपोयोडिया' (मानव-सदृश) में पूंछ वाले बन्दर तथा बिना पूंछ



लैमूर टारसियस

वन-मानुस तथा मनुष्य गिने जाते हैं। हमें अपना विषय समझने के लि 'एन्थ्रोपोयोडिया' को समझना आवश्यक है।

'एन्थ्रोपोयोडिया' के विकासवादी दो विभाग करते हैं—विस्तीर्ण नास ([1]Platyrhine) तथा संकीर्ण-नास ([2]Catarhine)। 'पैल्टीराइन में चौडी नाक वाले तथा 'कैटेराइन' में सिकुडी नाक वाले प्राणी गिने जाते है चौडी तथा सुकुडी नाक वाले प्राणियो के शरीर की रचना में इतना भेद है कि य कह सकना सभव नहीं है कि इनमें से कोई एक किसी दूसरे से विकसित हुआ वहुत संभव यही है कि दोनो का स्वतत्र विकास हुआ हो। इनमें से 'सकीर्ण-नास (Catarhine) का मनुष्य के साथ सबध है, 'विस्तीर्ण-नास' (Platyrhine) का नहीं, अत. हम 'सकीर्ण-नास' पर ही आगे विचार करेंगे।

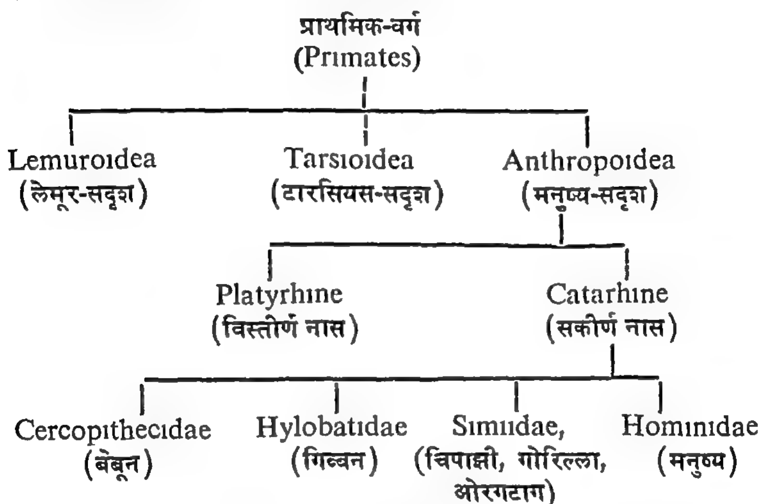
'सकीर्ण-नास' (Catarhine) में फिर चार परिवार आ जाते हैं— 'सरकोपियेसीड (Cercopithecidae), 'हाइलोबेटीड' (Hylobatidae) 'सिमीड' (Simiidae) तथा 'होमीनीड' (Hominidae)। 'सरकोपियेसीड

---

1 Platyrhine = Greek *Platys* Broad, *Rhinos*, nostril

में पूंछ वाले बन्दर तथा बेबून आ जाते हैं, 'हाइलोबेटीड' में छोटे, लम्बी बाहों वाले गिब्बन आ जाते हैं, 'सिमीड' में ओरगटांग, चिपाञ्जी तथा गोरिल्ला आ जाते हैं, 'होमीनीड' में मनुष्य आ जाता है।

विकास में मनुष्य का स्थान समझने के लिए हमने जो-कुछ ऊपर लिखा है, उसे चित्र में निम्न प्रकार प्रकट कर सकते हैं —



ऊपर जो विवरण दिया गया है उसमें दो शब्द ध्यान देने योग्य हैं—एक है 'सिमिड' (Simid) तथा दूसरा है 'होमिनिड' (Hominid)। ये दोनो 'एन्थ्रोपोइडिया' (Anthropoidea) के अवान्तर भेद हैं, परन्तु एक ही नहीं हैं। 'एन्थ्रोपोइडिया' (Anthropoidea) तथा 'एन्थ्रोपोयड' (Anthropoid) में भी भेद है। 'एन्थ्रोपोइडिया' तो 'प्रथम-वर्ग' (Primates) के तीन विभागों में से एक है, परन्तु 'एन्थ्रोपोयड' का अर्थ है—मनुष्य से मिलते-जुलते बन्दर। इस दृष्टि से 'सिमिड' तथा 'एन्थ्रोपोयड' का एक ही अर्थ है क्योंकि 'सिमिड' भी मनुष्य से मिलते-जुलते चिपाञ्जी, गोरिल्ला तथा ओरगटाग का नाम है और 'ऐन्थ्रोपोयड' भी इन्हीं का नाम है। 'एन्थ्रोपिडिया' का 'सिमिड' अवान्तर भेद है, और क्योंकि 'सिमिड' तथा 'एन्थ्रोपोयड' एक ही अर्थ के द्योतक हैं, इसलिए हम कह सकते हैं कि 'एन्थ्रोपिडिया' का 'एन्थ्रोपोयड' अवान्तर भेद है।

'सिमिड' अर्थात् 'एन्थ्रोपोयड-एप' (Anthropoid ape) तथा 'होमिनिड' अर्थात् 'मनुष्य' (Man)—इन दोनो की इतनी समानता है कि विकासवादियों का कहना है कि 'सिमिड' से 'होमिनिड' अर्थात् 'एन्थ्रोपोयड-एप' से 'मनुष्य' का विकास हुआ। 'मनुष्य' तथा 'एन्थ्रोपोयड-एप' में क्या विषमताएँ और क्या समानताएँ हैं—इस पर कुछ विचार कर लेना आवश्यक है जिससे हमें विकासवादियों के दृष्टिकोण को समझने में आसानी हो।

४ 'मनुष्य' तथा 'एन्थ्रोपोयड-एप' की विषमताओं में समानता

'वन्दर' (Monkey) तथा 'एन्थ्रोपोयड-एप' (Anthropoid ape) में भेद है। विकासवादी आम तौर से हमारे शहरों में पाये जाने वाले वन्दर से मनुष्य का विकास नहीं मानते, वे 'एन्थ्रोपोयड-एप' से मनुष्य का विकास मानते है। 'एन्थ्रोपोयड-एप' में गोरिल्ला, चिपाञ्जी ओरगटाग—ये तीन गिने जाते है। विकासवादियो का कहना है कि 'एन्थ्रोपोयड-एप' बन्दर से इतना नहीं मिलता जितना मनुष्य से मिलता है, इसलिए मनुष्य का विकास 'एन्थ्रोपोयड-एप' से हुआ है।

वैसे तो चिपाञ्जी तथा मनुष्य की शारीरिक रचना में वहुत भेद पाया जाता है। कहाँ तो चिपाञ्जी का जवडा आगे को वढा हुआ, पेडों पर शाखा से शाखा को पकडने के लिए लम्वी-लम्वी वाहें और पजे, और कहाँ मनुष्य का जवडा कम वढ़ा हुआ, लम्वी टाँगें और खडा होकर चलने में सहायक पैर, परन्तु फिर भी अगर इन दोनो की शारीरिक रचना का गहराई से अध्ययन किया जाय तो इनमें विषमता की अपेक्षा समानता अधिक पायी जाती है। चार्ल्स डार्विन (Charles Darwin) ने इसी समानता के आधार पर वन्दर तथा चिपाञ्जी को एक श्रेणी में न गिन कर मनुष्य तथा चिपाञ्जी को एक श्रेणी में गिना है। डार्विन का कहना तो यह है कि इन दोनो में इतनी समानता है कि किसी-न-किसी 'सिमिड' (एन्थ्रोपोयड-एप) से ही 'होमिनिड' (मनुष्य) का विकास हुआ होगा। हैकेल (Haeckel) का भी यही कहना था कि मनुष्य तथा चिपाञ्जी, गोरिल्ला, ओरगटाग आदि में इतनी समानता है कि इन्हें भिन्न-भिन्न श्रेणियो में रखा ही नहीं जा सकता। जर्मनी के रौवर्ट हार्टमैन (Robert Hartmann) का कहना था कि 'सिमिड' तथा 'होमिनिड' में इतनी समानता है कि इनके लिए एक ही नाम रखा जाना चाहिए और इन दोनो के लिए उसने 'प्राइमेरी' (Primariae)—यह नाम प्रस्तावित भी किया। वाइल्डर (H H Wilder) ने अपनी पुस्तक में 'सिमिड' शव्द को विल्कुल हटा कर मनुष्य, चिपाञ्जी, गोरिल्ला तथा ओरगटांग के लिए सिर्फ 'होमिनिड' शव्द का ही प्रयोग किया। यह सव-कुछ लिखने का हमारा अभिप्राय इतना ही है कि विकासवादी लोग मनुष्य, गोरिल्ला, चिपाञ्जी तथा ओरगटाग में इतनी समानता देखते है कि वे इनका अलग-अलग वर्गीकरण करना ठीक नहीं समझते। वे गोरिल्ला, चिपाञ्जी आदि का वर्गीकरण वन्दर के साथ न करके मनुष्य के साथ करते हैं।

विकासवादियो का प्राणीमात्र में एकता देखने का यह विचार भारतीय विचारको के दृष्टिकोण के वहुत निकट है। यहाँ का विचार संसार में भिन्नता की जगह एकता को देखता रहा है। वेदान्त का कहना तो यह है कि संसार में भिन्नता है ही नहीं—एकता से ही भिन्नता का सूत्रपात हुआ है। 'शुनि चैव श्वपाके च पडिता समदर्शिन'—यह गीता का वचन है। भेद उपाधि द्वारा पैदा हुआ है—अन्दर का सूत्र सव जगह एक है। जीवन की एकता का दर्शन करते-करते श्री जगदीश चन्द्र

वसु ने तो वनस्पतियो तथा प्राणियों के भेद को भी मिटा दिया था। यह ठीक है कि भारतीय दृष्टिकोण में शारीरिक एकता पर उतना बल नहीं दिया गया जितना आध्यात्मिक एकता पर दिया गया है, परन्तु जहां तक मनुष्य की निम्न-प्राणियो के साथ अभिन्नता का सबध है वहां तक भारतीय विचारक तथा विकास-वादी एक ही धरातल पर खडे हैं।

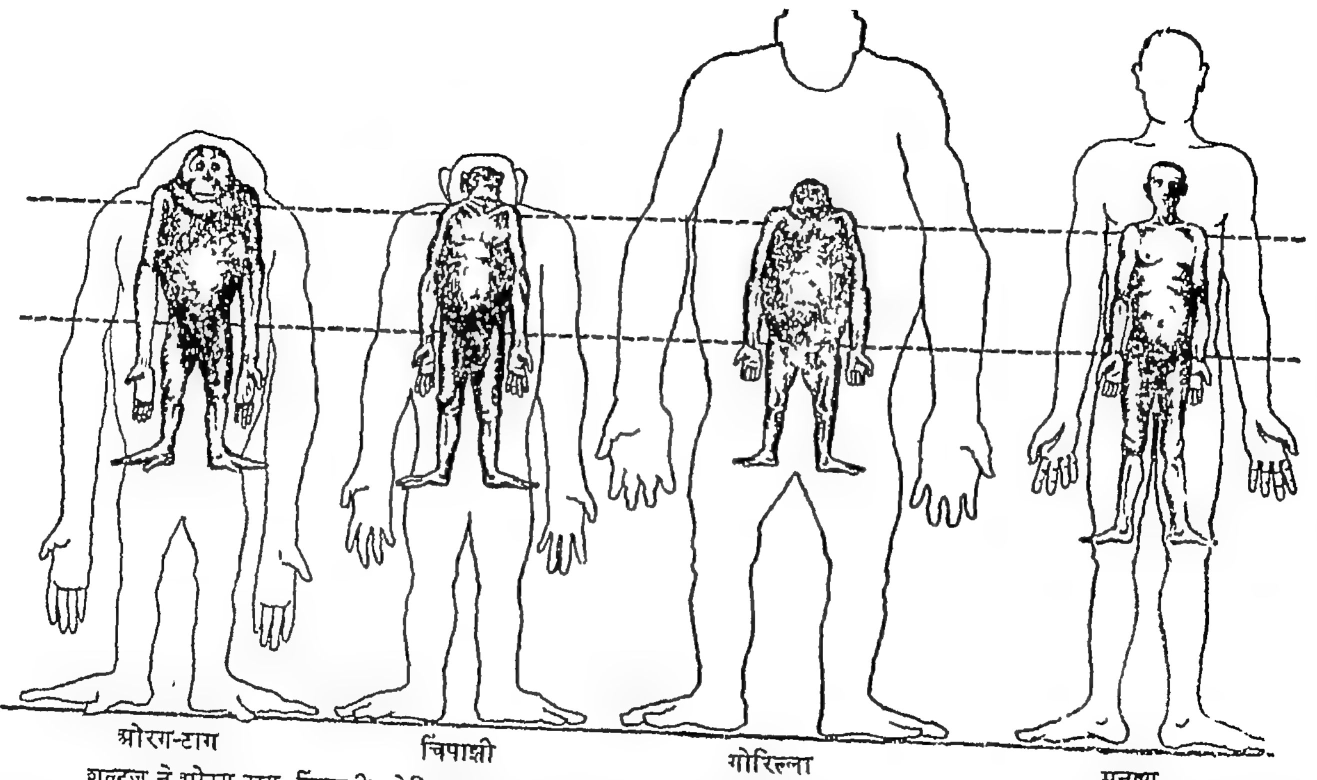
'मनुष्य' तथा 'एन्थ्रोपोयड-एप' (ओरगटाग, चिपाझी, गोरिल्ला) की शारीरिक समानता का अगर विश्लेषण किया जाय, तो उनमें मोटे तौर पर दीखने वाली विषमता में भी समानता पायी जाती है—यह विकासवादियों का दावा है। इसके वे निम्न प्रमाण देते हैं —

(क) ओरगटाग के गले में हवा की बडी थैलियां (Sacs) होती है। ये थैलियाँ मनुष्य के गले में नहीं होतीं, परन्तु इनकी जगह मनुष्य के गले में बडी थैलियो के स्थान में छोटे छिद्र (Sinuses) होते हैं। ओरगटांग की इन 'थैलियों' (Sacs) की मनुष्य के गले के 'छिद्रो' (Sinuses) से समानता है। इस दृष्टि से ओरगटाग की बन्दर के स्थान में मनुष्य के साथ ज्यादा समानता है और इसलिए विकासवादी ओरगटाग आदि को बन्दर की श्रेणी में गिनने के स्थान में मनुष्य की श्रेणी में गिनते हैं।

(ख) चिपांझी, गोरिल्ला या ओरगटाग के बालों को देख कर भी कई लोग कह उठेंगे कि इनके बालों की दृष्टि से इन्हें बन्दर की श्रेणी में रखना चाहिए, मनुष्य की श्रेणी में नहीं, परन्तु बालों का भी गहराई से विश्लेषण करने पर विकासवादी इसी परिणाम पर पहुंचे हैं कि ये 'एन्थ्रोपोयड-एप' मनुष्य की श्रेणी के हैं, बन्दर की श्रेणी के नहीं। प्रो० शुल्ट्ज (Schultz) ने बन्दरों तथा चिपांझी, गोरिल्ला, ओरगटाग की छाती तथा पीठ के बालो की तुलनात्मक गणना की जिससे वे इस परिणाम पर पहुँचे कि बन्दरो की अपेक्षा चिपाझी आदि 'एन्थ्रोपोयड एप्स' को बालों-रहित कहा जा सकता है। प्रो० शुल्ट्ज का कथन है कि 'प्राथमिक-वर्ग' (Primates) में मनुष्य सबसे कम बालो वाला प्राणी है। इस दृष्टि से 'एन्थ्रोपोयड-एप' बन्दर की अपेक्षा मनुष्य के अधिक समीप है क्योंकि बन्दर की अपेक्षा उसके शरीर पर बाल बहुत कम होते हैं।

५ 'मनुष्य' तथा 'एन्थ्रोपोयड-एप' मे समानता

हमने अभी देखा कि विकासवादी 'एन्थ्रोपोयड-एप' (गोरिल्ला, चिपांझी, ओरगटाग) की बन्दर से इतनी समता नहीं पाते जितनी मनुष्य से पाते हैं और इसीलिए वे मनुष्य का विकास 'एन्थ्रोपोयड-एप' से मानते हैं। 'मनुष्य' तथा 'एन्थ्रोपोयड-एप' में जो विषमता दीखती है उसमें विकासवादी समानता का सूत्र किस प्रकार ढूंढ निकालते हैं—इसका जिक्र हमने अभी किया। इस ऊपर से दीखने वाली विषमता के अलावा 'मनुष्य' तथा 'एन्थ्रोपोयड-एप' में जो समानता है उस पर ध्यान देने से तो इस बात मे कोई सन्देह ही नहीं रह जाता कि मनुष्य का विकास 'एन्थ्रोपोयड-एप' से हुआ है। ये समानताएँ निम्न हैं :—



शुल्ट्ज ने ओरंग-टांग, चिंपाञ्जी, गोरिल्ला तथा मनुष्य के अंगों का यह तुलनात्मक चित्र बनाया है। इसमें जो दो समानान्तर रेखाएँ दी हैं उनसे स्पष्ट होता है कि इन प्राणियों के हाथ एक-दूसरे से कितने लम्बे-छोटे हैं। ये चारों खड़े हों, तो उनकी एक-दूसरे से क्या तुलना होगी—यह भी इस चित्र से स्पष्ट होता है। रेखाकार आकार इनके आकार की तुलना का द्योतक है।

(क) 'एन्थ्रोपोयड-एप' की पूंछ नहीं है—यह उसकी मनुष्य के साथ सबसे वडी समानता है। यह पूंछ गर्भावस्था में तो पायी जाती है, वाद को नहीं। यह वात भी सिद्ध करती है कि 'एन्थ्रोपोयड-एप' की वन्दर के साथ इतनी निकटता नहीं है जितनी मनुष्य के साथ है क्योंकि वन्दर के तो पूंछ होती है।

(ख) 'एन्थ्रोपोयड-एप' का गर्भाशय मानव-गर्भाशय से मिलता-जुलता है। चिंपाझी-स्त्री का मासिक-धर्म का चक्र ठीक मानव की तरह का होता है, भेद इतना है कि जहां मानव में मासिक-धर्म का चक्र चार दिन का है वहां चिंपाझी-स्त्री में यह चक्र पांच दिन का है। चिंपाझी का गर्भ-काल ८ मास का है, मानव का ९ मास का।

(ग) जीवन-काल भी लगभग दोनो का लगभग समान है।

(घ) जिन जीवो की रुधिर में समानता नहीं होती, उन्हें एक श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, परन्तु चिंपाझी का रुधिर वन्दर की अपेक्षा मनुष्य के रुधिर के अधिक निकट है, यहां तक कि चिंपाझी तथा मनुष्य के रुधिर में भेद कर सकना ही कठिन है जबकि वन्दर तथा चिंपाझी के रुधिर में वडी आसानी से भेद किया जा सकता है।

(ङ) चिंपाझी तथा मनुष्य दोनों को एक ही प्रकार के रोग हो सकते हैं, और चिंपाझी से मनुष्य को और मनुष्य से चिंपाझी को वही रोग आ-जा सकते हैं। सिफिलिस, टायफाइड, कौलरा, डिसेन्ट्री आदि सब रोग इन दोनों को एक-समान होते हैं।

६ कौन-से 'एन्थ्रोपोयड-एप' से मानव का विकास हुआ ?

आम तौर पर लोग कहा करते हैं कि विकासवादी वन्दर से मनुष्य का विकास मानते हैं। जैसा हम पहले कह आये हैं, यह बात नहीं है। विकास-वादी बन्दर से नहीं, परन्तु 'एन्थ्रोपोयड-एप' से मनुष्य का विकास मानते हैं। उनका कहना है कि वन्दर तथा 'एन्थ्रोपोयड-एप' में इतनी समानता नहीं, जितनी 'एन्थ्रोपोयड-एप' तथा मनुष्य में है। 'एन्थ्रोपोयड-एप' में वे चिंपाझी, गोरिल्ला तथा ओरगटाग—इन तीन को गिनते हैं। ये तीनों पुच्छ-विहीन प्राणी हैं। परन्तु यह समझना भी भूल है कि विकासवादी सीधा इन 'एन्थ्रोपोयड-एप' से मनुष्य का उत्पन्न होना मानते हैं। चिंपांझी, गोरिल्ला, ओरगटाग—ये तो चार पाओं से चलते हैं, ये भाषा का प्रयोग नहीं करते, इनके मस्तिष्क की खोपडी मनुष्य से बहुत छोटी है, इनमें ऐसा कोई लक्षण नहीं पाया जाता जिससे कहा जा सके कि सीधा चिंपांझी से, या गोरिल्ला से, या ओरगटाग से विकसित हो मनुष्य गया। विकासवादियों का कहना है कि इस श्रेणी के किसी अन्य प्राणी से मनुष्य का विकास हुआ। वह प्राणी कौन-सा था, कहाँ हुआ था, उसकी शारीरिक-रचना क्या थी—यह सव-कुछ विकासवादियों के लिए अबतक एक समस्या बना हुआ है। चिंपांझी आदि को देख कर उन्हें यह तो निश्चय है कि ऐसा कोई प्राणी

इसी वर्ग का, इसी श्रेणी का हुआ होगा जिससे विकसित होते-होते मनुष्य बना। परन्तु उसका रूप क्या था, उसका अगर कहीं 'प्रस्तरित अस्थि-पजर' (Fossil) है, तो कहां है, वह कैसा अस्थि-पजर है—इस सब को विकासवादी ढूंढ मचाया करते हैं। अब तक उन्हें वह अस्थि-पजर नहीं मिला। जो-कोई पुराना अस्थि-पंजर मिलता है, उसी को वे इस दृष्टि से देखने लगते हैं कि यही तो कहीं वह खोया हुआ प्रस्तरित अस्थि-पजर नहीं जिससे मानव का विकास हुआ। क्योंकि हमारे पूर्वज का वह काल्पनिक अस्थि-पजर अभी तक हमें नहीं मिला इसलिए मनुष्य के उस पूर्वज को बडी लगन से ढूंढ चला करती है और उसे विकासवाद की परिभाषा में विकास की 'लुप्त-कडी' (Missing link) का नाम दिया जाता है।

इस लुप्त-कड़ी को ढूंढते-ढूंढ़ते पुरातन-मानव के अनेक प्रस्तरित-अवशेष उपलब्ध हुए हैं। ये सब प्रस्तरित-अवशेष वर्तमान-मानव के पूर्वज होने का दावा करते हैं। आइये, हम इन प्रस्तरित-अवशेषों का अध्ययन करें और देखें कि हमारा पूर्वज होने का इनमें से किस का दावा सबसे जबर्दस्त है। वर्तमान-मानव के अग्रगामी जिन प्रस्तरित अवशेषों का हम यहां अध्ययन करेंगे, उनमें से कुछ आफ्रीका में मिले हैं, कुछ एशिया में मिले हैं, कुछ युरोप में मिले हैं। जो प्रस्तरित-अवशेष जहां-जहां मिले हैं उनका ब्यौरा, जैसा हम पहले दे आये हैं, निम्न है :—

आफ्रीका मे मिले प्रस्तरित-अवशेष

(१) आफ्रीकन मानव-वानर या टाग्स-एप
(२) टेलैन्थ्रोपस केपेनसिस
(३) रोडेशियन-मानव
(४) बोस्कोप-मानव

एशिया मे मिले प्रस्तरित-अवशेष

(५) जावा का मानव
(६) मोडजोकरटेनसिस-मानव
(७) चीनी-मानव
(८) वादजक-मानव
(९) सोलो-मानव

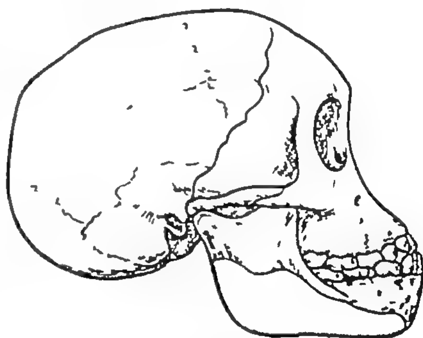
युरोप में मिले प्रस्तरित-अवशेष

(१०) डाउसन-मानव या उषा मानव
(११) स्वानकोम्बे-मानव
(१२) हीडलबर्ग-मानव
(१३) नियेन्डरथल-मानव
(१४) मेधावी-मानव या होमो सेपियन्स
(१५) ग्रिमाल्डी-मानव
(१६) क्रो-मैग्नन मानव

अव हम इन सव प्रस्तरित-मानवो का सक्षिप्त वर्णन करेंगे। इनमें से कौन वर्तमान-मानव का पूर्वज है—यह नही कहा जा सकता। दावा इनमें से हरेक का है, परन्तु इन दावो के बावजूद आज भी विकासवाद की पुस्तको के पन्नो में लुप्त-कडी के सम्वन्ध में प्रश्नसूचक चिह्न जैसे-का-तैसा वना हुआ है।

७ आस्ट्रैलोपिथिकस-आफ्रीकेनस (आफ्रीकन मानव-वानर)

१९२४ में आफ्रीका में बेचुआना लैंड के टाग्स नामक स्थान पर एक गुफा में एक वाल-प्राणी की खोपडी पायी गई। टाग्स में पाये जाने के कारण इसे 'टाग्स-एप' भी कहते हैं। इसकी मनुष्य की खोपडी से इतनी समानता थी कि विकास-वादियो का ध्यान वरवस इसकी तरफ आकृष्ट हुआ। इस खोपडी को जोन्सवर्ग की विलवाटरस्त्रेंड यूनीवर्सिटी के प्रो० रेमन्ड डार्ट (Raymond Dart) ने साफ कराया और इसका नाम 'आस्ट्रैलोपिथिकस आफ्रीकेनस'—अर्थात् अफ्रीकन मानव-वानर रखा। यह खोपडी एक ऐसे वाल-प्राणी की थी जिसके दाँत निकल रहे हो, लगभग छ वर्ष के वालक के जैसे दांत होते हैं उस तरह के इसके दांत थे। इस प्राणी के वचपन के दूध के दांत इस खोपडी में जैसे-के-तैसे पाये गये। इसकी खोपडी चिपाञ्जी की खोपडी-जैसी थी, भेद इतना था कि सामने के दांत चिपाञ्जी के दांतों से वहुत छोटे थे, ठोडी अच्छी विकसित थी, माथा भरा हुआ था, मस्तिष्क चिपाञ्जी के मस्तिष्क से बडा था, और अवतक जितने 'एन्थ्रोपोयड-एप' मिले थे उन सब की अपेक्षा इसका मस्तिष्क मनुष्य के मस्तिष्क से अधिक मिलता-जुलता था। दांत भी 'एन्थ्रोपोयड-एप' की अपेक्षा मनुष्य के दांतो से मेल खाते थे। प्रो० डार्ट इस प्रस्तरित-कपाल (Fossilized skull) से इतने प्रभावित हुए कि यद्यपि इसे उन्होंने 'वानर' (Pithecus) की अस्थि कहा, और इसका नाम 'आस्ट्रैलो-पिथिकस अफ्रीकेनस' रखा, तो भी उनका कथन था कि यह खोपडी अव तक की पायी गई सव खोपडियों की अपेक्षा मनुष्य से बहुत अधिक मेल खाती थी। प्रो० डार्ट का तो यह भी विश्वास था कि यह प्राणी मनुष्य की तरह खडा होकर चलता होगा, यद्यपि इस खोपडी में ऐसी-कुछ वात नहीं थी जिससे यह सिद्ध हो कि वास्तव में ही यह प्राणी खडा होकर चलता था। अवतक 'एन्थ्रोपोयड-एप्स' की जितनी भी प्रस्तरित अस्थियां मिली हैं, उन सव में यह अस्थि मनुष्य से सवसे अधिक मिलती है, इसलिए इस अस्थि का प्राणी मनुष्य के अधिकतम निकट होगा—ऐसा विश्वास किया जाता है। इस सब का यह अर्थ नहीं है कि



आस्ट्रैलोपिथिकस आफ्रीकेनस-मानव की खोपडी

इसी प्राणी से मानव का विकास हुआ होगा, या यही मनुष्य के विकास की शृंखला की लुप्त-कड़ी है। यह संभव है कि मनुष्य का तथा इस प्राणी का सम-विकास हुआ हो, दोनों का स्वतंत्र विकास हुआ हो, या इन दोनो का आपस में कोई संबंध न हो। सर आर्थर कीथ (Arthur Keith) का कथन है कि हम मनुष्य के पूर्वज के विषय में जो भी चित्र खींच सकते हैं यह 'आस्ट्रैलोपिथिकस' उस काल्पनिक चित्र से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। इससे अधिक इसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। जिन स्तरों में यह कपाल पाया गया है उनकी आयु से अनुमान लगाया जाता है कि यह प्राणी 'प्राति-नूतन-युग' (Pleistocene period) में रहा होगा और इस युग के समाप्त होने से पहले ही पृथ्वी से लुप्त हो गया होगा।

अभी हम जिस 'आस्ट्रैलोपिथिकस-आफ्रीकेनस' (आफ्रीका के मानव-वानर) के प्रस्तरित-कपाल का जिक्र कर रहे हैं वह बच्चे का कपाल है, इसलिये विद्वानों में इस बात पर मतभेद है कि यह प्राणी बड़ा होकर भी मनुष्य से उतना ही मेल खाता या नहीं जितना बचपन की हालत में इसका मनुष्य से साम्य है। डा० रौबर्ट ब्रूम (Robert Broom) को १९३८ में ट्रांसवाल (आफ्रीका) के स्टर्क-फौन्टीन स्थान पर कुछ ऐसी अस्थियाँ मिलीं जो बच्चे की न होकर पूर्ण युवा की थीं। ये अस्थियाँ उसी प्राणी की थीं जिसके कपाल का वर्णन हम अभी कर आये है, भेद इतना था कि पहले बच्चे की अस्थियाँ मिली थीं, अब युवा की अस्थियाँ मिल गईं। इस स्थान पर डा० ब्रूम को दो प्रकार की अस्थियाँ मिलीं। इन में से एक का नाम उसने 'प्लैसीएन्थ्रोपस' (Plesianthropus) तथा दूसरी का नाम 'पैरेन्थ्रोपस रोबस्टस' (Paranthropus robustus) रखा। इन दोनो अस्थियों में दाँत मनुष्य से इतने अधिक मिलते-जुलते थे जितने अन्य किसी 'एन्थ्रोपायड-एप' के नहीं मिलते थे। इनके कील-दाँत इतने छोटे थे कि इन दाँतों से वे किसी पर आक्रमण नहीं कर सकते थे। इन कील-दाँतो के छोटेपन से डा० ब्रूम ने तो यहाँ तक परिणाम निकाला कि ये प्राणी पैरो के बल सीधा खड़ा होकर चलते थे, और छडी तथा पत्थर का शस्त्रों के रूप में प्रयोग भी करते थे।

८ टैलेन्थ्रोपस केपेनसिस (आफ्रीका मानव-वानर)

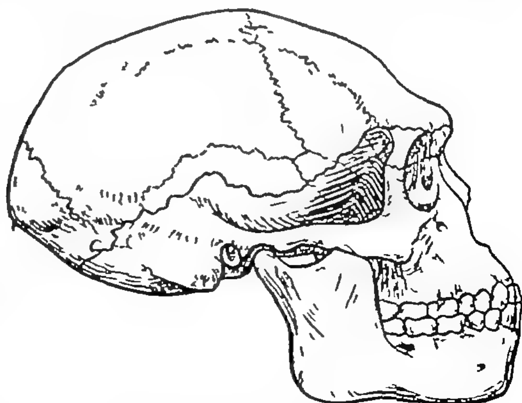
आफ्रीका में जिस प्रकार के वानर की अस्थियाँ मिलीं, उससे विद्वानों में यह चर्चा चल पडी कि पहले-पहल आफ्रीका में ही मानव का विकास हुआ होगा। परन्तु सिर्फ 'आस्ट्रैलोपिथिकस आफ्रीकेनस' की अस्थियों से यह परिणाम कुछ कच्चा-सा माना जाता रहा। जो विद्वान् आफ्रीका को मानव का उद्भव स्थान समझते थे, उन्हें अभी कुछ अन्य प्रमाणों की आवश्यकता थी, 'आस्ट्रैलोपिथिकस' के अतिरिक्त वे किन्हीं अन्य अस्थियों की तलाश में थे जिससे यह सिद्ध हो कि मानव के विकास का यह सिलसिला 'आस्ट्रैलोपिथिकस' तक ही समाप्त नहीं हो गया, आगे भी बढ़ा। १९३२ में डा० लीके (Leakey) ने केनिया के कनाम तथा कन-

जेरा स्थानो में कुछ अस्थियां खोज निकालीं, प्रो० रेक (Reck) ने टागानीका में १९१४ में कुछ अस्थियां खोजीं, परन्तु विद्वानो ने इन अस्थियो को वह महत्व नहीं दिया जिससे आफ्रीका का प्रदेश आदि-मानव के विकास का प्रथम-स्थल माना जाता। १९५२ में डा० ब्रूम, डा० डार्ट तथा श्री रौबिनसन (Dr Broom, Dr Dart, Mr Robinson) को जॉहन्सवर्ग के निकट स्वार्तकान्स स्थान में एक गुफा मिली जिसमें अनेक प्रस्तरित अस्थियां पायी गईं। इन अस्थियो की खोज से आफ्रीका में आदि-मानव के प्रथम-विकास के मत को बहुत बल मिला। स्वार्तकान्स में 'आस्ट्रेलोपिथिकस' की, जिसका हम अभी वर्णन कर आये हैं, अनेक अस्थियां मिलीं। इन अस्थियो में एक अस्थि ऐसी थी जो 'आस्ट्रेलोपिथिकस' की तो नहीं थी, परन्तु उससे भिन्न होती हुई भी उससे मिलती-जुलती थी। इसका नाम 'टैलेन्थ्रोपस केपेनसिस' (Telanthropus capensis) रखा गया। यह अस्थि 'आस्ट्रेलोपिथिकस' तथा 'मनुष्य'--इन दोनों के बीच के किसी जानवर की थी। डा० डार्ट ने नवम्बर १९५३ में यह घोषणा की कि उन्हें इस प्राणी की युवा-अस्थियाँ भी मिल गई हैं। जो-कुछ हो, इन अस्थियो के मिलने से उन विद्वानो को बहुत बल मिला जो मानव का उद्भव-स्थान आफ्रीका प्रदेश को मानते हैं।

९ पिथैकैन्थ्रोपस इरैक्टस (जावा-मानव)

१८६८ में डार्विन के समर्थक जर्मन-विद्वान् हेकेल (Haeckel) ने एक ऐसे प्राणी का काल्पनिक वर्णन किया, जो न मनुष्य था न चिपान्ज़ी, न गोरिल्ला, न ओरंगटाग था, जो 'मनुष्य' और 'एन्थ्रोपोयड-एप' के बीच का था, जिसे लुप्त-कड़ी का नाम दिया जा सकता था। इस काल्पनिक प्राणी का नाम हेकेल ने 'पिथेकैन्थ्रोपस एलालस' रखा। इस शब्द का अर्थ था—'वाणी-रहित वानर का-सा मनुष्य'।

१८८९ में हालैण्ड के डा० यूजीन डुबोय (Eugene Dubois) ने एमस्टर्डम विश्वविद्यालय में शरीर-रचना-शास्त्र के अध्यापक होने के स्थान में डच ईस्ट-इण्डीज़ में सैनिक-सर्जन का काम इसलिए पसन्द किया क्योकि वहाँ जाने से उसे अन्वेषण-कार्य में मदद मिलेगी। उसकी मनुष्य के विकास को जानने में इतनी रुचि थी कि उसने बहुत पहले ही घोषणा कर दी कि वह विकास की 'लुप्त - कड़ी'



पिथेकैन्थ्रोपस इरैक्टस-मानव की खोपडी

(Missing link) को जिससे मनुष्य का विकास हुआ, ढूंढ निकालेगा। १८९४ में उसने घोषणा की कि उसे मनुष्य के विकास की 'लुप्त-कडी' मिल गई है। अपने कथन की पुष्टि में उसने जावा में पाये गये एक प्रस्तरित अस्थि-पजर का वर्णन किया जिसका नाम हेकेल के काल्पनिक 'लुप्त-कडी' के प्राणी 'पियेकेन्थ्रोपस' के नाम पर उसने भी 'पियेकेन्थ्रोपस' रखा। भेद इतना था कि हेकेल का प्राणी काल्पनिक था, डुबोय का प्राणी वास्तविक था। डुबोय ने इस प्राणी के साथ 'इरेक्टस'-शब्द और बढाया, यह इसलिए बढाया क्योंकि डुबोय का कहना था कि यह प्राणी जिसका उसने अनुसधान किया था दो पाँओं पर खडा होकर चल सकता था। ये अस्थियाँ उसे सेण्ट्रल जावा के ट्रिनिल प्रदेश में मिलीं। जिस स्तर में ये अस्थियाँ प्राप्त हुईं वह 'प्राति-नूतन-युग' (Pleistocene period) का था। अनुसधान-कर्ताओ ने 'पियेकैन्थ्रोपस इरेक्टस' का काल ८,००,००० से ५,००,००० साल निर्धारित किया है। शुरू-शुरू में डा० डुबोय को ट्रिनिल में इस प्राणी की एक जघास्थि, दो दांत और एक कपालास्थि मिली। इससे पहले उसे इस प्राणी के जबड़े की हड्डी भी मिली थी। इन सब अस्थियो का १९ विद्वानो ने परिशोध किया, इन पर अपनी राय बनायी और जाहिर की। ५ ने इन अस्थियो को मानवाकार वानर का, ७ ने मानव का, और बाकी ७ ने मानव तथा वानर के बीच का घोषित किया। कइयो का कहना था कि यह मानव बोल सकता था, कइयों का कहना था कि नहीं बोल सकता था। डा० डुबोय इन अस्थियो को अपने घर ले गये, २० वर्ष तक उन्होंने इन्हें बन्द रखा। अन्त में उन्होंने वैज्ञानिकों के सम्मुख ५ जघास्थियाँ पेश कीं जिन्हें वे न-जाने क्यों अब तक छिपाये हुए थे।

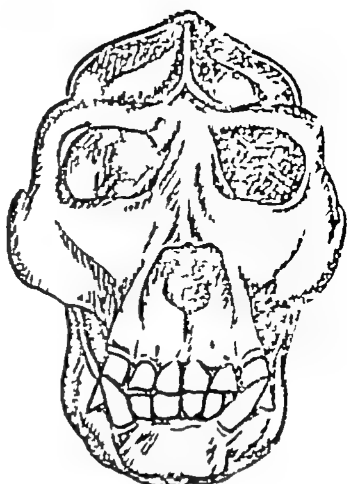
डा० डुबोय ने जिस प्राणी का अनुसंधान किया—'पियेकैन्थ्रोपस इरेक्टस'—उसके कपाल के विषय में विद्वानो का मत है कि उसके कपाल का अन्दर का खोल गोरिल्ला के कपाल के खोल से ५० प्रतिशत और चिंपाञ्जी के कपाल के खोल से दुगुना है। इससे स्पष्ट है कि यह प्राणी 'एन्थ्रोपोयड-एप' से बहुत अधिक विकसित होगा। खोपड़ी के खोल में अन्दर के मस्तिष्क से जो लकीरें पड जाती हैं उनसे मस्तिष्क के विषय में कुछ परिणाम निकाले जाते हैं। इन परिणामो के आधार पर भी विद्वानो का कहना है कि यह प्राणी 'एन्थ्रोपोयड-एप' के इतना निकट नहीं रहा होगा जितना मनुष्य के निकट रहा होगा। प्रो० इलियट स्मिथ (Elliot Smith) तथा प्रो० फ्रेडरिक टिलनी (Frederic Tilney) ने स्वतन्त्र रूप से इस प्राणी के कपाल का अध्ययन करके इसकी मानसिक-शक्ति पर अपने-अपने विचार प्रकट किये। दोनों विद्वानो का कहना है कि इसके कपाल के अग्र-भाग तथा पार्श्व-भाग में ऐसे उभार दिखाई देते हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि 'पियेकैन्थ्रोपस इरेक्टस' ऐसा प्राणी रहा होगा जो वाणी का प्रयोग करता होगा, और जिसमें अपनी सस्कृति को विरासत के तौर पर सुरक्षित रखने का भी सामर्थ्य होगा, ऐसा सामर्थ्य जो 'एन्थ्रोपोयड-एप' में नहीं पाया जा सकता।

कपाल के अतिरिक्त इस प्राणी के दाँतो की भी मनुष्य के दाँतो मे समानता है। ट्रिनिल प्रदेश में 'प्राति-नूतन-काल' (Pleistocene period) के दाढ़ के कई दांत पाये गये हैं। इन दाँतो के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ये उस काल के औरगटाग के दांत हैं, परन्तु इसी काल के दाँतों में बायें जवड़े के नीचे के हिस्से की तीसरी दाढ मिली है जो बिल्कुल मानवीय दाढ़ से मिलती-जुलती है, उसका चिंपाझी, गोरिल्ला या ओरगटाग की दाढ से कोई मेल नहीं। विद्वानो का कहना है कि यह दाढ़ 'पियेकैन्थ्रोपस इरेक्टस' की ही हो सकती है, और-किसी प्राणी की नहीं। इस दाढ से भी इस प्राणी का मनुष्य के साथ साम्य स्पष्ट सिद्ध होता है।

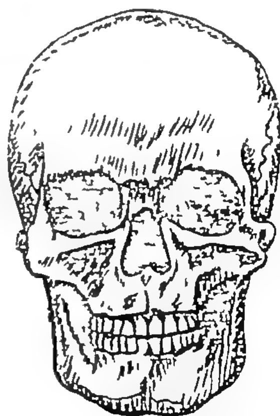
जैसे कई विद्वान् आफ्रीका में मानव-सदृश अस्थियों के मिलने से उस प्रदेश को आदि-मानव के विकास का प्रथम-स्थल मानते हैं, वैसे डुवोय तथा उस सदृश अन्य विद्वान् एशिया के जावा आदि प्रदेशों में 'पियेकैन्थ्रोपस इरेक्टस' की अस्थियो के पाये जाने के कारण एशिया को आदि-मानव के विकास की भूमि मानते हैं, क्योंकि इन सब का कहना है कि जहाँ मानव के विकास की 'लुप्त-कड़ी' मिलेगी, वहीं आदि-मानव का पहले-पहल विकास हुआ होगा।

१० मोडजोकरटेनसिस-मानव या पियेकैन्थ्रोपस-द्वितीय

फरवरी १९३६ में डा० कोर्यानिगस्वाल्ड (Koenigswald) को पूर्वीय जावा के मोडजोकर्टो स्थान में एक मानवीय शिशु की खोपड़ी मिली। जिस स्तर में यह खोपड़ी पायी गई वह 'पियेकैन्थ्रोपस इरेक्टस' से भी पहले का







ऊपर　गोरिल्ला की खोपडी
बीच मे　पियेकैन्थ्रोपस की खोपडी
नीचे . होमो सेपियन्स की खोपडी

स्तर है। अगर यह बात ठीक है, तो डा० कोयनिंग्स्वाल्ड की खोज डा० डुबोय की खोज से भी आगे निकल जाती है, और 'पिथेकैन्थ्रोपस इरेक्टस' से भी बहुत पहले हमें ऐसे प्राणी के प्रस्तरित-अवशेष प्राप्त हो जाते हैं, जो 'एन्थ्रोपोयड-एप' से मिलता-जुलता न होकर मनुष्य से मिलता-जुलता था। शिशु-प्राणी की स खोपडी को मोडजोकर्टो में पाये जाने के कारण 'मोडजोकरटेनसिस-मानव' तथा 'पिथेकैन्थ्रोपस' के मुकाबिले में उसके बाद पाये जाने के कारण 'पिथेकैन्थ्रोपस-द्वितीय' का नाम दिया जाता है। यह तो स्पष्ट है कि अगर डुबोय के 'पिथेकैन्थ्रोपस' को हम 'लुप्त-कडी' समझते हैं, तो डा० कोयनिंग्स्वाल्ड की इस खोज को इस शृंखला में ही एक दूसरी 'लुप्त-कडी' समझना होगा।

११. सिनेन्थ्रोपस (चीनी-मानव या पेकिंग-मैन)

जैसा हम पहले कह आये हैं, अनेक पुरातन-वेत्ता एशिया को मानव के विकास का प्रथम-उद्भव स्थान मानते हैं। उनमें प्रो० औसबर्न (Osburn) मुख्य हैं। इस मत के पक्ष में डा० डुबोय तथा कोयनिंग्स्वाल्ड के खोजे हुए दो प्रस्तरित अस्थि-अवशेषो का वर्णन हम अभी कर आये हैं। इसी सिलसिले में एक और प्राणी की अस्थियाँ १९२६ तथा १९२७ में पेकिंग के दक्षिण-पश्चिमी प्रदेश में वहाँ से ३७ मील दूर चाउकाउटीन स्थानपर प्राप्त हुईं। इनमें नीचे के जबडे की एक दाढ़ थी। इस दाढ का अध्ययन करके पेकिंग-यूनियन-मैडिकल-कालेज के कैनेडियन प्रोफेसर डेविडसन ब्लैक (Davidson Black) ने यह खोज की कि यह दाढ 'प्राति-नूतन-युग' (Pleistocene period) के आदि-काल की है, और 'एन्थ्रोपोयड-एप' की न होकर मानव-जाति के किसी प्राणी की है। केवल एक दाँत के आधार पर इस प्रकार की स्थापना कर डालना एक साहस का कार्य था, परन्तु प्रो० ब्लैक ने कहा कि इस प्रकार की दाढ़ मानव से मिलते-जुलते किसी प्राणी के अतिरिक्त किसी और की हो ही नहीं सकती। इस प्राणी का नाम उन्होंने 'चीनी-मानव' या 'पेकिंग-मानव' रखा क्योंकि यह चीन में, या पेकिंग में मिली थी। डा० ब्लैक ने तो एक दाँत के आधार पर एक विशाल स्थापना कर डाली थी, परन्तु सौभाग्यवश १९२९ से १९३७ के बीच उक्त चाउकाउटीन स्थान से लगभग ४० अस्थि-पंजर मिले जिनमें १४ कपाल थे। ये सब अस्थियाँ मानव-सदृश थीं। इन अस्थियो की 'पिथेकैन्थ्रोपस इरेक्टस' से, जो जावा में मिला था और जिसका वर्णन हम पहले कर आये हैं, इतनी समानता थी कि विद्वानों ने इन अस्थियों के प्राणी को 'पिथेकैन्थ्रोपस पेकिनेनसिस' अर्थात् पेकिंग का पिथेकैन्थ्रोपस—यह नाम दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि एशिया में दो मानव-प्रस्तरित-अस्थियो की खोज हुई। एक तो जावा में, दूसरी पेकिंग में। ये दोनों एक-से तो थे, परन्तु पेकिंग-मानव जावा-मानव से विकास में कुछ आगे बढा-चढा था। पेकिंग-मानव का माथा जावा-मानव से ज्यादा उभरा हुआ तथा मस्तिष्क ज्यादा बडा था, मस्तिष्क में वाणी का क्षेत्र ज्यादा विकसित था, पेकिंग-मानव मनोभावों को भी जावा-मानव से अधिक स्पष्ट तौर

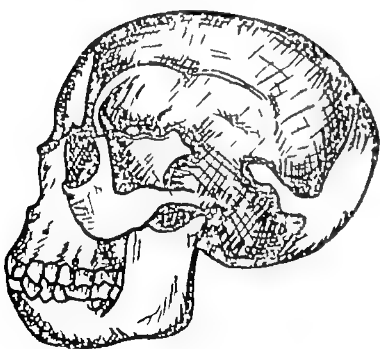
पर व्यक्त कर सकता था। पेकिंग-मानव के कपाल में १,००० से १,२०० घन सेन्टीमीटर का स्थान था, जो लगभग वर्तमान-मानव के आस-पास आ पहुँचता है। चाउकाउटीन नाम की गुफा में पाये गये पेकिंग-मानव की प्रस्तरित अस्थियों के आस-पास जो हड्डियाँ बिखरी पडी मिलीं उनमे सिद्ध होता है कि वह मानव हरिण का शिकार करता था, आग का प्रयोग जानता था, पत्थर आदि के उपकरणो के इस्तेमाल से भी परिचित था।

१२ इओन्थ्रोपस डाउसनाई (पिल्टडाउन या डाउसन-मानव)

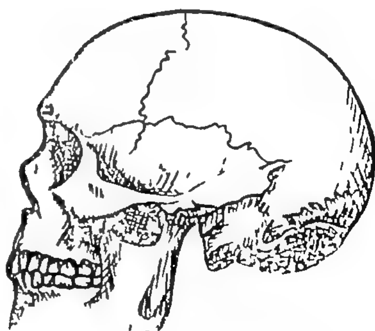
अभी तक हमने पहले आफ्रीका में पाये गये और फिर एशिया में पाये गये मानव से मिलते-जुलते प्रस्तरित अस्थि-पजरो के विषय में लिखा। जैसे आफ्रीका तथा एशिया में प्राचीन-मानव की प्रस्तरित-अस्थियाँ मिली हैं, वैसे योरुप में भी मिली हैं। अब हम योरुप में मिली प्रस्तरित-अस्थियो के विषय में चर्चा करेंगे।

१९११–१२ में इगलैण्ड के सस्सेक्स प्रदेश के पिल्टडाउन स्थान पर चार्ल्स डाउसन (Charles Dawson) को प्राचीन-मानव के कुछ प्रस्तरित अस्थि-अवशेष मिले। क्योंकि पिल्टडाउन स्थान पर ये अस्थियाँ प्राप्त हुई थीं इसलिए इन अस्थियो के प्राणी को 'पिल्टडाउन-मानव' का नाम या गया, क्योंकि डाउसन ने इनका पता लगाया था इसलिए इसे 'डाउसन-मानव' भी कहा गया, क्योंकि मनुष्य के उष काल अर्थात प्रारभ-काल की ये अस्थियाँ हैं इसलिए इस मानव को 'इओन्थ्रोपस' अर्थात् 'उष मानव' का नाम भी दिया गया।

पिल्टडाउन-मानव की दो प्रकार की अस्थियाँ पायी गईं। एक तो उसकी कपाल की अस्थियाँ थीं, दूसरी नीचे के दांयें जबडे का एक टुकडा था जिसमें



पिल्टडाउन-मानव की खोपडी



होमो-सेपियन-मानव की खोपडी

दो दाढें थीं। कपाल की अस्थि तो बिल्कुल आज के मनुष्य की कपाल की अस्थि से मिलती थी, भेद इतना ही था कि वे मनुष्य की कपाल की अस्थियों से ज्यादा मोटी थीं, परन्तु जबडे की अस्थियाँ और दाँत चिंपाज़ी से मेल खाते थे। कपाल

तथा जबडे की अस्थियो के बेमेलपन को देख कर यहअ नुमान लगाया जा सकता था कि कपाल की अस्थियाँ किसी और प्राणी की थीं, जबडे की किसी और की, परन्तु दोनो अस्थियाँ इतनी आस-पास पायी गईं, उनका प्रस्तरीकरण भी इतना एक-सा था कि ब्रिटिश म्यूजियम के डा० वुडवार्ड (Woodward) ने यही परिणाम निकाला कि कपाल तथा जबडे की अस्थियाँ भिन्न-भिन्न प्राणियों की न होकर किसी एक ही प्राणी की थीं। इस प्राणी का नाम श्री वुडवार्ड ने 'उष -मानव' (Dawn man) रखा। कई विकासवादियो का कहना है कि विकास की प्रक्रिया में से गुजरते हुए हो सकता है कुछ अगों का विकास मनुष्य-सम हो गया हो, और कुछ का विकास पहले के-से प्राणी का रहा हो। इसी कारण इस पिल्टडाउन-मानव का कपाल मनुष्य का-सा और जबडे चिपाञ्जी के-से हैं। इस प्रकार के विकास को विकासवाद की परिभाषा में 'असमीकृत-विकास' (Asymmetrical evolution) कहते हैं।

'पिल्टडाउन-मानव' के काल के सम्बन्ध में अन्वेषको का कथन है कि यह जिन स्तरो में पाया जाता है, वे 'प्राति-नूतन-युग' (Pleistocene period) के शुरू-शुरू के समय के हैं।

'पिल्टडाउन-मानव' की यथार्थता के सबध में विद्वानो में मतभेद है। अमरीका तथा युरोप के अनेक विद्वान् इस मानव के कपाल तथा जबडे के बेमेलपन को देख कर इस मानव के अस्तित्व में सन्देह प्रकट करते हैं, ब्रिटेन के शरीर-रचना-शास्त्री बहुत-कुछ अपने देश में पाये जाने के कारण इस मानव की यथार्थता में विश्वास प्रकट करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस मानव के कपाल तथा जबडे की अस्थियाँ इतनी निकट पायी गई हैं और इनके काल की इतनी निकटता है कि उनका एक ही प्राणी का होना असगत प्रतीत नहीं होता, परन्तु साथ ही इन अस्थियो के कपाल तथा जबडे में इतना बेमेलपना है कि ये एक ही प्राणी के हैं—इसमें भी सन्देह उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है।

'पिल्टडाउन-मानव' के अवशेष उपलब्ध होने पर मानव के उद्भव स्थान के सबध में पहले जो विचार थे, उनमें परिवर्तन आना स्वाभाविक था। इस अवशेष से यह विचार जड पकड़ने लगा कि मानव का विकास आफ्रीका, एशिया तथा युरोप—इन सब स्थानो पर एक-साथ हुआ होगा, किसी एक ही स्थान पर मानव का उदय नहीं हुआ होगा।

१३ स्वैनकूम्बे-मानव

टेम्स नदी के दक्षिण में, डार्टफोर्ड और ग्रेवसेंड के बीच जहाँ गैली हिल स्थित है, वहाँ स्वैनकोम्बे नामक नगर है। यहाँ पुरातत्व-विभाग के अनुसधान बहुत देर तक चलते रहे हैं। गैली-हिल के कुछ सैकडो गज दूर बार्नफील्ड नामक स्थान पर खुदाई की गई जिसमें भूमि के कई स्तर मिले। इनमें से कुछ स्तर 'द्वितीय अन्तर्हिम-काल' (Second Interglacial period) के हैं जिनमें १९३५ में एक मानवीय-कपाल प्राप्त हुआ। भूमि के इस स्तर में जो उपकरण

मिले वे भी इसी काल के थे। यह कपाल २० वर्ष की आयु के लगभग किसी युवति का था जिसके कपाल का घनत्व १३२५–१३५० के लगभग घन सेंटीमीटर मापा गया। आजकल की स्त्री की तुलना में इस कपाल की अस्थियां मोटी थीं, परन्तु उस युग के, जिसमें ये थीं, बिल्कुल अनुरूप थीं। इस कपाल को स्वैनकूम्बे-कपाल कहा जाता है क्योंकि स्वैनकूम्बे में यह मिली थी। क्या यह कपाल सचमुच किसी मानवीय-युवति का ही कपाल था? इस कपाल की जब नियेन्डरथल, रोडेशियन, जावा अथवा पेकिंग मानव से तुलना की जाती है, तो इनमें पर्याप्त भेद दीखता है, परन्तु होमो-सेपियन-मानव की तुलना में यह उससे मिलता-जुलता प्रतीत होता है। फिर भी मानवशास्त्रियों के तुलनात्मक सिद्धान्तों के अनुसार न इसे निश्चित रूप से होमो-सेपियन ही कहा जा सकता है, न इसे होमो-सेपियन विभाग से बिल्कुल बाहर ही रखा जा सकता है। कीथ (Keith) के कथनानुसार 'स्वैनकूम्बे-मानव' को 'पिल्ट-डाउन' या 'उप मानव' से अत्यधिक समानता है। अधिक सभव है कि स्वैनकूम्बे-मानव पिल्ट-डाऊन मानव का विकसित अनुवंशज तथा होमो-सेपियन का किसी समय का पूर्वज हो, अर्थात् पिल्ट-डाउन और होमो-सेपियन के बीच का हो।

१४ हीडलबर्ग-मानव

पिल्टडाउन-मानव के विषय में तो अनेक सन्देह उत्पन्न हो गये, यहां तक कि १९४३ में वीडनरीच (Weidenreich) ने यहाँ तक कह दिया कि पिल्ट-डाउन-मानव एक धोखा है, इसे प्रस्तरित मानवीय अस्थियों की श्रेणी में से बिल्कुल निकाल देना चाहिए। लन्दन के दन्त-चिकित्सक श्री एल्बन टी० मार्स्टन ने पिल्ट-डाउन-मानव की कल्पना को सर्वथा मिथ्या सिद्ध कर दिया। उनके कथनानुसार इस मानव के कपाल का प्राप्त हुई जबडे की हड्डियों से मेल बन ही नहीं सकता। मार्स्टन के कथन की सत्यता को ब्रिटिश म्यूजियम के अधिकारियों ने भी स्वीकार कर लिया और इन अस्थियों को पुराने सग्रह में से निकाल कर नवीन सग्रह में डाल दिया। पिल्टडाउन-मानव के विषय में जो यह गडबड दिखाई देती है वह हीडलबर्ग-मानव के विषय में नहीं दिखाई देती। हीडलबर्ग-मानव का प्रस्तरित जबडा जर्मनी के हीडलबर्ग स्थानमें १९०७ में डॉ० शूटनसैक (Schoetensack) को मौयर नाम की खान में मिला। अब तक जो भी मानवीय अस्थियां प्राप्त हुई हैं उनमें सब से पुरानियों में इसकी गिनती की जा सकती है। यह जबडा जमीन के ७९ फीट नीचे गडा पाया गया। इस के साथ हाथी, गेंडे, शेर आदि के 'प्राति-नूतन-युग' (Pleistocene period) के प्रस्तरित अस्थि-पंजर भी पाये गये। इस जबडे के ऊपर नदी की रेता, ककड, मट्टी आदि की कई तहें पायी गईं। जबडे की शक्ल से ऐसा मालूम पडता है कि यह किसी 'एन्थ्रा-पोयड-एप' का है, परन्तु दांत और दांतों की महराब को देखने से ज्ञात होता है कि निश्चय से ये मानवीय-प्राणी के दांत हैं।

हम अभी आगे नियेन्डरथल-मानव का वर्णन करेंगे। यह भी युरोप में ही प्राप्त हुआ। कई विद्वानों का कथन है कि हीडलवर्ग-मानव इस नियेन्डरथल-मानव का ही पूर्वज था। इसी कारण श्री वोनारेली (Bonarelli) ने हीडलवर्ग-मानव का नाम प्राचीन-मानव, अर्थात् सब से पहला मानव (Paleoanthropus)—यह रखा। जिस लुप्त-कडी की तलाश में विकासवादी परेशान रहते हैं, इन विद्वानो के कथनानुसार हीडलवर्ग-मानव ही वह लुप्त-कडी है।

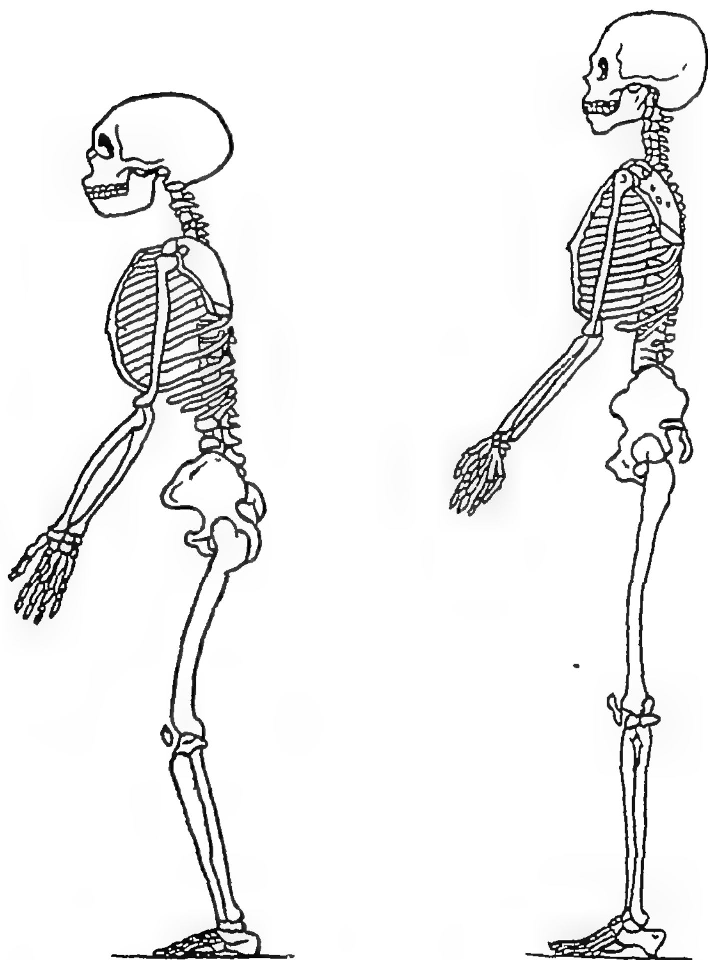
१५ नियेन्डरथल-मानव

१८५६ में जर्मनी के डुसेलडोर्फ प्रदेश के नियेन्डरथल स्थान में, जब कुछ मजदूर एक गुफा की खुदाई कर रहे थे, तब वहाँ से एक अस्थि-पजर के कुछ टुकडे प्राप्त हुए। इनमें एक कपाल का ऊपर का भाग, कई भुजाओ तथा टाँगों की अस्थियाँ, कन्धे की हड्डियाँ और कमर की कुछ हड्डियाँ भी थीं। कपाल की परीक्षा करके शरीर-रचना-विज्ञों ने यह परिणाम निकाला कि इसकी रचना वानर-सदृश है। हक्सले (Huxley) तथा जर्मन विद्वान् रुडोल्फ वीरचौ (Rudolf Virchow) ने भी इन अस्थियो की परीक्षा की और उन्हें मानव के विकास में किसी महत्व का नहीं ठहराया। परन्तु इन सब विद्वानो के विपरीत डा० विलियम किंग (William King) का विचार कुछ और ही था। उनका कहना था कि ये प्रस्तरित-अस्थियाँ किसी विशिष्ट प्राणी की हैं, ऐसे प्राणी की जिसका मनुष्य के विकास के साथ विशेष सबध है। इसी दृष्टि से उन्होंने १८६४ में इन अस्थियों के प्राणी को नियेन्डरथल-मानव (Homo Neanderthal)—यह नाम दिया। धीरे-धीरे विद्वानों का ध्यान इन अस्थियों की तरफ आकर्षित होने लगा। इस प्राणी के अवशेष जर्मनी के अलावा बेलजियम, फ्रास, स्पेन, इटली, यूगोस्लाविया, क्रीमिया तथा पैलेस्टाइन तक में पाये गये और इस प्राणी के समकालीन हजारों पत्थर के औजार उसी स्तर में मिले जिस स्तर में इस प्राणी की अस्थियाँ पायी गई। यह स्पष्ट होने लगा कि नियेन्डरथल-मानव आग पैदा करने की कला से अभिज्ञ था और मृत-व्यक्तियो को जमीन में गाडता था। विद्वानो ने यह भी परिणाम निकाला कि यह मानव 'प्राति-नूतन-युग' (Pleistocene period) के तृतीय हिमकाल से चतुर्थ हिमकाल तक युरोप में विचरता रहा होगा।

अस्ल में १८५६ से भी पहले १८४८ में जिब्राल्टर की एक चट्टान के नीचे नियेन्डरथल-मानव का एक अस्थि-पजर मिला था। कई वर्ष तक इस अस्थि-पजर की तरफ किसी का ध्यान नहीं गया। १९०६ में औक्सफोर्ड के प्रो० सोल्लास (Sollas) ने इस अस्थि-पजर का गहराई से अध्ययन किया और वे इस परिणाम पर पहुँचे कि यह किसी नियेन्डरथल स्त्री का प्रस्तरित-पंजर था। १९२६ में मिस डोरोथी गैरोड (Dorothy Garrod) को जिब्राल्टर में

पाँच वर्ष के एक बालक का प्रस्तरित-अस्थि-पंजर मिला। ये सब पंजर एक ही काल के और एक ही वर्ग के प्राणियों के थे।

नियेन्डरथल-मानव के अवशेष युरोप में अनेक स्थानों में प्राप्त हुए हैं इसलिए इसके अस्तित्व के विषय में किसी प्रकार का भी सन्देह नहीं रहा। हम यहाँ भिन्न-भिन्न स्थानों में इस मानव के मिले अवशेषों की कुछ चर्चा करेंगे —



नियेन्डरथल-मानव का पंजर होमो-सेपियन्स का पंजर

(क) नियेन्डरथल-मानव के फ्रांस में अवशेष—इस मानव का पूरे-का-पूरा अस्थि-पंजर १९०८ में फ्रांस में कोरेज स्थान में ला चैपेले-ऑक्स-सेंट्स में प्राप्त हुआ। इस पंजर को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता था कि इसे भूमि में जान-

बूझ कर गाडा गया है। इसके आस-पास कई फ्लिंट के उपकरण भी पाये गये जिनसे इस समय की सभ्यता का अनुमान किया जा सकता है। ठीक इसी साल, १९०८ में ही फ्रांस के डोरडोन में ले मोस्टीयर प्रदेश में १५ वर्ष के एक युवक का अस्थि-पंजर प्राप्त हुआ जो नियेन्डरथल-मानव का ही था। इस पंजर से ज्ञात होता है कि नियेन्डरथल-मानव के दाँतों का विकास किस प्रकार हो रहा था क्योंकि इस पंजर के सब दांत जैसे-के-तैसे सुरक्षित हैं। १९०९–१९१० में फ्रांस के इसी भाग में ला फैरासी स्थान पर कई पंजर और प्राप्त हुए। जिस चट्टान के नीचे से ये पंजर निकले उसके नीचे से प्राचीन-पाषाण-युग के कई उपकरण पहले निकल चुके थे जिनसे सिद्ध होता है कि नियेन्डरथल-मानव इन उपकरणों का प्रयोग करता था। इस चट्टान के नीचे से दो पंजर ऐसे उपलब्ध हुए जिनमें से एक युवा पुरुष का तथा दूसरा युवा स्त्री का था। इन पंजरों के अलावा फ्रांस में नियेन्डरथल-मानव के अन्य भी अनेक अवशेष उपलब्ध हुए हैं।

(ख) नियेन्डरथल-मानव के जर्मनी में अवशेष—१८९२ में जर्मनी के वेमर प्रदेश के निकट टाउबेच स्थान पर नीचे के जबड़े की एक दाढ़ मिली जिसे श्री नेहरिंग (Nehring) ने नियेन्डरथल-मानव का बतलाया। १९१४ और १९१६ में इहरिंग्सडोर्फ में दो जबडे मिले जिनमें से एक बडी आयु वाले किसी व्यक्ति का तथा दूसरा किसी बालक का था। इन दोनों को भी नियेन्डरथल-मानव का पाया गया। १९१५ में इसी स्थान पर इसी वर्ग के एक युवक-प्राणी के कपाल का कुछ भाग प्राप्त हुआ। ये सब अवशेष 'प्राति-नूतन-युग' (Pleistocene period) के अन्तिम-हिमपात से पहले के हैं। जर्मनी के वेमर तथा इहरिंग्स-डोर्फ प्रदेशों में पाये गये नियेन्डरथल-मानव के इन अस्थि-पंजरों का यही महत्व है कि यह मानव किसी एक जगह पर नहीं, अपितु यूरोप के अनेक स्थानों में विचरण करता था।

(ग) नियेन्डरथल-मानव के रोम में अवशेष—१९२९ में रोम शहर के बाहर एक युवा नियेन्डरथल-मानव की खोपडी उपलब्ध हुई। इस खोपड़ी के साथ उस समय के बडे-बडे सीधे दांत वाले हाथी, गेंडा तथा अन्य चौपायों के अस्थि-पंजर भी मिले। कई विद्वानों का कथन है कि जिब्राल्टर में पाये गये नियेन्डरथल-मानव के पंजर से यह मिलता-जुलता है। १९३५ में इसी स्थल पर एक और नियेन्डरथल-खोपडी पायी गई। इन अस्थि-पंजरों के आस-पास उस काल के उपकरण भी पाये गये जिनसे सिद्ध होता है कि यह मानव इन उपकरणों का प्रयोग करना जानता था।

(घ) नियेन्डरथल-मानव के युगोस्लाविया में अवशेष—१८९९ में युगोस्लाविया के क्रैपिना स्थान पर एक दर्जन से ज्यादा नियेन्डरथल-मानव के अस्थि-पंजर प्राप्त हुए। इन में कई बच्चों के अस्थि-पंजर थे। युगोस्लाविया की जैगरब यूनीवर्सिटी के प्रो० क्रैम्बरगर (Kramberger) ने इन अस्थियों का वर्णन करते हुए कहा कि इनमें से कई अस्थियाँ तो जान-बूझ कर कुचली गई

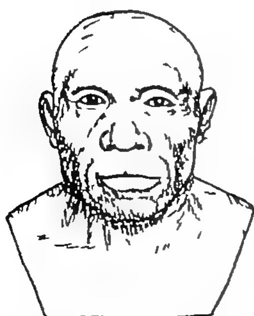
प्रतीत होती है और जली हुई पायी गई है जिससे सिद्ध होता है कि नियेन्डरयल-मानव नर-भक्षी था।

(ङ) नियेन्डरथल-मानव के पैलेस्टाइन मे अवशेष—१९२५ में पैलेस्टाइन के गलिली समुद्र के पास एक गुफा में एक कपाल प्राप्त हुआ जिसे 'गैलिली-कपाल' का नाम दिया गया। इस कपाल की गवेषणा से मालूम हुआ कि यह नियेन्डरथल-मानव का था। कुछ साल वाद गैलिली-समुद्र से लगभग ३० मील दूर कारमल-पर्वत की उपत्यका में भूमध्य-सागर के पास तीन गुफाओ में दस व्यक्तियो के प्रस्तरित अस्थि-पजर मिले जिनका सर आर्थर कीथ (Arthur Keith) ने गहराई से अध्ययन किया। पैलेस्टाइन के कारमल-पर्वत के इन अस्थि-अवशेषो से नियेन्डरथल-मानव का विस्तार पश्चिमी इगलैण्ड से लेकर पैलेस्टाइन तक दिखाई देने लगा। १९३१ में मुघरेत-एस-स्खुल में तीन वर्ष के एक नियेन्डरथल बच्चे का पजर मिला और १९३२ में आठ और पजर मिले जो स्त्री तथा पुरुष दोनों के थे। इन पजरों को देखने से ज्ञात होता है कि इनको जान-बूझ कर जमीन में गाडा गया था। इससे भी नियेन्डरथल-मानव की सभ्यता पर कुछ प्रकाश पडता है।

१६ नियेन्डरथल-मानव के शरीर की रचना

वैज्ञानिको ने जितना अध्ययन नियेन्रयडल-मानव का किया है उतना और किसी प्राचीन-मानव का नहीं किया। कई कलाकारो ने इस मानव की आकृति, उसके बाल, होठ आदि सब को कला में चित्रित किया है। यह सब कला की दृष्टि से कितना ही सराहनीय क्यो न हो, इसमें वैज्ञानिकता की पुट नहीं है। हाँ, अस्थियों को देख कर लम्बाई-चौडाई आदि के विषय में अनेक परिणाम निकाले जाते हैं जो अवश्य सही समझे जा सकते हैं।

प्रो० वौर्ले (Boule) का कथन है कि फ्रास में चैपेले ऑवस सेंट्स (नियेन्डरथल) में नियेन्डरथल-मानव की जो अस्थियाँ पायी गई हैं उनसे उसका कद ५ फीट



नियेडन्रथल-मानव



क्रो-मैग्नन-मानव

[श्री मैक ग्रिगर का चैपेल-ऑवस-सेंट्स (नियेन्डरथल) मे पायी गई अस्थियो के आधार पर बनाया गया काल्पनिक चित्र]

२ इच का सिद्ध होता है। फ्रास के ला फैरासी स्थान पर पायी गई अस्थियो वाला यह प्राणी ५ फीट ४ इच का था। फ्रास के ले मोस्टीयर में १५ वर्ष के युवा-प्राणी की अस्थियो से इसका कद ५ फीट का ही प्रतीत होता है। फ्रास के ला फैरासी स्थान पर एक स्त्री का पजर मिला है जिसका कद ४ फीट ९ इच है। इन पजरो के विपरीत पैलेस्टाइन में इस प्राणी के जो पजर मिले हैं वे विशेष तौर पर लम्बे हैं।

लम्बाई के अतिरिक्त इन पजरो की कपाल की अपनी विशेषता है। इन कपालों को देख कर कोई भी कह सकता है कि ये कपाल किसी विशेष प्रकार के मानव के ही हैं। इन कपालो के भीतर का क्षेत्रफल १२८० घन सेंटीमीटर से लेकर १६०० घन सेंटीमीटर तक का है। इन पजरो का कपाल वडा है, जिसे मानव-शास्त्रियो की परिभाषा में 'दीर्घ-कपाल' ([1]Dolicho-cephalic) कहा जाता है, और कपाल की चौडाई तथा लम्बाई का अनुपात ७० तथा ७६ के बीच का है। इस अनुपात को मानव-शास्त्रियो की परिभाषा में शीर्ष-देशना (Cephalic index) कहा जाता है। कान के छिद्रो से ऊपर सिर की ऊँचाई कुछ छोटी-सी जान पड़ती है। इस प्रकार के सिर को मानव-शास्त्री 'समतल कपालीय' ([2]Platy-cephalic) कहते हैं। माथा पीछे को हटा हुआ, आँख के ऊपर का प्रदेश आगे को वढ़ा हुआ, आँखों के गोलक वहुत वडे तथा गोल-गोल, और आंखो के भीतर की चौडाई भी वहुत ज्यादा है। वर्तमान मानव की तुलना में नियेन्डरथल-मानव का चेहरा वहुत लम्बा और नाक वहुत चौडी है, पर चौडी होने पर भी नाक चपटी न होकर नोकीली है, और इसका सादृश्य वानर-जाति से न होकर मानव-जाति से है। वानर आदि में नासिका का झुकाव ऊपर के ओष्ठ की तरफ होता है, इस प्राणी की नाक उभरी हुई है। गालो की हड्डियों में भी वानरों से समानता होने के स्थान में मनुष्य से समानता है। वानरों की गालो की हड्डियां उभरी हुई होती हैं, नियेन्डरथल-मानव के गालो की हड्डियां पीछे की तरफ ढलवां हैं और इन की मानव-कपोलो से अत्यधिक समानता है। पैलेस्टाइन में इस मानव का जो कपाल पाया गया है वह तो वर्तमान-मानव से वहुत अधिक मिलता है। मुख का तालु मनुष्य के तालु से भिन्न है। इस प्राणी का तालु अपेक्षाकृत वहुत लम्वा है और चौडा है। नीचे के जवड़े की भी अपनी ही अनेक विशषताएँ हैं। इस जवडे की हड्डियो का जोड वानर से मिलता-जुलता है। जवडे की वाह्य-सतह ढलाव लिये हुए है, मनुष्य की तरह ठोडी का उभार नहीं है यद्यपि पैलेस्टाइन में पाये गये इस मानव के पजरो में ठोडी का कुछ-कुछ उभार पाया जाता है। जिह्वा की मासपेशियां तथा वोलने में सहायक कुछ अन्य मासपेशियां भी कमजोर दीखती हैं, यद्यपि यह वात इस वात का प्रमाण नहीं है कि नियेन्डरथल-मानव वाणी का प्रयोग नहीं कर सकता था। इसके दांत छोटे न होकर वडे-वडे कहे जा सकते हैं। नीचे की दाढें, खास कर पहली

---

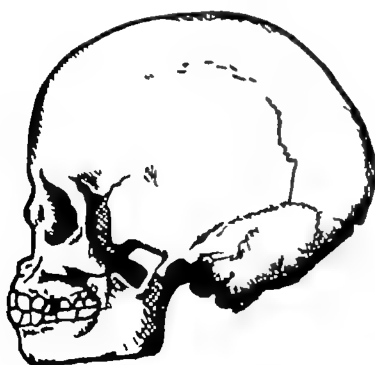
1 Dolico-cephlic - Gk *Dolicos*, long, *Kephale* (कपाल), head
2 Platy-cephalic = Gk *Platys*, broad, *Kephale*, head

समाधान हो सकता है ? अगर नियेन्डरथल से मेधावी-मानव का विकास हुआ होता, तो इनके विकास की कुछ बीच की शृखलाएँ भी तो मिलतीं, यकायकपना तो न दीखता। युरोप में 'मेधावी-मानव' तो अचानक आ टपका दीखता है। इसका यही कारण हो सकता है कि यह कहीं बाहर से आक्रान्ता के रूप में आया हो। इसका यह अभिप्राय नहीं कि इन दोनो में सम्मिश्रण नहीं हुआ होगा। इन दोनों का सम्मिश्रण अवश्य हुआ होगा, और दोनो के परस्पर यौन-सबध से नवीन जाति भी उत्पन्न हुई होगी। कई विद्वानो का कथन है कि पैलेस्टाइन के कारमल-पर्वत की उपत्यकाओ में जो अस्थि-पजर उपलब्ध हुए है, वे नियेन्डरथल-मानव तथा मेधावी-मानव के यौन-सम्मिश्रण के परिणाम हैं।

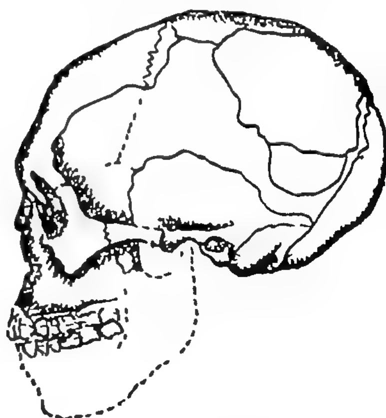
युरोप के मेधावी-मानव से तीन जातियो का विकास हुआ। इन तीनो को 'मेधावी-मानव' (Homo Sapiens) कहा जाता है। ये तीनो जातिया 'पुरातन-पाषाण-युग' (Paleolithic period) की हैं। इनके नाम हैं—'ग्रिमाल्डी जाति' (Grimaldi race), 'क्रो-मैग्नन जाति' (Cro-Magnon race) तथा 'चान्सलेड जाति' (Chancelade race)। इनमें से ग्रिमाल्डी-जाति का सबध काले नीग्रो लोगों से, क्रो-मैग्नन का सबध गोरे युरोपियन लोगों से तथा चान्सलेड जाति का सबध पीले मगोल लोगो से है। अब हम इन तीनो की सक्षेप में चर्चा करेंगे —

१८ ग्रिमाल्डी-मानव

हमने अभी कहा कि मेधावी-मानव की एक शाखा युरोप में ग्रिमाल्डी-मानव के रूप में पायी जाती है। हमने यह भी कहा कि ग्रिमाल्डी-जाति का सबध नीग्रो-जाति से है। प्रश्न उठ खडा होता है कि युरोप में नीग्रो जाति कहाँ से आ गई ? इस शका के कारण इलियट स्मिथ (Elliot Smith) तथा आर्थर कीथ (Arthur Keith) ग्रिमाल्डी-जाति को नीग्रो-जाति का नहीं



ग्रिमाल्डी-बालक की खोपडी



वाजदक मानव की खोपडी

मानते। इन का कहना है कि ग्रिमाल्डी-जाति क्रो-मैग्नन का ही एक रूपान्तर थी, कोई अन्य जाति नहीं थी। परन्तु अन्य विद्वानो का यह मत नहीं है। उनका कहना है कि जो प्रस्तरित-अस्थियां प्राप्त हुई हैं, वे एक अलग जाति की हैं—ऐसी जाति की जिन्हें नीग्रो-वर्ग में ही रखा जा सकता है, अन्य किसी वर्ग में नहीं। ये अस्थियां किस की हैं और कैसी हैं ?

भूमध्य-सागर के तट पर मोनाको प्रदेश में ग्रिमाल्डी नाम की नौ गुफाओ में 'प्राति-नूतन-युग' (Pleistocene period) की कुछ अस्थियां प्राप्त हुई थीं। इनमें से एक गुफा में १९०१ में क्रो-मैग्नन मानव की अस्थियां भी मिली थीं। इन अस्थियों के स्तर से कुछ नीचे दो और अस्थि-पजर मिले थे, जो क्रो-मैग्नन से कुछ भिन्न थे। इनमें से एक अस्थि-पजर पूर्णावस्था-प्राप्त एक स्त्री का तथा दूसरा एक चौदह वर्ष के बालक का था। ये दोनों अस्थि-पजर माँ-बेटो के मालूम होते थे। इनका अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि ये नीग्रो जाति के हैं। ग्रिमाल्डी स्थान में प्राप्त होने के कारण इन्हें ग्रिमाल्डी जाति का नाम दे दिया गया है। स्त्री की लम्बाई ५ फीट ३ इच तथा बालक की लम्बाई ५ फीट है। प्रो० वरन्यू (Verneau) ने इन पजरो की गहराई से गवेषणा की। उनका कथन है कि इन पजरों का कपाल, इनकी ठोडी, इनके दाँत नीग्रो से मिलते-जुलते हैं। नीग्रॉयड-जाति की तरह इन पजरो की अग्र-भुजा तथा टाँगें, बाहुओं तथा जघाओ से लम्बी हैं। यह हो सकता है कि ये पजर ग्रिमाल्डी-जाति के हो जो मेधावी-मानव की ही क्रो-मैग्नन-मानव की तरह ही एक स्वतत्र शाखा हो। यह भी हो सकता है कि ग्रिमाल्डी-जाति मेधावी-मानव की स्वतत्र शाखा न हो, परन्तु क्रो-मैग्नन-मानव का ही यह ग्रिमाल्डी एक पूर्व-रूप हो। युरोप में नीग्रो का पाया जाना विद्वानो को बहुत सगत नहीं प्रतीत होता, अत. अधिक राय इसी विचार की तरफ है कि ग्रिमाल्डी-जाति स्वतत्र जाति नहीं थी, यह क्रो-मैग्नन-मानव का ही पूर्व-रूप थी। अगर यह बात मानी जाय, तो मानना पड़ता है कि युरोप का क्रो-मैग्नन अपने पूर्व-रूप में, अस्थियों की रचना में, नीग्रॉयड से कुछ मिलता-जुलता था।

१९ क्रो-मैग्नन तथा चान्सलेड-जाति

१८६८ में फ्रास के क्रो-मैग्नन नाम की चट्टान के नीचे पांच अस्थि-पजर प्राप्त हुए। इसके बाद भूमध्य-सागर के किनारो पर पश्चिमी युरोप में इन से मिलते-जुलते अनेक पंजर मिले। क्रो-मैग्नन स्थान पर पाये जाने के कारण क्वाट्रीफेजस तथा हैमी (Quatrefages and Hamy) ने इसे 'क्रो-मैग्नन' का नाम दिया। वरन्यू (Verneau) ने इनका वर्णन करते हुए लिखा है कि ये मानव लम्बे थे, छ फीट तक के थे, इनका ढाँचा खूब मजबूत था। इनका कपाल उन्नत तथा विशाल था, मुखाकृति छोटी परन्तु चौडी थी, इतनी चौडी कि अनुपात में कुछ ज्यादा जान पड़ती थी। माथा लम्बाई लिये हुए, गाल चौडाई लिये हुए,

ठोडी वढी हुई तथा नाक सकीर्ण थी। अग्र-भुजा तथा टाँग वाहु तथा जघा से लम्वी, कुछ-कुछ नीग्रो टाइप की थी। यह लम्वे शरीर वाला क्रो-मैग्नन-मानव एक सुन्दर शरीर का मानव था। यह माना जाता है कि कौशलपूर्ण फ्लिट तथा पत्थर के उपकरण जो इसके अस्थि-पजरो के साथ उपलव्ध हुए हैं उनके वनाने में यह मानव सिद्ध-हस्त था। इसका कन्दरा-चित्रण तथा पशुओ की मूर्तियों का निर्माण 'पूर्व-पाषाण-युग' (Paleolithic period) की सभ्यता का द्योतक है।

जैसा हम ऊपर लिख आये हैं, 'मेधावी-मानव' के तीन वर्ग हैं जिनमें से ग्रिमाल्डी-जाति तथा क्रो-मग्नन का वर्णन हमने अभी किया। इन में से ग्रिमाल्डी को अगर क्रो-मैग्नन का ही पूर्व-रूप मान लिया जाय, तो 'मेधावी-मानव' के दो रूप बच रहते हैं—'क्रो-मैग्नन' तथा 'चान्सलेड-जाति'। यह 'चान्सलेड-जाति' मगोल लोगो से मिलती-जुलती है, परन्तु अधिकतर विद्वानो का यह विचार है कि 'चान्सलेड-जाति' भी क्रो-मैग्नन का ही एक रूप है। इस दृष्टि से 'मेधावी-मानव' का एक ही रूप रह जाता है—'क्रो-मैग्नन'। इसीलिए वहुत-से विद्वान् 'मेधावी-मानव' ([1]Homo sapiens) तथा 'क्रो-मैग्नन' (Cro-Magnon) दोनो को एक-दूसरे का पर्याय कहते हैं। वर्तमान मानव को 'होमो-सेपियन्स' इसलिए कहते हैं क्योंकि लैटिन में 'होमो' का अर्थ है—मनुष्य, और 'सेपियन्स' का अर्थ है—वुद्धि। वर्तमान-मानव 'वुद्धिमान' या 'मेधावी' है, इसलिए उसे 'होमो-सेपियन्स' (मेधावी-मानव) कहते हैं।

'चान्सलेड-मानव' के अस्थि-पजर १८८८ में फ्रास में प्राप्त हुए थे। १९१४ में जर्मनी तथा अन्य कुछ स्थानों में भी इसके पजर प्राप्त हुए। ये सब छोटे कद के थे, पाँच फीट से ज्यादा तो कोई था ही नहीं, इनका शरीर भारी तथा खोपडी विशाल थी। कई लोग इन 'चान्सलेड-मानवो' की ग्रीनलैण्ड के एस्किमो से तुलना करते हैं क्योकि इन दोनों के शरीर में वहुत साम्य है। उनका कहना है कि युरोप में ज्यों-ज्यों बरफ उत्तर की तरफ ढलती गई, त्यो-त्यो यह मानव भी उत्तर की तरफ बढ़ता गया और उसका रूप आज के एस्किमो का हो गया। क्योकि एस्किमो मगोल का ही उप-विभाग है, और चान्सलेड-मानव मगोल से मिलता-जुलता है, इसलिए इस कथन में भी कुछ बल दीखता है। सर आर्थर कीथ (Arthur Keith) इस बात को नहीं मानते। उनका कहना है कि 'चान्सलेड-मानव' के अस्थि-पजरो की मगोल-जाति से समानता आकस्मिक है। अस्ल में 'चान्सलेड-मानव' के अस्थि-पजर क्रो-मैग्नन-मानव के ही दूर-पास के अस्थि-पजर हैं। इस दृष्टि से जैसा हम पहले कह आये हैं ग्रिमाल्डी तथा चान्सलेड मानव की स्वतत्र सत्ता कुछ नहीं रहती, और मेधावी-मानव अर्थात् होमो-सेपियन्स का युरोप में एक ही रूप रह जाता है, जिसे क्रो-मैग्नन का नाम दिया गया है।

---

1 Homo Sapiens=Latin *Homo*, man, *Sapiens*, wise

२० मेधावी-मानव (होमो-सेपियन्स) के पूर्वज कौन थे ?

हमने देखा कि युरोप में नियेन्डरथल-मानव के बाद मेधावी-मानव (होमो-सेपियन्स) प्रकट हुआ। मेधावी-मानव के कुछ विद्वानों ने जो तीन वर्ग बताये थे—ग्रिमाल्डी, क्रो-मैग्नन तथा चान्सलेड—ये तीनों भी हमने देखा कि क्रो-मैग्नन के अन्दर ही समा जाते हैं। तब प्रश्न यह रह जाता है कि यह मेधावी-मानव (होमो-सेपियन्स) या क्रो-मैग्नन जिसे वर्तमान मानव-जाति का पिता कहा जा सकता है, कहाँ से आ टपका ?

कई लोगो का कहना है कि नियेन्डरथल-मानव से मेधावी-मानव (होमो-सेपियन्स या क्रो-मैग्नन) का विकास हुआ। यह बात सिद्ध करने के लिए वे कुछ अस्थियाँ प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं कि ये अस्थियाँ नियेन्डरथल तथा क्रो-मैग्नन के बीच की कड़ियाँ हैं—इन भिन्न-भिन्न रूपो में से गुजरता-गुजरता नियेन्डरथल-मानव क्रो-मैग्नन के रूप में विकसित हो गया। श्री मोरन्ट (Morant) ने इन बीच की अस्थियों का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि इन बीच की कड़ियों का इन दोनों मानवों से कोई सम्बन्ध नहीं है। क्रो-मैग्नन (होमो-सेपियन्स) मानव तो एक स्वतन्त्र रूप का मानव है। इसका अस्तित्व पाषाण-युग (Paleolithic age) से शुरू होता है। यह युरोप में यकायक प्रकट हुआ है। वर्तमान युरोप के मानव का यही पूर्वज है। परन्तु यह पता नहीं चलता कि इसका पूर्वज कौन था, यह कहाँ से आया ?

क्योंकि युरोप में यह यकायक प्रकट हुआ है, इसलिए इस सबंध में दो ही कल्पनाएँ हो सकती हैं। एक कल्पना तो यह है कि यह मेधावी-मानव एशिया से युरोप में आया, दूसरी कल्पना यह है कि यह मानव आफ्रीका से युरोप में आया। क्योंकि वह युरोप के बाहर से आया इसलिए उसका आना यकायक प्रतीत होता है, क्रमिक नहीं।

अगर हम यह मानें कि मेधावी-मानव (होमो-सोपियन्स या क्रो-मैग्नन) एशिया से युरोप में आया, तो क्या स्थिति बनती है ? एशिया से मेधावी-मानव के आने की कल्पना करते हुए हमारा ध्यान एशिया के दो और मानवो की तरफ जाता है, जिनका नाम है—'वादजक-मानव' (Wadjak man) तथा सोलो-मानव (Solo man)। इनका कुछ संक्षिप्त परिचय जानना आवश्यक है।

२१. वादजक-मानव तथा सोलो-मानव

एशिया में मिले प्रस्तरितों का उल्लेख करते हुए हम जावा के पियेकैन्थ्रोपस तथा पेकिंग के सिनैन्थ्रोपस मानवों का उल्लेख कर आये हैं। जावा में पियेकैन्थ्रोपस के अतिरिक्त दो और अस्थियाँ मिली हैं जिनमें से एक का नाम वादजक-मानव तथा दूसरी का नाम सोलो-मानव रखा गया है। विद्वानो का कथन है कि पियेकैन्थ्रोपस का पूर्वज वादजक-मानव था, और वादजक का पूर्वज सोलो-मानव था। इस प्रकार अगर मेधावी-मानव (होमो-सेपियन्स अथवा क्रो-

मैग्नन) का, जिसने युरोप में यकायक पदार्पण किया, आदि-स्थान एशिया माना जाय, तो उसके पूर्वजों का क्रम इस प्रकार बनता है—पहले सोलो-मानव, बाद को वादजक मानव, उसके बाद पियेकैन्थ्रोपस-इरेक्टस और अन्त में होमो-सेपियन्स या क्रो-मैग्नन।

वादजक-मानव के दो कपाल १८८९ में डा० ड्युबोय (Dubois) को जावा के वादजक स्थान में मिले थे। डा० ड्युबोय को जब पियेकैन्थ्रोपस की अस्थियाँ मिलीं, उससे दो साल पहले उसे वादजक-मानव के कपाल मिल चुके थे, परन्तु १९२१ तक उसने इन कपालो का वर्णन विद्वानो के सामने नहीं रखा। १९३२ की अप्रैल में जावा में एक अन्य मानव की अस्थियाँ सोलो-नदी के निकट के एक गाँव से मिलीं। इन अस्थियो का अध्ययन ओप्पन्नूर्थ (Oppenoorth) ने किया। १९३६ में उसी स्थान पर और ग्यारह कपाल प्राप्त हुए। इन कपालों के प्राणी का नाम सोलो-नदी के पास इनके मिलने के कारण सोलो-मानव रखा गया। इस प्राणी की भी मेधावी-मानव से अनेक अशो में समानता थी, परन्तु यह काल की दृष्टि से वादजक-मानव से पुराना प्रतीत होता था। ओप्पन्नूर्थ का कहना है कि सोलो-मानव अब तक के उपलब्ध होमो-सेपियन्स के पूर्वजो में सब से पुरातन-मानव है।

हमने ऊपर का विवरण यह मान कर लिखा है कि मेधावी-मानव (होमो-सेपियन्स) एशिया से आया। परन्तु इस सबध में, जैसा हम पहले लिख आये हैं, एक दूसरी कल्पना भी है। इस कल्पना के आधार पर मेधावी-मानव (होमो-सेपियन्स) युरोप में एशिया से न आकर आफ्रीका से आया। आफ्रीका से होमो-सेपियन्स के आने की कल्पना करते हुए हमारा ध्यान अफ्रीका के दो अन्य मानवों की तरफ जाता है, जिनका नाम है—'रोडेशियन-मानव' (Rhodesian man) तथा 'बोस्कोप-मानव' (Boskop man)। इनका भी कुछ सक्षिप्त परिचय जानना आवश्यक है।

२२ रोडेशियन-मानव

१९२१ में उत्तरीय रोडेशिया के ब्रोकन हिल नामक स्थान पर खानो की खुदाई करते हुए एक लम्बी गुफा के अन्तिम भाग से कुछ मानव-अस्थियाँ प्राप्त हुईं। इन अस्थियो में पहाडी धातुएँ भरी हुई थीं। इन धातुओ को जब पिघला दिया गया, तो एक विशुद्ध मानवीय कपाल तथा मानवीय अस्थि-पजर निकल आया। इस पजर का नीचे का जबडा नहीं था। कमर के पीछे की हड्डी, वस्ति-प्रदेश के कुछ भाग तथा टाँग की कुछ हड्डियाँ भी इस पजर की मिलीं। इन अस्थियों के साथ कुछ मोटे-से पाषाण के उपकरण भी प्राप्त हुए। जब कपाल को साफ किया गया, तो दायें हिस्से को छोड कर सारा कपाल सुरक्षित पाया गया। मोटे तौर पर देखने से ऐसा लगता था कि इस कपाल की रचना नियेन्डरथल-मानव से मिलती-जुलती थी। कई विद्वानों का यह भी विचार हुआ कि यह प्राणी नियेन्डरथल का पूर्वज होगा, परन्तु गहराई से अध्ययन करने पर शरीर-रचना

शास्त्रज्ञ इस परिणाम पर पहुँचे कि नियेन्डरथल के मुख्य-मुख्य अश इसमें नहीं थे। नियेन्डरथल की अपेक्षा इसका मेधावी-मानव ('होमो-सेपियन्स' या 'क्रो-मैग्नन') से बहुत साम्य था। रोडेशिया में पाये जाने के कारण आर्थर स्मिथ वुडवर्ड (Arthur Smith Woodward) ने इसका नाम 'रोडेशियन-मानव' रखा। क्योंकि रोडेशियन-मानव का मेधावी-मानव से साम्य है इसलिए यह स्थापना की जा सकती है कि मेधावी-मानव आफ्रीका के रोडेशियन-मानव से विकसित हुआ, और कालान्तर में वहाँ से युरोप पहुँचा, जहाँ उसने नियेन्डरथल-मानव को परास्त कर अपना आधिपत्य जमा लिया।

२३ बोस्कोप-मानव

१९१३ में आफ्रीका के ट्रासवाल प्रदेश में एक और मानव की अस्थियाँ प्राप्त हुईं। ये अस्थियाँ वोस्कोप स्थान पर मिलीं इसलिए इन अस्थियों के प्राणी को 'वोस्कोप-मानव' का नाम दिया गया। इन अस्थियों में एक कपाल था, और कुछ अन्य अस्थियाँ थीं, सब टूटी-फूटी हालत में थीं। इस कपाल का जितना हिस्सा सुरक्षित है, उससे इतना अवश्य सिद्ध हो जाता है कि यह कपाल होमो-सेपियन्स के ही वर्ग के प्राणी का है। इस प्राणी का कपाल दीर्घ, माथा लम्बाई लिये हुए, सीधा जबडा, विशाल भाल, १९३० घन सेंटीमीटर कपाल के भीतर का प्रदेश—इन सब से यही सिद्ध होता है कि यह कपाल होमो-सेपियन्स के वर्ग का ही था।

इस प्रकार हमने देखा कि अगर होमो-सेपियन्स युरोप में एशिया से आया तो उसके लिए भी एशिया में काफी प्रमाण मौजूद है, अगर आफ्रीका से आया तो उसके लिए भी आफ्रीका में काफी प्रमाण मौजूद हैं जिनसे सिद्ध होता है कि होमो-सेपियन्स के पूर्वज एशिया में भी थे, आफ्रीका में भी थे जिनसे विकसित होकर उसने युरोप में पदार्पण किया।

२४ पुरातन-मानवो का काल

ऊपर हम जिन पुरातन-मानवो का वर्णन कर आये हैं, उनके काल के सबध में स्थान-स्थान पर हम लिखते आये है। यहाँ आगे चित्र में भिन्न-भिन्न पुरातन-मानवो का काल हम दर्शा रहे है। ये मानव 'प्राति-नूतन-काल' (Pleistocene period) के ही हैं। इस काल को जैसा हम पहले लिख आये हैं, 'हिमपात-काल' (Ice-age या Glacial period) भी कहा जाता है। भूगर्भ-शास्त्र के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस युग में चार बार भूमि के उत्तरीय गोलार्ध में हिम का महापात तथा प्रवाह हुआ। इस 'प्राति-नूतन-काल' (Pleistocene period or Glacial-period) में मानव का पृथ्वी पर श्रीगणेश हुआ। हिमपात-काल में तो मानव सृष्टि में रह ही नहीं सकता था, हिम की इतनी अधिकता थी। दो हिमपात-काल के बीच के समय को 'अन्तर्हिमपात-काल' (Inter-glacial period) कहते हैं। इस काल में

५

प्रागैतिहासिक पुरातत्व-विज्ञान तथा आदि-समाज

(PREHISTORIC ARCHEOLOGY AND PRIMITIVE SOCIETY)

१ परिभाषा

श्री एन० सी० नेलसन ने 'प्रागैतिहासिक पुरातत्व-विज्ञान' की निम्न व्याख्या की है —

'प्रागैतिहासिक पुरातत्व-विज्ञान वह विज्ञान है जिसका काम मनुष्य तथा उसकी सस्कृति के प्रारभ, प्राचीनता तथा विकास पर प्रकाश डालने वाले सब इन्द्रिय-ग्राह्य अवशेषो का अध्ययन करना है।"[1]

मनुष्य के शरीर के अवशेषो का अध्ययन करना तो 'प्राणी-शास्त्र' (Biology) का काम है, प्राचीन-काल के मनुष्य ने कुछ उपकरण बनाये थे, उसकी कुछ हस्त-कला (Handicraft) थी, उस हस्त-कला का अध्ययन करना 'पुरातत्व-विज्ञान' (Archeology) का काम है।

प्राचीन-काल के मनुष्य के इस अध्ययन को दो भागो में बाँटा जा सकता है। एक अध्ययन तो वह है जो लिखित रूप में विद्यमान है, दूसरा अध्ययन वह है जिसका कुछ लिखित में उल्लेख नहीं पाया जाता। मनुष्य ने जब से लिखना सीखा तभी से तो लिखित मे उसकी हस्त-कला, सभ्यता आदि का उल्लेख मिलेगा, जब उसने लिखना सीखा ही नहीं था, अभी लिखने का आविष्कार ही नहीं हुआ था, तब का तो कोई उल्लेख नहीं मिल सकता। जिस काल का लिखित उल्लेख मिलता है, उसका अध्ययन करने वाले 'पुरातत्व-विज्ञान' को 'ऐतिहासिक-पुरातत्व-विज्ञान' (Historic Archeology) कहते है, जिस काल का कोई उल्लेख नहीं मिलता उसका पता उस काल की वस्तुओ को, उस काल की हस्त-कला को देख कर लगाया जाता है। इस प्रकार के 'पुरातत्व-विज्ञान' को 'प्रागैतिहासिक-पुरातत्व-विज्ञान' (Prehistoric Archeology) कहते है।

२ प्रागैतिहासिक पुरातत्व-विज्ञान की वस्तुएँ

'प्रागैतिहासिक-पुरातत्व-विज्ञान' का काम प्राचीन-काल की वस्तुओ की खोज-बीन करके, उन्हें जमीन पर से ढूँढ कर या जमीन में से निकाल कर आदि-

---

1 "Archeology may be defined as the science devoted to the study of the entire body of tangible relics pertaining to the origin, the antiquity, and the development of man and his culture"—N C *Nelson* in Franz Boas' General Anthropology

मानव की सस्कृति का पता लगाना है। ये वस्तुएँ कौन-कौन-सी और किस प्रकार की होती है ? इनका विद्वानों ने काल के अनुसार दो प्रकार का वर्गीकरण किया है :—

(क) पहला वर्ग तो वह है जिसमें प्राचीन-काल की वे वस्तुएँ आ जाती हैं, जो 'अचल' हैं और भूमि की सतह पर पायी जाती है। उदाहरणार्थ, समुद्र-तट के निकट की कन्दराओं में पडे ढेर, भोजन, वहुमूल्य वस्तुओ तथा पूजा के उपहारो को सुरक्षित रखने के लिए वनाये गये सग्रह-स्थान, अस्थायी निवास-स्थान तथा उनमें वनाये हुए आग के लिए गढे; गाँवो की वस्तियाँ तथा उनमें वने घरों के अवशेष, पुलियाँ, धातु गलाने तथा ढालने की भट्ठियाँ, वाग-वगीचे तथा खेत, प्राचीन-काल की खुदाई—जैसे शिकार पकडने के लिए खोदे हुए गढे, जल इकट्ठा करने के लिए वनाये गये कुंड, उस समय की खोदी गई नहरें, पत्थर तथा धातु की खानें, पृथिवी के भीतर रहने की कन्दराएँ तथा निवास-स्थान, कवरिस्तान, मट्टी के वाँध, खेतो की वाड़ तथा जानवरो के लिए वनाये गये घेरे, किलेवन्दी, पिरैमिड, पत्थर की भिन्न-भिन्न प्रकार की रचनाएँ, मन्दिर, चहार-दीवारी आदि, मन्दिरों की दीवारों तथा चट्टानो पर वनाये गये चित्र आदि। ये सव वस्तुएँ एक जगह स्थिर हैं, 'अचल' हैं, और पृथिवी की सतह पर पाये जाने के कारण पहले वर्ग में गिना दी गई हैं।

(ख) दूसरा वर्ग वह है जिसमें प्राचीन-काल की वे वस्तुएँ आ जाती हैं जो 'चल' हैं, जिन्हें एक जगह से दूसरी जगह ले जाया जा सकता है, जो पृथिवी की सतह पर न होकर खुदाई से प्राप्त होती हैं, जो या तो प्राचीन-काल के मानव के फेंके हुए कूडे के ढेरों में से मिलती हैं और या पृथिवी में कहीं गडी हुई पायी जाती हैं। उदाहरणार्थ, कटे हुए पत्थर से वने प्राचीन उपकरण, अस्त्र-शस्त्र तथा पत्थर के वने आभूषण एव पूजा के सामान, लकडी के वने उपकरण, अस्त्र-शस्त्र, नाव तथा काष्ठ-निर्मित अन्य आवागमन के सावन, काष्ठ-निर्मित आभूषण तथा पूजा के सामान। जैसे पत्थर के, और जैसे लकडी के ये सामान पाये जाते हैं, वैसे हड्डी के भी ये सभी सामान पाये जाते हैं। खाल, वाल और परों से वने कपड़े तथा आभूषण भी इसी वर्ग में गिने जाते हैं। जैसे जानवरो की खाल, उनके वालों से वनी अनेक वस्तुएँ पायी जाती हैं, वैसे वृक्षों की छालों से वनी चटाइयाँ, टोकरियाँ, कपडे, वल्कल, आभूषण पाये जाते हैं; मट्टी से वने वर्तन, धातु से वनी अनेक वस्तुएँ पायी जाती हैं। काल की दृष्टि से इन वस्तुओ की प्राप्ति जिस क्रम से हुई है, वह इस प्रकार है—तराशे पत्थर की वस्तुएँ, लकडी, हड्डी, जानवरों की खाल, उनके वाल, पंख, वृक्ष की छाल; मट्टी के उपकरण, धातु आदि।

३ इन वस्तुओ से किन वातो पर प्रभाव पडता है ?

उक्त दोनों प्रकार के वर्गीकरण में जो-जो वस्तुएँ प्राप्त हुई है उनसे प्राचीन-काल के मानव की सस्कृति के अनेक अंगो पर प्रकाश पड़ता है। इन वस्तुओं से

हम प्राचीन मानव के सबध में उसकी जिन कलाओं पर खोज कर सक रहे हैं, वे निम्न हैं —

(क) प्राचीन-मानव की हस्त-कला तथा शिल्प।
(ख) प्राचीन-मानव का शिकार का तरीका तथा युद्ध-विद्या।
(ग) मछली पकडने के उसके तरीके।
(घ) उसकी जल तथा स्थल यात्रा के साधन तथा इन यात्राओं द्वारा नवीन स्थानो की खोज।
(ङ) कच्ची वस्तुओ का अपने उत्पादन केन्द्रों से बाहर मिलने के कारण उस समय के व्यापार के तरीके—'वस्तु-विनिमय'—पर प्रकाश।
(च) चीर-फाड के औजारो के मिलने से उस समय की शल्य-चिकित्सा।
(छ) वन्य-जातियों में औषधि के प्रचलित प्रयोगो तथा जादू-टोने के व्यवहार से प्राचीन लोगों के रोग आदि सबधी विचारो पर प्रकाश।
(ज) मास तथा वनस्पति को सुखाने, भूनने तथा जानवरो की खालो को सुखा कर उपयोग में लाने पर प्रकाश।
(झ) खेती तथा पशु-पालन के कृत्रिम उपायो द्वारा भोजन-सामग्री जुटाना।
(ञ) पत्थर तथा धातु की खानों को खोदने तथा धातु के गलाने के साधनों के पाये जाने से कच्चे माल को उत्पन्न करने के सबध में उस काल के मानव के ज्ञान पर प्रकाश।
(ट) प्राचीन-मानव के रचनात्मक विचार—इन पर प्रकाश उस समय के घरो, पुलों, नौकाओं आदि द्वारा पडता है।
(ठ) प्राचीन-मानव के कलात्मक-विचार—इन पर प्रकाश उस समय के चित्रों तथा अलकार की कला से पडता है।
(ड) प्राचीन-मानव के धार्मिक-विचार—इन पर प्रकाश उस समय के मृत-व्यक्तियो के समाधि-स्थानो, पूजा-स्थानो तथा मन्दिरो से पडता है।

हमने ऊपर जिन वस्तुओं का परिगणन किया, उनके द्वारा 'प्रागैतिहासिक पुरातत्व-विज्ञान' का काम प्राचीन-मानव की हस्तकला, शिल्प, युद्ध-विद्या, व्यापार, चिकित्सा, भोजन, उपकरण, कला, धर्म आदि का ज्ञान प्राप्त कर उसकी संस्कृति तथा उसके काल का पता लगाना है। इन वस्तुओं से हम यह भी पता लगाने का प्रयत्न करते हैं कि कौन-कौन-से हस्त-कला के उपकरण सब से पहले आविष्कृत हुए, जब हुए तो पहले-पहल कहाँ आविष्कृत हुए, उनका ससार के किन-किन भागो में प्रसार हुआ। प्राचीन-काल के उपकरणो के उन आविष्कारों को ध्यान में रखते हुए हम वर्तमान-काल के आविष्कारों को ठीक-से समझ सकते हैं, क्योंकि वर्तमान का उद्भव प्राचीन में ही तो है, और साथ ही इस क्रमिक-

विकास की शृंखला को ध्यान में रखते हुए भविष्य का चित्र आँखों के सामने चित्रित कर सकते हैं।

४. प्राचीनता के पता लगाने की विधियां

ऊपर जो-कुछ विवरण दिया गया है, उससे यह तो स्पष्ट है कि 'प्रागैतिहासिक पुरातत्व-विज्ञान' की सबसे बड़ी समस्या यह है कि प्राचीन उपकरणों की खोज कहां की जाय ? कई उपकरण तो भूमि की सतह पर मिल जाते हैं, परन्तु अधिकतर तो भूमि की कोख में दबे पड़े हैं। उन्हें खोजने के लिए कहां खुदाई की जाय ?

इसके अतिरिक्त यह भी हम पहले देख आये हैं कि मनुष्य का विकास अधिकतर 'प्राति-नूतन-काल' (Pleistocene period) में हुआ। ऐसी हालत में खुदाई ऐसी जगह होनी चाहिए जो 'प्राति-नूतन-काल' की हो। बिना मतलब के हर काल की भूमि की खुदाई करने से क्या फायदा ? प्राचीनता को पता लगाने के कई तरीकों में से कुछ निम्न हैं :—

(क) फौना-फ्लोरा की विधि—ऐसी जगह खुदाई हो जहां प्राचीन उपकरण मिलें, और ऐसी जगह खुदाई हो जो 'प्राति-नूतन-काल' की भी हो—'पुरातत्व-शास्त्र' (Archeology) की ये दो समस्याएँ हैं, और इन दोनो का हल 'पुरातन-शास्त्री' (Paleontologists) तथा 'भूगर्भ-शास्त्री' (Geologists) कर देते हैं। 'पुरातन-शास्त्री' तो यह जानते हैं कि विकास के क्रम में कौन-से जीव-जन्तु तथा कौन-सी वनस्पति किस काल में थी—इसे वे 'जन्तु-वनस्पति' (Fauna and flora) कहते हैं। पृथ्वी के ऊपर के 'जन्तु-वनस्पति' को देखकर 'पुरातन-शास्त्री' यह बता देता है कि भूमि का अमुक खंड 'प्राति-नूतन-काल' का है, क्योंकि उसके ऊपर 'प्राति-नूतन-काल' के जीव-जन्तु तथा वनस्पतियां पायी जाती हैं। ऐसे भू-खंड के मिलने पर उसकी खुदाई की जाती है। पृथ्वी के अंदर की खुदाई के समय 'भूगर्भ-शास्त्री' का ज्ञान काम में आता है। वह यह बतलाता है कि भूमि का अमुक स्तर अमुक काल का है, अमुक स्तर 'प्राति-नूतन-काल' का है या नहीं है। इस प्रकार 'पुरातन-शास्त्री' के बताये हुए भू-खंड को खोदते-खोदते जब 'भूगर्भ-शास्त्री' का बताया हुआ 'प्राति-नूतन-काल' का स्तर आ जाता है, तब उसमें उस कालकी वस्तुएँ, उपकरण आदि ढूंढे जाते हैं। अगर किसी स्तर में पत्थर के उपकरण मिलें तो यह समझा जाता है कि उस काल का मनुष्य पत्थर के उपकरणों से काम लेता था, अगर किसी अन्य वस्तु के मिलें तो यह समझा जाता है कि उस वस्तु का प्रयोग वह करता था, जो वस्तुएँ ऊपर के स्तर में पायी जाती हैं उनका काल पहले और जो नीचे के स्तर में पायी जाती हैं, उनका काल पीछे का निश्चित किया जाता है।

(ख) वृक्ष-वृत्त की विधि—अभी हमने प्राचीन वस्तुओं के काल-निर्णय करने के जिस उपाय का वर्णन किया उसके अतिरिक्त एक अन्य उपाय भी न्यू

मैक्सिको के एरीज़ोना के कुछ वैज्ञानिको ने निकाला है । वृक्ष को जब तने से काटा जाता है तो उसके गोलाई के कटाव में गोल-गोल वृत्त पाये जाते हैं और एक वृत्त का दूसरे वृत्त से कुछ अन्तर होता है। जब वर्षा अधिक होती है तब एक वृत्त का दूसरे वृत्त से अन्तर अधिक रहता है, जब वर्षा कम होती है तो वृत्तो का यह अन्तर भी कम होता है। वृक्षों के इन वृत्तो का अध्ययन करके वैज्ञानिकों ने पिछले दो हज़ार वर्षों तक का वर्षा के हिसाव का पता लगा लिया है। कटे पड़े वृक्ष के सबसे बाहर के वृत्त से पता चल जाता है कि वह कब काटा गया या कब सूख गया। ये वृक्ष पृथ्वी के जिस सतह में पाये जाते हैं वे अपने इन वृत्तो से मानो उस स्तर का काल लिख देते हैं। इन सतहो में प्राचीन-मानव की जो वस्तुएँ पायी जाती हैं उनका काल भी इन वृक्षो की आयु से निश्चित कर लिया जाता है। इस तरीके में दोष यह है कि पृथ्वी को भीतर की सतह में बहुत कम स्थानों पर वृक्ष अपने ठीक रूप में पाये जाते हैं। रेगिस्तानों में तो बालू के कारण पृथ्वी की भीतर की तहों में वृक्ष सुरक्षित रहते हैं, दूसरी जगहों में इस प्रकार कम सुरक्षित पाये जाते हैं। फिर भी भूमि के स्तर तथा वृक्षो के तनो के वृत्त एक प्रकार से भूमि में पाये जाने वाली वस्तुओ के लिए कलैण्डर का काम करते हैं।

(ग) वार्षिक द्वि-मलावसाद की विधि (Varve method)—यह तो हम जानते ही हैं कि आदि-मनुष्य का इतिहास 'प्राति-नूतन-काल' (Pleisto-cene) में छिपा हुआ है। इस काल को 'हिम-युग' (Ice-age) भी कहा जाता है। इसी युग में चार बार महा-हिमपात हुआ। जब दो हिमपातो के बीच का समय आता था तब बर्फ गलती थी। इस गलने में दो प्रक्रियाएँ होती थीं। गर्मी में हिमाच्छादित प्रदेशों से गल-गल कर भारी मात्रा में पानी नदी-नालो-तालावों में आकर भर जाता था, उस प्रवाह में सब तरह का मोटा-मोटा गन्द बह कर आता था, और नदी-नालो-तालों की तलेटी में बैठ जाता था, उसके बाद सर्दियों में पानी का प्रवाह कम हो जाता था और प्रवाह के कम हो जाने के कारण बारीक, महीन गन्द बह कर आता था, वह मोटे गन्द के ऊपर बैठता था। इस प्रकार बैठे हुए मल को 'अवसाद' कहते हैं, और क्योंकि साल में इस प्रकार के दो अवसाद होते थे, मोटा-गद और बारीक गद, इसलिए इन दोनों की एक परत को 'द्वि-मलावसाद' (Varve) कहते हैं। हर साल इस प्रकार के दो-दो मलों की एक-एक परत हिम-युगों के समय की तलेटियों में पायी जाती है। इन परतों को खोद-खोद कर उन्हें गिनने से उस-उस परत का समय निकल आता है। जिस परत में जो उपकरण मिलता है, उस परत का काल-निर्णय करके उस उपकरण का काल निर्धारित कर दिया जाता है।

५ प्रागैतिहासिक वस्तुओ का काल-क्रम

प्रागैतिहासिक-काल की जो वस्तुएँ खोजी गई है, जैसा हम पहले कई बार कह आये हैं, वे प्राय 'प्राति-नूतन-काल' (Pleistocene period) की हैं।

'प्राति-नूतन-काल' के हमने दो भाग किये थे—'तृतीय' (Tertiary) तथा 'चतुर्थ' (Quarternary) काल। इनमें तृतीय-काल तो बहुत पुराना है, ज्यादातर वस्तुएँ 'प्राति-नूतन' के चतुर्थ-काल की हैं। इनमें से चतुर्थ-काल के भूमि के स्तरों में जो वस्तुएँ पायी जाती हैं वे वस्तुएँ या तो पत्थर की बनी हैं, या कास्य (ब्रोंज) की, या लोहे आदि धातुओं की। पत्थर, कासे, लोहे आदि से इन वस्तुओ के बने होने के कारण इन स्तरो के काल का नाम पाषाण-युग, कास्य (ब्रोंज)-युग, लौह-युग आदि रखा गया है। 'प्राति-नूतन-काल' का सबसे पहला समय वह था जब पत्थर के उपकरण बनते थे, इसलिए इस काल को 'पाषाण-युग' (Stone age) के नाम से पुकारा जाता है। 'पाषाण-युग' के भी दो भाग हैं—'पूर्व पाषाण-युग' (Paleolithic age) तथा 'नव पाषाण-युग' (Neolithic age)। 'पूर्व पाषाण-युग' के फिर तीन भाग किये जाते हैं—'आदिकालीन' (Early), 'मध्य-कालीन' (Middle) तथा 'अन्तकालीन' (Late)। पाषाण-युग के बाद ताम्र-युग, कास्य (ब्रोंज) तथा लौह-युग आते हैं। 'प्रागैतिहासिक पुरातत्व-विज्ञान' में हमारे अध्ययन का मुख्य विषय 'पाषाण-युग' है। इन युगो का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जाता है —

I पाषाण-युग (Stone age)
- (क) उष पाषाण-युग (Eolithic period)
- (ख) पूर्व-पाषाण-युग (Paleolithic period)
  - १ आदिकालीन पूर्व-पाषाण-युग (Early or Lower Paleolithic period)
    - i आदि चैलियन सस्कृति-काल (Pre-Chellean Culture Epoch)
    - ii चैलियन या एब्बेवीलियन सस्कृति-काल (Chellean or Abbevillian Culture Epoch)
    - iii एशूलियन संस्कृति-काल (Acheulian Culture Epoch)
  - २ मध्यकालीन पूर्व-पाषण-युग (Middle Paleolithic Period)
    - i लेवेलोशियन सस्कृति-काल (Levalloisian Culture Epoch)
    - ii मौस्टैरियन सस्कृति-काल (Mousterian Culture Epoch)
  - ३ अन्तकालीन पूर्व-पाषाण-युग (Late or Upper Paleolithic period)
    - i औरिग्नेशियन सस्कृति-काल (Aurignacian Culture Epoch)

ii सौल्युट्रियन संस्कृति-काल (Solutrean Culture Epoch)
iii मैगडेलीनियन संस्कृति-काल (Magdalenian Culture Epoch)
iv एज़ीलियन संस्कृति-काल (Azilian Culture Epoch)

(ग) मध्य-पाषाण-युग (Mesolithic period)
(घ) नव-पाषाण-युग (Neolithic period)
i कैम्पिग्नियन संस्कृति-काल (Campignian Culture Epoch)
ii रौबेनहौसियन संस्कृति-काल (Robenhausian Culture Epoch)

II ताम्र-युग (Copper age)
III कांस्य-युग (Bronze age)
IV लौह-युग (Iron age)

६ पाषाण-युग के उपकरणों का निर्माण कैसे हुआ—उनका विकास

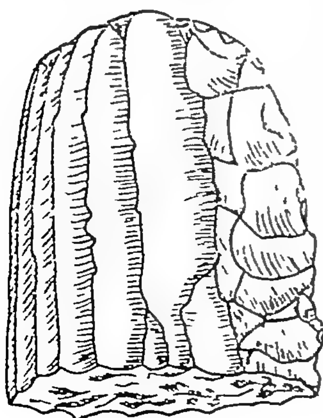
मानव ने जिन वस्तुओं से अपने उपकरण बनाये और उनसे अपनी संस्कृति का विकास किया उनका परिगणन करते हुए मानव-शास्त्री ७–८ वस्तुओं को प्रधानता देते हैं। वे हैं—(१) पाषाण, खोल, मोती, प्रवाल, अभ्रक आदि, (२) लकड़ी, छाल, रेशे, बीज आदि, (३) हड्डी, दांत, हाथी दांत, सींग, कछुए का खोल आदि, (४) खाल, बाल, पंख, आंतें, स्नायु, मज्जा आदि, (५) भिन्न-भिन्न प्रकार की मट्टी जिसे आग में तपा कर कडा किया जा सके, (६) तांबा, सोना, चांदी, लोहा आदि, (७) कच्ची धातुओं से बनायी जाने वाली वस्तुएं तथा (८) शीशा आदि।

इन सब में पहले-पहल मानव ने पत्थर का प्रयोग किया। ऊपर हमने जिन युगों का वर्णन किया है उनमें पाषाण-युग ही सब से अधिक काल तक रहा। पत्थर के उपकरणों में धीरे-धीरे विकास होता गया। जिस उपकरण को मानव ने एक बार बनाया, अगर वह पहले पत्थर का था तो अन्य तत्वों के आविष्कार के बाद वह हड्डी, हाथी दांत, मट्टी, तांबे, लोहे आदि का बनता गया, परन्तु कार्य-साधक उपकरण लगभग वैसे-के-वैसे रहे। पहले पत्थर का हथौड़ा था, तो युगान्तर में लोहे का बन गया, परन्तु मानव ने जो शुरू में आविष्कार किये थे वे सिद्धान्त की दृष्टि से लगभग वैसे बने रहे, उनको अधिक उपयोगी बनाने के प्रयत्न जरूर होते रहे। हां, जो आविष्कार बिल्कुल अनुपयोगी रहा होगा उसे अवश्य छोड़ दिया गया होगा। यह युग जिसमें पाषाण के उपकरणों का प्रयोग होता रहा, 'प्रातिनूतन-युग' (Pleistocene period) के 'पूर्व-पाषाण-युग'

(Paleolithic era) से शुरू हुआ, और 'नव-पाषाण-युग' (Neolithic era) तक चलता रहा। 'नव-पाषाण-काल' आज से ८००० से १२,००० साल पहले तक का है। पूर्व-पाषाण-युग से नव-पाषाण-युग के बीच का समय ५ लाख से ९ लाख साल का गिना जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि लगभग ५ या ९ लाख तक के समय में मानव पाषाण के उपकरणो का ही प्रयोग करता रहा। इसी समय को हमने ऊपर आदिकालीन, मध्यकालीन, अन्तकालीन पाषाण-युगो में विभक्त किया है।

प्राचीन-काल के इन उपकरणों के विषय में तीन बातो का जानना आवश्यक है। पहली बात यह कि ये उपकरण क्या-क्या थे और कैसे इनका निर्माण हुआ, दूसरी बात यह कि किस-किस काल में कौन-कौन-सा उपकरण इस्तेमाल किया जाता था, तीसरी बात यह कि किस-किस देश में कौन-कौन-सा उपकरण काम में आता था। उपकरण, काल तथा स्थान—इन तीन बातो के जान लेने पर हमें 'प्रागैतिहासिक पुरातत्व-विज्ञान' का कुछ-कुछ ज्ञान हो सकता है। इससे पहले कि हम इन उपकरणों के काल तथा स्थान के विषय में कुछ लिखें, इन के निर्माण के विषय में जानना आवश्यक है। हम यहाँ इस बात की चर्चा करेंगे कि पत्थर के उपकरणो का निर्माण किस विधि से हुआ।

(क) पाषाण-फलक-प्रक्रिया या प्रतिघात विधि (Stone flaking process या Percussion method)—पत्थर को एक तरफ से काट देने पर जो पत्थर का फलका निकलता है, उसे 'फलक' या 'शकल' कहते हैं, और इस प्रकार फलके बनाने की प्रक्रिया को 'फलक-प्रक्रिया' कहते हैं। पहले-पहल मनुष्य लकड़ी के टुकड़े से, चाहे वह बना-बनाया था या उसे मनुष्य ने तोड़-ताड़ कर बना लिया था, जमीन को खोद लेता था, उससे कांट-छांट कर लेता तथा कुरेद लेता था। किसी दिन अचानक पत्थर के पत्थर पर गिरने से जो फलके बन गये, मनुष्य को सूझा कि उनसे काम लेना कैसा रहेगा? मानव ने उनसे काम लिया तो उसे वे लकड़ी के उपकरणों से ज्यादा पक्के और अधिक अच्छा काम देने वाले लगे। अभी तक वह स्वयं-बने फलकों से काम लेता था, धीरे-धीरे बड़े पत्थर पर छोटा पत्थर मार कर वह फलके बनाने लगा। इस प्रकार जो अनेक फल के बनते थे उनमें से यह अपने लिए उपयोगी फलकों को चुन लेता था।


पत्थर के फलके उतारना

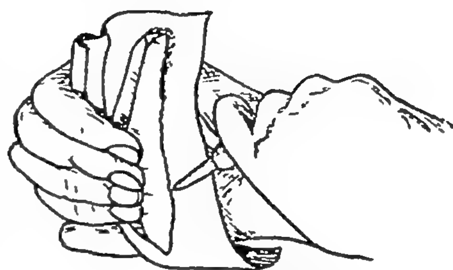
इस प्रक्रिया द्वारा आदि-मानव ने तीन आविष्कार कर लिये। एक तो

वडा पत्थर था, जिससे फलके या शकल उतारे जाते थे, दूसरा छोटा पत्थर था जिससे वडे पत्थर पर फलके या शकल उतारने के लिए आघात या चोट दी जाती थी, तीसरी चीज फलक या शकल स्वय थी। वडे पत्थर को जिससे फलके उतारे जाते थे, 'आन्तरक' (Core) कहते हैं, छोटे पत्थर को जिससे फलके उतारने के लिए चोट दी जाती है, 'हथौडा' (Hammer) कहते हैं, चोट देने से जो वडे पत्थर का टुकडा उतरता है, उसे 'फलक' या 'शकल' (Flake) कहते हैं। भूमि को खोदने से ये तीनों चीजें प्राचीन-स्तरो में पायी जाती हैं, इसलिए हमारा यह अनुमान करना कि उक्त विधि से ये तीनो उपकरण वने होगे कोई असगत कल्पना नहीं है।

उक्त तीन उपकरणो के अलावा धीरे-धीरे एक चौथे उपकरण का भी आदि-मानव के उपकरणो के क्षेत्र में पदार्पण हुआ। हम अभी देख आये हैं कि वडे पत्थर को चोट देकर शकल उतारे जाते थे। अनेक शकल उतरने के वाद यह वडा पत्थर जिसे हमने 'आन्तरक' (Core) का नाम दिया, इस प्रकार का वन जाता था जिससे एक तरफ इसके नोक हो और दूसरी तरफ से इसे हाथ से पकडा जा सके। इसकी शक्ल एक प्रकार के छुरे की-सी हो जाती थी, जिसके कारण कई फलके या शकल उतर जाने के वाद यह 'आन्तरक' (Core) 'मुष्टि-छुरे' (Fist-axe या Coup-de-poing) का रूप ले लेता था। इन मुष्टि-छुरों की लम्वाई २ से १२ इच तक की होती थी। इन 'आन्तरकों' (Cores) में से जो पाषाण-खड अर्ध-निर्मित होते थे, अर्थात् जिनके शकल अभी सव नहीं उतारे गये थे, उन्हें प्रागैतिहासिक-विद्वान् कछुए की पीठ का-सा होने के कारण 'कूर्मान्तरक' (Tortoise core) कहते हैं। 'मुष्टि-छुरे' आफ्रीका में, दक्षिणी-एशिया में, भारत में, दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम युरोप में पाये जाते हैं, 'कूर्मान्तरक' अमरीका में पाये जाते हैं। 'मुष्टि-छुरों' तथा 'कूर्मान्तरको' के अलावा उक्त 'आन्तरक' से एक और उपकरण भी वनता था जिसे 'गरुड चञ्चु पाषाणान्तरक' (Rostro-carinate or Eagle-beak core) का नाम दिया जाता है क्योंकि इस 'आन्तरक' की नोक गरुड की चोंच जैसी पायी गई है। 'मुष्टि-छुरो' से उस समय का मानव प्राय सभी काम ले लेता था। इन की आगे की नोक से गढ़ा करना, छेद करना तथा पासे की तेज़ धार से काटना, छीलना, खुरचना आदि सभी-कुछ हो सकता था। इन 'मुष्टि-छुरो' के क्रमिक-विकास से एक और प्रकार का भी उपकरण वना लिया गया था जिसके चारों तरफ से फलके उतार कर चारों तरफ तेज धारें वन जाती थीं, आगे नोक वन जाती थी। यह उपकरण 'मुष्टि-छुरे' का विकसित रूप था जिसे 'वहुभुजीय-आन्तरक' (Polyhedral core) का नाम दिया जाता है। यह उपकरण नव-पाषाण-युग तक काम देता रहा और युरोप, एशिया तथा मैक्सिको में पाया जाता है।

(ख) पाषाण-भेदक-प्रक्रिया या दवाव-विधि (Stone-chipping -process या Pressure method)—अभी तक आदि-मानव के

पाषाण के जिस व्यवसाय का हमने उल्लेख किया उसमें 'शकल' बनाने के लिए बडे पत्थर को छोटे पत्थर से आघात पहुँचा कर 'फलक' या 'शकल' (Flake) बनाया जाता था, यह प्रक्रिया 'प्रतिघात-प्रक्रिया' (Percussion process) कही जाती है। अब ज्यो-ज्यों इस पाषाण-व्यवसाय का विकास हुआ, त्यो-त्यों एक अन्य प्रक्रिया का आविष्कार हुआ जिसे 'भेदक-प्रक्रिया' (Chipping process) कहा जाता है। 'प्रतिघात-प्रक्रिया' में तो पत्थर से चोट पहुँचायी जाती थी, चोट देकर 'शकल' (Flake) को अलग कर लिया जाता था; 'भेदक-प्रक्रिया' में इस 'शकल' को एक हाथ में दबा कर दूसरे हाथ में सींग, हड्डी या दूसरी-कोई सख्त चीज लेकर दाव से उसे छेद-छाद करके काम के लिए उपयोगी बनाया जाता था। इसे 'भेदक-प्रक्रिया' (Chipping process) या 'दबाव-विधि' (Pressure method) कहा जाता है। 'भेदक-प्रक्रिया' या 'दबाव-विधि' में पत्थर के टुकड़े करने के स्थान में, टुकडे अर्थात् 'फलक' को हाथ पर रख कर सींग आदि की नोक से दबाव देकर काम के लिए उपयोगी बनाया जाता है।



हाथ पर पत्थर रख कर 'दबाव-विधि' से उपकरण बनाना।

'प्रतिघात-विधि' (Percussion method) तथा 'दबाव-विधि' (Pressure method) से पाषाण-युग में अनेक उपकरण बनाये गये। इनमें मुख्य उपकरण निम्न थे—(१) पार्श्व खुरचन यन्त्र (Sidescraper) जिसका काम एक तरफ से खुरचना तथा कभी-कभी कुल्हाडी की तरह काटना भी होता था, (२) पत्थर का रन्दा (Spokeshave), (३) पत्थर का आरा (Saw), पत्थर का चाकू (Knife), (४) कर्तन-यन्त्र (Incising tool), (५) टेकुआ (Awl), (६) धनुष की नोंक (Arrow points), (७) भाले की नोंक (Lance points), (८) बर्च्छे की नोक (Spear points), (९) तराशने का यन्त्र (Endscraper), (१०) मूर्ति-निर्माण-यन्त्र (Sculpturing tool)। ये सब उपकरण पत्थर के फलकों से बनाये गये थे।

ऊपर जिन उपकरणो का हमने उल्लेख किया उस समय का युग—'पूर्व पाषाण-युग'—ऐसा युग था जब मानव या तो जगल के वृक्षो से फल-मूल चुन कर निर्वाह करता था, या शिकार से पेट भरता था। भूमि के गर्भ से मिले प्रस्तरावशेषो (Fossils) से ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल के बाद मनुष्य के उपकरण

वनाने के व्यवसाय में यकायक क्राति हुई। अवतक के उपकरण शिकार आदि के काम तो आ सकते थे, परन्तु वडे-वडे कामो में उनका प्रयोग नहीं हो सकता था। उदाहरणार्थ, जगल साफ करना, मकान वनाना आदि कार्य ऐसे थे जिनमें उक्त उपकरणों से काम नहीं लिया जा सकता था। यह क्राति कैसे हुई—यह नहीं कहा जा सकता। मानव-शास्त्रियो का अनुमान है कि इस समय कोई नवीन मानव-जातियां युरोप में वाहर से आयीं और अपने साथ नये प्रकार के उपकरण लाई। ये जातियाँ निकट-पूर्व से या उत्तरी-आफ्रीका से आयीं—ऐसी कल्पना की जाती है। जव ये जातियां युरोप में आयीं तव इस प्रदेश में उस पत्थर की कमी पड गई थी जिसे काट कर अव तक फलके आदि तथा उनसे अन्य उपकरण वनाये जाते थे। इन नवीन जातियो ने जमीन खोद कर वह पत्थर निकालना शुरु किया और नये-नये उपकरण वनाने शुरु किये। इस समय पहले-पहल सुदृढ़, लम्वाकार, कुछ मुडे हुए 'कुदाली-जैसे' (Picklike) उपकरण का आविष्कार हुआ जिससे पाषाण-खंडों को अन्य पाषाणों के जमाव में से खोद कर निकाला जाता था। धीरे-धीरे इस कुदाली से छेनी (Chisel) तथा कुल्हाडी (Axe) का आविष्कार हुआ। इसके वाद पहले के उपकरणो में और सुधार होने लगा। सुधरे हुए चाकू, छेदक-यत्र, वर्छे, भाले वनने लगे। ईजिप्ट में आरी (Saw) वनी, आगे चलकर इसी से हँसिया (Sickle) वना। अटलाटिक के दोनो तरफ पत्थर का मछली पकडने का काँटा (Fish-hook) मिलता है। सयुक्त-राष्ट्र में वडे फावडे और कुदाली के फलके पाये जाते है।

(ग) पाषाण को छेदने तथा घिसने की प्रक्रिया (Stone-pecking and grinding process)—ज्यो-ज्यो जन-सख्या में वृद्धि होती गई, उपकरण वनाने का पत्थर कम पड़ता गया। इस समय कारीगरो ने दूसरे पत्थर ढूंढ़ निकाले। उन्होंने खडिया-पत्थर, सगमरमर, स्लेटी-पत्थर, वालुआ-पत्थर आदि पर काम करना शुरू किया। इन पत्थरों के आसानी से फलके नहीं वनाये जा सकते थे, न ही इनका आसानी से भेदन किया जा सकता था, इसलिए कारीगरो ने इन्हें घिस-घिस कर इनके उपकरण वनाने शुरू किये। अमरीका में सर्वत्र ऐसे उपकरण मिले हैं जो घिस कर तय्यार किये गये है। उत्तरी अमरीका में तो घिसे हुए ऐसे पत्थर मिले हैं जिन्हें आभूषण के तौर पर कानो में या गले में पहना जाता था। घिसने के अतिरिक्त छेनी से पत्थर को काट कर उसके भिन्न-भिन्न रूप बनाने की विधि भी इस समय काफी प्रचलित थी। हथौडे से पत्थर पर चोट देने से तो उसके टुकड़े-टुकडे हो सकते थे, परन्तु छेनी से आराम से उसकी भिन्न-भिन्न शक्लें वनाई जा सकती थीं। इस प्रकार की कई मूर्तियां जिनमें मेंडक, साँप, कछुआ, मछली, पशु-पक्षी तथा मनुष्य भी शामिल है, प्राप्त हुई है।

(घ) पाषाण को चीरने की प्रक्रिया (Stone-sawing process)—अव तक लकडी तथा हड्डी को ही आरे की तरह चीरा जाता था। अव मुलायम पत्थर को भी चीरा जाने लगा। पत्थर को चीर कर उसे वीच में

से छेनी से छेदा जाता था और उसका दीया बना लिया जाता था। उत्तरी कैलिफोर्निया तथा कुछ अंश तक एस्किमो में यह व्यवसाय खूब चलता था। हरित-वर्ण-पाषाण, जो एक सख्त पत्थर है, उसे चीरने का काम निकट-पूर्व, चीन, न्यूज़ीलैण्ड, अमरीका के उत्तरीय प्रशान्त सागर तट तथा कुछ अंश में मैक्सिको तक फैला हुआ था। पत्थर को चीरा कैसे जाता था? कभी-कभी तो पत्थर के नोकीले सिरे से मुलायम पत्थर को घिस कर चीर दिया जाता था, कभी-कभी रस्सी या मोटी, सख्त लकड़ी को लेकर रेता की सहायता से पत्थर को घिस-घिस कर चीर दिया जाता था। इस प्रकार पत्थरों में छेद भी किये जाते थे। युरोप तथा निकट-पूर्व में कई औज़ार मिले हैं जिनमें छेद करके उनमें हत्थे लगाये गये हैं।

हमने पाषाण-युग के उपकरणो पर लिखते हुए लिखा था कि 'प्रागैतिहासिक-पुरातत्व-विज्ञान' को समझने के लिए तीन बातों को समझना आवश्यक है—प्राचीन-काल के उपकरणो का निर्माण, उन का काल तथा उनकी प्राप्ति का स्थान। निर्माण के विषय में पाषाण-युग के उपकरणो के सम्बन्ध में हमने लिखा। अब प्रश्न है कि उनका काल क्या था, किस समय उनका निर्माण हुआ? उस काल के ज्ञान से हमें समझ पड़ेगा कि उस काल के मानव की संस्कृति कैसी थी। काल के संबंध में लिखते हुए हम कुछ शब्दों का प्रयोग करेंगे जिनके विषय में हम पहले भी लिख आये हैं और यहाँ भी पहले ही कुछ लिख देना आवश्यक है। हम इस प्रकरण में पूर्व-चैलियन, चैलियन, एशूलियन, मौस्टेरियन, औरिग्नेशियन, मैगडेलीनियन, एज़ीलियन आदि संस्कृतियों की चर्चा करेंगे। ये नाम फ्रांस, डैनमार्क, इंगलैण्ड, स्पेन, आफ्रीका आदि देशों के उन-उन स्थानों के हैं, जहाँ खुदाई करते हुए भिन्न-भिन्न उपकरण तथा वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। हमारे समझने के लिए ज़रूरी शब्द तो 'आदिकालीन पूर्व-पाषाण युग', 'मध्यकालीन पूर्व-पाषाण-युग', 'अन्तकालीन पूर्व-पाषाण-युग' आदि शब्द ही हैं, परन्तु इन युगों का वर्णन करते-करते चैलियन, एशूलियन आदि का ज़िक्र आता जायेगा।

६ उषःकालीन पाषाण-युग (Eolithic period)

'प्राति-नूतन-युग' (Pleistocene period) के जो दो भाग हम कर आये हैं उनमें एक 'तृतीय-काल' तथा दूसरा 'चतुर्थ-काल' के नाम से प्रसिद्ध है। चतुर्थ-काल के मुख्य तौर पर हमने तीन भाग किये थे—पाषाण-युग, कांस्य-युग तथा लौह-युग। 'पाषाण-युग' के हमने अनेक विभाग किये जिनका पहले उल्लेख हो चुका है। इस 'पाषाण-युग' से पूर्व का जो समय है, जिसे तृतीय-काल का अन्तिम तथा चतुर्थ-काल का शुरू का काल अथवा इन दोनो का सन्धि-काल कहा जा सकता है, उसे 'उषःकालीन पाषाण-युग' ([1]Eolithic period) कहा जाता है। इससे पहले के आदि-मानव या मानव-सम प्राणी जिन उपकरणो का इस्तेमाल करते थे वे शीघ्र क्षीण हो जाते थे। उदाहरणार्थ,

---

1 Eolithic=Greek word *Eos*, the dawn, and *lithos*, a stone

लकडी की छडी से काम लेना या लकडी के अन्य उपकरणो का व्यवहार करना वे जानते होगे, परन्तु ये उपकरण स्थिर रहने वाले या देर तक टिकने वाले न थे। धीरे-धीरे इस काल में आदि-मानव ने पाषाण से परिचय प्राप्त किया। उसे प्रतीत हुआ कि पत्थर से अनेक प्रकार के काम लिये जा सकते हैं। ज्यो-ज्यों आदि-मानव का आँख पर आधिपत्य हुआ, ज्यो-ज्यो वह पत्थर को पत्थर पर मार कर हाथ का प्रयोग करने लगा, ज्यो-ज्यो आँख और हाथ का एक-दूसरे के साथ सहयोग उसने सीखना शुरू किया, त्यों-त्यो वह विकास के मार्ग पर आगे-आगे बढ़ने लगा। पत्थर के जो भिन्न-भिन्न रूप थे, वे आदि-मानव ने इस काल में स्वय नहीं बनाये थे। ऊपर से पत्थर लुढक पडा, उसके कई टुकडे हो गये। वृक्ष गिरा और उससे टूट कर पत्थर की अनेक शक्लें बन गईं। अब तक तो आदि-मानव टूटने-फूटने वाले, गल-सड जाने वाले लकडी आदि के उपकरणों से काम लेता था, इस युग में अभी उसने पत्थरो को घडना तो नहीं सीखा, परन्तु खुद-ब-खुद जो पत्थर नोकीले हो गये थे, जिनकी भिन्न-भिन्न शक्लें बन गई थीं, उनसे काम करना सीखा। इन नोकीले पत्थर के टुकडो से वह भूमि में गढे कर सकता था, किसी चीज में चाहता तो छेद कर सकता था, कुरेद सकता था, खुरच सकता था। यह युग लाखो बरस रहा और इस युग में आदि-मानव सहज-प्राप्त पत्थर के उपकरणों से काम लेता रहा।

इस काल में पत्थर के उपकरणों से आदि-मानव जो काम लेता था उसे १८८३ में श्री जी० डी० मौर्टीलिट (G de Mortillet) ने 'व्यवसाय' (Industry) का नाम दिया, 'व्यवसाय' इसलिए क्योंकि आदि-मानव पत्थर के इन उपकरणों से अपना काम चलाता था। बेलजियम के प्रो० रुटोट (Rutot) ने लिखा कि पत्थर के इन आदि-उपकरणो को पाँच भागों में बाँटा जा सकता है—हथौडा, कुल्हाडी, चाकू, खुरचन-यन्त्र तथा छेदक-यन्त्र। इसका यह अर्थ नहीं कि उष काल के आदि-मानव को हथौडे आदि का ज्ञान था, इसका अर्थ इतना ही है कि 'प्राति नूतन-युग' के तृतीय तथा चतुर्थ काल के सन्धि-काल के भूमि-स्तर में, जिसे हमने 'उष कालीन पाषाण-युग' का नाम दिया है, जो स्वय-सिद्ध उपकरण मिले हैं, उनसे हथौडे, कुल्हाडी आदि का-सा काम लिया जा सकता था, ये उपकरण ही धीरे-धीरे विकसित होकर वर्तमान हथौडे आदि के रूप में पहुँचे।

इनका धीरे-धीरे किस प्रकार विकास हुआ इसकी चर्चा हम पहले कर आये हैं। यहाँ हमें इतना ही कहना है कि 'उष कालीन पाषाण-युग', जो लगभग ६० हजार वर्ष रहा और आज से ५ लाख ४० हजार के लगभग वर्ष पहले समाप्त हुआ, उस सारे समय में मनुष्य ने अनघढ पत्थर से अपना काम चलाया।

७ आदि-कालीन पूर्व-पाषाण-युग—आदि-चैलियन, चैलियन तथा एशूलियन संस्कृति-काल

(Early or Lower Paleolithic Period—Pre-Chellean, Chellean and Acheulian Culture Epoch)

आदिकालीन पूर्व-पाषाण-युग के जो 'अवसाद' (Deposits) प्राप्त हुए हैं, वे काल की दृष्टि से पूर्व-चैलियन, चैलियन तथा एशूलियन संस्कृति-काल के कहे जाते हैं। इनका हम यहाँ क्रमश वर्णन करेंगे।

(क) पूर्व-चैलियन संस्कृति-काल (Pre-Chellean Culture Epoch)—फ्रास में पेरिस से ८ मील की दूरी पर 'चैलेस' (Chelles)-नामक एक स्थान है, जहाँ पत्थर के कुछ उपकरण प्राप्त हुए। इन उपकरणों का जो समय निर्धारित किया गया उससे पहले के समय के जो उपकरण मिले उन्हें 'पूर्व-चैलियन', तथा चैलेस से जो उपकरण मिले उन्हें 'चैलियन' कहा जाता है। इन उपकरणो के अनुरूप उपकरण जहाँ-जहाँ मिले, उन्हें 'पूर्व-चैलियन' तथा 'चैलियन' नाम दिया जाता है। 'पूर्व-चैलियन' तथा 'चैलियन' का समय आज से ५४०,००० से ४८०,००० साल पहले का माना जाता है, अर्थात् यह सस्कृति ६०,००० वर्ष तक लगातार रही। पूर्व-चैलियन-सस्कृति-काल में पत्थर के उपकरणों का निर्माण शुरू हो गया था, परन्तु उस समय पत्थर के उन फलकों से काम लिया जाता था जो स्वय टूट-फूट कर फलक या शकल बन गये होते थे। यह वह समय था जब पृथिवी पर 'पियेकैन्थ्रोपस-मानव' (Pithecanthropus) विचरण किया करता था।

(ख) चैलियन सस्कृति-काल (Chellean Culture Epoch)—हम अभी कह आये हैं कि फ्रास के 'चैलेस'-नामक स्थान में कुछ उपकरण मिले। इस प्रकार के उपकरण जहाँ-जहाँ मिले उन्हें 'चैलेस' नाम से 'चैलियन-संस्कृति' के उपकरण कहा जाता है। 'चैलियन' को अब कुछ विद्वान् 'एब्बेविलियन' (Abbevillian)—इस नाम से पुकारते हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 'पूर्व-चैलियन' तथा 'चैलियन' सस्कृति का काल आज से ५४०,००० से ४८०,००० साल पहले का माना जाता है, और इन दोनो सस्कृतियों का राज्य ६०,००० वर्ष तक रहा—यह कहा जाता है। 'पूर्व-चैलियन' में अनघड पत्थरों के उपकरणो का प्रयोग होता था, परन्तु 'चैलियन-काल' की सस्कृति में इन पत्थरो के फलके उतारे जाते थे, और इस काल में 'मुष्टि-छुरे' (Hand-axe or Coup-de-poing) का आविष्कार हो गया था। इस 'मुष्टि-छुरे' का वर्णन हम पहले कर आये हैं। जब यह समय था तब पृथिवी पर पेकिंग-मानव, पिल्ट-डाउन-मानव तथा हीडलबर्ग-मानव (Peking man, Piltdown man, Heidelberg man) विचरण करता था।

'पूर्व-चैलियन' तथा 'चैलियन'-मानव आजीविका के लिए जगलों में जहाँ-तहाँ फिरता था। कहीं फल एकत्रित करता, कहीं पशुओं का शिकार

करता। वह दुनिया के कोने-कोने में इतना भटकता फिरता था कि प्राय सभी जगह इस सस्कृति के अवशेष उपलब्ध हुए हैं। इसके समय से पाषाण के व्यवसाय का सूत्रपात हुआ। पत्थर के भिन्न-भिन्न प्रकार के उपकरण अपनी प्रारभिक अवस्था में इस काल में पाये जाते हैं। डार्विन ने 'चैलियन-मानव' का वर्णन करते हुए लिखा है कि वह खाल के बनाये कपडों से अपना शरीर ढँकता था। 'पूर्व-चैलियन' तथा 'चैलियन'-काल में युरोप की जल-वायु इतनी ठडी नहीं थी इसलिए उस काल का मानव आराम से खुले में रहा करता था, नदी के किनारे या आस-पास के मैदानों में उसका वास था।

'प्रथम अन्तर्हिमकाल' (First Interglacial) से 'द्वितीय अन्तर्हिमकाल' (Second Interglacial) तक 'पूर्व-चैलियन' तथा 'चैलियन' सभ्यता का सृष्टि में दौर-दौरा रहा।

(ग) एशूलियन सस्कृति-काल (Acheulian Culture Epoch)—यह सभ्यता 'तृतीय अन्तर्हिमकाल' (Third Interglacial) की है। एशूलियन-सभ्यता भी पाषाण-सभ्यता है, और यह सृष्टि में ४३०,००० साल पहले से १३०,००० साल पहले तक रही। इसका अर्थ यह हुआ कि ३ लाख साल तक मानव एशूलियन-सभ्यता का जीवन बिताता रहा। इस समय की सभ्यता के पाषाणी उपकरण १६४२ में श्री अबेल जेन्सजून (Abel Janszoon) को तस्मानिया में प्राप्त हुए। इन उपकरणों से ज्ञात होता है कि चैलियन-मानव के उपकरणो में पहले से अब अधिक सुधार हो गया था। इस समय का 'मुष्टि-छुरा' (Coup-de-poing) इस प्रकार का बन गया था जिससे प्राय सभी तरह के काम लिये जा सकते थे। उससे छुरे का, छीलने, काटने, तराशने, खुरचने, छेद करने—सब काम लिये जाते थे। उस समय के जो फलके मिले हैं उनसे भी ज्ञात होता है कि वे अकस्मात् बने फलके नहीं हैं, अपितु 'पाषाणान्तरक' (Stone core) को बडे कौशल से काट कर बनाये गये हैं। 'आन्तरक' पर इस तरह से नपी-तुली चोट दी गई है जिससे 'पाषाणान्तरक' का 'मुष्टि-छुरा' बन गया है, 'फलक' को अन्य कामो में लिया गया है, और 'मुष्टि-छुरे' का भी ऐसा आकार बनाया गया है जिससे वह अनेक कामों में आ सके।

इस समय का मानव जानवरों की खाल ओढ़ कर सर्दी से अपने तन की रक्षा करता था, भोजन की तलाश में जगलों में फिरता था, भोजन न मिलने पर मनुष्य को मार कर भी अपनी क्षुधा को निवृत्त कर लेता था। मछलियों का शिकार स्त्रियाँ करती थीं। उनके रस्सियों और टोकरियों को बनाने के भी प्रमाण मिलते हैं। ऐसा भी ज्ञात होता है कि अगर किसी अग में रोग हो जाता तो उसको वे काट डालते थे। इस काल में मानव ने आग जलाने का आविष्कार भी कर लिया था।

८ मध्यकालीन पूर्व-पाषाण-युग—लैवेलोशियन तथा मौस्ट्रियन सस्कृति-काल (Middle Paleolithic Period—Levalloisian and Moustrian Culture Epoch)

एशूलियन-संस्कृति के वाद लैवेलोशियन तथा मौस्ट्रियन सस्कृति का काल माना जाता है। लैवेलोशियन की समकालीन सस्कृतियो को क्लैक्टोनियन तथा मैसवीनियन (Clactonian and Mesvinian) कहते हैं। लैवेलोशियन के इतने उपकरण नहीं मिलते जितने मौस्ट्रियन के मिलते हैं, इसलिए मानव-शास्त्र की अधिकाश पुस्तकों में इस काल का वर्णन करते हुए मौस्ट्रियन-काल का ही वर्णन किया जाता है। मौस्ट्रियन-काल आज से १४०,००० साल पूर्व से लेकर ७०,००० साल पूर्व तक रहा। मानव ने लगभग ७० हजार साल मौस्ट्रियन-सस्कृति में विताये। नियेन्डरथल-मानव (Neanderthal-man) के अवशेष इस समय तक उपलब्ध होते हैं। सन् १९०८ में फ्रास के ला-चैपेले-ऑक्स-सेंट्स जिले के डोरडोर प्रदेश की 'ले मौस्टीयर' घाटी में एक अस्थि-पजर प्राप्त हुआ और इस प्रकार के पजर अन्य अनेक स्थानों में भी मिले। इस स्थान के नाम से इस मानव की संस्कृति को मौस्ट्रियन-संस्कृति का नाम दिया गया।

मौस्ट्रियन-संस्कृति का समय वह था जब 'तृतीय अन्तर्हिमकाल' (Third (Interglacial) समाप्त हो रहा था, और चतुर्थ हिम-काल (Fourth Glacial or Ice age) का प्रारभ हो रहा था। अन्तर्हिमकाल में तो मौसम गर्म हो ही जाती हैं, परन्तु हिम-काल में शीत की प्रधानता हो जाती है। इस दृष्टि से मौस्ट्रियन-काल शीत-प्रधान काल था। इस समय के नियेन्डरथल-मानव ने शीत से वचने के लिए कन्दराओ में निवास करना शुरू किया, इसलिए इस काल का मानव 'कन्दरावासी' मानव कहाता है। भारतीय इतिहास में भी कन्दराओ का जगह-जगह उल्लेख मिलता है। हो सकता है कि भारत का कन्दरा-काल युरोप के मौस्ट्रियन-सस्कृति के काल की ही आवृत्ति हो।

मौस्ट्रियन-काल में पाषाण-व्यवसाय में और अधिक उन्नति हुई। पहले हम लिख आये हैं कि शुरू-शुरू में पत्थर के फलके वनाने का उपाय 'प्रतिघात-विधि' (Percussion Method) था। वडे पत्थर के किनारे पर छोटे पत्थर से चोट दी जाती थी और उससे फलके उतार लिये जाते थे। इन फलकों से आगे के उपकरण वनाये जाते थे। इस विधि द्वारा जो फलके उतरते थे, वे टेढे-मेढे होते थे, और अवतक जो काल व्यतीत हुए उनमें इन टेढ़े-मेढे फलकों से ही काम निकाल लिया जाता था। अव मौस्ट्रियन-संस्कृति के काल में 'प्रतिघात-विधि' के स्थान में 'दवाव-विधि' (Pressure Method) से काम लिया जाने लगा। पत्थर का फलका तो 'प्रतिघात' से वनाया जाता था, परन्तु उस फलके को सुघड़ 'दवाव' से किया जाता था। हाथ पर फलके को रख कर किसी सख्त चीज से कुरेद कर उसके टेढ़े-मेढेपन को दूर कर दिया जाता था। टेढ़ा-मेढ़ापन दूर

करने के लिए सख्त चीज का फलके पर क्योंकि दवाव पडता था इसलिए मानव-शास्त्री इसे 'दवाव-विधि' कहते हैं। इस काल के उपकरण छोटे-छोटे हैं, और इनकी एक विशेषता यह है कि उन्हें एक तरफ से ही काम में लाया जा सकता है, दोनो तरफो से नहीं। यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि इस काल के उपकरणों को पकडने के हत्थे पत्थर के ही थे, या लकडी का भी इस समय इन हत्थो के लिए प्रयोग होने लगा था। वहुत सभव है कि इस काल में हत्थो के लिए लकडी प्रयुक्त होने लगी हो।

'प्रतिघात-विधि' तथा 'दवाव-विधि' से मौस्ट्रियन-काल में फलको द्वारा जो उपकरण वने उनका परिगणन हम पहले कर आये हैं। वे उपकरण थे—पार्श्व-खुरचन-यन्त्र, पत्थर का रन्दा, पत्थर का आरा, पत्थर का चाकू, कर्तन-यन्त्र, टेकुआ, धनुष की नोक, भाले की नोक, वर्छे की नोक, तराशने का यत्र तथा मूर्ति-निर्माण-यन्त्र। ये सव उपकरण मौस्ट्रियन-काल की उपज हैं।

अहकार मनुष्य का वहुत पुराना सस्कार है। इस वात के प्रमाण मिलते हैं कि अपने इस अहकार को तृप्त करने के लिए मौस्ट्रियन-काल के स्त्री तथा पुरुष तरह-तरह की प्राकृतिक वस्तुओं से अपने शरीर का अलकार करते थे। युरोप में तो इस काल में पहले-पहल अलकारो के प्रयोग का श्रीगणेश हुआ।

इस काल के लोग मृत-व्यक्तियो को भूमि में गाड दिया करते थे। ऐसे अवशेष प्राप्त हुए हैं जिनमें मृत व्यक्ति को लिटा दिया गया है, ऐसे भी अवशेष मिले हैं जिनमें वेलों आदि के तनो से उसे कस कर वाँधा गया है। मृत-व्यक्ति के उपकरण उसके साथ दवा दिये जाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोग जादू-टोने में विश्वास रखते थे, सर्व-भक्षी थे, शिकारी तथा फिरदर थे। इनके मुर्दे इस सावधानी से गडे पाये गये हैं कि अनुमान लगाया जाता है कि ये लोग आध्यात्मिक सत्ता में विश्वास करते थे और सभवत शरीर के मरने के वाद भी कुछ वच रहता है—यह मानते थे।

९ अन्तकालीन पूर्व-पाषाण-युग—औरिग्नेशियन, सौल्यूट्रियन, मैगडेलेनियन तथा एजीलियन सस्कृति-काल

(Late or Upper Paleolithic Period—Aurignacian, Solutrean, Magdalenian and Azilian Culture Epoch)

(क) औरिग्नेशियन सस्कृति-काल (Aurignacian Culture Epoch)—टौलौस के दक्षिण-पश्चिम में ४० मील के फासले पर 'औरिग्नाक' (Aurignac) एक स्थान है। इस स्थान पर अनेक पत्थर के उपकरण मिले हैं। इस स्थान के नाम पर इस काल के उपकरणों की सस्कृति को 'औरिग्नेशियन' कहा जाता है। इसका काल आज से १ लाख से ५० हजार साल के वीच का समय है। लगभग ५० हजार साल तक मानव 'औरिग्नेशियन-सस्कृति' का जीवन व्यतीत करता रहा। इस सस्कृति के प्रतिनिधि 'क्रो-मैग्नन-मानव'

(Cro-Magnon) तथा ग्रिमाल्डी-मानव (Grimaldi-man) हैं, जिनका हम पहले वर्णन कर आये हैं।

हम अभी मौस्ट्रियन-काल के जिन उपकरणो का वर्णन कर आये हैं, वे औरिग्नेशियन-काल में और अधिक परिष्कृत हुए। इस काल में भी पत्थर के फलको से भिन्न-भिन्न उपकरण बनाने का व्यवसाय (Flake Industry) चलता रहा। इस काल में जो उपकरण पाये जाते हैं, वे हैं—(१) सीधे किनारे का फलके का चाकू (Flake-knife), (२) रदने का पत्थर (Flake-Endscraper), (३) आन्तरक का बना रदने का पत्थर (Endscraper of Core), (४) नकाशी-यंत्र (Burin), (५) छेदन-यंत्र (Incising tool), (६) दाँतेदार पार्श्व-खुरचन-यत्र (Notched sidescraper), (७) वेधन-यंत्र (Perforator), (८) नोकीला फलक (Stemmed point flake), (९) दो नोको का अस्थि-उपकरण (मछली का फदा), (१०) अस्थिनिर्मित सूई (Bone needle), (११) अस्थि-निर्मित बर्छी, (१२) टेकुआ (Awl), (१३) केश-सुई (Hair-pin), (१४) सींघ का चम्मच (Spatulate of antler), (१५) हड्डी के खोल के मनके (Beads of shell), (१६) सींघ के मनके (Beads of reinder), (१७) पत्थर के मनके (Beads of stone), (१८) जगली बकरे का चित्र (Profile of ibex), (१९) स्त्री की मूर्ति का सिर (Head of female figurine), (२०) पत्थर के कुल्हाडे (Hammer-stones), (२१) शूर्ण (Anvil), (२२) दीप (Lamp), कण्ठहार (Necklace) आदि।

उक्त विवरण में दो चित्रो का उल्लेख है। इन चित्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में चित्र-कला का प्रारभ हो गया था, भले ही वह अपनी अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था में थी। इस काल की वस्तुओ की खुदाई अल्टामीरा के पास स्पेन-निवासी मार्से लीने-डी-सन्तौला जब कर रहे थे तब उनकी पुत्री ने एक चित्र को देख कर साँड-साँड चिल्लाना शुरू कर दिया। इस खुदाई में हरिण, घोडे आदि के भी चित्र मिले। जिन स्थानो में ये चित्र मिले वह अन्धकारपूर्ण था। इससे यह प्रतीत होता है कि इस काल का मानव कन्दराओं में दीपक के प्रकाश से काम करता होगा। उक्त विवरण में मनके, कण्ठहार, केश-सूई आदि भी मिली हैं जिनसे यह अनुमान लगाया जाता है कि 'औरिग्नेशियन-संस्कृति' की स्त्री वेश-भूषा, केश-प्रसाधन, अलकार आदि पर विशेष ध्यान देती होगी। इस काल में पत्थर के उपकरणों के साथ-साथ हड्डी के उपकरण बनने भी शुरू हो गये थे।

(ख) सौल्यूट्रियन-सस्कृति-काल (Solutrian Culture Epoch)—सौल्यूट्रे नामक स्थान पर कुछ पत्थर के उपकरण मिले, तो जिस काल के वे थे, उस काल की संस्कृति का नाम 'सौल्यूट्रियन-संस्कृति' रख दिया गया। यह समय औरिग्नेशियन से पीछे का है, परन्तु यह काल बहुत अधिक देर तक नहीं

रहा। इस समय के उपकरणो को आगे-पीछे, सभी तरफ से सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया गया है। इन उपकरणो की कांट-छांट बहुत सुन्दर है। उपकरण सुन्दर तभी बन सकते थे अगर उनको 'दबाव-विधि' (Pressure method) से बनाया जाय, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय 'दबाव-विधि' अपने विकसित रूप में थी। इस युग में पाषाण-व्यवसाय की कला अपने उच्च-शिखर पर पहुँच रही थी। सौल्यूट्रियन-सस्कृति के उपकरण कई स्थानों में प्राप्त हुए हैं। इगलैण्ड, फ्रास, केन्द्रीय युरोप तथा स्पेन में इस काल के उपकरण मिले हैं। इस समय का मानव 'क्रो-मैग्नन-मानव' (Cro-Magnon man) था।

इस काल के उपकरण हैं—(१) दबाव-विधि से सुन्दर बनाया हुआ पत्ते की तरह का चाकू (Laural leaf-type knife), (२) सरपत के पत्ते की तरह का भाला या चाकू (Willow-leaf-type spear point or knife), (३) तीर की नोक (Arrow point), (४) भाले की नोक (Lance point), (५) वेधन-यत्र (Perforator), (६) आरा (Saw), (७) नक्काशी यन्त्र (Burin), (८) छेद वाले मनके (Perforated pebbles), (९) हरिण के सींग का बना नोकीला टेकुआ (Awl), (१०) हड्डी की बनी सूई (Bone needle), (११) सींग का बना भाला, (Harpoon of antler), हाथी दांत के मनके (Ivory pendants)। इनके अलावा औरिग्नेशियन-काल के उपकरण भी इस काल में प्राप्त हुए।

(ग) मैंगडेलेनियन-मस्कृति-काल (Magdalenian Culture Epoch)—फ्रास के 'ला मैंगडेलेन'-नामक स्थान में खुदाई करते हुए कुछ प्राचीन उपकरण मिले जिन के कारण इन उपकरणो का प्रयोग करने वाले प्राचीन-मानव की सस्कृति को 'मैंगडेलेनियन-सस्कृति' का नाम दिया जाता है। इसका समय आज से ५०,००० साल पहले से २०,००० साल पहले तक का माना जाता है। ३० हजार साल तक इस सस्कृति का बोलबाला रहा। इस काल का मानव भी 'क्रो-मैग्नन-मानव' (Cro-Magnon man) है।

मैंगडेलेनियन-सस्कृति के उपकरण, पत्थर के साथ-साथ जैसा नीचे दी गई सूची से स्पष्ट होगा, अधिकत हड्डी तथा सींगों के बने होते थे। हड्डियो में भी वे हाथी-दांत का प्रचुरता से प्रयोग करते थे। इनके बडे-बडे भालों पर तरह-तरह की चित्रकारी बनी हुई पायी जाती है। इस समय पत्थर के ऐसे उपकरण भी प्राप्त हुए हैं जिन्हें 'अणु-पाषाणोपकरण' (Microliths) कह सकते हैं। इस समय का मानव चित्र-कला का पडित था, कम-से-कम आजकल जगली जातियो में जैसी चित्र-कला पायी जाती है उससे उसे चित्र-कला का बहुत अधिक ज्ञान था। शिकार के साथ शिकारी के उस समय के जो चित्र पाये गये हैं, वे बडे सजीव चित्र हैं। नृत्य के चित्र भी मिले हैं, और जैसे चित्रों में जीवन दिखाई देता है, ऐसी ही उनकी नृत्य-कला में भी सजीवता थी, इसमें सन्देह नहीं।

स्पेन के कोगल स्थान में जो चित्र मिला है वह अत्यन्त सजीव है। उस काल के ऐसे ही चित्र कहीं-कहीं भारत में भी प्राप्त हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये चित्र धार्मिक-कृत्यों के समय उपयोग में आते थे क्योंकि जिन कन्दराओं में ऐसे चित्र मिले हैं, वे कन्दरा के अन्तिम भाग में मिले हैं, जहाँ वे आम तौर पर नहीं देखे जा सकते थे। मैगडेलेनियन-संस्कृति के लोग चित्र-कला में ही नहीं, मूर्ति-कला में भी प्रवीण थे क्योंकि इस काल में पहले-पहल पशुओ के खुदे हुए मौडल पाये जाते हैं। इस काल के मुर्दों को औरिग्नेशियन-काल की तरह बांध-बूंध कर जमीन में गाड़ दिया जाता था जिसका शायद यह अभिप्राय था कि वह मुर्दा अब किसी तरह से उठ कर अपने संबंधियों को तंग न कर सके। इस प्रकार बांध कर गाड़ने की प्रथा अब भी आस्ट्रेलिया, दक्षिणी आफ्रीका आदि के आदिवासियो में पायी जाती है।

इस सस्कृति के जो उपकरण मिले हैं, वे हैं—(१) अस्थि-निर्मित नोकदार वर्छा, (इसके एक तरफ कांटे हैं), (२) अस्थि-निर्मित नोकदार वर्छा (इसके दोनों तरफ कांटे हैं), (३) सींग-निर्मित नोकदार भाला (इसके एक तरफ कांटे हैं), (४) सींग-निर्मित नोकदार भाला (इसके दोनों तरफ कांटे हैं), (५) सींग-निर्मित नोकदार भाला (इसके एक तरफ कांटे हैं परन्तु इसके तने में एक छेद भी है), (६) अस्थि-निर्मित फदा—दो नोको वाला, (७) अस्थि-निर्मित फदा—तीन नोकों वाला, (८) अस्थि-निर्मित भाला (सचित्र तथा सछिद्र), (९) सींग-निर्मित भाला (जगली वकरे के चित्र सहित), (१०) सींग-निर्मित छड़ी (घोडे के चित्र सहित), (११) सचित्र हाथी दांत की छडी, (१२) अस्थि-निर्मित विना धार की छडी, (१३) अस्थि-निर्मित डमरू, (१४) सछिद्र सीप, (१५) पत्थर के सछिद्र मनके, (१६) पत्थर का दीपक, (१७) पत्थर का खरल, आदि।

(घ) अज़ीलियन-सस्कृति-काल (Azılıan Culture Epoch)—इस सस्कृति के उपकरण फ्रास के 'मस्दे-अजिल' नामक स्थान से मिले हैं, इसलिए इसका नाम 'अज़ीलियन-संस्कृति' रखा गया है। इस समय की समकालीन सस्कृतियों को टार्डेनोशियन तथा मैंगलेमोशियन (Tardenoısıan and Maglemosıan) सस्कृति कहते हैं।

इस सस्कृति के पत्थरों पर चित्र वने मिले हैं। कई विद्वानों का कथन है कि ये चित्र उस समय की लिपि के सूचक हैं। अज़ीलियन संस्कृति-काल की मस्दे-अजिल नामक कन्दरा में जले हुए अनाज के ढेर मिले हैं जिससे अनुमान होता है कि इस समय कृषि का प्रयोग भी होने लगा था। इस काल की एक चक्की भी मिली है जो फ्रास के कैम्पिग्नी स्थान पर पायी गई।

इस सस्कृति के जो उपकरण मिले हैं, वे हैं—(१) चित्रित बिल्लौर पत्थर, (२) कन्दराओ की दीवारों पर मनुष्यो के अनेक चित्र, (३) कन्दराओ की दीवारों पर शिकार करते हुए धनुष तथा वाण का चित्र, (४) अस्थि-निर्मित

मछली पकड़ने का फंदा, (५) सींघ-निर्मित छेद वाला नोकदार भाला, (६) अस्थि-निर्मित भाले, (७) पाषाण-निर्मित रन्दा, (८) पाषाण-निर्मित वाण की नोक, (९) कई प्रकार के छेदक-यन्त्र, (१०) घिसने, रगड़ने, पौलिश करने के पत्थर, आदि।

१० संधि-पाषाण-युग (Mesolithic Period)

अभी हमने 'पूर्व-पाषाण-युग' का वर्णन करते हुए उसके आदि, मध्य तथा अन्तकालीन समयों का वर्णन किया। 'पूर्व-पाषाण-युग' के बाद 'नव-पाषाण-युग' आता है, परन्तु 'पूर्व' और 'नव' के बीच का एक युग है जिसे श्री एलन ब्राउन (Brown) ने 'संधि-पाषाण-युग' (Mesolithic period) का नाम दिया है। यह क्योंकि पुराने और नये पाषाण-युगों को मिलाने वाला समय है इसलिए इसे 'संधि-युग' कह सकते हैं। इसका काल आज से १३००० से ८००० साल के लगभग का अनुमाना गया है। इस काल में 'दबाव-विधि' (Pressure Method) से चमकदार पत्थर के छोटे-छोटे सुन्दर उपकरण बनाये जाते थे जिन्हें 'अणु-पाषाणोपकरण' (Microliths) कहा जा सकता है। यह वह युग था जिसमें अभी कृषि का विकास नहीं हुआ था, अभी जंगलों से घूम-घाम कर फल-मूल की तलाश की जाती थी, वह न मिलता तो शिकार ढूंढा जाता था, परन्तु साथ ही यह वह युग था जिसमें धीरे-धीरे मनुष्य 'नव-पाषाण-युग' (Neolithic period) में प्रवेश कर रहा था और कृषि की उसे कुछ झाँकियाँ मिलने लगी थीं।

११ नव-पाषाण-युग—कैम्पिग्नियन तथा रोबिनहौसियन संस्कृति-काल (Neolithic Period—Campignian and Robenhausian Culture Epoch)

'पूर्व-पाषाण-युग' में मनुष्य जंगल से फल-मूल-मेवा चुन लाता था या शिकार से पेट भरता था, इसलिए इस काल के उसके उपकरण भी इन्हीं कामों के योग्य थे। 'नव-पाषाण-युग' में उसने भिन्न-भिन्न व्यवसाय को जन्म दिया। इस काल का प्रारंभ आज से ८,००० साल से ५,००० साल पूर्व का माना जाता है। इस काल में वर्तमान मानव ने सृष्टि में विचरना शुरू किया। 'नव-पाषाण-काल' का प्रारंभ का समय 'कैम्पिग्नियन-संस्कृति-काल' कहाता है, बाद का समय 'रोबिनहौसियन-संस्कृति-काल' कहाता है। इस युग में मनुष्य ने एक नवीन दिशा में प्रगति की, उसने कृषि तथा पशु-पालन प्रारंभ कर दिया और इसलिए उसके उपकरणों में भी इसी दिशा में सुधार हुआ। कृषि तथा पशु-पालन—ये दो इस काल की मानो दो क्रान्तियाँ थीं, इसलिए इन दोनों पर कुछ लिखना आवश्यक है:—

(क) कृषि (Agriculture)—कृषि में केले की पौध पहले-पहल भारत में लगाई जाती थी, और यहाँ से इसका अन्य क्षेत्रों में विस्तार

हुआ। वनस्पति-शास्त्रज्ञों का कथन है कि कृषि का प्रारंभ कौकेशस तथा भारत के बीच के प्रदेश में हुआ। इस प्रदेशों में पहले-पहल गेहूँ तथा अन्य अनाज पैदा किये गये। यहाँ से ये पौधे तथा कृषि के अन्य साधन दूर-दूर फैले। अब तक तो अनाज-फल-मूल-मेवे जगलों में पैदा होते थे और उनका जगली रूप ही था, अब मनुष्य ने घरेलू अनाज आदि पैदा करने शुरू किये। इनमें जुआर, चावल, गोभी, शलजम, मटर, गाजर, चुकदर, प्याज, सोयाबीन, नाशपाती, बेर, अगूर, अजीर, खजूर, तरबूज, ककड़ी, नारियल, नारगी आदि युरोप में होने लगे। पश्चिमी-एशिया में घरेलू अनाज पैदा होने के बाद युरोप का जल-वायु इस योग्य हुआ कि वहाँ एशिया जैसे अनाज आदि पैदा हो सकें, और दक्षिणी अमरीका में तो हजारो साल बाद जल-वायु युरोप जैसा हुआ ताकि वहाँ भी वे ही अनाज पैदा हो सकें। दक्षिणी अमरीका में एक प्रकार के जगली अनाज से घरेलू मक्का पैदा की गई, एक प्रकार के जगली कद से आलू पैदा किया गया। अमरीका में जगली वनस्पतियों को घरेलू बना लेने का समय लगभग ४,००० से २,००० ई० पू० गिना जाता है। इस समय शकरकन्दी, मिर्च, टमाटर, तम्बाकू और रुई की पैदावार शुरू हुई। युरोप तथा अमरीका में जो-जो वनस्पतियाँ पैदा हुई वे आपस में इतनी भिन्न है कि दोनो स्थानो में उनका स्वतत्र विकास हुआ—ऐसा अनुमान किया जाता है। पीछे कोलम्बस के अमरीका ढूँढ लेने के बाद जब इन दोनों प्रदेशो के लोगों का आपस में आना-जाना हुआ, तब एक जगह की वनस्पति दूसरी जगह भी लगाई जाने लगी, उससे पहले नहीं।

स्वभावत. प्रश्न उठता है कि 'पूर्व-पाषाण-युग' में जब मनुष्य फल-मूल चुन कर तथा शिकार पकड़ कर जीवन-निर्वाह करता था, तब कृषि का आविष्कार कैसे हुआ? कई विद्वानों का कथन है कि कृषि का आविष्कार एक प्रकार की क्राति थी, जीवन-भरण का एक नवीन उपाय था, वह उस समय के मनुष्य के मस्तिष्क की एक प्रकार की सूझ थी, उसकी बुद्धि का चमत्कार थी। अन्य विद्वान् कहते है कि कृषि कोई नया चमत्कार नहीं था, यह तो आदि-काल से मनुष्य का जिस दिशा में और जिस प्रकार विकास हो रहा था, उसी का स्वाभाविक परिणाम था, सामाजिक-अवस्थाओ की यह अवश्यम्भावी उपज था। अब तक मनुष्य जगल से फल-मूल इकट्ठे करता था। इन मनुष्यो के कुछ गिरोह होंगे। उनमें से कुछ ने ऐसे प्रदेशो पर आधिपत्य जमा लिया होगा जिनमें फल-मूल अधिक होंगे। परिणाम यह हुआ होगा कि कुछ लोगों का फल-मूल चुनने का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित हो गया होगा। उन्होंने जो क्षेत्र उनके पास रह गया उसकी देख-भाल शुरू कर दी होगी। इसी देख-भाल का नाम ही तो कृषि-व्यवसाय है। अब तक अन्त-पाषाण-कालीन तथा सन्धि-कालीन पाषाण-युग में जो उपकरण बने थे, वे इस प्रकार के कृषि-व्यवसाय के लिए उपयुक्त भी थे। इस दृष्टि से कृषि का व्यवसाय कोई नवीन चमत्कार न होकर सामाजिक परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम था।

कृषि-सभ्यता तथा कृषि-व्यवसाय का उस समय के समाज पर क्या परिणाम हुआ ? इस काल में जन-सख्या वढ रही थी, जन-सख्या वढने के कारण पहले की अपेक्षा भोजन प्राप्त करने की कशमकश भी वढ़ रही थी। जो लोग समर्थ थे, वे कृषि-योग्य भूमि पर स्वामित्व जमाते चले जा रहे थे। पहले तो हरेक भोजन की तलाश में फिरा करता था, अव कृषि-युग में एक के स्थान में अनेक का भरण-पोषण हो सकता था, इसलिए कई व्यक्ति भोजन की चिंता से मुक्त होकर अन्य व्यवसायो में लगने लगे। उदाहरणार्थ, भांड-निर्माण (Pottery), वस्त्र-निर्माण (Weaving), टोकरी-निर्माण (Basketry), चर्म-निर्माण (Leather work), काष्ठ-निर्माण (Carpentry), नौ-निर्माण (Boat making), मत्स्य-व्यवसाय (Fishing) तथा धार्मिक एव राजनैतिक कार्यो से अनेक व्यक्ति अपना पेट पालने लगे। इस सव का परिणाम यह हुआ कि भिन्न-भिन्न व्यवसायों में लोग दक्षता प्राप्त करने लगे और 'श्रम-विभाग' के नियम का सूत्रपात हुआ। अव तक तो रहने के स्थान भी निश्चित नहीं होते थे। जहां भोजन मिलता दीखा, वहीं चल दिये। जगल के जानवर जगल में आगे निकल गये, तो मनुष्य भी उनके साथ-साथ आगे वढता गया। कृषि-काल में मनुष्य विचरण का जीवन छोड एक स्थान पर रहने लगा, इसलिए मकान भी पक्के वनने लगे। इस काल में पक्की ईंटो का आविष्कार हुआ। ईंटों और पत्थरों के मकानो में मनुष्य रहने लगा। धनी लोग अपने साथ कुछ सैनिक रखने लगे ताकि अपनी तथा अपनी सम्पत्ति की रक्षा की जा सके। सेना वढ़ी तो युद्ध भी छिड़े। युद्धो में शत्रु के जो सिपाही पकडे जाते थे, उनसे खेतो में तथा अन्य निर्माण-कार्यो में काम लिया जाने लगा। पाषाण का जो व्यवसाय पूर्व-पाषाण-युग से चला आ रहा था उसमें उन्नति हुई और पत्थरो को घिसने, छेदने, काटने आदि की प्रक्रियाओं द्वारा नये-नये उपकरणों का निर्माण हुआ। पहले हम जो पाषाण-घर्षण, पाषाण-छेदन, पाषाण-चीरण (Stone pecking, grinding, sawing) आदि का वर्णन कर आये हैं, ये प्रक्रियाएं इसी नव-पाषाण-युग में हुई और इनसे इस युग के अनुरूप नये-नये उपकरण वने।

(ख) पशु-पालन (Pastoralism)—'नव-पाषाण-युग' की पहली क्राति तो 'कृषि' थी, दूसरी क्राति 'पशु-पालन' थी। कई लोगो का विचार है कि पशु-पालन का प्रारभ पहले हुआ, कृषि का वाद को, परन्तु अव अधिकाश विचारकों का कहना यह है कि कृषि के वाद पशु-पालन के व्यवसाय का विकास हुआ। ऐसा कहा जाता है कि युरोप में कृषि-क्राति के परिणामस्वरूप कुछ विशेपज्ञो को जगली पशुओं में से उन पशुओ को जो मनुष्य के लिए आर्थिक दृष्टि से उपयोगी थे, घरेलू वनाने के काम में लगा दिया गया। वकरी-वकरा-सूअर तो ८,००० से ६,००० ई० पू० के लगभग पालतू वना लिये गये थे, और घोड़ा, गधा, ऊंट, विल्ली ३,००० ई० पू०, भैंस, मर्गी, वत्तख १,००० ई० पू०

के लगभग मनुष्य के साथी वन गये थे। अमरीका में तो पशु-पालन कृषि-व्यवसाय का ही परिणाम था—यह स्पष्ट प्रतीत होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि पशु-पालन का व्यवसाय सिर्फ आर्थिक-दृष्टि से प्रारभ हुआ। इस व्यवसाय की शुरूआत तो आर्थिक-दृष्टि से ही हुई होगी, परन्तु धीरे-धीरे कुछ पशुओ को शौक के लिए भी पाला जाने लगा, कुछ पशु इसलिए भी पाले जाने लगे क्योंकि पादरी-पुरोहित उनमें आध्यात्मिक शक्ति की कल्पना करते थे।

जैसे कृषि मानव-समाज के सगठन के लिए एक क्राति के रूप में आयी, वैसे पशु-पालन का भी मानव-समाज की रचना पर क्रातिकारी प्रभाव पडा। पशुओं के पालतू वन जाने के कारण कृषि को और अधिक प्रोत्साहन मिला। कहीं-कहीं तो पशुओ के पालने का एक स्वतत्र व्यवसाय चल पडा। उन लोगो को कृषि से इतना आर्थिक-लाभ होता नहीं प्रतीत हुआ जितना पशु-पालन से। वकरियों का और घोड़ो का पालन एक स्वतत्र व्यवसाय के रूप में कई स्थानों में इतना मुख्य हो गया कि वहाँ के लोगों ने खेती छोड कर पशु-पालन का कार्य ही शुरू कर दिया।

१२ नव-पाषाण-युग के अन्य उपकरण

नव-पाषाण-युग में कृषि तथा पशु-पालन का प्रारभ हुआ, इसका यह अभिप्राय नहीं कि इस युग में अन्य कोई व्यवसाय नहीं थे। अभी तक पाषाणों के अनेक उपकरण वनते चले आ रहे थे, वे तो चलते ही रहे, उनके अतिरिक्त इस युग में निम्न व्यवसायो के प्रमाण भी उपलव्ध होते हैं :—

(क) नव-पाषाण के कर्तन-यन्त्र (Neolithic cutting-tools)—हम पहले लिख आये हैं कि 'पूर्व-पाषाण-युग' में पत्थरों के 'फलके' (Flakes) वनाये जाते थे। यह भी हम लिख आये हैं कि पहले 'प्रतिघात-विधि' (Percussion method) तथा वाद को 'दवाव-विधि' (Pressure method) से फलके वनाये जाते थे। इन फलकों से छेदन-विधि द्वारा, घिसने तथा पीसने की विधि द्वारा 'नव-पाषाण-युग' में और प्रकार के नये-नये उपकरण वनाये जाने लगे। पहले के युग में तो नरम पत्थर से उपकरण वनाये जाते थे, अव सख्त पत्थर के उपकरण वनने लगे। इस समय क्योंकि कृषि का भी प्रारभ हो चुका था, इसलिए इस युग मे 'हल' (Plough) का आविष्कार भी हुआ, यद्यपि इस समय का हल वहुत सख्त पत्थर का होता था। 'चक्र' (Wheel) का आविष्कार भी इस युग की देन है। यह 'चक्र' लकडी का वना होता था और कहीं-कहीं पत्थर का।

(ख) भाड-निर्माण (Pottery)—'नव-पाषाण-युग' में मट्टी के वर्तन भी वनने लगे। विद्वानो का कहना है कि युरोप तथा अमरीका में स्वतत्र रूप से अलग-अलग भाड-निर्माण-कला का आविष्कार हुआ। युरोप में इस समय 'कुम्हार के चाक' (Potter's wheel) का आविष्कार हो चुका था, परन्तु

अमरीका में विना इस चाक की सहायता के मट्टी के वर्तन वनते थे। नव-पाषाण-युग के कृषि-काल में भाड-निर्माण की विद्या काफी विकसित हो चुकी थी। निकट-पूर्व-प्रदेशों में, इस युग में, मट्टी के वर्तनो को आग में पकाने, उन्हें पालिश करने तथा व्रुश द्वारा उन पर चित्रकारी करने की कला का आविष्कार हो गया था। शुरू-शुरू में मट्टी के वर्तनों की शक्लें उन्हीं वस्तुओ के आका की थीं, जिन्हें अव तक का मानव इस्तेमाल करता था। उदाहरणार्थ, अव तक टोकरियों, तूम्वो आदि के साधनो से रोजमर्रा का काम चलता था, इसलिए नव-पाषाण-युग में मट्टी के वर्तन भी टोकरियो और तूम्वों के आकार के थे, परन्तु धीरे-धीरे इन में भी परिवर्तन आने लगा। हर दिशा में विशषज्ञो ने अपनी छाप लगानी शुरू कर दी, और वर्तनो के आकार-प्रकार भी विशेषज्ञो ने नये ढग के वनाने शुरू कर दिये। अभी तक जो वर्तन वनते थे, वे पत्थर के वने होने के कारण मजवूत तो होते थे, परन्तु उनके निर्माण में वहुत समय लगता था। अव मट्टी के वर्तन वनने लगे जो टूटते तो जल्दी थे, परन्तु जो झट-से वन जाते थे। अव तक जो लोग ठुकर-ठुकर कर के पत्थर के दो-चार वर्तन वना सकते थे, वे अव मट्टी के ढेरों वर्तन बनाने लगे और क्योकि वर्तनो की पैदावार वहुत वढ़ गई इसलिए इन वर्तनों के व्यापार को भी काफी प्रोत्साहन मिला।

(ग) वस्त्र-निर्माण (Textiles)—'पूर्व-पाषाण-युग' का मानव जगल में मरे पडे भेड-वकरी आदि की ऊन उतार लेता होगा और उसे वट कर रस्सी या मोटा-झोटा कम्वल भी वना लेता होगा। उस समय कोई प्राथमिक रूप के चर्खे, खड्डियां भी वनी होगी, परन्तु 'नव-पाषाण-युग' में जब पहले की आर्थिक-व्यवस्था बदली, पशुओं को पाला जाने लगा, कपास पैदा की जाने लगी, तब तो चर्खो और खड्डियो में विशेष सुधार हुआ, और वस्त्र-निर्माण कला का आविष्कार हुआ। नव-पाषाण-युग के मानव के कपडे पूर्व-पाषाण-युग के मानव के कपडों से भिन्न हैं। पहले तो अधिकतर चमडे के वस्त्रो का प्रयोग होता था, इस युग में कपास और ऊन के वस्त्रों का प्रयोग होने लगा। नव-पाषाण-युग में कृषि के साथ-साथ कपास भी वोई जाने लगी। युरोप में पहले और अमरीका में वाद को स्वतत्र रूप से वस्त्र-व्यवसाय चला।

१३ कैम्पिग्नियन तथा रौबिनहौसियन सस्कृति-काल के उपकरण

हम पहले लिख आये हैं कि 'नव-पाषाण-काल' का प्रारभ का समय, जिस स्थान पर इस काल के उपकरण मिले हैं, उस स्थान के कारण 'कैम्पेग्नियन-सस्कृति-काल' तथा वाद का समय 'रौबिनहौसियन-सस्कृति-काल' कहाता है। इन दोनों कालों के जो-जो उपकरण मिले हैं, वे निम्न हैं —

(क) कैम्पिग्नियन-सस्कृति-काल (Campignian Culture Epoch)—यह नव-पाषाण-युग के प्रारभिक काल की सस्कृति है। इसके पत्थर के उपकरण निम्न हैं—(१) कुल्हाडा, (२) छैनी, (३) कुल्हाडी,

(४) आन्तरक से वनी कुल्हाडी, (५) रन्दे कई तरह के, (६) वाण की नोक, (७) घिसने का पत्थर, (८) सींघ का कुल्हाडा, (९) हरिण की हड्डी का सूआ, (१०) हरिण की हड्डी का वरछा, (११) पक्षी की हड्डी का सूआ, (१२) लकडी का प्रक्षेपण-यन्त्र, (१३) हड्डी का मछली पकड़ने का हुक, (१४) अस्थि-निर्मित मनके, (१५) अस्थि-निर्मित कघी, (१६) मट्टी के वरतन—आदि।

(ख) रौविनहौसियन-सस्कृति-काल (Robenhausian Culture Epoch)—यह नव-पाषाण-युग के अन्तिम काल की सस्कृति है। इसके उपकरण निम्न हैं—(१) पाषाण-निर्मित-कुल्हाडी तथा अन्य अनेक प्रकार की कुल्हाडियाँ, (२) सींग के हत्थे की पाषाण-निर्मित छैनी, (३) लकडी के हत्थे का पाषाण-निर्मित चाकू, (४) सींग-निर्मित तथा पाषाण-निर्मित चाकू, (५) अस्थि-निर्मित चाकू या छुरी, (६) सूअर के दाँत का मछली पकड़ने का फदा, (७) स्तनधारी प्राणी की हड्डी का सूआ, (८) हड्डी के हत्थे का अस्थि-निर्मित सूआ, (९) मट्टी के वर्तन, घड़ा आदि, (१०) पकी मट्टी का तकुआ, (११) खड्डी के तागों को संभालने के लिए पकी मट्टी का वजन, (१२) फटी हड्डी के कघे, (१३) हड्डी के वड़े-वड़े वटन, (१४) सींग का लटकन, (१५) पत्थर के मनके, (१६) कड़े, (१७) पकी मट्टी की मानवीय मूर्ति, (१८) पकी मट्टी की आभूषित मूर्तियाँ, (१९) लकडी की हथौड़ी, (२०) हत्थे के निशान वाली कुल्हाड़ी, (२१) लकडी का चम्मच, (२२) लकड़ी की गवा, (२३) लकडी का धनुष, (२४) लकडी की नाव—आदि।

१४ ताम्र-युग (Copper age)

'पूर्व-पाषाण-युग' तथा 'नव-पाषाण-युग' में केवल उन्हीं धातुओं का प्रयोग होता था जो भूमि के ऊपर पडी-पडाई मिल जाती थीं। उस समय न तो भू-खनन-विद्या द्वारा धातुओं को भूमि के गर्भ से निकाल सकने का उन लोगों को ज्ञान था, न वे भिन्न-भिन्न तत्वो को रासायनिक तौर पर मिला कर नवीन धातुओ को वना सकते थे। ऐसी हालत में इन धातुओं की प्रचुरता न होने के कारण वे धातुओं के उपकरण नहीं वना सकते थे, पत्थर के उपकरणों द्वारा ही उनका काम-काज चलता था। नव-पाषाण-युग के वाद ताम्र-युग आया। ईजिप्ट में ताम्र-युग का प्रारंभ ४,००० ई० पू० माना जाता है, निकट-पूर्व में ४,००० से ३,००० ई० पू०। मैक्सिको में स्पेनिश लोगो ने जव आक्रमण किया, तो उससे कुछ शताब्दी पहले से मैक्सिको के एजटैक्स लोग जो वहाँ के शासक थे, ताम्वे के आभूषणों, सूइयों तथा कुल्हाड़े-कुल्हाडियो का प्रयोग करते थे। युरोप तथा अमरीका में स्वतंत्र रूप से ताम्र के आभूषण वनाने की प्रक्रिया का आविष्कार हुआ। वे लोग आभूषण या ताम्वे के वरतन वनाने के लिए मट्टी का साँचा वना कर उसमें पिघला हुआ ताम्वा उँडेल देते थे। उसके ठोस हो जाने पर मिट्टी का खोल तोड कर आभूषण या वरतन को उसमें से निकाल लिया जाता था।

वे ताम्बे मिली मट्टी में से कोयले द्वारा ताम्बे को पिघला कर निकालना जानते थे। सब से पहले साइप्रस में ताम्बे का प्रयोग पाया गया है।

१५ ब्रौंज़ या कास्य-युग (Bronze age)

पाषाण, लकडी तथा हड्डी के उपकरणों के वाद धातुओं के प्रयोग का युग जो आया, उसमें ताम्र-युग प्रथम था। अव तक उपकरण वनाने की जो विधियां पाषाण, लकडी तथा हड्डी पर इस्तेमाल की जाती थीं, वही ताम्र पर इस्तेमाल की जाने लगीं, और पहले की-सी शक्ल के परन्तु धातु के उपकरण वनने लगे। ताम्र के वाद कास्य-युग आया। यह धातु दो धातुओं के मिश्रण से वनती है। एक हिस्सा टिन तथा ९ या १० हिस्से ताम्र के मेल से कास्य-धातु वनती है। ईजिप्ट में ३,००० ई० पू० में कास्य का प्रयोग पाया जाता है। इसके कुछ काल वाद ही मैसेपोटामिया तथा भारत में कास्य का प्रयोग मिलता है। इन प्रदेशों में विशेषज्ञ लोग इस धातु के सवध में अनेक परीक्षण करते रहे। इसे किस प्रकार गला कर वनाया जाय, किस प्रकार के सांचे वनायें जांय—ये सव परीक्षण इन इलाक़ों में उक्त काल में होते रहे। एक तरह से निकट-पूर्व के प्रदेशों में ३,००० से १,००० ई० पू० में कांस्य-युग था—ऐसा कहा जा सकता है। क्योंकि कास्य के औज़ार पत्थर के औज़ारों से तेज़ और अधिक मजवूत होते थे इसलिए इस युग में पत्थर के उपकरणो का स्थान कास्य के उपकरण लेने लगे। इन उपकरणो की कार्य-क्षमता वहुत अधिक थी। इसी कारण इस युग में वढ़ईगिरी, नौका-निर्माण, रथ, चक्र-निर्माण, अस्त्र-शस्त्र आदि के निर्माण में खूव प्रगति हुई। जहां-जहां कास्य के उपकरण प्रयोग में आने लगे, वहां-वहां आर्थिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक दिशा में भी प्रगति होने लगी। जव भारत में ३,००० ई० पू० के लगभग कास्य का प्रयोग हो रहा था, तव अमरीका में कोलम्वस के आने तक इस धातु का प्रयोग अज्ञात था।

कास्य-युग के जो उपकरण मिले है, वे है—(१) कुल्हाडे के पांच प्रकार के कास्य-निर्मित फलके, (२) छेददार रेती जिस पर हत्था लगाया जा सकता है, (३) हत्थे के छेद वाला हथौडा, (४) सींग के हत्थे वाला सूआ, (५) सूई, (६) छोटी चिमटी, (७) दो प्रकार के उस्तरे, (८) आरा, (९) चाकू, (१०) भाला, (११) छुरा, (१२) तलवार, (१३) कई तरह की धनुष की नोकें, (१४) मछली पकड़ने का फदा, (१५) लगाम, (१६) पहिया, (१७) हेयर-पिन, (१८) सेफटी-पिन, (१९) मनके, (२०) वटन, (२१) ज़ंजीर, (२२) कड़े, (२३) तलवार की मुठिया के आकार के वटन, (२४) हसुआं का फलक, (२५) एक सुन्दर स्त्री की मूर्ति जिसने जाकेट पहनी हुई है, (२६) तीर-कमान खेंचे हुए एक योद्धा, (२७) ढाल तथा कुल्हाडी सहित एक योद्धा, (२८) ढाल तथा भाले सहित एक घुड़सवार, (२९) दो वैलों की जोड़ी से हल चलाते हुए एक किसान, (२०) दो घोड़ों से रथ चलाते हुए एक रथवान, (३१) नौका में योद्धागण, (३२) दुन्दुभि वजाते हुए एक योद्धा—आदि।

१६ लौह-युग (Iron age)

कांस्य-युग के वाद लौह-युग आया। इसका समय १,५०० ई० पू० माना जाता है। वह भी, पूर्वीय-मैडिटरेनियन-प्रदेशों में लौह-युग का यह समय है। युरोप में तो लौह-युग का समय १,००० ई० पू० से पहले नहीं वनता। युरोप में लौह-युग की संस्कृति को 'हालस्टट' (Hallstatt)—यह नाम दिया जाता है।

लौह-युग में प्रवेश करते ही हम देखते हैं कि इससे पहले के युगों के उपकरणो में अनेक सुधार कर दिये गये हैं। हथौड़े, कुल्हाडी, वसूले में हत्ये लगाने के लिए पाषाण-युग में छेद ऊपर सिरे पर कर दिया जाता था जिससे इन उपकरणों को ऊपर से पकड़ कर काम किया जा सकता था, अव ऊपर छेद करने के स्थान में एक पासे से इनमें छेद किया जाने लगा जिससे इन्हें तिरछा करके भी काम लिया जा सकता था। इस समय हँसिये (Sickle) को कुछ लम्वा करके खुरपे (Scythe) का रूप दे दिया गया, कुदाली (Hoe) को हल (Plough) का रूप दे दिया गया, वर्छे (Harpoon) को त्रिशूल (Trident) का रूप दे दिया गया। कई नये प्रकार के उपकरण भी निकल आये। उदाहरणार्थ, चिमटी, सडासी, कैंची, दरजी की अंगुली में पहनने की टोपी, वरमा, आरी, रेती, मोटी रेती, बढ़ई का रन्दा, परकार, ताले-चावी, कील, घोडे की नाल आदि—ये लौह-युग के नवीन उपकरण थे।

लौह-युग के जो उपकरण मिले हैं, वे हैं—(१) लोहे का घन, (२) लोहे का हथौडा, (३) लोहे की कुल्हाडी के दो प्रकार, (४) लोहे के चिमटे, (५) लोहे का वरमा, (६) आरा तथा चाकू एक उपकरण में मिले-जुले, (७) लोहे का रन्दा, (८) लोहे का हल, (९) लोहे का खुरपा, (१०) लोहे की कैंची, (११) लोहे की घोडे की नाल, (१२) लोहे का वरछा, (१३) लोहे का भाला, (१४) वाण के लोहे के दो प्रकार के नोक, (१५) छुरा, (१६) तलवार, (१७) उस्तरा, (१८) त्रिशूल, (१९) नाव के कुडे, (२०) लकडी के प्याले, (२१) व्रोञ्ज के प्याले, (२२) अस्थिनिर्मित जूए के पासे, (२३) कांच के वने विविध रगों के मनके, (२४) अम्वर के मनके, (२५) ब्रोंज की सेफ्टी-पिन, (२६) लोहे का सेफ्टी-पिन, (२७) ब्रोंज का हेयर-पिन, (२८) कडे, (२९) सोने की अंगूठी—आदि।

१७. पुरातन- उपकरणो द्वारा आदि-समाज की सभ्यता पर प्रकाश

इस अध्याय में हमने पाषाण-युग, ताम्र-युग, कास्य-युग तया लौह-युग के अनेक उपकरणों का वर्णन किया। इस वर्णन का अभिप्राय क्या है? इन उपकरणों से उस-उस समय की सभ्यता तथा सस्कृति पर प्रकाश पडता है। जिस समय पत्थर के ही उपकरण प्राप्त होते हैं, धातुओ के नहीं, उस समय मनुष्य का विकास इतना ही हुआ था कि वह पत्थर के उपकरण वनाता था और उनका

उपयोग करता था। जिस समय धातुओ के उपकरण मिलने लगे, उस समय मनुष्य ने धातु को खोज निकाला था। जिस समय हल नहीं मिलता, उस समय कृषि-युग नहीं शुरू हुआ था, जिस समय हल मिलता है, उस समय कृषि-युग शुरू हो चुका था। दीये का मिलना सिद्ध करता है कि जिस युग में इस की सप्राप्ति होती है उस समय आग का आविष्कार मनुष्य कर चुका था। मकानों के मिलने से मकान बनाने की कला, नौकाओ के मिलने से नौकाओ के निर्माण का ज्ञान उस काल के मनुष्य को था—यह सिद्ध होता है। उस समय की सम्यता तया सस्कृति हमें कहीं लिखी नहीं मिलती, परन्तु ये उपकरण मानो उस समय के मानव के जीवित-जागृत लेख है, जो उसके सास्कृतिक-स्तर को मूक-भाषा में बोल रहे हैं।

परन्तु इस का यह अभिप्राय नहीं कि इन उपकरणो को देख कर हम उस समय की सामाजिक अवस्था के विषय में जो परिणाम निकालते है वे सब सही है। हम स्वय इन उपकरणों से जो काम ले सकते है उसी के आधार पर तो हम उस समय के मनुष्य की सामाजिक स्थिति के सबध में नतीजे निकालते है, परन्तु क्या पता उस समय का मानव इन उपकरणो का क्या इस्तेमाल करता था? हम ज्यों-ज्यों पीछे के युग में चले जाते है त्यों-त्यों इन उपकरणो के आधार पर निकाले गये हमारे परिणाम अनिश्चित है। ६ लाख साल पहले के पत्थर के कुल्हाडे को देख कर हम क्या परिणाम निकाल सकते है? हमें क्या पता कि उस काल का मानव इससे क्या उपयोग लेता था? इसलिए इन प्राचीन उपकरणो के आधार पर हम जो परिणाम निकालते है, वे निश्चित नहीं, अनिश्चित है, परन्तु अनिश्चित होते हुए भी वे उस समय के मानव के विकास की दिशा का कुछ-कुछ निर्देश अवश्य कर देते है।

आज से एक-सौ वर्ष पहले हम आदि-मानव के विषय में कुछ नहीं कह सकते थे। उस समय ग्रीस, रोम, तथा अपने देश के लिखित इतिहास तक ही हमारा ज्ञान सीमित था। बहुत हुआ, ईजिप्ट, मैसेपोटामिया तथा पर्शिया के साम्राज्यो के विषय में कुछ दन्तकथाएँ सुन-सुना लीं। लाखो साल पहले की बात करने का किसी को साहस न होता था। अब 'मानव-शास्त्र' के अध्ययन के बाद से स्थिति बदल गई है। अब हम कह सकते है कि ४ लाख साल पहले का आदि-मानव पत्थर के उपकरणों का व्यवहार करता था, आग का आविष्कार वह कर चुका था, सर्दियों में आग जला कर सेंकता था। हम आज भूमि की कोख में से प्राप्त हुए चित्रों और मूर्तियों के आधार पर कह सकते है कि २० हजार साल पहले युरोप में चित्र-कला का ज्ञान था, चित्रों के आधार पर कह सकते है कि ८ हजार साल पहले कृषि तथा पशुपालन शुरू हो चुका था।

इस अध्याय में मानव के विकास की जो रूप-रेखा हमने दी उसे चित्र में निम्न प्रकार दर्शा सकते है :—

	संस्कृति या व्यवसाय	कब से कब तक	व्यवसाय (Industry)	मानव का नाम
पूर्व-पाषाण-युग	आदि-चैलियन (1st Interglacial)	? —५४०,०००	Flake-industry (Percussion method)	पिथैकेन्थ्रोपस
	चैलियन (2nd Interglacial)	५४०,०००—४८०,०००	Hand-axe (Coup-de-poing)	पेकिंग-मानम पिल्टडाउन-वानव
	एश्लूशियन तथा क्लेक्टोनियन (3rd Interglacial)	४३०,०००—२४०,०००	Core	होडलबर्ग-मानव
	लैवोलोशियन (End of 3rd Interglacial)	२५०,०००—७०,०००	Stone-industry (Pressure method)	नियेन्डरथल-मानव
	मोस्ट्रियन (End of 3rd Interglacial)	१४०,०००—७०,०००	"	नियेन्डरथल-मानव
	औरिग्नेशियन (After Ice age)	१००,०००—५०,०००	"	ग्रिमाल्डी-मानव
	सैल्यूट्रियन	थोड़े समय रहा	"	क्रो-मैग्नन-मानव (होमो-सेपियन्स)
	मैगडेलीनियन	५०,०००—२०,०००	Bone industry	"
	एज़ीलियन	५०,०००—२०,०००	Carving and Painting	"
नव-पाषाण-युग	मैसोलिथिक	२०,०००—७०००	Microliths	"
	कैम्पिग्नियन	६००० ई०पू०—५५०० ई०पू०	Agriculture	वर्तमान-मानव
	रौबिनहौसियन	५००० ई०पू०—४१०० ई०पू०	Pastoralism	"
धातु-युग	ताम्र-युग	४००० ई०पू०—३००० ई०पू०	Metallurgy (Copper)	"
	कांस्य-युग	३००० ई०पू०—१००० ई०पू०	Bronze-industry	"
	लौह-युग	१००० ई० पू० से	Iron-industry	"

६

प्रागैतिहासिक-पुरातत्व-विज्ञान तथा भिन्न-भिन्न देशों का आदि-समाज

PREHISTORIC ARCHEOLOGY AND PRIMITIVE SOCIETY OF DIFFERENT COUNTRIES)

हम पिछले अध्याय में लिख आये हैं कि प्राचीन-काल के उपकरणों के ज्ञान से उस काल की सामाजिक-स्थिति का अनुमान किया जा सकता है। उपकरणो के विषय का ज्ञान तीन बातों का ज्ञान है। पहली बात यह है कि ये उपकरण क्या-क्या थे और इनका निर्माण कैसे हुआ, दूसरी बात यह कि किस-किस काल मे कौन-कौन-सा उपकरण इस्तेमाल किया जाता था, और तीसरी बात यह कि किस-किस देश मे कौन-कौन-सा उपकरण काम में आता था। पिछले अध्याय में हम दो बातो पर लिख आये हैं—इन उपकरणो की निर्माण-विधि क्या थी, और किस-किस काल मे इनका उपयोग होता था। इस अध्याय मे हम यह दर्शाने का प्रयत्न करेंगे कि किस-किस देश में इन उपकरणों का प्रचलन था। देशो का वर्णन करते हुए हम आफ्रीका, दक्षिणी एशिया, मध्य एशिया, उत्तरी एशिया, मैलेनेशिया, माइक्रोनेशिया, पौलीनेशिया, आस्ट्रेलिया-टस्मानिया, अमरीका तथा भारत का वर्णन करेंगे।

१ आफ्रीका

हम पहले लिख आये हैं कि ससार के पाँच युगो में से 'नव-जीव-युग' (Cainozoic period) ही हमारे अध्ययन का विषय है क्योंकि इसी युग के अवशेषों में आदि-मानव के उपकरण अथवा प्रस्तरावशेष मिलते हैं। 'नव-जीव-युग' के छ विभाग हैं—प्रादि-नूतन, आदि-नूतन, मध्य-नूतन, अति-नूतन, प्राति-नूतन तथा सर्व-नूतन। इन में से 'प्राति-नूतन' (Pleistocene) तथा 'सर्व-नतन' (Holocene)—ये दो युग ही हमारे अध्ययन के विषय हैं। 'प्राति-नूतन-युग' मे पाषाण-सस्कृति तथा 'सर्व-नूतन-युग' में धातु-सस्कृति का विकास हुआ। इस प्रकरण में यह समझ लेना आवश्यक है कि 'प्राति-नूतन' तथा 'सर्व-नूतन' आदि शब्द भूगर्भ-शास्त्र, प्राणी-शास्त्र तथा जन्तु-शास्त्र की दृष्टि से गढे गये हैं, पूर्व-पाषाण-युग, नव-पाषाण-युग, ताम्र-युग, कांस्य-युग, लौह-युग आदि शब्द सस्कृति की दृष्टि से गढ़े गये हैं। इसीलिए हम कहते हैं कि 'प्राति-नूतन-काल' (Pleistocene period) में 'पूर्व-पाषाण-सस्कृति' (Paleolithic Culture), 'नव-पाषाण-सस्कृति' (Neolithic Culture) आदि

थी। इन कालों का इन सस्कृतियों के साथ घनिष्ठ सबध होने के कारण कभी-कभी 'पूर्व-पाषाण-सस्कृति' आदि के स्थान में 'पूर्व-पाषाण-युग' आदि शब्दों का भी प्रयोग कर दिया जाता है, परन्तु इनमें जो भेद है वह हमने स्पष्ट कर दिया है ताकि इन शब्दो के भेद को जानते हुए विषय को समझा जा सके।

गत ६० वर्षों में आफ्रीका महाद्वीप के ईजिप्ट देश में 'आदिकालीन पूर्व-पाषाण-युग' (Early Paleolithic Period) के अनेक उपकरण प्राप्त हुए हैं। खास कर इनकी प्राप्ति ईजिप्ट के लक्षोर प्रदेश के पश्चिमीय मरु-स्थल से हुई है। इस काल के कुछ थोडे-बहुत उपकरण सोमालीलैण्ड, नूबियन तथा लीबियन मरु-प्रदेश, ट्यूनिस, एल्जीयर्स, मोरोक्को, सहारा तथा टिम्बक्टू में भी मिले हैं। कुछ-कुछ कौंगो तथा बहुत-कुछ रोडेशिया और दक्षिणी आफ्रीका में पूर्व-पाषाण-युग के अघड मुष्टि-छुरे (Coup-de-poing) मिले हैं। इन स्थानों में दसियो हजार उपकरण प्राप्त हुए हैं जो 'आदिकालीन तथा मध्यकालीन पूर्व-पाषाण-युग (Early and Middle Paleolithic Period) के हैं। इन्हें चैलियन, एशूलियन तथा मौस्ट्रियन सस्कृति-काल का कहा जा सकता है। नील दरिया की घाटी में कुछ अवशेष मिले हैं जिन्हें शिकागो विश्वविद्यालय के प्रोफेसरों ने 'प्राति-नूतन-काल' अर्थात् 'हिम-युग' (Pleistocene age अर्थात् Ice age) का सिद्ध किया है। इन प्रोफेसरो ने चैलियन, एशूलियन तथा मौस्ट्रियन संस्कृति के उपकरण भी इन स्थानों से प्राप्त किये हैं। १९२६ में श्री लीके (Leakey) को केनिया कौलोनी में 'प्राति-नूतन-काल' अर्थात् 'हिम-युग' के 'अन्तर्हिमयुगों' के कुछ उपकरण मिले जो चैलियन, एशूलियन, तथा मौस्ट्रियन सस्कृति के थे। 'अन्तकालीन पूर्व-पाषाण-युग' (Late Paleolithic Period) के उपकरण आफ्रीका में कम मिलते हैं, यद्यपि ट्यूनिस, एलजीयर्स तथा मैडिटरेनियन तट-वर्ती प्रदेशों में इन की पर्याप्त मात्रा उपलब्ध हुई है।

केनिया कौलोनी में पूर्व-पाषाण-युग के आदि-मध्य-अन्त—इन तीनो कालो के उपकरण मिले हैं। वहाँ जो उपकरण मिले है, वे है—हथौडे, घिसने की पथरी जिससे अस्थिनिर्मित टेकुए को तेज किया जा सकता है, तेज धारवाले और पीठ से खुण्डे चाकू, वेघन-यन्त्र, कर्तन-यन्त्र, नक्काशी-यन्त्र, कई तरह के रन्दे, भिन्न-भिन्न ज्यामितिक आकारो के अणु-प्रस्तर अर्थात् छोटे-छोटे पत्थर, अस्थि-निर्मित सूए तथा तरह-तरह के हाथी दाँत के मनके।

अभी हमने आफ्रीका के 'पूर्व-पाषाण-युग' के सास्कृतिक उपकरणों का वर्णन किया। इस प्रदेश के 'नव-पाषाण-युग' (Neolithic Period) के उपकरणो के विषय में उतना ज्ञान उपलब्ध नहीं होता जितना 'पूर्व-पाषाण-युग' के सबध में मिलता है। फिर भी 'नव-पाषाण-युग' के कुछ उपकरण मिले हैं। ये उपकरण हैं—भाले तथा बाण की नोक, खरल, मूसल, पत्थर के वर्तुलाकार कडे, सछिद्र तथा सचित्र मट्टी के बर्तन, हड्डी के सूए, मनके आदि। आफ्रीका के अन्य प्रदेशो में तो 'नव-पाषाण-युग' के उपकरण नहीं के बराबर मिलते हैं,

परन्तु ईजिप्ट में इनकी काफी सख्या मिली है। जे० एच० ब्रेस्टेड (Breasted) का कथन है कि नील दरिया की रेत के साथ बह कर मिश्र के कई कूओ में आज-कल की सतह से ९० फीट नीचे की सतह में टूटे हुए मट्टी के बर्तन मिले हैं। ये बर्तन 'नव-पाषाण-युग' के है, और इन के आधार पर उक्त विद्वान् ने यह अनुमान लगाया है कि ईजिप्ट में २० हजार साल पहले 'नव-पाषाण-युग' का प्रारभ हो गया था।

आफ्रीका के 'धातु-युग' (Metal age) के सबध में विद्वानों का कथन है कि युरोप में ताम्र के उपकरण बनने से पहले आफ्रीका के सहारा प्रदेश में ताम्र का प्रयोग होता था। सभव है ताम्र का आफ्रीका में प्रवेश अरब देशों के सम्पर्क में आने से हुआ हो। तांबे के अलावा लोहे के इस्तेमाल के कई प्रमाण मिलते है जिनसे सिद्ध होता है कि सहारा के बाह्य-प्रदेशों तथा केन्द्रीय कौंगो में इस धातु के प्रयोग से वहां के निवासी परिचित थे। जब पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पुर्तगाल वासियो ने आफ्रीका का चक्कर काटना शुरू किया, उस समय सम्पूर्ण आफ्रीका महाद्वीप में लोहे के उपकरणों का प्रयोग ही नहीं होता था, इनका व्यापार भी होता था। लोहे के उपकरणो का आफ्रीका में उस समय इतना इस्तेमाल हो रहा था कि पत्थर के उपकरण सिर्फ वहां के बुशमैन तथा गिनी कोस्ट के निकट के फरनैंडो-पो द्वीपवासी लोग ही कर रहे थे। यद्यपि आफ्रीका की सस्कृति के सबध में अनुसधान बहुत-कुछ ईजिप्ट के अनुसधान तक सीमित है, तो भी जितना भी अनुसधान अब तक हो चुका है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि आफ्रीका में मानव की सत्ता के उतने ही प्रबल प्रमाण मिलते है जितने युरोप में मानव के होने के। इतना अवश्य है कि युरोप में मानव की सस्कृति जितने उतराव-चढाव में से गुजरी है उतनी शायद आफ्रीका में नहीं गुजरी।

२ दक्षिणी-एशिया

भारत के सबध में हम कुछ विस्तार से आगे लिखेंगे। यहाँ इतना लिख देना आवश्यक है कि भारत में आफ्रीका तथा युरोप जैसे 'मुष्टि-छुरे' (Coup-de poing) प्राप्त हुए है। भारत के समीप फ्रेंच-इडो-चाइना के सबध में १९०२ में फ्रासीसी विद्वान् मनसूय (Mansuy) तथा उनके साथियों ने टोंकिन की कन्दराओं तथा उनके आस-पास के कूडे के ढेरो के जो अनुसधान किये उनसे वे इस परिणाम पर पहुँचे कि इडो-चाइना की इन कन्दराओं में 'नव-पाषाण-युग' (Neolithic age) के उपकरण मिलते है। इन्हीं प्रदेशों से लगे मलाया-द्वीप में भी 'नव-पाषाण-युगीय' उपकरण प्राप्त हुए है। कम्बोडिया में अगकोर-वट नाम का एक विशाल मन्दिर है जिसमें एक बड़े भारी अनघड़ पत्थर की मूर्ति बनी है। इस प्रकार के 'विशाल-पाषाण-स्मारक' ([1]Megalithic monu-

---

1 Megalithic=Greek word *Megas*, great, *lithos*, stone

ments) 'नव-पाषाण-युगों' में कई जगह मिले हैं। मलाया-प्रदेश में अगकोर-वट जैसे नव-पाषाण-युगीय विशाल-पाषाण-स्मारक कई जगह प्राप्त हुए हैं। इन प्रदेशो के प्राचीन अवशेषों का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि आफ्रीका तथा युरोप में जैसे भिन्न-भिन्न पाषाण-युगीय तथा धातु-युगीय सभ्यताएँ विकसित हुई, उसी भाँति इन प्रदेशो में भी इन सभ्यताओं का क्रमिक विकास हुआ।

३ मध्य-एशिया

मध्य-एशिया के सबध में उतना अध्ययन नहीं हुआ जितना अन्य स्थानों के सबध में हुआ है। इस का कारण यह है कि यह प्रदेश अति-दुर्गम है। इस प्रदेश के बाह्य हिस्सो का पुरातत्व-विज्ञों ने कुछ अध्ययन किया है जिससे वे इस परिणाम पर पहुँच रहे हैं कि इन प्रदेशों में 'प्राति-नूतन-काल' (Pleistocene period) की सामग्री मिल सकती है। कुछ विद्वानो का कथन है कि अगर इन प्रदेशो का गहराई से अध्ययन किया जाय, तो इन में 'प्राति-नूतन-काल' की इतनी सामग्री मिल सकती है कि यह प्रदेश इस विषय में युरोप में प्राप्त इस युग की सामग्री का मुकाबिला कर सके।

४ उत्तरी-एशिया

उत्तरी-एशिया में साईबीरिया एक मुख्य प्रदेश है। इस प्रदेश में अनेक प्रागैतिहासिक-काल की वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। उत्तरी-एशिया के क्रास्नोयास्कं स्थान के समीप येनिसी प्रदेश में १८८४ में सेवन्कोव (Sawenkov) महोदय ने सबसे पहले पता लगाया कि उस प्रदेश में आदिकालीन पूर्व-पाषाण-युग (Early Paleolithic Period) के उपकरण मौजूद हैं। ये उपकरण उस युग के स्तनधारी प्राणियो तथा गेंडे की अस्थियो के बने हुए थे। इस बीच अन्य रशियन विद्वानों ने उत्तरी-एशिया के भिन्न-भिन्न भागों में उक्त युग के अन्य अनेक अवशेष उपलब्ध किये। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उत्तरी-एशिया में 'आदिकालीन पूर्व-पाषाण-युग' ठीक उसी समय आया जिस समय युरोप में आया। पुरातत्व-अनुसन्धान से पता चलता है कि हर जगह सभ्यताओ का विकास पूर्व-पाषाण-युग, नव-पाषाण-युग, ताम्र-युग, कास्य-युग, लौह-युग—इस प्रकार होता आया है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सारी सृष्टि में पूर्व-पाषाण-युग एक ही समय में रहा हो। कहीं यह युग पहले आया, कहीं पीछे आया। हमने इन युगों का जो समय निश्चित किया है वह अधिकतर युरोप के युगों के विकास के आधार पर किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरी-एशिया में 'आदिकालीन पूर्व-पाषाण-युग' का आगमन युरोप से पीछे हुआ, समकालीन नहीं हुआ। जिस समय युरोप में मौस्ट्रियन तथा औरिग्नेशियन संस्कृतियो का विकास हो रहा था, उस समय उत्तरी-एशिया में 'आदिकलीन पूर्व-पाषाण-युग' के उपकरण बन रहे थे।

उत्तरी-एशिया में 'नव-पाषाण-युगीय' (Neolithic period) उपकरण भी प्राप्त हुए हैं। यूराल पर्वत से अमूर प्रदेश के मुख-भाग तक 'नव-

पाषाण-युग' की सस्कृति के अवशेष पाये जाते हैं। आरकटिक के किनारे, खास कर ओब नदी के मोहाने तथा बेरिंग-स्ट्रेट के आस-पास भी इस सस्कृति के चिह्न पाये गये है। कमचटका प्रायद्वीप में ऐसे बर्तन मिले है जो 'नव-पाषाण-युग' के हैं। १८६० में उत्तरी-एशिया के मिनुसिन्स्क इलाके में 'कास्य-युग' (Bronze age) के तथा बैकल झील के उत्तर-पश्चिम की लेना घाटी में 'लौह-युग' (Iron age) के उपकरण मिले हैं। रैडलौफ (Radloff) के कथनानुसार साईबीरिया तथा मगोलिया में इन दोनो धातुओ के चिह्न जगह-जगह पाये जाते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि ये प्रदेश इन दोनो युगो में से गुजरे हैं।

एशिया के सबध में जो-कुछ हमने लिखा उससे स्पष्ट है कि यद्यपि इन प्रदेशों में अनुसधान की वह प्रगति नहीं है जो युरोप के सबध में है, तो भी इन प्रदेशों में भी पुरातत्व-अनुसधान ठीक-से चल निकला है। इस समय तक इन प्रदेशो में जो अनुसधान हुआ है उसके आधार पर विद्वानो ने तीन परिणाम निकाले हैं। पहला यह कि जैसे आफ्रीका तथा युरोप में 'मुष्टि-छुरे' (Coup-de-poing) मिले हैं, वैसे दक्षिणी-एशिया में और खास कर भारत में ये 'मुष्टि-छुरे' उपलब्ध हुए हैं। इन के आधार पर कहा जा सकता है कि युरोप के मौस्ट्रियन-काल से पूर्व के 'पाषाण-फलक-व्यवसाय' (Flake industry) से मिलता-जुलता व्यवसाय दक्षिणी-एशिया में हिमालय के उत्तर में किसी समय चल रहा था। दक्षिणी-एशिया का यह 'पाषाण-फलक-व्यवसाय-युग' युरोप के 'पाषाण-फलक-व्यवसाय-युग' से मेल खाता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि दक्षिणी-एशिया में 'पूर्व-पाषाण-युग' तथा 'नव-पाषाण-युग' किसी-न-किसी समय आया था। दूसरा परिणाम यह कि एशिया के भिन्न-भिन्न भागो में—खास कर भारत, मञ्चूरिया तथा साईबीरिया में— 'नव-पाषाण-युग' के ठीक बाद 'लौह-युग' आया, इन दोनो युगों के बीच 'ताम्र-युग' तथा 'ब्रोंज-युग' नहीं आया। तीसरा परिणाम यह कि सब से पहले मध्य-एशिया तथा उससे लगे ईजिप्ट में आदि-मानव ने जगह-जगह भटक कर आजीविका के लिए फल-मूल इकट्ठे करने तथा शिकार से पेट भरने का धधा छोड़ कर कृषि-व्यवसाय तथा पशु-पालन के जीवन को अपनाया।

५ इडोनेशिया

भू-शास्त्र के विद्वानों का कथन है कि अरसा हुआ, एशिया के दक्षिण-पूर्व के प्रदेशों में कुछ स्थान जमीन के इतने नीचे हो गये कि उनमें समुद्र का पानी भर जाने के कारण चारो तरफ अनेक टापू बन गये जिन्हें आज हम ईस्ट-इडीज, इन्डोनेशिया तथा मलाया प्रायद्वीप आदि कहते हैं। इन्हीं टापुओं में जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, फारमोसा, मैडागास्कर आदि आ जाते हैं।

१८८९–१८९० में हालैण्ड निवासी ड्युबोय (Dubois) को जावा में कुछ प्राचीन प्रस्तरावशेष मिले जिनका हम 'पियेकैन्थ्रोपस इरैक्टस' की चर्चा

करते हुए पहले वर्णन कर आये हैं । ये अवशेष 'प्राति-नूतन-काल' (Pleistocene period) के हैं । इन प्रस्तरों की ढूंढ़ के साथ-साथ अब कुछ उपकरण भी प्राप्त हुए हैं जिन्हें 'पूर्व-पाषाण-युग' की मैगडेलेनियन-संस्कृति का कहा जाता है । बोर्नियो, सुमात्रा, फारमोसा तथा मैडागास्कर की कन्दराओं से प्राचीन-मानव की संस्कृति पर प्रकाश डालने वाले किन्हीं विशेष उपकरणों की प्राप्ति नहीं हुई । बर्तनों के बनाने की कला का कोई चिह्न इन स्थानों में नहीं पाया गया । पौलिश किये हुए पत्थर के उपकरण सब जगह मिलते हैं, परन्तु थोडे-थोडे, नोकीले बाण कहीं नहीं मिलते । फारमोसा, बोर्नियो तथा फिलिपाइन्स में तो इन बाणो का कोई चिह्न भी नहीं मिला । पत्थर की कुछ चीजें इन प्रदेशो में मिली हैं । उदाहरणार्थ, 'विशाल-पाषाण-मूर्तियाँ' (Megaliths), एक पत्थर के उपकरण (Monoliths), मानवीय पाषाण-मूर्तियां तथा पत्थर के बडे-बडे गोल-गोल कलश इन प्रदेशो में पाये जाते हैं । भवनों के बड़े-बडे खडहर सिर्फ जावा तथा कम्बोडिया में मिलते हैं जो भारत की इन प्रदेशो को देन हैं । इन प्रदेशों में धातु का प्रयोग युरोपियन लोगो के आने के बाद हुआ, अत इण्डोनेशिया के भू-भाग में धातु के प्राचीन उपकरण नहीं मिले ।

६ मैलेनेशिया

न्यू गिनी, सौलोमन द्वीप आदि मैलेनेशिया कहाते हैं । न्यू गिनी को छोड-कर मैलेनेशिया के अधिकाश प्रदेशो में वर्तमानकाल में भी 'नव-पाषाण-युग' (Neolithic age) की सभ्यता मौजूद थी । न्यू गिनी की सभ्यता का स्तर मलाया तथा चीनी सभ्यता के सम्पर्क में आने के कारण कुछ उन्नत था । मैले-नेशिया में प्राचीन-युग के कई पाषाण स्मारक मिलते हैं यद्यपि पाषाण-युग के मानव के प्रस्तरावशेष नहीं मिलते । जो प्रस्तर के अवशेष मिलते हैं उनमें खडे पत्थर जिन में कई पर खुदाई की हुई है, कई पर नहीं, पाषाण-वृत्त, भग्न विशाल-पाषाण-मूर्तियाँ, पत्थरो की निकासी से हुए पुराने गढे, नहरों के दोनो तरफ के ऊँचे-ऊँचे किनारे तथा पानी की नालियाँ विशेष ध्यान देने योग्य हैं । इन वस्तुओ के अतिरिक्त मैलेनेशिया में पौलिश हुए पत्थर के कुछ उपकरण भी प्राप्त हुए हैं । इन सब चीजो को देख कर कई लोगों का विचार है कि कहीं बाहर से कोई लोग इस प्रदेश में आये होंगे जो अपने साथ इस प्रकार की विकसित सभ्यता को लाये होंगे ।

मैलेनेशिया में 'पूर्व-पाषाण-युग' (Paleolithic age) के कुछ उपकरण सौलोमन द्वीप में पाये गये हैं जिनमें पत्थर के फलक का कुल्हाड़ा मुख्य है । यह कुल्हाड़ा युरोप की कैम्पिग्नियन सस्कृति के कुल्हाड़े से मेल खाता है । मैलेनेशिया में पाषाण-युग की बड़े-बडे पत्थरो की विशाल मूर्तियां तथा बड़ी-बडी इमारती रचनाएँ पायी जाती हैं जिन में एक पाषाण की बनी बड़ी मूर्ति, उत्कीर्ण मूर्तियां, पिरैमिड, भवन, चबूतरे, किले तथा नहरो के किनारे मुख्य हैं ।

७ माइक्रोनेशिया

माइक्रोनेशिया में प्रागैतिहासिक सभ्यता के जो अवशेष उपलब्ध हुए है, वे मलाया से आये प्रतीत होते हैं। इस प्रदेश का अपना कोई उपकरण उपलब्ध नही होता। इस प्रदेश में पत्थर के उपकरणो के स्थान में घोंघे आदि के उपकरण पाये जाते है जो यहाँ की विशेषता समझनी चाहिये। मलाया से जो लोग यहाँ पाषाण-सभ्यता को लाये थे उनके कुछ अवशेष अवश्य मिलते हैं। इन अवशेषों में कई ऐसी चट्टानें है जिन्हें यहाँ के लोगो ने अपने भिन्न-भिन्न कार्यो के लिए तराशा होगा। इन चट्टानो के अतिरिक्त बडी-बडी पत्थर की इमारतें, पिरैमिड, भग्न नोकदार आकृतियाँ, चबूतरे, सीढियाँ, द्वार, तोरण, किले की दीवारें, ऊँचे तटो की नहरें तथा सडकें भी मिली है। इन में से अधिकाश जीर्ण-शीर्ण हालत में हैं, परन्तु सब प्राचीन-युग की गाथा सुना रहे है। इन अवशेषों में एक अपूर्व वस्तु उपलब्ध हुई है जिसे 'पाषाण-मुद्रा' (Stone money) कहा जा सकता है। इस की शक्ल चीनी सिक्कों की-सी है। यद्यपि इन अवशेषो को पूर्व-पाषाण-युग का नहीं कहा जा सकता, तो भी इन में नव-पाषाण-युग के उपकरणों की झलक है।

८ पौलीनेशिया

प्रशान्त महासागर के पूर्वीय द्वीप-समूह का, जिसे पौलिनेशिया कहा जाता है, विस्तार हवाई द्वीप से लेकर न्यू ज़ीलैण्ड तक ५,००० मील के लगभग है। इसी विस्तृत क्षेत्र में ईस्टर द्वीप भी सम्मिलित हे। इस विशाल-क्षेत्र में पुरातत्व-विज्ञान की दिलचस्पी की चीजें प्राय नगण्य है। इस का यह भी कारण हो सकता है कि इस प्रदेश में भूगर्भ-शास्त्र के अनुसार कुछ प्रदेश एकदम नीचे पड गये जिनमे समुद्र के पानी के भरने से वे क्षेत्र जल-मग्न हो गये। अगर इन क्षेत्रो में प्रागैतिहासिक-काल के कुछ चिह्न थे भी, तो वे सभवत इसी कारण लुप्त हो गये। फिर भी पौलिनेशिया के लोगों मे अपने प्राचीन पुरखाओं की वंशावलियों की कहानियाँ प्रचलित है, और अगर वे सत्य है, तो वहाँ की संस्कृति दो-अढाई हज़ार साल पुरानी तो होनी ही चाहिए।

मैलेनेशिया तथा माइक्रोनेशिया मे जिस प्रकार की सस्कृति के चिह्न पाये जाते है कुछ वैसी ही सस्कृति के चिह्न पौलिनेशिया में भी पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, आलेखन की हुई शिलाएँ (Petroglyphs), कारीगरों से बनाई हुई एक ही पत्थर की विशाल मूर्तियाँ (Monoliths), तराशे हुए तीन बड़े-बड़े पत्थरों के स्तूप (Trilithons), चक्र, चबूतरे, पिरैमिड, समाधि, वेदि, मन्दिर, दुर्ग, मार्ग, द्वार, सीढ़ी आदि यहाँ प्राप्त हुए है जो सब बड़े-बड़े पत्थरों के बने हैं। साथ ही लकडी तथा मट्टी की बनी मूर्तियाँ, खेती के लिए नालियाँ तथा नहर की प्रणाली के भी कुछ अवशेष मिले है। ईस्टर द्वीप में लकडी की कुछ पट्टियाँ मिली हैं जिन पर कुछ चित्र अकित है। हो सकता है, किन्हीं बातों को याद रखने के लिए ये चित्र हो, यह भी हो सकता है कि उस समय की यह चित्र-

लिपि हो। इस प्रदेश के सभी द्वीपो में एक-सी वस्तुएँ नहीं पायी जातीं। उदाहरणार्थ, समोआ में पत्थर की मूर्तियो का अभाव है, ईस्टर द्वीप में पत्थर की मूर्तियों की प्रचुरता है, न्यू जीलैण्ड तथा चैथम द्वीपो में पत्थर के स्थान पर लकडी का इस्तेमाल पाया जाता है। अव तक जो अनुसधान हुए हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि पौलिनेशिया में पाषाण-युग के अवशेष पाये तो जाते हैं, परन्तु वहुत अधिक नहीं। यहाँ के उपकरण, वर्तन तथा पूजा-पात्र ज्वालामुखी पर्वतो की चट्टानों से वनाये जाते थे। जहाँ वालुआ-पत्थर मिलता था वहाँ इसी का प्रयोग किया जाता था, प्रवाल, घोघे तथा अस्थि का प्रयोग भी होता था। वालुआ-पत्थर को छोड कर प्रवाल आदि वारीक उपकरणों तथा अलकारों के काम आते थे। 'दवाव विधि' (Pressure method) से पत्थर को उपयोगी वनाने की विधि का तो इन प्रदेशो में पता नहीं चलता, परन्तु पाषाण-छेदन, पाषाण-पिष्टि तथा पत्थर को पौलिश करके उसे चमकाने की विधियाँ यहाँ काम में लायी जाती थीं। इन प्रदेशों में पत्थर के जो उपकरण मिले हैं, वे हैं—पत्थर के हथौडे, घिसने के पत्थर, पीसने के पत्थर, पौलिश करने के पत्थर, नौका के लगर डालने के पत्थर, मछली पकडने के लिये जाल को पानी में डुवाने के पत्थर, मछली पकडने के कांटो के पत्थर। पत्थरो को छेद कर, घिस कर अनेक उपकरण वनाये जाते थे जिनमें गदा, इमामदस्ते, ओखली, मूसल, प्याले, दीप, पासे, तावीज, मनके, मछली तथा मनुष्य की मूर्तियाँ आदि मुख्य हैं। कुल्हाडी, छैनी आदि का भी निर्माण किया जाता था।

जलचर तथा थलचर छोटे-छोटे प्राणियों के खोलों के भिन्न-भिन्न प्रकार के उपकरण वनाये जाते थे जिन से रदने का, वाल निकालने का, मनकोंत था हार का काम लिया जाता था। नौकाओ को भी इनसे सजाया जाता था। यद्यपि अस्थियों की प्रचुरता थी, तो भी अस्थि का प्रयोग वहुतायत से नहीं किया जाता था। फिर भी वाणो की नोको और मछली पकडने के फदो के लिए अस्थि का प्रयोग होता था। कुछ चाकू, छुरियाँ तथा मनके भी पक्षियों की अस्थियो की वनी प्राप्त हुई हैं। मारक्यूसस में मनुष्य की हड्डी को भी सिर के शृगार के लिए प्रयुक्त किया जाता था। सूअर के दाँतो के कड़े तथा शार्क के दाँतों को हत्या लगा कर उनके चाकू वनाये जाते थे और भिन्न-भिन्न प्रकार की मछलियो के दाँतो के हार वना कर गले में लटकाये जाते थे।

इन के अतिरिक्त लकडी, खाल, वाल आदि सभी पदार्थों का प्रयोग मकान तथा नौका वनाने से लेकर घर के साज-सामान, वर्तन, वाद्य-यत्र, खिलौने, अस्त्र-शस्त्र, कपडा, चटाई, मछली पकडने का फदा आदि तक में किया जाता था। धातु का प्रयोग इन प्रदेशों में नहीं मिलता।

यद्यपि पौलिनेशिया के सवध में हमारी जानकारी वहुत सीमित है, तो भी प्रागैतिहासिक-काल के मानव के जीवन में यह प्रदेश अन्तिम निवास योग्य प्रदेश

था जिस पर ससार का विचरण करते-करते वह पहुँचा—इस दृष्टि से पुरातत्व-विज्ञो के लिए इस प्रदेश का महत्व अन्य किसी प्रदेश से कम नहीं है।

९ आस्ट्रेलिया तथा तस्मानिया

प्रो० सोल्लास (Sollas) ने आस्ट्रेलिया के पाषाण-फलक तथा पाषाण-खडीय व्यवसाय की युरोप के पाषाण-युग के मौस्ट्रियन-काल से तुलना की है, इसी प्रकार उन्होंने तस्मानिया के फिलट-खडीय व्यवसाय की युरोप के 'उप-कालीन पाषाण-युग' (Eolithic period) से तुलना की है। आस्ट्रेलिया तथा तस्मानिया में जो दुनियाँ से कटे हुए मानव प्रागैतिहासिक-काल में यहाँ के पाषाण-युग में निवास करते थे, प्रो० सोल्लास ने उन्हें युरोप के प्रस्तरित-मानव का सम-कक्ष कहा है, उनका कथन है कि दोनो एक ही कोटि के थे, सम्यता के एक ही स्तर पर थे। यह विवादास्पद है कि आस्ट्रेलिया के ये मानव सचमुच वहाँ की पाषाण-युग की सम्यता के ही प्रतिनिधि हैं क्योंकि आस्ट्रेलिया में जहाँ पाषाण-युगीय प्रागैतिहासिक उपकरण मिलते हैं वहाँ साथ-ही-साथ बाद के युग के भी उपकरण मिलते हैं। इस प्रदेश के उपकरण मिली-जुली सम्यता के सूचक हैं, इसलिए यहाँ की सम्यता को निश्चित रूप से पाषाण-युगीय सम्यता कह सकना कठिन है। प्राप्त-अवशेषो में कुछ बहुत प्राचीन-काल को द्योतक हैं, तो कुछ नवीन-काल के द्योतक हैं।

१० अमरीका

एशिया से लेकर अमरीका तक एटलाटिक महासागर में जितने द्वीप हैं सब को 'ओशेनिया' (Oceania) कहा जाता है। हमने ऊपर दक्षिणी एशिया, मध्य एशिया, उत्तरी एशिया, इण्डोनेशिया, मैलेनेशिया, माक्रोनेशिया तथा पौलीनेशिया का वर्णन इसलिए किया है क्योंकि अनेक विद्वानों का कथन है कि इन द्वीपों की, जिन्हें 'ओशेनिया' कहा जाता है, सस्कृति का प्रभाव अमरीका पर पडा। अमरीका के प्रागैतिहासिक-काल का अध्ययन करने के लिए इन द्वीपों की सस्कृति का जानना आवश्यक है। इसके विपरीत अन्य कुछ विद्वानों का मत है कि अमरीका में एटलाटिक-महासागर के इन द्वीपों से सस्कृति का आगमन नहीं हुआ, अपितु प्रागैतिहासिक-युग में पैसिफिक-महासागर द्वारा युरोप के तटों से पाषाण-युगीय सस्कृति अमरीका पहुँची। इन दोनो विचारो के विषय में कुछ लिखना असगत न होगा।

(क) ओशेनिया से अमरीका मे सस्कृति का विस्तार—ओशेनिया द्वीप-समूहो तथा अमरीका में पाये जाने वाले उपकरणो तथा दोनो स्थानो की पत्थर आदि की निर्माण-कला में इतनी समानता पायी जाती है कि ओशेनिया से अमरीका में सस्कृति का विस्तार हुआ—यह कल्पना करना असगत नहीं प्रतीत होता। ओशेनिया द्वीपों के नाविक इतने कुशल थे कि समुद्र की लहरों की गतियों या हवाओं के रुख के बिना भी तारों को देख कर अपने निर्दिष्ट उद्देश्य तक नाव

खे ले जाते थे। बहुत सभव है कि ये नाविक अमरीका भी पहुँच गये हो, खुद न पहुँचे हो तो यह भी सभव है कि अनजाने समुद्र के थपेड़े खाते वहाँ पहुँच गये हो और उन्होंने अमरीका को अपनी संस्कृति का प्रदान किया हो। हो सकता है, उत्तरी तथा पश्चिमी अमरीका के चबूतरों और पिरैमिड की-सी रचनाओं की ओशेनिया द्वीपों की इस प्रकार की रचनाओं के साथ समानता का यही कारण हो। मध्य तथा उत्तर अमरीका में एक ही बड़े पाषाण से कटी मूर्तियाँ (Monoliths) पायी जाती हैं, ठीक इस प्रकार की जैसी पॉलोनेशिया में पायी जाती हैं; अमरीका के वेनेज़ूल तथा मैलेनेशिया में एक तरह के ही भवन-निर्माण के चिह्न मिलते हैं, अलास्का से कैलीफोर्निया तक नौकाओ के निर्माण की कला भी ओशेनिया द्वीप-समूहों की नौकाओं जैसी है। इन सब समानताओ से ओशेनिया तथा अमरीका के पारस्परिक सास्कृतिक विनिमय की बात की पुष्टि होती है।

(ख) युरोप मे अमरीका में सस्कृति का विस्तार—ऊपर जो-कुछ कहा गया है उसके विपरीत ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि एटलांटिक के द्वीप समूहों से सस्कृति का प्रवाह अमरीका में न वह कर पैसिफिक दिशा की तरफ से युरोप से वहा है। कम-से-कम सौ ऐसे उपकरण गिनाये जा सकते हैं जो अमरीका तथा युरोप में एक समान हैं। अमरीका तथा युरोप दोनों जगह एक ही वस्तु के उपकरण बनाये जाते थे, उन्हें बनाने की विधि भी एक-सी थी। एक तरह से अमरीका के उपकरणो को युरोप के उपकरणों का प्रतिरूप कहा जा सकता है। इन में टोकरी, चटाई, वस्त्र, परों के काम, ज्यामिति की भिन्न-भिन्न शक्लो के आभूषण आदि में अत्यन्त समानता है।

प्रश्न यह है कि अमरीका में प्रागैतिहासिक-काल में सस्कृति का प्रवेश कहाँ से हुआ—पोलोनेशिया आदि ओशेनियन प्रदेशों से, या युरोप से? कई विद्वानों का कहना है कि यह भी तो सभव है कि जो आविष्कार अन्य देशो में हुए वे अमरीका में भी स्वतंत्र रूप से हुए, दोनो में से किसी में आदान-प्रदान नहीं हुआ। आखिर, जहाँ कहीं भी कोई आविष्कार हुआ, आदि-मानव ने पहले-पहल पत्थर के टुकडे किये, यह सब किसी आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए ही तो किया। जैसे यह आवश्यकता ओशेनिया के मानव की थी, वैसे ही युरोप के मानव की थी, वैसे ही अमरीका के मानव की भी थी। क्यो हम यह मानें कि एक ने दूसरे को सिखाया? यह पक्ष भी ठीक प्रतीत होता है, परन्तु अगर हम देखें कि आधारभूत उपकरणो की समानता के साथ किसी प्रदेश में कुछ विषमता है, कुछ अपनी खासियत है, विशषता है, तब तो यह मानना ही पड़ेगा कि यह विशेषता वहाँ के मानव की अपनी है, दूसरे से उधार ली हुई नहीं है। और, अगर दो स्थानो में एक-सी विशेषताएँ पायी जायें, तब तो इस बात के मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि इन विशषताओं वाले प्रदेशो में से एक ने दूसरे से अवश्य ग्रहण किया होगा। इस दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि यद्यपि पोलोनेशिया तथा अमरीका में तीन हज़ार मील का फासला है, तो भी इन दोनों प्रदेशों के

उपकरणो में ही समानता नहीं, परन्तु इन उपकरणो में जो अपनी-अपनी विशेषता है, उस विशेषता में भी समानता है। उदाहरणार्थ, न्यू ज़ीलैण्ड, पौलीनेशिया, हवाई आदि में जिस किस्म का पत्थर, जिस किस्म की हड्डी या जलचर एव थलचर प्राणी का खोल इस्तेमाल किया गया है, वैसे पत्थर आदि अमरीका में भी इस्तेमाल किये गये हैं। हवाई-प्रदेश में भोजन-सामग्री को कूटने के जिस विशेष प्रकार के उपकरण प्रयोग में लाये गये हैं, वैसे ही उपकरण अलास्का, ब्रिटिश कोलम्बिया, ओरेगौन, उत्तरी कैलीफोर्निया तथा कोस्टा रीका में मिले हैं। इन सब बातो से सिद्ध होता है कि अमरीका की प्रागैतिहासिक-सस्कृति पर ओशेनिया के द्वीप-समूहो की, पोलीनेशिया आदि की छाप है, युरोप की नहीं।

अमरीका के विषय में विशेष अनुसधान श्री अमेघिनो (Ameghino) ने किये हैं। उनका कहना है कि प्रागैतिहासिक-काल में मनुष्य का प्रादुर्भाव शुरू-शुरू में दक्षिणी अमरीका में हुआ। इन की विचारधारा डेनमार्क के पुरातत्व-शास्त्री श्री लड (Lund) के अन्वेषणों पर आश्रित थी। श्री लड ने ८०० से अधिक कन्दराओ का निरीक्षण किया था जिन में से उन्हें ३० मानवीय खोपडियां, कुछ मनुष्यों की हड्डियो के ढॉचे और उपकरणो के अवशेष मिले थे। ये सब-कुछ भूमि के उस स्तर से मिले थे जिसे हम 'नव-जीवन-युग' (Cainozoic period) का चतुर्थ-काल कह आये हैं, जिस में 'प्राति-नूतन-युग' (Pleistocene period) भी आ जाता है—वह युग जिस में सृष्टि में जगह-जगह मानव के अवशेष मिलते हैं। दक्षिणी-अमरीका आदि-मानव का उद्भव स्थान था या नहीं था—यह तो विवादास्पद बात है ही, परन्तु अब तो यह भी माना जाने लगा है कि अमरीका का आदि-वासी मगोल जाति का था और कहीं बाहर से आया था।

अमेघिनो ने जो अध्ययन किया वह खास कर अर्जेन्टाइना से सबध रखता है। जिस प्रदेश का उसने अध्ययन किया वह भाग नदी के बहाव या बाढ से बना हुआ था। इसे पम्पस के नाम से पुकारा जाता है। यह पम्पस-प्रदेश पृथिवी की भिन्न-भिन्न तहों का बना हुआ है। जैसे युरोप में 'आदिकालीन तथा अन्तकालीन पूर्व-पाषाण-युग' (Early Paleolithic and Late Paleolithic period) माने जाते हैं, वैसे ही पम्पस-प्रदेश के भी 'आदि-पम्पस तथा अन्त-पम्पस' (Early Pampas and Late Pampas)—ये दो नाम गढे गये और इन दोनों युगों की सभ्यताओ को आदि-पैम्पियन तथा अन्त-पैम्पियन सभ्यता का नाम दिया गया। इन दोनों पैम्पियन सभ्यताओं से पहले और पीछे की भी दो सभ्यताओं का पता लगाया गया। इस प्रकार अर्जेन्टाइना की पैम्पियन-सभ्यता के चार स्तर हुए—बीच के दो, और इन दोनो से एक पहले का युग और दोनो के बाद का युग। इन चारों को युरोप की भू-गर्भ-शास्त्र की परिभाषा में क्रमश 'मध्य-नूतन-युग' (Miocene), 'अति-नूतन-युग' (Pliocene), 'आदिकालीन पूर्व-पाषाण-युग' (Early Pleistocene) तथा 'अन्तकालीन पूर्व-पाषाण-युग' (Late Pleistocene) कह सकते हैं।

यह तो हुआ भूमि के स्तरों से उपलब्ध परिणाम। परन्तु इन स्तरो में मानवीय-सभ्यता को व्यक्त करने वाले उपकरण क्या सूचित करते हैं? इन स्तरो से तो यह प्रतीत होता है कि अमरीका में मानव का आगमन 'पूर्व-पाषाण-युग' (Paleolithic period) में न होकर 'नव-पाषाण-युग' (Neolithic period) में हुआ। इन में पीछे के काल के स्तरों में ही उपकरण प्राप्त हुए हैं, और वे उपकरण अनघड न होकर परिष्कृत रूप में हैं। क्योंकि ये पाषाण-निर्मित परिष्कृत उपकरण नियेन्डरथल-मानव के समय नहीं बने थे इसलिए हमें यह कहने को बाधित होना पड़ता है कि अमरीका में नियेन्डरथल-मानव के बाद की सभ्यता के अवशेष उपलब्ध होते हैं, पहले के नहीं। बाद के उपकरण ही 'नव-पाषाण-युगीय' उपकरण हैं। अगर यह बात ठीक है, तो अमरीका में मानव का आगमन हिमपात-युग के अन्तिम-काल में हुआ होगा क्योंकि वही समय नव-पाषाण-युग का है। इस समय बरफ हट चुकी थी और साईबीरिया, पोलिनेशिया आदि से अमरीका आने का रास्ता मौजूद था। यह हम पहले ही कह आये है कि इसी दिशा से प्रागैतिहासिक-काल में अमरीका में नव-पाषाण-सभ्यता ने प्रवेश किया।

११ भारत

इसी अध्याय के 'दक्षिणी-एशिया'—इस प्रकरण में हम लिख आये हैं कि भारत के संबध में हम कुछ विस्तार से आगे लिखेंगे। भारत के प्रागैतिहासिक-काल के विषय में हम क्या जानते हैं?

'पाषाण-युग' के मुख्य तौर पर तीन भाग किये जाते हैं—'आदि-पाषाण-युग' (Paleolithic period), 'मध्य-पाषाण-युग' (Mesolithic period) तथा 'नव-पाषाण-युग' (Neolithic period)। भारत के प्रागैतिहासिक-काल में इन तीनों युगो के उपकरण उपलब्ध होते हैं। किस-किस युग के क्या-क्या उपकरण कहाँ-कहाँ उपलब्ध होते हैं—इसका हम वर्णन करेंगे।

भारत का पूर्व-पाषाण-युग
(PALEOLITHIC OR OLD STONE PERIOD IN INDIA)

भारत में पाषाण-युग के उपकरणो को ढूंढने का काम 'जियोलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया' ने शुरू किया। सब से पहले इन उपकरणो की प्राप्ति का श्रेय श्री ब्रुस फुट (Bruce Foote) को प्राप्त है। उन्हें मद्रास के पल्लावरम स्थान में पूर्व-पाषाण-युग के अनेक उपकरण मिले। फुट की खोजो को अन्य विद्वानों ने जारी रखा और पंजाब, उत्तर-प्रदेश, विन्ध्य-प्रदेश, मध्य-भारत, बिहार, उड़ीसा, बम्बई, मद्रास तथा अन्य स्थानो पर 'पूर्व-पाषाण-युग' के अनेक उपकरण प्राप्त हुए। फुट ने ४३ साल के परिश्रम से इस युग के जो उपकरण एकत्रित किये थे उन्हें मद्रास सरकार ने तीस हजार रुपए में खरीद लिया और उन्हें मद्रास-म्यूजियम में सुरक्षित रख दिया। दक्षिणी-भारत के इस पूर्व-पाषाण-युग के पत्थर

के उपकरणो के निर्माण के व्यवसाय को 'मद्रासी-व्यवसाय' (Madrasian industries) का नाम दिया जाता है।

भारत की तरह पाकिस्तान में भी पूर्व-पाषाण-युग के उपकरण मिले हैं जो विशेषकर रावलपिण्डी के पास पोठोहार-प्रदेश में वहां से वहने वाली 'सोहन' नदी की घाटी में से प्राप्त हुए हैं। यह सोहन नदी आगे चाकर सिंध दरिया से मिल गई है। उत्तरी-भारत के इस पूर्व-पाषाण-युग के पत्थर के उपकरणो के निर्माण के व्यवसाय को 'सोहन-व्यवसाय' (Sohan industries) तथा इस प्रदेश के इस काल से पूर्व के पाषाण-व्यवसाय को 'पूर्व-सोहन-व्यवसाय' (Pre-Sohan industries) का नाम दिया जाता है।

भारत तथा पाकिस्तान के 'पूर्व-पाषाण-युग' के उपकरण जिन स्थानो में उपलब्ध हुए हैं उनका कुछ विवरण देना अप्रासगिक न होगा। वे स्थान निम्न हैं —

(क) मद्रास प्रान्त
(ख) दक्षिण का करनूल जिला
(ग) उडीसा में मयूरभज का कुलियाना प्रदेश
(घ) गुजरात में साबरमती नदी की घाटी
(ङ) मध्यप्रदेश में नर्मदा नदी की घाटी
(च) काश्मीर में पुंछ तथा पजाब में स्यूडा प्रदेश की नमक की पहाडियां
(छ) पोठोहार में सोहन नदी का प्रदेश

(क) मद्रास प्रान्त—'पूर्व-पाषाण-युग' के अवशेषो के लिए मद्रास प्रान्त का बहुत अधिक महत्व है। कोरतलयार नदी की घाटी के वदमादुराए तथा अत्तिरम्पक्कम स्थानो पर तो 'पूर्व-पाषाण-युग' के इतने अवशेष मिले हैं कि उनसे गाड़ियों-की-गाडियां भरी जा सकती हैं। वदमादुराए में जो उपकरण मिले हैं वे लगातार के तीन युगों के हैं। सब से नीचे के स्तर में तो युरोप के चैलियन-युग से मिलते-जुलते अनघड 'मुष्टि-छुरे' (Coup-de-poing) मिले हैं। इस युग के अनघड 'आन्तरक' (Core) भी मिले हैं। उसके बाद के स्तर में अशूलियन-युग के उपकरण मिले हैं। ये पहले-के उपकरणो से ज्यादा सुघड हैं। इन में पत्थर के 'शकल' (Flakes) ठीक-से उतारे गये हैं, और 'आन्तरक' (Core) भी ठीक-से बने हैं। अशूलियन युग के बाद के स्तरो में और अधिक सुघरे हुए उपकरण प्राप्त हुए हैं। इनमें पत्थर के 'शकल' तोडने के लिए पत्थर के स्थान में लकडी से काम लिया गया है जिससे काम में बारीकी और खूबसूरती आ गई है। अत्तिरम्पक्कम में जो उपकरण मिले हैं वे युरोप की अशूलियन-सस्कृति से मेल खाते हैं।

मद्रास के इन प्रदेशो में पाये गये जिन उपकरणो का हमने उल्लेख किया, इन के साथ मनुष्य का कोई प्रस्तरित पजर नहीं प्राप्त हुआ। हम पहले जावा आदि में पाये जाने वाले प्रस्तरित-मानव-पजरों का उल्लेख कर आये हैं, उनकी तुलना का भारत में इस प्रकार का कोई प्रागैतिहासिक पजर उपलब्ध नहीं हुआ।

सिर्फ अत्तिरम्पक्कम ही ऐसा स्थान है जहाँ उक्त उपकरणों के साथ मनुष्य की एक हड्डी पायी गई है जिसे ऑक्सफोर्ड में सुरक्षित रखा हुआ है।

(ख) दक्षिण का करनूल ज़िला—दक्षिण के करनूल जिले में कृष्णा नामक एक नदी है। इस नदी की घाटी से कई प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए हैं। ये अवशेष पूर्व-पाषाण-युग के तीनो स्तरो को सूचित करते हैं। इन में पहले प्रकार के उपकरण वे हैं जो दक्षिणी-आफ्रीका में प्राप्त 'आदिकालीन पूर्व-पाषाण-युग' (Early Paleolithic period) के 'मुष्टि-छुरों' (Coup-de-poing) के सदृश हैं। दूसरे प्रकार के उपकरण वे हैं जो नल्लमलई पहाड़ों के पास के नन्दिकनम दर्रे में मिले हैं और 'मध्यकालीन पूर्व-पाषाण-युग' (Middle Paleolithic period) के प्रतीत होते हैं। ये पहले उपकरणो से ज्यादा परिष्कृत हैं। तीसरे प्रकार के उपकरण कृष्णा नदी के क्षेत्र में मिले हैं। ये और अधिक सुघड है। इस स्तर के चाकू तथा छुरियाँ एक तरफ से धारदार तथा दूसरी तरफ से बेधार हैं। ये उपकरण 'अन्तकालीन पूर्व-पाषाण-युग' (Late Paleolithic period) के हैं।

(ग) उडीसा में मयूरभज का कुलियाना प्रदेश—इस प्रदेश में 'मद्रास-व्यवसाय' (Madrasian industries) तथा 'सोहन-व्यवसाय' (Sohan industries) के पूर्व-पाषाण-युग के पत्थर के उपकरण मिले हैं। 'मद्रास-व्यवसाय' का वर्णन तो हम पहले कर आये हैं, 'सोहन व्यवसाय' का आगे करेंगे।

(घ) गुजरात में साबरमती नदी की घाटी—इस प्रदेश में भी पूर्व-पाषाण-युग के 'मद्रास-व्यवसाय' तथा 'सोहन-व्यवसाय' के पत्थर के उपकरण मिले हैं। 'मद्रास-व्यवसाय' का वर्णन हम पहले कर चुके हैं, 'सोहन-व्यवसाय' का आगे करेंगे।

(ङ) मध्य-प्रदेश में नर्मदा नदी की घाटी—इस प्रदेश में भी पूर्व-पाषाण-युग के 'सोहन-व्यवसाय' के पत्थर के उपकरण मिले हैं। 'सोहन-व्यवसाय' का हम आगे वर्णन करेंगे।

(च) काश्मीर में पुंछ तथा पजाब में स्यूडा की पहाड़ियाँ—पुंछ और स्यूड़ा—इन दोनों स्थानो पर 'पूर्व-पाषाण-युग' के 'सोहन-व्यवसाय' के उपकरण मिले हैं। 'सोहन-व्यवसाय' का हम अभी वर्णन करेंगे।

(छ) पोठोहार में सोहन नदी का सोहन-प्रदेश—भारत में 'पूर्व-पाषाण-युग' के जो उपकरण प्राप्त हुए हैं उनमें दो स्थान विशेष महत्व के हैं। एक तो मद्रास प्रान्त में प्राप्त उपकरण जिन्हें हम 'मद्रासी-व्यवसाय' का नाम दे आये हैं, दूसरे सोहन नदी की घाटी में प्राप्त उपकरण जिन्हें 'सोहन-व्यवसाय' का नाम दिया जाता है। ये उपकरण सोहन नदी की घाटी में स्थित अनेक स्थानो में मिले हैं जिनमें से पोठोहार, मलकपुर, अडियाला, चौंतरा, कल्लर—ये स्थान मुख्य हैं। इन स्थानों में प्राप्त उपकरणो को काल की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा जाता है: (i) 'पूर्व-सोहन' (Pre-Sohan), (ii) 'प्रारभिक-सोहन'

(Early-Sohan) तथा 'अन्त-सोहन' (Late-Sohan)। जैसा हम ऊपर देख आये हैं, सोहन घाटी के उपकरण सिर्फ रावलपिंडी में ही नहीं पाये जाते, ये उपकरण दूर-दूर पाये जाते हैं। उडीसा में मयूरभज के कुलियाना प्रदेश में, गुजरात में सावरमती की तथा मध्य-प्रदेश में नर्मदा की घाटी में, काश्मीर में पुंछ में तथा पजाव में स्यूडा की नमक की पहाडियो में, उत्तर-प्रदेश में रिहद में सोहन-सभ्यता के उपकरण पाये गये हैं। अनेक स्थानो पर मद्रासी तथा सोहनी सभ्यता के अवशेष मिले-जुले भी उपलब्ध हुए हैं, इसलिए भारत के प्रागैतिहासिक काल के ज्ञान के लिए सोहन-सभ्यता का जानना आवश्यक है। सोहन-सभ्यता के तीनों कालो में कुछ-कुछ भेद है, जो नीचे के विवरण से स्पष्ट हो जायगा —

(1) पूर्व-सोहन-सभ्यता (Pre-Sohan Culture)—डी टैरा तथा पेटरसन (De Terra and Paterson) ने सोहन-सभ्यता के पूर्व-पाषाण-युग के सब से प्राचीनकाल के उपकरणो की सभ्यता को पूर्व-सोहन-सभ्यता का नाम दिया है। इस सभ्यता में चिकने विल्लौरी पत्थरो के अनघड और बहुत घिसे-घिसाये शकल अर्थात् पत्थरों के फलके हैं। विद्वानों का कहना है कि ये उपकरण 'द्वितीय हिमपात-काल' (Second Glacial Period) के हैं। इस प्रकार के पूर्व-सोहन-सभ्यता के उपकरण काश्मीर में जम्मू तक पाये गये हैं। ये उपकरण साढ़े सात लाख पुराने हैं।

(ii) प्रारम्भिक-सोहन-सभ्यता (Early-Sohan Culture)—सोहन नदी की घाटी में कुछ मुष्टि-छुरे (Coup-de-poing) तथा काटने के उपकरण मिले हैं जिन्हें विद्वानो ने 'द्वितीय अन्तर्हिमपात काल' (Second Interglacial Period) का बताया है। यह काल युरोप की चैलियन तथा एशूलियन सभ्यता का है। ये उपकरण आज से पांच लाख साल पुराने हैं। प्रारभिक-सोहन-सभ्यता के उपकरण चौडे, अण्डाकार तथा गोल पत्थरों से बनाये जाते थे। उन्हें तोड कर उन से काटने की कुल्हाड़ी तथा रदने का काम लिया जाता था। इन उपकरणों में हत्था नहीं लगा होता था, उपकरण को एक तरफ से हाथ में पकड कर उनसे काम लिया जाता था। इन को पकडने की जगह चौड़ी तथा आगे से इनके नोक होती थी ताकि पीछे से पकड कर आगे की नोक से जमीन खोदने, मारने, उधीलने आदि का काम लिया जा सके। इस समय के उपकरणो में 'शकल' (Flakes) तथा 'आन्तरक' (Core) दोनो पाये जाते हैं।

(iii) अन्त-सोहन-सभ्यता (Late-Sohan Culture)—प्रारभिक-सोहन के बाद अन्त-सोहन-सभ्यता के चिह्न पाये जाते हैं। इस का विस्तार पहले से भी अधिक है। इस समय के उपकरण यद्यपि अभी तक चिकने विल्लौरी पत्थर के ही थे, तो भी उन में परिशोध पाया जाता है। ये उपकरण 'तृतीय हिमपात-काल (Third Glacial Period) के हैं, और इनका काल अढ़ाई लाख साल पहले का माना जाता है।

भारत का मध्य-पाषाण-युग
(MESOLITHIC OR MIDDLE STONE PERIOD IN INDIA)

'पूर्व-पाषाण-युग' तथा 'मध्य-पाषाण-युग' के उपकरणो में आधारभूत चार भेद हैं। पहला यह कि 'पूर्व-पाषाण-युग' के उपकरण बडे पत्थरों के बने हैं और मध्य-पाषाण-युग के उपकरण छोटे पत्थरों के बने हैं जिन्हें 'अणु-पाषाण' (Microliths) कहा जाता है। दूसरा यह कि 'पूर्व-पाषाण-युग' के उपकरण फ्लिट अर्थात् चमचक पत्थर के बने होते थे, 'मध्य-पाषाण-युग' के 'अणु-पाषाण' सुलेमानी पत्थर के, सूर्यकान्त मणि आदि पाषाणों के बने होते थे। हर-किसी पत्थर को लेकर किसी युग में भी कोई उपकरण नहीं बना लिया जाता था, उपकरण के अनुकूल पत्थर ढूंढना पड़ता था। तीसरा यह कि 'मध्य-पाषाण-युग' के इन उपकरणो के आकार ज्यामिति की दृष्टि से अधिक सुघड होते थे। वे नोकदार, अर्धचन्द्राकार, त्रिभुजाकार होते थे, उनसे फलक, आन्तरक तथा छोटे-छोटे मनके भी बनाये जाते थे। 'पूर्व-पाषाण-युग' के उपकरणों में ज्यामितिक सुन्दरता नहीं पायी जाती। चौथा यह कि 'पूर्व-पाषाण-युग' के उपकरणों में हत्था नहीं लगा होता था, एक ही उपकरण को एक सिरे से नोकदार बनाकर दूसरे सिरे को हाथ से पकड कर उस से काम ले लिया जाता था।

मध्य-पाषाण-युग के उपकरण भारत में जिन स्थानों में मिले हैं, उनका कुछ विवरण देना अप्रासंगिक न होगा। वे स्थान निम्न हैं —

(क) गुजरात में साबरमती नदी की घाटी
(ख) बम्बई में कादीवली
(ग) मैसूर में चित्तलद्रुग जिले में ब्रह्मगिरि नामक स्थान
(घ) बेल्लारी में संगनकल्लु नामक स्थान
(ङ) काश्मीर में साम्बर नामक स्थान
(च) पाकिस्तान में सक्खर, रोहडी और खैरपुर नामक स्थान।

(क) गुजरात में साबरमती की घाटी—साबरमती घाटी में 'अणु-पाषाण' (Microliths) मिले हैं, जो 'मध्य-पाषाण-युग' के हैं। साबरमती घाटी में लंघनाज, हीरपुर, वलस्ना तथा अखाज नामक प्रदेशों में अनेक 'अणु-पाषाण' के उपकरण मिले हैं। इसके साथ इस घाटी का महत्व इस बात से भी बढ गया है क्योंकि लंघनाज में इस युग के मानव का एक पूरा प्रस्तरित-पंजर प्राप्त हुआ। हम पहले ही कह आये हैं कि भारत में प्रागैतिहासिक काल के मानव के प्रस्तरित-पंजर उपलब्ध नहीं होते। ऐसी हालत में लंघनाज के पंजर का महत्व बहुत अधिक है। इस पंजर के साथ 'अणु-पाषाण' के उपकरण तथा अस्थियो के भी अनेक उपकरण गडे हुए पाये गये हैं।

(ख) बम्बई में कान्दीवली नामक स्थान—बम्बई प्रदेश में पादन-नामक एक पहाडी है। यहां कान्दीवली है और कान्दीवली से दो मील के फासले

पर बोरीवली है। इस सारे प्रदेश में 'मध्य-पाषाण-युग' के 'अणु-पाषाणों' के अनेक उपकरण प्राप्त हुए हैं। यहां पर इस युग के घोड़े के भी प्रस्तरित अवशेष मिले हैं।

(ग) मैसूर में चित्तलद्रुग ज़िले में ब्रह्मगिरि नामक स्थान—यह स्थान मैसूर में चित्तलद्रुग जिले के अन्दर है। इसका नाम ब्रह्मगिरि है। इस स्थान में 'मध्य-पाषाण-युग' के 'अणु-पाषाण' के उपकरण प्राप्त हुए हैं। इस स्थान की विशेषता यह है कि इस प्रदेश में 'मध्य-पाषाण-युग' की 'अणु-पाषाण-सभ्यता' (Microlithic Culture) के साथ-साथ 'नव-पाषाण-युग' की 'विशाल-पाषाण-सभ्यता' (Megalithic Culture) भी एक ही समय में विकसित हो रही थी।

(घ) बेल्लारी मे मगनकल्लु नामक स्थान—मद्रास के बेल्लारी प्रदेश में 'मध्य-पाषाण-युग' के अनेक 'अणु-पाषाण' (Microlith) के उपकरण मिले हैं, जो इस समय की संस्कृति पर प्रकाश डालते हैं।

(ङ) काश्मीर में साम्बर नामक स्थान—श्रीनगर से दक्षिण-पूर्व में पाम्पुर नामक एक स्थान है। इस से ४ मील के लगभग साम्बर नामक स्थान में 'मध्य-पाषाण-युग' के अनेक उपकरण मिले हैं।

(च) पाकिस्तान के सक्खर, रोहड़ी और खैरपुर—सिन्ध की घाटी का भारत के प्रागैतिहासिक-काल के साथ विशेष संबंध है। इसी घाटी में हरप्पा तथा मोहनजोदारो के अवशेष उपलब्ध हुए हैं। कई विद्वानों का कथन है कि सिन्ध की घाटी में प्रागैतिहासिक-काल में जिस पाषाण-सभ्यता का उदय हुआ, वही आगे चलकर विकसित होती-होती हरप्पा तथा मोहनजोदारो की सभ्यता हुई।

सक्खर, रोहड़ी तथा खैरपुर का 'मध्य-पाषाण-युग' की सभ्यता की दृष्टि से विशेष महत्व है। इन स्थानो पर जो पत्थर के उपकरण मिले हैं वे लम्बे तथा पतले फलके के हैं। 'आन्तरक' (Cores) जिन से 'फलके' (Blades) तय्यार किये गये हैं, वे भी मोटे और भद्दे न होकर पतले और सुडौल हैं। यह ध्यान देने की बात है कि जैसे 'फलके' और 'आन्तरक' सक्खर, रोहड़ी और खैरपुर में पाये जाते हैं, वैसे दक्षिण-भारत की तरफ हैदराबाद के रायचूर जिले तक पाये जाते हैं। सक्खर-रोहड़ी-खैरपुर से रायचूर काफी दूर है, फिर इन दोनों स्थानों के उपकरणों में ऐसी समानता क्यों है? वास्तव में यह बात पुरातन-विज्ञो के लिए एक रहस्य बनी हुई है।

भारत का नव-पाषाण-युग

(NEOLITHIC OR NEW STONE PERIOD IN INDIA)

हमने भारत के पूर्व-पाषाण तथा मध्य-पाषाण युगों का वर्णन किया, परन्तु यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अभी निश्चित रूप से किसी उपकरण के विषय में यह कह सकना कठिन है कि वह अमुक युग का ही है, दूसरे युग का

नहीं। अस्ल में, ये उपकरण भूमि के स्तरों में इतने ऊपर-नीचे मिलते हैं कि कभी-कभी भिन्न-भिन्न युग एक ही स्तर में समकालीन चलते हुए दीख पड़ते हैं। फिर भी समझने के लिए यह जान लेना काफी है कि 'मध्य-पाषाण-युग' के बाद 'नव-पाषाण-युग' का आगमन हुआ, और 'नव-पाषाण-युग' का 'मध्य-पाषाण-युग' के उपकरणों से मुख्य भेद यह है कि इस युग में सभी उपकरण पालिश किये जाने लगे। अभी तक जो उपकरण बनते थे, पूर्व-पाषाण तथा मध्य-पाषाण युगों में उन्हें पालिश नहीं किया जाता था, इस युग में उन्हें घिस कर चिकना बनाने का प्रयत्न किया गया। इस युग में कुल्हाड़ी, हथौडा, बेलचा, छैनी आदि कई उपकरण नवीन प्रकार के बने। अब तक के उपकरणों में पूर्व-पाषाण-युग वालो में तो हत्या नहीं लगा होता था, मध्य-पाषाण-युग वालों में नुकीले पत्थर के एक तरफ चमडे आदि की रस्सी से हत्ये को बाँध लिया जाता था, नव-पाषाण-युग में हत्ये के एक सिरे में छेद कर के उपकरण को फँसा लिया जाता था। आजकल के उपकरणो में तो छेद उपकरण के एक सिरे में किया जाता है, हत्था उपकरण के छेद में फँसाया जाता है। उदाहरणार्थ, कुल्हाडी बनाने के लिए कुल्हाडी की पीठ में छेद करके उसमें लकड़ी का हत्था फँसा दिया जाता है, परन्तु नव-पाषाण-युग में हत्थे में छेद कर के कुल्हाड़ी का पिछला सिरा फँसा दिया जाता था। इन सब उपकरणों की विशेषता यह थी कि पहले उपकरणो से ये परिष्कृत थे और इन्हें घिस कर, रगड कर चमका दिया जाता था।

नव-पाषाण-युग के उपकरण भारत में जिन स्थानों में मिले हैं उनका यहाँ कुछ विवरण दे देना उपयुक्त होगा। वैसे तो उत्तर-प्रदेश में अलाहाबाद और बाँदा जिलों में, विन्ध्य-प्रदेश के पन्ना जिले में, बिहार के पटना, राँची तथा सिंहभूम जिलों में, आसाम में गारो तथा नागा पहाडियों में भी 'नव-पाषाण-युग के उप-करण मिले हैं, परन्तु काश्मीर, मैसूर तथा मद्रास में पाये गये उपकरणो का 'नव-पाषाण-युग' की दृष्टि से विशेष महत्व है। इसलिए हम इन तीनों स्थानो का ही वर्णन करेंगे।

(क) काश्मीर में बुर्जहोम तथा नुनार प्रदेश

(ख) मैसूर में ब्रह्मगिरि

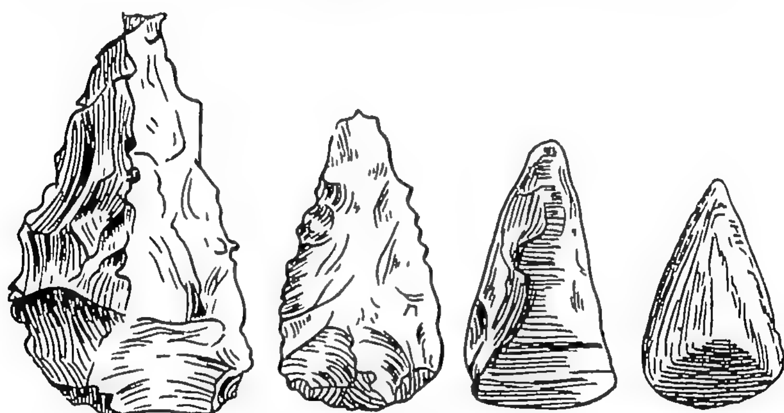
(ग) मद्रास में बेल्लारी प्रदेश

इनमें काश्मीर, मैसूर तथा मद्रास के अवशेष 'नव-पाषाण-युग' की दृष्टि से विशेष महत्व के हैं। अन्य स्थानों के अवशेष बहुत थोड़े हैं।

(क) काश्मीर में बुर्जहोम तथा नुनार प्रदेश—बुर्जहोम तथा नुनार प्रदेश काश्मीर के प्रसिद्ध स्थान गांधरबल के निकट हैं। काश्मीर की यात्रा में गान्धरबल जाते हुए यात्री इन स्थानो को देख सकता है। यहाँ की खुदाई में मट्टी के बर्तन और परिष्कृत तथा पालिश किये हुए पाषाण के उपकरण मिले हैं जो नूतन-पाषाण-युग के माने गये हैं।

(ख) मैसूर मे ब्रह्मगिरि——मैसूर में चित्तलद्रुग जिले में ब्रह्मगिरि तथा चन्द्रवल्ली स्थानो पर जो खुदाई हुई है उसमें 'पूर्व-पाषाण-युग' के उपकरण मिले हैं। इन में चन्द्रवल्ली की खुदाई में सब से ऊपर के स्तर पर सात-वाहन-काल के, उसके बाद के स्तर पर मौर्य-काल के, उसके बाद लौह-काल के और उस के भी नीचे नव-पाषाण-काल के उपकरण मिले हैं। कृष्णा महोदय ने ब्रह्मगिरि प्रदेश में जो गवेषणा की है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि जब भारत के अन्य प्रदेशो में धातु-युग आ गया था, ताम्र, ब्रोंज तथा लौह-युग क्रमश आ चुका था, तब भी ब्रह्मगिरि में नव-पाषाण-युग मौजूद था।

(ग) मद्रास मे बेल्लारी प्रदेश——बेल्लारी में सगनकल्लु स्थान पर सुब्बाराव महोदय ने जो खुदाई की है उससे ज्ञात होता है कि ब्रह्मगिरि तथा बेल्लारी में 'नव-पाषाण-युग' के एक ही प्रकार के उपकरण थे। बेल्लारी में एक स्थान पर तो 'नव-पाषाण-युग' की कुल्हाडियाँ आदि इतनी सख्या में मिली हैं कि श्री सुब्बाराव के कथनानुसार यह स्थान पत्थर की कुल्हाडियो का कारखाना था। इस समय के जो उपकरण मिले हैं उनमें कुल्हाडी को पूर्ण रूप में लाने के लिए चार क्रम दिखाई देते हैं। पहले एक बड़े पत्थर को लेकर दूसरे पत्थर से



बेल्लारी (मद्रास) मे पाये गये नव-पाषाण-युग के पत्थर के उपकरण।

उसे इस प्रकार तोडा जाता था कि एक सिरा नुकीला हो जाय। इस अवस्था में इस का अभी बेडौल रूप होता था। दूसरे क्रम में उसके पासो को सुघड बनाया जाता और नोक को और अधिक परिष्कृत किया जाता था। तीसरे क्रम में इस पत्थर की कुल्हाडी को घिस कर उसकी नोक तेज तथा पासे साफ किये जाते थे जिससे उसमें कहीं खुरदरापन न रहे। चौथे क्रम में कुल्हाडी को पालिश कर दिया जाता था। इन चारो क्रमों के उपकरण प्राप्त हुए हैं।

७

आदि-कालीन समाज की रूप-रेखा
(OUTLINES OF PRIMITIVE SOCIETY)

हमने पिछले अध्यायों में आदि-कालीन समाज के उपकरणो के निर्माण की विधि, उनके निर्माण का काल तथा कहाँ-कहाँ वे पाये जाते हैं—इन तीनो बातों का व्यौरा दिया। यह सब व्यौरा किस अभिप्राय से दिया ? वर्तमान समाज के विषय में तो हमारे पास लिखित इतिहास है, आदि-कालीन समाज के विषय में हमारे पास कुछ लिखा हुआ नहीं है, जो-कुछ है, जमीन के पेट में गड़ा हुआ है, पत्थरों और पत्थरो के भिन्न-भिन्न उपकरणो से उस समय के मानव की सभ्यता तथा सस्कृति के विषय में सिर्फ अनुमान लगाया जा सकता है। जैसे हम वर्तमान-काल का इतिहास जानना चाहते है, वैसे लाखों साल पहले के मानव का भी तो इतिहास जानना चाहते हैं। उस समय की कहानी हमें कौन बताये ? उस समय की कहानी सुनाने के लिए ही पुरातत्व-शास्त्री ईंट-पत्थर को लेकर बैठ जाते हैं, और ये ईंट-पत्थर और इनसे बने उपकरण अपने समय के मानव की कथा सुनाते है। यद्यपि ये ईंट-पत्थर निष्प्राण हैं, इनके वाणी नहीं जो बोलें, तो भी इनसे इतना तो पता चल जाता है कि इन्हें गढ़ने वाला कोई कारीगर था, इनका इस्तेमाल करने वाला कोई मानव था। इसीलिए तो हम इन पत्थरो को ढूंढते फिरते हैं। ये पत्थर हजारो, लाखो साल पहले के मानव की क्या कहानी सुनाते हैं, यही हमने इस अध्याय में देखना है। यह कहानी केवल भारत की नहीं, सारे ससार की कहानी है, क्योंकि ये पाषाण के उपकरण, जैसा हम पिछले अध्यायो में देख आये हैं, दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने में, हर जगह प्राप्त हुए है, और हो रहे हैं। यह तो स्पष्ट है कि हम इन पत्थरो से जो-कुछ जान सकते हैं वह अनुमान पर ही आश्रित है, वह इशारो से ही निकलता है, इसलिए आदि-कालीन समाज का यह इतिहास रूप-रेखा ही कहा जा सकता है, और कुछ नहीं।

१ पूर्व-पाषाण-युग के मानव की सभ्यता
(Paleolithic Culture)

पूर्व-पाषाण-युग के मानव की सभ्यता की रूप-रेखा को उस समय के पत्थर के उपकरणो पर से खडा किया जा सकता है। उस समय के उपकरण थे—फेंक कर मारने के पत्थर, वाण के फलक, भाले, पशु, मछली पकडने के फदे,

खुदाई के लिए काम आने वाले उपकरण, कर्त्तन-यंत्र, छुरियां, हथौडे, आग के लिए चकमक पत्थर। ये सब उपकरण पाषाण-निर्मित थे। इन्हीं के आधार पर उस समय के मानव के आर्थिक, सामाजिक, कला, धर्म, सगीत आदि का कल्पनिक भवन खडा किया जा सकता है। आइये, देखें, पूर्व-पाषाण-युग का मानव इन क्षेत्रो में कहां तक पहुँच चुका था।

(क) आर्थिक-क्षेत्र—पूर्व-पाषाण-युग के मानव के आर्थिक जीवन में बाण, भाले, परशु का बहुत बडा स्थान था क्योंकि प्राय यही उपकरण इस युग के स्तर से प्राप्त हुए हैं। इस का स्पष्ट अर्थ यही हो सकता है कि वह जगल में शिकारी का जीवन बिताता था, अपने भोजन के लिए या तो जगल के फल-मूल-कन्द को चुन कर या खोद कर पेट भरता था, या जीव-जन्तु का शिकार करके क्षुधा-निवृत्ति करता था। मछली पकड़ने के भिन्न-भिन्न प्रकार के पत्थर तथा हड्डी के फदे भी उपलब्ध हुए हैं जिनसे प्रतीत होता है कि वह मछली का शिकार भी करता था और उसके भोजन में इसका भी पुट था। इस युग के उपकरणों में हल जैसी कोई वस्तु प्राप्त नहीं हुई, इसलिए पुरातत्व-शास्त्रियों का कथन है कि इस युग का मानव कृषि तथा पशु-पालन मे अनभिज्ञ था। फेंकने के पत्थर, बाण के फलक तथा परशु आदि से प्रतीत होता है कि पहले-पहल तो वह पत्थर फेंक कर शिकार का पीछा करता होगा, परन्तु पत्थर से कहां तक शिकार हाथ आ सकता है, इसलिए धीरे-धीरे उसने बाण तथा परशु का आविष्कार किया जिससे भागते प्राणी का भी वह शिकार कर सकता था।

उस काल के किन्हीं मकान आदियो के कोई चिह्न नहीं मिले। खड्डे खोद कर तो जानवर भी सर्दी-गर्मी से अपनी रक्षा करते हैं, इसलिए यह अनुमान करना कि उस समय का मानव गुफाएँ खोद कर शीतोष्ण से अपनी रक्षा कर लेता होगा, कोई अत्युक्ति नहीं। कहीं-कहीं पशुओं की खाल ओढ कर या उनका तम्बू-सा बना कर वह आत्म-रक्षा करता होगा। शिकार कभी-कभी जगल छोड कर आगे निकल जाता है, इसलिए पूर्व-पाषाण-युग का मानव भी एक जगह टिक कर नहीं बैठता होगा। उसका जीवन निरन्तर भ्रमण का जीवन रहा होगा।

(ख) सामाजिक-क्षेत्र—पूर्व-पाषाण-युग के मानव का कोई बहुत बडा सगठन होगा यह तो सभव नहीं है, परन्तु इतना अनुमान लगाया जा सकता है कि वह इकला विचरने के स्थान में किसी समूह का अग रहा होगा। उपकरण एक नहीं, अनेक मिले हैं, और अनेक उपकरणो का होना सिद्ध करता है कि वे किसी एक व्यक्ति की कृति न होकर अनेक व्यक्तियों की कृतियां होंगे। जब कई व्यक्ति कई प्रकार के उपयोगी उपकरण बनायेंगे, तो उनका इन उपकरणो द्वारा एक-दूसरे का सहायक होना स्वभाव-सिद्ध है। ये लोग अपनी टोलियां बना कर रहते होंगे, बडे, वृद्ध, अनुभवी व्यक्ति को सब अपना मुखिया मानते होंगे। उनमें जो सब से ज्यादा बलिष्ठ होगा वही टोली का केन्द्र रहता होगा। क्योंकि उस काल का मानव शिकार से पेट पालता था इसलिए शिकार में जो सबसे अधिक

दक्ष होता होगा, वही सब की प्रतिष्ठा का पात्र रहता होगा। वे लोग शिकार में दक्ष होने के लिए एक-दूसरे से बढने का प्रयत्न करते होगे। क्योंकि शिकार ही आजीविका का केवल मात्र साधन नहीं था, वृक्षो के फल-मूल भी तोड-खोद कर खाये जाते थे, इसलिए स्त्रियाँ तथा बच्चे फल-मूल एकत्रित करने में लगे रहते होंगे और उनका समुदाय अपनी टोलियाँ बना कर फिरता होगा। अपनी टोली से पृथक् व्यक्ति को वे अपने स्वार्थ में बाधक समझते होंगे इसलिए दूसरी टोली के साथ इनका संघर्ष भी रहता होगा। लडाई का सूत्रपात संभवत आदि-कालीन मानव के समय से ही शुरू हो गया होगा। हो सकता है कि उसी समय से बाणो का युद्ध भी प्रतिद्वन्द्वियो में चलता हो। अब तक पूर्व-पाषाण-युग के जो प्रस्तरित अस्थि-पजर मिले है, वे सख्या में इतने थोडे है कि यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उस काल में जन-सख्या बहुत थोडी रही होगी, और थोडी होने के कारण उस समय की सामाजिक समस्याएँ भी नगण्य रही होंगी।

(ग) कला का क्षेत्र—कला का प्रकट रूप चित्र-निर्माण है। पूर्व-पाषाण-युग का मानव कोयले तथा रगीन मट्टी से पत्थरो पर उन पशुओ का रेखा-चित्र बनाने का प्रयत्न करता था जिन्हें वह जंगल में विचरते देखता था या जिनका वह शिकार करता था। भारत में तो इस प्रकार के चित्र नहीं मिले, परन्तु युरोप की कई गुफाओ में इस प्रकार के चित्र उपलब्ध हुए है। इन चित्रो से अनुमान होता है कि उस काल के मानव में भी अपने मनोभावों को प्रकट करने की लालसा विद्यमान थी और वह जैसी-तैसी लकीरें खींच कर अपने मनोभावों को रेखा-चित्रों की आदि-कालीन इन रेखाओ में प्रकट किया करता था। इन चित्रो में कोई ज्यामितिक सौन्दर्य नहीं है, परन्तु फिर भी आदि-मानव का चित्र-निर्माण के लिए प्रयास ही तो अन्त में जाकर आज की उदीयमान कला में परिणत हुआ है। जहाँ तक आभूषणो तथा शरीर को अलकारों से सुसज्जित करने का प्रश्न है, हम कह सकते है कि पूर्व-पाषाण-युग का मानव छोटे-छोटे सुन्दर पत्थरो से अपने शरीर को विभूषित भी करता था। ऐसे पाषाण-खड मिले है जिनका शरीर को सजाने के अतिरिक्त और कोई काम नहीं हो सकता।

(घ) धर्म का क्षेत्र—जो जन्मता है वह मरता अवश्य है। आज भी मरता है, आदि-काल में भी मरता था। आदि-कालीन मानव मृत्यु के विषय में क्या सोचता था? युरोप में पूर्व-पाषाण-युग के कई प्रस्तरित अस्थि-पजर मिले है जिनके साथ ही उसके उपकरण तथा उसकी खाद्य-सामग्री भी पास ही पडी मिली है। खाद्य-सामग्री में बकरी आदि जानवरो की कुछ अस्थियाँ है जो सभवत खाने के लिए रखे गये मांस के सड जाने के बाद शेष रह गई है। इस से यह अनुमान लगाया जाता है कि इस युग का मानव समझता था कि मरने के बाद भी मनुष्य का कुछ-न-कुछ बच रहता है, उसे मरने के बाद भी उपकरणो की आवश्यकता पड सकती है, खाने के लिए उसे खाद्य-सामग्री की जरूरत हो सकती है। इसीलिए तो यह सब सामान जुटा कर उसके पास रख दिया जाता था।

क्योंकि यह सब सामान रखा जाता था इसलिए मृत-व्यक्ति को जला देने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। सामान रखना तभी उपयोगी हो सकता है अगर मृत व्यक्ति उस सामान का इस्तेमाल कर सके। अगर उसे जला दिया जायेगा, तो वह उपयोग कैसे करेगा। इसीलिए उस काल के लोग मुर्दों को गाडते थे, जलाते नहीं थे।

पूर्व-पाषाण-युग के अवशेषो में स्त्री की मूर्तियां भी कहीं-कहीं उपलब्ध हुई है। इन मूर्तियो में स्त्री की जननेन्द्रिय को विशेष रूप से प्रधानता दी गई है। इस का कारण क्या हो सकता है? विद्वान् लोग इस पर बहस कर के इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि उस युग का मानव स्त्री की जननेन्द्रिय को उत्पादन, समृद्धि, बहुतायत, पैदावार का सूचक समझता था, और इसी लक्ष्य से इस की उपासना करता था। लिंग तथा योनि की पूजा आज तक के युग में अनेक स्थानो में पायी जाती है। शिव लिंग की पूजा तो इस समय भी सारे भारत में प्रचलित है जिसके नीचे योनि का प्रतीक बना होता है। इस पूजा का लक्ष्य यही हो सकता है कि वे सृष्टि में एक ऐसी शक्ति की कल्पना करते थे, जो उत्पादन, समृद्धि, बहुतायत और पैदावार की प्रतीक थी। उसका चिह्न लिंग और योनि के अतिरिक्त और क्या हो सकता था। ये सब एक प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान थे। युरोप में पाषाण-युग की अनेक गुफाओ में ऊँचाई पर जहाँ हरिण, बारहसिंगा आदि के रेखा-चित्र बने हुए मिले हैं, वहां साथ ही दीपक भी रखे मिले है। बहुत सभव है कि इन दीपकों में चर्बी डाल कर इन से प्रकाश किया जाता हो और प्रकृति की उस शक्ति की पूजा की जाती हो जो इन पशुओं की सख्या को बढाती है। इस अनुष्ठान का उद्देश्य यह रहा होगा कि इस प्रकार वे पशु जहां तक हो सकें बढें ताकि आदि-कालीन मानव को पेट भरने में कोई दिक्कत न हो।

मनुष्य के अतिरिक्त कोई सत्ता है जो ससार को चला रही है—यह विचार पूर्व-पाषाण-युग के मानव को हो गया था। एक-दूसरे से अधिक सत्ता के व्यक्ति को तो वे हर समय देखते थे। जैसे हमसे कोई बडा है, वैसे सब से कोई बडा होगा—यह विचार उस समय पैदा हो गया था। तभी तो हम देखते हैं कि उस काल के पत्थरो के नीचे दबे हुए कई प्राणियों के प्रस्तरित अस्थि-पजर मिलते है। उन्हें दबाया क्यों गया था? बहुत सभव है कि उन्हें इसलिए दबाया गया हो ताकि पहला शिकार स्वय न खा कर उस शक्ति को सन्तुष्ट करने के लिए बलि रूप में उसे पत्थर के नीचे दबा कर भेंट के रूप में रख दिया गया था।

(ङ) सगीत का क्षेत्र—पूर्व-पाषाण-युग का मानव स-रे-ग-म तो नहीं गा सकता था, किन्तु सुन्दर स्वरो का उसे अवश्य शौक था। इस युग के उपकरणों में पशुओ की ऐसी हड्डियां मिली है जिनसे सीटी बजाने का काम लिया जा सकता है। इस प्रकार की सीटियों से यही अनुमान लगाया जा सकता है कि इस काल का मानव या तो शिकार के समय एक-दूसरे को बुलाने के लिए या मौज-बहार के लिए इन उपकरणो का प्रयोग करता था।

ऊपर हमने जो विवरण दिया है उससे यह कह सकना कि इस युग का मानव ऐसा ही था, कठिन है। इस समय के जो उपकरण मिले हैं उन से जो परिणाम निकल सकते हैं, वे हमने लिखे। इस में सन्देह नहीं कि पत्थर के उपकरण बोल नहीं सकते, परन्तु इसमे भी सन्देह नहीं कि इतिहास-लेखक तो इतिहास लिखने में अपने मनोभावो और विचारो के अनुसार इतिहास को तोड-मरोड सकता है, परन्तु पत्थरो के उपकरण अपनी कहानी में कुछ हेर-फेर नहीं कर सकते। ये उपकरण मौजूद हैं—इसमें तो सन्देह नहीं। इन उपकरणों को किसी ने वनाया होगा, गढा होगा—इसमें भी सन्देह नहीं। फिर इनका वही काम तो हो सकता है जिस काम के लिए ये प्रयुक्त हो सकते हैं। इसी दृष्टि से पूर्व-पाषाण-युग की सभ्यता की रूप-रेखा, जो-कुछ ऊपर लिखा गया है, वैसी ही वनती दीखती है। वहुत सभव तो यही दीखता है कि वह वैसी हो, परन्तु यह भी हो सकता है कि वह वैसी न हो।

२ सधि-पाषाण-युग के मानव की सभ्यता
(Mesolithic Culture)

आदिकालीन पाषाण-युग की सभ्यता के विकास में एक ऐसा समय आया जव आदि-मानव न तो केवल पत्थरो के प्राचीन उपकरणो का प्रयोग करता था, और न उसने पत्थर के नवीन उपकरण वनाने शुरू किये थे, यह युग दोनो युगों का सन्धि-काल था, और इसीलिए इसे सधि-पाषाण-युग का नाम दिया जाता है।

इस युग के उपकरणो में सुडौलपन दीखता है, वे पहले के-से वेडौल नहीं दीखते, उनमें ज्यामितिक आकार दीखता है, वे अर्धचन्द्राकार तथा त्रिभुजाकार हैं। इस युग में मट्टी के वरतन भी वनने शुरू हो गये थे। अभी तक कुम्हार के चाक का आविष्कार तो नहीं हुआ था, परन्तु कच्ची मट्टी को हाथ से वर्तन का रूप देकर उसे आग में पका लिया जाता था। इन्हीं सव वातो के आधार पर 'सधि-पाषाण-युग' की सभ्यता का अन्दाज लगाया जा सकता है।

इस समय की सभ्यता में मनुष्य ने छोटे-छोटे पत्थरो के उपकरण वनाने शुरू किये थे, जिन्हें 'अणु-पाषाणोपकरण' (Microliths) का नाम दिया गया है। जैसा हम पहले लिख आये हैं, अज़ीलियन-काल की एक चक्की मिली है और इस चक्की के पास अनाज के कुछ ढेर भी मिले हैं। यह अज़ीलियन-काल 'सधि-पाषाण-युग' के निकट का काल था, इससे अनुमान होता है कि इस काल में यद्यपि मानव शिकारी जीवन ही व्यतीत कर रहा था, तो भी धीरे-धीरे कृषि की झाँकियाँ भी ले रहा था। अभी कृषि अपने विकसित रूप में तो नहीं आयी थी, परन्तु इस युग के दामन में कृषि-युग छिपा हुआ प्रकट होने की वाट जोह रहा था।

३ नव-पाषाण-युग के मानव की सभ्यता
(Neolithic Culture)

नव-पाषाण-युग के मानव की सभ्यता की रूप-रेखा भी इस **युग के** उपकरणों के आधार पर वनाई जा सकती है। इस युग के उपकरणो में **पूर्व-पाषाण-**

युग के उपकरण तो हैं ही, परन्तु वे वहुत परिष्कृत रूप में पाये जाते हैं। इनमें हल का उपकरण भी पाया जाता है। इसके अतिरिक्त मट्टी के लाल-काले रग के सुघड कलश पाये जाते हैं। कई जगह मृत व्यक्ति की भस्म मट्टी के कलशो में रखी पायी गई है। मकानो के भी अवशेष मिले हैं। इन्हीं सव वातों के आधार पर 'नव-पाषाण-युग' के आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य क्षेत्रो के जीवन की रूप-रेखा खडी की जा सकती है। उसी रूप-रेखा को चित्रित करने का हम यहां प्रयत्न करेंगे।

(क) ग्रार्थिक-क्षेत्र—'पूर्व-पाषाण-युग' तथा 'सधि-पाषाण-युग' में हल के चिह्न नहीं पाये जाते, परन्तु 'नव-पाषाण-युग' में अन्य उपकरणो के साथ पत्थर के वने नोकीले हल प्राप्त हुए हैं। इस से यह अनुमान लगाया जाता है कि यद्यपि अव तक का मानव जगल में फल-फूल-कन्द इकट्ठा करके और शिकार द्वारा जीवन यापन करता था, तो भी 'नव-पाषाण-युग' में प्रवेश करने के वाद उसने कृषि करना प्रारभ किया। शुरू-शुरू में उसने कृषि कहां करनी शुरू की—इस सबध में विद्वानों का कथन है कि जहां उसे प्राकृतिक तौर पर खाद्य अनाज उगता दीखा होगा, वहीं डेरा डाल कर पहले तो उसने उस अनाज को खाने के काम में लाना शुरू किया होगा, परन्तु धीरे-धीरे उस स्थान के उस अनाज के लिए स्वाभाविक तौर पर उपयुक्त होने के कारण वहीं उसकी खेती करनी शुरू कर दी होगी। इसमें उसे कोई कठिनाई नहीं हुई होगी क्योंकि वहां तो वह अनाज स्वय प्रकृति द्वारा उत्पन्न हो रहा था। ऐसा स्थान पश्चिमी-एशिया माना जाता है। ईराक तथा ईरान आदि में वह अनाज स्वाभाविक तौर पर उगता है, जो विकसित होता-होता पीछे गेहूं का रूप धारण कर गया। पूर्व-पाषाण-युग के शिकारी जीवन में मनुष्य जगह-जगह फिरता था, जहां शिकार मिलता था वहीं चला जाता था, परन्तु नव-पाषाण-युग में कृषि प्रारभ कर देने के वाद से तो उसका भूमि से बंध जाना स्वाभाविक हो गया, इसलिए अव फिरन्दर जीवन को छोड कर मनुष्य घर वना कर एक स्थान पर रहने लगा। एक स्थान पर रहने के लिए यह भी आवश्यक था कि जहां पानी की सुविधा हो वहीं मनुष्य का निवास हो, इसलिए आदि-काल का मानव नदियों, झीलों और तालाबों के तटों को अपने निवास के लिए ढूंढता था। यही कारण है कि इस काल की खोज में जहां-जहां खुदाई हुई है, प्राय सभी खुदाई नदियों और झीलो के किनारों पर हुई है और वहीं इस काल के अवशेष उपलब्ध हुए हैं। इस समय के उपलब्ध उपकरणों में ऐसे कुल्हाडे मिले हैं जिनसे वडे-वडे वृक्षों को काटा जा सके। क्योंकि मनुष्य एक स्थान पर रहने लगा था इसलिए वहुत सभव है कि इन कुल्हाडों से वडे-वडे वृक्षो के तनों को काट कर वह अपने निवास-स्थान के लिए प्रयुक्त करने लगा था।

'नव-पाषाण-युग' में जहां मनुष्य ने कृषि करना शुरू किया, वहां साथ ही पशु पालना भी शुरू किया। इस युग की वस्तियो में जहां मनुष्य के अवशेष

उपलब्ध हुए हैं, वहाँ दूध देने वाले जानवरों के अस्थि-पजर भी उपलब्ध हुए हैं। कई विद्वानों का कथन है कि इस युग में कृषि का युग पहले आया, कई का कथन है कि पशु पालने का प्रथम आया। जो लोग पशु पालने के युग को प्रथम तथा कृषि-युग को पीछे का बताते हैं, उनका कहना है कि क्योंकि अवतक मनुष्य फिरन्दर जीवन व्यतीत कर रहा था और पशु-पालने में भी मनुष्य फिरन्दर जीवन ही व्यतीत करता है, इसलिए इन दोनो का मेल होने के पहले पशु-पालन तथा बाद को कृषि का आगमन हुआ, जो लोग इस से उल्टी बात मानते हैं, उनका कहना है कि क्योंकि शुरू-शुरू में मनुष्य फल-मूल-कन्द ही एकत्रित कर के खाता था इसलिए स्वाभाविक तौर पर अनाज के लिए उसका प्रयत्न सर्व-प्रथम प्रयत्न रहा होगा और इससे कृषि का आविष्कार पशु-पालन से पहले हुआ होगा। जो-कुछ भी हो, इस बात में सब सहमत हैं कि 'नव-पाषाण-युग' में कृषि तथा पशु-पालन से मनुष्य ने आजीविका का निर्वाह कर के आर्थिक समस्या को हल करना शुरू किया। पशुओं को पाल कर वह दूध-दही-मक्खन भी खाता था, और उनके निकम्मा हो जाने पर और आवश्यकता पडने पर उनके माँस का भी उपयोग कर सकता था। कृषि तथा पशु-पालन से मनुष्य ने एक नवीन युग में प्रवेश किया। अब उसे शिकार करने की आवश्यकता न रही, और वह एक जगह घर बना कर, पशु पाल कर और कृषि करके जीवन बिताने लगा।

भारत में इस युग की सभ्यता के अवशेष बहुत कम मिले हैं, पश्चिमी-एशिया तथा युरोप में इसके अवशेष बहुत काफी मिले हैं। पश्चिमी-एशिया में पैलेस्टाइन, ईराक, ईरान तथा ईजिप्ट में एव युरोप में फ्रांस तथा स्विटजरलैण्ड में पूर्व-पाषाण-युग की बस्तियो-की-बस्तियाँ मिली हैं। पैलेस्टाइन में वादी-एल-नतफ नाम के स्थान में पूर्व-पाषाण-युग के उपकरणों में दराँतियाँ मिली हैं, अनाज कूटने के उपकरण भी मिले हैं जिनसे यह स्पष्ट है कि इस युग में पैलेस्टाइन में कृषि का पूर्ण विकास हो चुका था। फ्रास तथा स्विटजरलैण्ड में इस युग की जो बस्तियाँ मिली हैं, उनसे प्रतीत होता है कि इस युग का मानव पशुओं को पाल कर उनसे दूध-दही ही नहीं लेता था, परन्तु बैलो तथा घोडों से हल भी जोतता था। गाडी के पत्थर के चाक मिले हैं जिनसे सिद्ध होता है कि इस युग में माल ढोने के लिए बैल या घोडा गाडी भी चलने लगी थी। इस समय का मनुष्य वृक्षों के नीचे, गुफाओ में, या चमड़े के तम्बू बना कर उनमें रहने के स्थान में लकडी के मकान बना कर उनमें रहने लगा था।

(ख) सामाजिक-क्षेत्र—जब तक मनुष्य फिरन्दर जीवन व्यतीत करता था, तब तक तो सामाजिक-जीवन के विकास की बहुत अधिक सभावना नहीं थी, परन्तु कृषि तथा पशु-पालन के युग में प्रवेश और मकानों में निवास शुरू करते ही एक नवीन प्रकार के सामाजिक-जीवन के विकास का हो जाना स्वाभाविक था। इस युग में मनुष्य को जगह-जगह मारे-मारे फिरना नहीं पड़ता था, उसका मकान बन चुका था, आग का आविष्कार वह पहले ही कर चुका था, अन।

८ ही की भी कृषि तथा पशु-पालन के कारण उसके पास कमी नहीं थी। ऐसी हालत में अगर इस युग में उसने परिवार की सस्था का निर्माण कर लिया हो, तो क्या आश्चर्य है ? परिवार के बीच रह कर बच्चो की वह परवरिश करता था, उसकी स्त्री उसके साथ खेत में उसका हाथ बटाती थी, उसके बच्चे भी बडे होकर अपने बाप के साथ ही काम करते थे। इन सब में प्रेम-भाव था और पास-पडौस के खेतीवालो के साथ बैठ कर वे गप्प-शप्प हाँका करते थे, एक-दूसरे की मदद करते थे, एक-दूसरे के सुख-दु ख में साथ देते थे। युरोप में प्राप्त अवशेषो से पता चलता है कि इस युग में गाँव बसने शुरू हो गये थे, एक-एक गाँव का क्षेत्रफल ६–७ एकड होता था और बस्ती मे ३०–३५ मकान होते थे। जहाँ तीस-पैंतीस मकान एक जगह हो वहाँ सौ-सवा सौ की बस्ती तो होगी ही। इस बस्ती के लोग एक-साथ रह कर सामाजिक-जीवन व्यतीत करते थे। जैसे शिकारी-युग में टोलियों का मुखिया होता था, वैसे इस कृषि-युग में बस्ती का एक मुखिया होता था, उसको सब लोग बडा मानते थे, उसके कहने पर चलते थे। सहयोग की भावना का एक-साथ रहने के कारण इस समय सूत्रपात हो चुका था।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि इस काल के मानव में सिर्फ सहयोग की भावना ही थी। इस युग मे जो बस्तियाँ पायी जाती है उनके चारो तरफ खाइयाँ खुदी पायी गई है, कहीं-कहीं चहारदीवारी पायी गई है। इस का यह अर्थ है कि वे शत्रुओं से अपनी रक्षा करने के लिए अपनी बस्ती को एक छोटे-से किले की-सी शक्ल देते थे। बस्ती को किले की-सी शक्ल तभी दी जा सकती है जब उन्हें किन्हीं शत्रुओ से अपनी रक्षा करनी हो। उन दिनों अपने से सहयोग की भावना के साथ-साथ दूसरों से युद्ध भी होते रहते थे। अपनी टोली से अतिरिक्त दूसरी टोली के सभी व्यक्ति पराये गिने जाते थे, और इन अपने-परायो मे सदा युद्ध छिडा रहता था। उस समय के धनुष-बाण, त्रिशकु आदि अस्त्र-शस्त्र युद्ध के काम आते थे।

(ग) कला का क्षेत्र—वैसे तो प्रारभिक-स्तर की चित्रकारी जिसमें ज्यामितिक रेखाएँ नहीं थीं, पूर्व-पाषाण-युग में शुरू हो चुकी थी फिर भी इस युग में ज्यामितिक रेखाओ तथा चित्र-कला का विकास हुआ। इस युग के कई प्रकार के बर्तन मिले है जिन पर भिन्न-भिन्न प्रकार के चित्र बनाये गये है। अब तक बर्तन हाथ से बनाये जाते थे, वे बेडौल होते थे, इस युग मे पाये गये बर्तन सुडौल है, गोल है, और उन पर सुन्दर रगों की चित्र-कला के दर्शन हो सकते है। ये बर्तन कच्चे नहीं, पक्के है, आग मे पकाये गये है। इससे स्पष्ट है कि इस युग के मनुष्य ने कला के क्षेत्र में भी पहले के युग की अपेक्षा अच्छी प्रगति कर ली थी।

बर्तनों के अतिरिक्त इस युग का मानव क्योंकि पशुओ को पालने लगा था, उसके पास भेड-बकरियों के रेवड-के-रेवड होते थे, इसलिए वह इनकी ऊन का भी इस्तेमाल करना जान गया था। जानवरों की ऊन को काट कर वह गर्म कम्बल

आदि बनाने लगा था। 'नव-पाषाण-युग' में तकुओ और खड्डियो का भी प्रयोग होने लगा था।

(घ) व्यापार का क्षेत्र—पूर्व-पाषाण-युग में हरेक व्यक्ति अपनी-अपनी आवश्यकता पूरी कर लेता था। भूख लगी, जंगल से फल-कद ले आये या शिकार के लिए चल पड़े। उन्हें सग्रह की आवश्यकता नहीं थी। जब खेती होने लगी, पशु पाले जाने लगे, तो प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आवश्यकता से अधिक प्राप्त होने लगा। वह इतने का क्या करता? वह इस अतिरिक्त पदार्थ को दूसरे के अतिरिक्त पदार्थ में बदले में देने लगा। इस प्रकार अपनी आवश्यकता के अतिरिक्त दूसरो की आवश्यकताएँ भी अदले-बदले के नियम के द्वारा पूर्ण होने लगीं। यही प्रक्रिया आगे चलकर व्यापार का रूप धारण कर गई। पूर्व-पाषाण-युग में श्रम-विभाग का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। अगर कुछ था, तो स्त्री-पुरुष तक वह सीमित था। स्त्रियाँ जगल से फल-कद चुग लाती थीं, पुरुष शिकार ले आता था। अब नव-पाषाण-युग में श्रम-विभाग का सिद्धान्त और अधिक विस्तृत रूप से काम करने लगा। बर्तन बने तो बर्तन बनाने वाले कुम्हार भी पैदा हो गये, चित्र बने तो चित्रकार भी पैदा हो गये, गाड़ियो के चाक बने तो उन्हें बनाने वाले शिल्पी भी पैदा हो गये। इस प्रकार श्रम-विभाग तथा व्यापार द्वारा वस्तुओं का एक ही स्थान में नहीं, दूर-दूर प्रदेशो में भी आदान-प्रदान होने लगा। पश्चिमी-एशिया तथा युरोप में जहाँ-जहाँ खुदाई हुई है, वहाँ-वहाँ ऐसी वस्तुएँ भी मिली हैं जो वहाँ पैदा नहीं होती थीं। यह तभी हो सकता था जब व्यापार द्वारा वस्तुओं का लेन-देन चल पड़ा हो।

(ङ) धर्म का क्षेत्र—हम देख आये हैं कि 'पूर्व-पाषाण-युग' में मनुष्य के मरने के बाद उसके शव के साथ उसके उपकरण तथा भोजन-सामग्री गाड दी जाती थी। यह शायद इसलिए किया जाता था कि मृत-व्यक्ति को इन चीजों की जरूरत पड़े, तो वह लाचारी अनुभव न करे। यह विचार 'नव-पाषाण-युग' में भी मौजूद रहा। 'नव-पाषाण-युग' में मकान के नीचे गढा खोद कर मकान के नमूने जैसा एक घर बनाया जाता था जिसमें मृत-व्यक्ति के शव के साथ उसके उपकरण आदि तथा भोजन-सामग्री रख दी जाती थी। इस काल में कहीं-कहीं शव को जलाने की भी प्रथा थी क्योंकि अनेक स्थानो पर मट्टी के कलश प्राप्त हुए हैं जिन में मृत व्यक्ति की राख सुरक्षित रूप में रखी पायी गई है।

इस काल के अनेक स्थानों में मट्टी की बनी हुई कई स्त्री-मूर्तियाँ भी मिली हैं। इन मूर्तियो में, जैसा हम पहले लिख आये हैं, स्त्री की जननेन्द्रिय को विशेष रूप से स्पष्ट बनाया गया है। पश्चिमी-एशिया तथा युरोप दोनों स्थानों में इस प्रकार की स्त्री की योनि की मूर्तियाँ पायी जाती हैं। स्त्री की योनि के अतिरिक्त पुरुष के लिंग की मूर्तियाँ भी कई जगह मिली हैं। इगलैण्ड, अनेतोलिया तथा बालकन प्रायद्वीपों में इस प्रकार के पुरुष के लिंग प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार स्त्री की योनि तथा पुरुष के लिंग के निर्माण का क्या अर्थ हो सकता है? एक कल्पना तो

यह है कि आदि-काल के मानव के लिए ये दोनो अग इतने कौतूहल के विषय थे कि वह इन की मूर्तियां बनाकर अपनी कौतूहलप्रियता को शान्त करता था। आजकल भी अनेक विषयी लोग इन अगो का अनुचित प्रदर्शन करने में अपनी इसी भावना को तृप्त करते हैं। परन्तु आदि-काल का मानव विषय-वासना की तरफ इतना खिचता हो—यह कल्पना कुछ असगत-सी प्रतीत होती है। विषय-वासना मुख्य तौर पर वर्तमान-सभ्यता की देन है। दूसरी कल्पना अधिक सगत प्रतीत होती है। दूसरी कल्पना यह है कि इस काल के मानव के लिए स्त्री की योनि तथा पुरुष का लिंग उत्पादन के सूचक चिह्न थे। इस युग में कृषि तथा पशु-पालन शुरू हो गया था और इस युग का मानव इन पदार्थों की वृद्धि के लिए उत्पादन के सूचक अगों की मूर्तियां बना कर उनको पूजा करता था।

पुरातन-शास्त्र के पडितो का कहना है कि इस युग में जादू-टोने का विचार भी जन्म ले चुका था। हम जगह-जगह लिख आये हैं कि 'नव-पाषाण-युग के अवशेषों में तावीजों के चिह्न पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, छोटी कुल्हाडी के बीच एक छेद पाया गया है जिसमें हत्था तो नहीं लग सकता था, परन्तु जिसमें रस्सी डाल कर उसे गले में लटकाया जा सकता था। हो सकता है कि कुल्हाडी को साथ रखने के लिए उसे गले में लटकाया जाता हो, यह भी हो सकता है कि कुल्हाडी को सब-कुछ काट सकने के कारण शक्ति का प्रतीक समझ कर तावीज के तौर पर गले में लटकाया जाता हो। मानव-शास्त्री इसे इसी अर्थ में लेकर इसे जादू-टोने का रूप कहते हैं।

४ धातु-युग के मानव की सभ्यता
(Culture of the Age of Metals)

'नव-पाषाण-युग' के बाद ससार के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में धातुओं के युग का प्रारभ हुआ। 'नव-पाषाण-युग' में मनुष्य भोजन पकाने के लिए चूल्हे भट्टियाँ बनाया करता था जिनमें लगातार आग जला करती थी। ये भट्टियाँ प्रायः पत्थर की होती थीं। इन पत्थरों में कभी-कभी प्राकृतिक तौर पर धातु के टुकडे भी होते थे जो लगातार के ताप से पिघल जाते थे। इन धातुओं को देख कर इस युग के मानव ने पत्थर के साथ-साथ अपने उपकरण बनाने के लिए धातुओं का प्रयोग शुरू किया। धातुओं के प्रयोग में यह सुविधा थी कि उन्हें ठोक-पीट कर किसी भी आकार का बनाया जा सकता था। पत्थर का उपकरण बनाते हुए तो उसे ठोका-पीटा नहीं जा सकता था। इस से तो पत्थर के टूटने की सभावना बनी रहती थी। धातु को पीटने से वह टूटती नहीं थी। पहले-पहल मनुष्य को ताम्बे का ज्ञान हुआ, फिर ब्रोंज का और सब से पीछे लोहे का ज्ञान हुआ। इन तीनों धातुओं के युग का वर्णन हम पिछले अध्याय में सक्षेप से कर आये हैं। इन तीन युगों के बाद आज के मानव ने अणु-शक्ति को ढूंढ़ निकाला है और जैसे भिन्न-भिन्न धातुओं के नाम से उस-उस युग को हम स्मरण करते हैं, वैसे आज के युग को अणु-युग से स्मरण किया जाता है।

८

मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा की सिन्धु-सभ्यता

(MOHENJODARO AND HARAPPA CULTURE OF SINDH-VALLEY)

हम पिछले अध्याय में 'संधि-पाषाण-युग' (Mesolithic age) का वर्णन कर आये हैं। 'संधि-पाषाण-युग' में 'अणु-पाषाण के उपकरण' (Microliths) पाये जाते हैं। इस 'संधि-पाषाण-युग' की सभ्यता का अनेक स्थानों में सूत्रपात हुआ और वही विकसित होते-होते 'नव-पाषाण-युग' में परिणत हो गई। 'नव-पाषाण-युग' के बाद 'ताम्र-युग' की सभ्यता का विकास हुआ। 'संधि-पाषाण-युग', 'नव-पाषाण-युग' तथा 'ताम्र-युग' के पुटों को लेकर एक सभ्यता सिंध नदी की घाटी में किसी समय पनपी जिसे 'सिंधु-सभ्यता' का नाम दिया जाता है। इस सभ्यता के चिह्न मिलने से पहले प्रागैतिहासिक लेखक मिस्र, असीरिया, बैबीलोन की सभ्यताओं के ही गीत गाया करते थे। भारत के विषय में ऋग्वेद के समय तक ही हम पहुँच पाते थे, उस से पूर्व नहीं। सिंध नदी की घाटी की सभ्यता के अवशेष प्राप्त होने के बाद से हम समझने लगे कि नील, दजला और फरात की घाटियों का मानव की पुरातन सभ्यता में जो स्थान है, वही स्थान भारत के पुरातन-मानव की सभ्यता में सिंधु नदी का है। इस प्रागैतिहासिक-सभ्यता का ज्ञान मानव-शास्त्र के अध्ययन के लिए, और विशेष तौर पर भारतीय मानव-शास्त्र के सांस्कृतिक इतिहास के अध्ययन के लिए अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए इस अध्याय में हम मोहनजोदडो तथा हड़प्पा की सभ्यता का वर्णन करेंगे।

सिंधु-घाटी की सभ्यता का विशेष ज्ञान हमें प्राचीनकाल के दो नगरों से होता है। एक नगर का नाम है—'मोहनजोदडो' और दूसरे का नाम है—'हडप्पा'। मोहनजोदडो कराची से २०० मील उत्तर में सिन्ध के लरकाना जिले में सिन्ध नदी के तट पर स्थित है; हडप्पा लाहौर से १०० मील दक्षिण-पश्चिम में रावी नदी के तट पर मिंटगुमरी ज़िले में स्थित है। इन दोनों नगरों में ३५० मील का फासला है। सिन्धु-घाटी की सभ्यता के द्योतक ये दो नगर ही नहीं है। ये दो नगर तो बडे नगर हैं, परन्तु इस प्रकार की ४० बस्तियों की खुदाई हो चुकी है जिनमें उसी सभ्यता के अवशेष मिले हैं जिसे हम 'सिन्धु-सभ्यता' कहते हैं। सिन्धु-सभ्यता का यह प्रदेश काठियावाड से लेकर पश्चिम में मरकान तक फैला हुआ था। उत्तर में हिमालय तक इस की पहुँच थी। अगर इस सारे प्रदेश की जहाँ-जहाँ सिन्धु-सभ्यता थी, त्रिभुज बनाई जाय, तो इस की

भुजा ९५० मील, दूसरी ६०० मील और तीसरी ५५० मील लम्बी बनती है। इतने विशाल प्रदेश में सिन्धु-सभ्यता का विस्तार था, मोहनजोदडो और हडप्पा तो इस सभ्यता के दो केन्द्र थे। इस सभ्यता का काल ईस्वी सन् ३२५० से २७५० वर्ष पूर्व का माना जाता है। 'मोहनजोदडो'-शब्द का अर्थ है—'मुर्दों का प्रदेश'। कई विद्वानो का कथन है कि यह नगर सात बार बसा तथा सात बार उजडा। अब तो यह प्रदेश पाकिस्तान में चला गया है, परन्तु पाकिस्तान तो हाल की चीज़ है, यह प्रदेश सदियो से भारत का अभिन्न अग रहा है, इसलिए भारत की प्राचीन-सस्कृति को जानने के लिए सिन्धु-सभ्यता का विशेष महत्व है।

इस सभ्यता की खोज श्री राखालदास बॅनर्जी तथा श्री दयाराम साहनी ने की। १९२२ में मोहनजोदडो में आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इडिया के पश्चिमी-क्षेत्र के अध्यक्ष श्री राखालदास बॅनर्जी को एक बौद्ध समाधि मिली। उन्होने समझा कि इस समाधि के नीचे कुछ बौद्ध-कालीन अवशेष प्राप्त होंगे, इसलिए इस स्थान की खुदाई शुरू करवाई गई। उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब बौद्ध-काल के अवशेषों की जगह यहाँ एक नगर-का-नगर निकल पडा। यह नगर ही मोहनजोदडो था, जो अपने समय की सभ्यता का एक अवशेष कहा जा सकता है। १९२२ में ही श्री दयाराम साहनी ने मिटगुमरी जिले में हडप्पा नामक स्थान पर एक जगह खुदाई शुरू की, जहाँ एक और नगर के भग्नावशेष प्राप्त हुए। ये भग्नावशेष हडप्पा नगर के थे, और मोहनजोदडो तथा हडप्पा में प्राप्त हर बात में इतनी समानता पायी गई कि इस सारे प्रदेश को विद्वानो ने एक ही सभ्यता का घोषित कर दिया। इन अवशेषों के आधार पर हम उस काल की सिन्धु-सभ्यता की रूप-रेखा का एक चित्र बना सकते है जिसे हम यहाँ देने का प्रयत्न करेंगे।

१ सिन्धु-सभ्यता की नगर-निर्माण योजना

(क) सडकें—सिन्धु-सभ्यता के जो दो बडे-बडे नगर भूमि के गर्भ से खोद कर निकाले गये है, इन दोनों की रचना में बडे कुशल व्यक्तियो का हाथ दीख पडता है। उदाहरणार्थ, यहाँ की सडकें एक निश्चित योजना के अनुसार बनाई गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि नगर की योजना पहले बना ली गई है, सडकों आदि का नक्शा पहले तय्यार कर लिया गया है, भवन-निर्माण का कार्य पीछे किया गया है। जिन नगरों का योजनानुसार निर्माण होता है, उनमें ऐसा ही किया जाता है। बिना इस प्रकार की योजना के लोग जिस का जो चाहे जहाँ मकान बना लेते हैं, उसके बाद जिधर से रास्ता मिले वहाँ से मार्ग या गली निकाली जाती है। मोहनजोदडो तथा हडप्पा में ऐसा नहीं है। मोहनजोदडो की जो मुख्य सडक है वह ठीक नगर के बीच में से निकली है, और तेंतीस फीट चौडी है। इस सडक को काटती हुई एक दूसरी इससे भी चौडी मुख्य सडक नगर के बीचोबीच निकल गई है। पहली मुख्य सडक उत्तर से दक्षिण को है, तो इसे चीरने वाली दूसरी मुख्य सडक पूर्व से पश्चिम को है। ये दोनों सडकें इतनी चौडी

हैं कि इन में अनेक गाडियाँ आ-जा सकती हैं। इन दोनो मुख्य सडको के समानान्तर नौ से अठारह फीट चौडी और सडकें वनी हुई हैं। इन सडको को गलियो से मिलाया गया है। ये गलियाँ भी चार फीट से कम नहीं हैं। इस प्रकार सारे नगर को इस ढग से वसाया गया है कि किसी भी गली से किसी भी मकान तक आसानी से विना चक्करो के पहुँचा जा सकता है।

(ख) मकान——मकानो का निर्माण भी एक निश्चित योजना के अनुसार किया गया है। मकान चौकोर थे, चारो ओर छोटे-वडे कमरे थे, वीच में वैठने-उठने के लिए सेहन था, इन की खिडकियाँ सडक की ओर नहीं खुलती थीं। आजकल तो हमारी खिडकियाँ सडक की ओर होती हैं, सडक पर चलने वाले हमारी तरफ और हम सडक वालो की तरफ ताका करते हैं, सिन्धु-सभ्यता के मकानों में ऐसा नहीं था। मकान छोटे भी होते थे, वडे भी, दो कमरों वाले भी और राज-भवन जैसे भी। गन्दे पानी को निकालने के लिए नालियो का प्रवन्ध था। मकान पक्की ईंटो के वने होते थे। ईंटें दो प्रकार की पायी गई हैं——छोटी तथा वडी। छोटी ईंट १०। × ५ × २। इच तथा वडी ईंट २०॥ × ८॥ × २। इच आकार की होती थी। ज्यादातर छोटी ईंटो का ही प्रयोग किया गया है। ईंटो को वैठाने के लिए गारे या गारे के साथ चूने का इस्तेमाल किया गया है जिससे चिनाई में मजबूती आ गई है। दीवारों की मोटाई ५ फीट तक होती थी, कहीं-कहीं वहुत वडी इमारत के लिए इस से भी मोटी दीवार पायी गई है। एक मकान की लम्वाई २४२ तथा चौडाई ११२ फीट की तथा एक दूसरे मकान की लम्वाई २२० फीट तथा चौडाई ११५ फीट की है। एक और भवन का अगला भाग ८५ फीट, गहराई ९७ फीट है। इस का आगन ३२ वर्गफीट है। मोहनजोदडो के मकान प्राय दुमंजिले हैं और ऊपर की मजिल पर जाने के लिए सीढियाँ वनी हुई हैं। ये सीढ़ियाँ वहुत तग हैं जिससे प्रतीत होता है कि जगह को वचाने के लिए ये लोग वहुत प्रयत्नशील थे। वहुत संभव है कि समृद्ध नगर होने के कारण यहां जमीन वहुत महँगी हो, और इसीलिए लोग दो-मजिले मकान तथा तग सीढ़ियाँ वनाते हों। मकान में अलमारियाँ, खूँटियाँ आदि सव-कुछ होता था। मकान के आँगन में एक तरफ रसोईघर होता था। इस रसोईघर में अव तक चूल्हे वने हुए हैं। हर मकान में एक स्नान का कमरा होता था जिसमें मटको में पानी भरा रहता था। नहाने के कमरे का फर्श चिकनी ईंटों का वना होता था। प्रत्येक मकान में एक शौचालय भी रहता था। इस सव व्यवस्था को देख कर इस निर्णय पर पहुँचना स्वाभाविक है कि यहां के मकानों में एक निश्चित योजना थी।

(ग) नालियाँ——मकान तथा नगर इन दोनो को साफ-सुथरा रखने के लिए नालियों का होना आवश्यक है। स्नानागारो, रसोइयों तथा टट्टियो का पानी घर से वाहर निकलने के लिए मट्टी के नल वने हुए थे। घर से पानी वाहर निकल कर चौवच्चे में इकट्ठा होता था, उसमें नितर कर वह गली की

भुजा ९५० मील, दूसरी ६०० मील और तीसरी ५५० मील लम्बी बनती है। इतने विशाल प्रदेश में सिन्धु-सभ्यता का विस्तार था, मोहनजोदडो और हडप्पा तो इस सभ्यता के दो केन्द्र थे। इस सभ्यता का काल ईस्वी सन् ३२५० से २७५० वर्ष पूर्व का माना जाता है। 'मोहनजोदडो'-शब्द का अर्थ है—'मुर्दो का प्रदेश'। कई विद्वानो का कथन है कि यह नगर सात बार बसा तथा सात बार उजडा। अब तो यह प्रदेश पाकिस्तान में चला गया है, परन्तु पाकिस्तान तो हाल की चीज है, यह प्रदेश सदियो से भारत का अभिन्न अग रहा है, इसलिए भारत की प्राचीन-सस्कृति को जानने के लिए सिन्धु-सभ्यता का विशेष महत्व है।

इस सभ्यता की खोज श्री राखालदास बैनर्जी तथा श्री दयाराम साहनी ने की। १९२२ में मोहनजोदडो में आर्कियोलौजिकल सर्वे ऑफ इडिया के पश्चिमी-क्षेत्र के अध्यक्ष श्री राखालदास बैनर्जी को एक बौद्ध समाधि मिली। उन्होने समझा कि इस समाधि के नीचे कुछ बौद्ध-कालीन अवशेष प्राप्त होगे, इसलिए इस स्थान की खुदाई शुरू करवाई गई। उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब बौद्ध-काल के अवशेषों की जगह यहाँ एक नगर-का-नगर निकल पडा। यह नगर ही मोहनजोदडो था, जो अपने समय की सभ्यता का एक अवशेष कहा जा सकता है। १९२२ में ही श्री दयाराम साहनी ने मिंटगुमरी जिले में हडप्पा नामक स्थान पर एक जगह खुदाई शुरू की, जहाँ एक और नगर के भग्नावशेष प्राप्त हुए। ये भग्नावशेष हडप्पा नगर के थे, और मोहनजोदडो तथा हडप्पा में प्राप्त हर बात में इतनी समानता पायी गई कि इस सारे प्रदेश को विद्वानों ने एक ही सभ्यता का घोषित कर दिया। इन अवशेषों के आधार पर हम उस काल की सिन्धु-सभ्यता की रूप-रेखा का एक चित्र बना सकते है जिसे हम यहाँ देने का प्रयत्न करेंगे।

१ सिन्धु-सभ्यता की नगर-निर्माण योजना

(क) सडकें—सिन्धु-सभ्यता के जो दो बडे-बडे नगर भूमि के गर्भ से खोद कर निकाले गये है, इन दोनों की रचना में बडे कुशल व्यक्तियों का हाथ दीख पडता है। उदाहरणार्थ, यहाँ की सडकें एक निश्चित योजना के अनुसार बनाई गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि नगर की योजना पहले बना ली गई है, सडकों आदि का नक्शा पहले तय्यार कर लिया गया है, भवन-निर्माण का कार्य पीछे किया गया है। जिन नगरों का योजनानुसार निर्माण होता है, उनमें ऐसा ही किया जाता है। बिना इस प्रकार की योजना के लोग जिस का जी चाहे जहाँ मकान बना लेते है, उसके बाद जिधर से रास्ता मिले वहाँ से मार्ग या गली निकाली जाती है। मोहनजोदडो तथा हडप्पा में ऐसा नहीं है। मोहनजोदडो की जो मुख्य सडक है वह ठीक नगर के बीच में से निकली है, और तेंतीस फीट चौडी है। इस सडक को काटती हुई एक दूसरी इससे भी चौडी मुख्य सडक नगर के बीचोबीच निकल गई है। पहली मुख्य सडक उत्तर से दक्षिण को है, तो इसे चीरने वाली दूसरी मुख्य सडक पूर्व से पश्चिम को है। ये दोनों सडकें इतनी चौडी

है कि इन में अनेक गाडियाँ आ-जा सकती है । इन दोनो मुख्य सडकों के समानान्तर नौ से अठारह फीट चौडी और सडकें वनी हुई है। इन सडकों को गलियो से मिलाया गया है। ये गलियाँ भी चार फीट से कम नहीं है । इस प्रकार सारे नगर को इस ढग से वसाया गया है कि किसी भी गली से किसी भी मकान तक आसानी से विना चक्करों के पहुँचा जा सकता है।

(ख) मकान—मकानो का निर्माण भी एक निश्चित योजना के अनुसार किया गया है। मकान चौकोर थे, चारों ओर छोटे-वडे कमरे थे, वीच में वैठने-उठने के लिए सेहन था, इन की खिडकियाँ सडक की ओर नहीं खुलती थीं। आजकल तो हमारी खिडकियाँ सडक की ओर होती है, सडक पर चलने वाले हमारी तरफ और हम सडक वालो की तरफ ताका करते हैं, सिन्धु-सम्यता के मकानों में ऐसा नहीं था। मकान छोटे भी होते थे, वडे भी, दो कमरो वाले भी और राज-भवन जैसे भी। गन्दे पानी को निकालने के लिए नालियो का प्रवन्ध था। मकान पक्की ईंटो के वने होते थे। ईंटें दो प्रकार की पायी गई हैं— छोटी तथा वडी। छोटी ईंट १०। X ५ X २। इच तथा वडी ईंट २०॥ X ८॥ X २। इच आकार की होती थी। ज्यादातर छोटी ईंटो का ही प्रयोग किया गया है। ईंटो को वैठाने के लिए गारे या गारे के साथ चूने का इस्तेमाल किया गया है जिससे चिनाई में मजबूती आ गई है। दीवारों की मोटाई ५ फीट तक होती थी, कहीं-कहीं वहुत वडी इमारत के लिए इस से भी मोटी दीवार पायी गई है। एक मकान की लम्वाई २४२ तथा चौडाई ११२ फीट की तथा एक दूसरे मकान की लम्वाई २२० फीट तथा चौडाई ११५ फीट की है। एक और भवन का अगला भाग ८५ फीट, गहराई ९७ फीट है। इस का आगन ३२ वर्गफीट है। मोहनजोदडो के मकान प्राय दुमजिले हैं और ऊपर की मजिल पर जाने के लिए सीढियाँ वनी हुई है। ये सीढियाँ वहुत तग है जिससे प्रतीत होता है कि जगह को वचाने के लिए ये लोग वहुत प्रयत्नशील थे। वहुत सभव है कि समृद्ध नगर होने के कारण यहाँ जमीन वहुत महँगी हो, और इसीलिए लोग दो-मजिले मकान तथा तग सीढियाँ वनाते हों। मकान में अलमारियाँ, खूँटियाँ आदि सव-कुछ होता था। मकान के आँगन में एक तरफ रसोईघर होता था। इस रसोईघर में अव तक चूल्हे वने हुए है। हर मकान में एक स्नान का कमरा होता था जिसमें मटकों में पानी भरा रहता था। नहाने के कमरे का फर्श चिकनी ईंटों का वना होता था। प्रत्येक मकान में एक शौचालय भी रहता था। इस सव व्यवस्था को देख कर इस निर्णय पर पहुँचना स्वाभाविक है कि यहाँ के मकानो में एक निश्चित योजना थी।

(ग) नालियाँ—मकान तथा नगर इन दोनों को साफ-सुथरा रखने के लिए नालियों का होना आवश्यक है। स्नानागारो, रसोइयों तथा टट्टियो का पानी घर से वाहर निकलने के लिए मट्टी के नल वने हुए थे। घर से पानी वाहर निकल कर चौवच्चे में इकट्ठा होता था, उसमें नितर कर वह गली की

नाली में मिल जाता था। प्रत्येक गली के साथ-साथ एक नाली बनी हुई थी जो हर मकान के गन्दे पानी को लेकर शहर की बडी नाली में मिल जाती थी। सडकें तो कच्ची थीं, परन्तु ये नालियाँ पक्की ईंटों की बनी हुई थीं। इन नालियों की ईंटों को पक्का जमाने के लिए मट्टी के साथ चूने का इस्तेमाल किया जाता था। ये नालियाँ ९ इँच चौडी, १२ इच गहरी होती थीं। नालियो को खुला छोड़ने के स्थान में ईंटों से ढँक दिया गया था, समय-समय पर ईंटें हटा कर नालियों की पूरी सफाई भी हुआ करती थी। बहुत चौडी नालियों को शिलाओं से ढँका जाता था। इन नालियो के अलावा इस शहर में बहुत बडी नालियाँ भी पायी गई हैं। ये नालियाँ ५ फीट गहरी और २॥ फीट चौडी हैं। इन नालियों का उद्देश्य वर्षा के पानी को शहर से बाहर फेंकना होता था। अक्सर देखा जाता है कि घोर वर्षा के समय बडे-बडे शहरों में भी वर्षा के पानी के बाहर निकलने की व्यवस्था न होने के कारण शहर में कमर तक का पानी इकट्ठा हो जाता है। ऐसे शहरों में ऐसी बडी-बडी नालियो का होना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब सिन्धु-सभ्यता के ये नगर बसे थे, उन दिनो यहाँ उतना सूखा नहीं था जितना अब है। उन दिनों यहाँ मूसलाधार वर्षा होती थी और इस वर्षा के पानी को शहर से बाहर फेंकने के लिए इन विशाल नालियो का निर्माण किया गया था।

(घ) नगर-स्नानागार—मोहनजोदडो की खुदाई में सडकों, भवनो तथा नालियो के अतिरिक्त एक विशाल स्नानागार निकला है जो १८० फीट लम्बा और १०८ फीट चौडा है। इसकी बाहर की दीवार ८ फीट मोटी है। इस विशाल-स्नानागर में कमरे हैं, और एक जलाशय है। इस जलाशय की लम्बाई ३९ फीट, चौडाई २३ फीट और गहराई ८ फीट है। इस जलाशय में स्नान के लिए उतरने के लिए पक्की ईंटों की सीढ़ियाँ हैं। जलाशय के पास एक कुआँ है जिसमें से पानी इस में भरा जाता था। इस जलाशय में नल भी लगे हुए हैं जिनके द्वारा पानी इसमें भरा तथा इसमें से निकाला जाता था। अगर यह माना जाय कि मोहनजोदडो तथा हडप्पा नगर ईसा से ३,००० वर्ष पूर्व के हैं, तो भी आज ५,००० साल बीत जाने पर इस स्नानागार की दीवारों का जैसे-का-तैसा बना रहना भवन-निर्माण-कला का एक आश्चर्य है। इस स्नानागार के साथ गर्म पानी के हमाम भी हैं। यह कल्पना करना कि शहर के बाल-युवक-वृद्ध गर्मियो में इस जलाशय पर आकर आमोद-प्रमोद करते होंगे, एक सहज-कल्पना है।

(ङ) बाजार—प्रत्येक नगर में एक बाजार होता है, जो नगर-वासियों की दैनिक आवश्यकताओ को पूरा करता है। मोहनजोदडो तथा हडप्पा में सडकों के साथ ऐसी इमारतें मिली हैं जो दुकानो के सिवाय और कुछ नहीं हो सकतीं। इन दुकानों के साथ बडे-बडे गोदाम भी मिले हैं जिनमें व्यापारी लोग माल रखते थे।

(च) नगर की प्राकार——मोहनजोदडो हड़प्पा से कुछ छोटा ही नगर था, फिर भी यह एक वर्ग-मील के घेरे में बसा हुआ था। इस नगर के चारों तरफ इस की रक्षा के लिए एक प्राकार बनी हुई थी जिससे इस नगर का रूप एक किले का-सा था। इसी प्रकार की प्राकार हडप्पा में बनी हुई थी। प्राकार से घिरे इन नगरों में सहस्रों नर-नारी सुखपूर्वक नागरिक जीवन व्यतीत करते थे। हो सकता है, इन प्राकारों के वाहर अनेक गाँव हों जो इन नगर-निवासियों की आवश्यकताओं को पूर्ण करते हों और जैसे आजकल नगर तथा ग्राम का लेन-देन चलता है, वैसा ही लेन-देन इस सम्यता में भी चलता हो।

२ सिन्धु-सभ्यता का आर्थिक रूप

(क) कृषि तथा पशु-पालन——सिन्धु-सम्यता का युग कृषि तथा पशु-पालन का युग था। गेहू और जौं के कुछ चिह्न मोहनजोदडो तथा हडप्पा में मिले हैं जिससे कहा जा सकता है कि ये लोग अन्न खाते थे और उसे पैदा भी करते थे। दोनों जगह खजूर की गुठलियाँ भी मिली हैं इसलिए यह भी कहा जाता है कि वे लोग फलो के शौकीन थे। परन्तु इतने से यह नहीं कहा जा सकता कि वे शाकाहारी ही थे क्योंकि मृत-व्यक्तियों को गाडते हुए वे मछली-माँस आदि भी साथ रख देते थे क्योकि उस समय के जो पजर मिले है उनके साथ जानवरो की हड्डियाँ भी मिली हैं। इन हड्डियो को देख कर निश्चित रूप से यह कह देना कि वे मासाहारी थे, असगत है, क्योंकि किसी मानुषी पंजर के पास हड्डियों का होना यह सिद्ध नहीं करता कि जिस मनुष्य का पजर है उसने उस जानवर को खा ही लिया था। फिर भी इस वात का कोई प्रमाण नहीं है कि वे मांसाहारी नहीं थे। वहुत सभव है, वे उभयाहारी थे, शाक-पात और मास दोनो का वे सेवन करते थे। अन्न उत्पन्न करने के लिए वे कृषि अवश्य करते होंगे, परन्तु यह आश्चर्य की वात है कि सिन्धु-सम्यता में हल का कहीं पता नहीं चलता। हो सकता है, वे किसी अन्य साधन से कृषि करते हो। हडप्पा में अन्न के वड़े-वडे गोदाम पाये गये है। अन्न के इन गोदामों के पास ही अनाज पीसने का भी इन्तज़ाम दिखाई देता है। कृषि के साथ पशु-पालन भी उनकी आजीविका का एक अग था। इन स्थानों पर जो मोहरें मिली है उन पर गाय, भैंस की शक्लें वनी हुई है। इस का यही अर्थ हो सकता है कि इन जानवरों को वे एक महत्वपूर्ण स्थान देते थे। ऐसी हालत में यह कल्पना करना कि वे दूध-दही-मक्खन का इस्तेमाल करते थे, अयुक्त नहीं जान पडता। इस सम्यता के लोग गाय, वैल, भैंस के अतिरिक्त भेड, वकरी, सुअर, कुत्ते को भी पालते थे, घोड़े, गधे के भी अवशेष इस सम्यता में मिलते है, ऊँट के अवशेष नहीं मिलते।

(ख) वस्त्र-निर्माण——खाने के लिए अनाज और पहनने के लिए वस्त्र की जरूरत होती है। सिन्धु-सम्यता के लोग कृषि करते थे, अनाज पैदा करते थे। इस कृषि के साथ वे कपास भी पैदा करते थे और वस्त्र-निर्माण-कला से परिचित थे। मोहनजोदड़ो में चांदी के एक कलश पर एक सूती कपड़ा लिपटा

हुआ पाया गया है। इन अवशेषो में एक नग्न-स्त्री की मूर्ति मिली है जिसकी कमर के नीचे जांघो तक एक कपडा दिखाया गया है। इसी प्रकार इन अवशेषों में एक पुरुष की मूर्ति मिली है जिसने बॉयें कधे के ऊपर से ले जाकर दाहिनी कोख के नीचे से होता हुआ एक शाल ओढ रखा है, ठीक ऐसे जैसे शाल को हम आजकल ओढते हैं। मोहनजोदडो के भग्नावशेषों में सूत कातने के चर्खे बहुत-से घरों में मिले हैं। इस का यह अभिप्राय है कि चर्खा कातना उस समय का एक घरेलू व्यवसाय था और वस्त्र-निर्माण-कला का सिधु-घाटी के लोगो को ज्ञान था। वे सिर्फ सूती ही नहीं, अपितु ऊनी तथा रेशमी कपडो का भी निर्माण करते थे। सूती कपडा यहाँ का इतना प्रसिद्ध था कि प्राचीन ईराक में सूती कपडे को 'सिन्धु' नाम से पुकारा जाता था। ऐसा मालूम पडता है कि कपडे का व्यापार सिन्धु-घाटी के जुलाहे देश-विदेश से करते थे और यह व्यवसाय अत्यन्त उच्च हालत में था।

(ग) पात्र-निर्माण—सिन्धु-सभ्यता में वर्तनो को बनाने का व्यवसाय भी खूब चलता था। इस सभ्यता के प्राचीन खडहरो में मट्टी के अनेक वर्तन मिले हैं जो हाथ से वनाये न होकर कुम्हार के चाक पर वनाये गये हैं। ये वर्तन छोटे से लेकर बडे-बडे मटकों तक के हैं। इन पर अनेक तरह के चित्र अकित हैं। मट्टी के इन पके वर्तनो को किसी खास तरह की पालिश से चमकाया गया है। मट्टी के अतिरिक्त पत्थर तथा तांवे के भी अनेक वर्तन इन घाटियों में मिले हैं।

(घ) धातु का उपयोग—सिन्धु-सभ्यता के सोने के आभूषणो के विषय में एक लेखक ने लिखा है कि ये आभूषण वौंड स्ट्रीट के किसी आजकल के जौहरी की दुकान के प्रतीत होते हैं। अस्ल में, इस सभ्यता के समय पत्थर और मट्टी के स्थान में धातुओं का उपयोग होना शुरू हो गया था। सोने-चाँदी के आभूषण और तांवे तथा ब्रोंज के उपकरण वनने लगे थे। इन स्थानो की खुदाई में चांदी के तीन वर्तन मिले हैं। तांवे की ११ इच लम्बी एक कुल्हाडी और १६½ इच लम्बी तांवे की एक आरी मिली है। आरी का मिलना विशेष महत्व की वात है क्योंकि पश्चिम में आज से दो हजार साल पहले तक आरी का कोई निशान नहीं मिलता। इस सभ्यता में छेनी, चाकू, परसा, तलवार, कटार, वरछी, भाला—सव तांवे के वने मिले हैं। इन धातुओं के वने उपकरणों से यह स्वय-सिद्ध है कि सिन्धु-सभ्यता में सुनार, लुहार, जौहरी—सव व्यवसाय मौजूद थे और जहां ये व्यवसाय हो, उस प्रदेश के समृद्ध होने में क्या सन्देह हो सकता है?

(ङ) व्यापार—व्यापार की मुख्य वातें चार होती हैं—तोल, माप, आदान-प्रदान तथा मुद्रा। इन चारों की सत्ता सिन्धु-घाटी की सभ्यता में विद्यमान थी। तोल के लिए वाट वने हुए थे। ये वाट चौकोर तथा घन के आकार के हैं। तोलने के लिए तराजू का भी इस्तेमाल होता था क्योंकि तांवे की तराजू के अवशेष भी उपलब्ध हुए हैं। तोलने के वाट पहली इकाई से लेकर ६४० इकाई तक का वोझ तोल सकते थे। तोलने के अतिरिक्त मापने का पैमाना भी वना हुआ था। जैसे हमारे फुटे को १२ भागो में वांटा जाता है, वैसे इस पैमाने

को ९ भागो में बाँटा गया था। हडप्पा में एक छड़ मिली है जिसपर ये हिस्से अंकित हैं। जैसे हमारा फुट १२ इंच का है, वैसे इस समय का पैमाना १३.२ इंच का था। इस समय का एक और पैमाना भी मिला है जो २०.४ इंच का है। हो सकता है, सिंधु-सभ्यता में दो पैमाने चलते हो क्योंकि इस सभ्यता में बने मकान इन दोनो पैमानों में से किसी एक के साथ जरूर मेल खा जाते हैं। व्यापार के लिए तीसरी आवश्यक चीज आदान-प्रदान है, लेना-देना, अपने प्रदेश में लेना-देना और अपने प्रदेश से बाहर भी लेना-देना। इस सभ्यता के खडहरों में अनेक ऐसी वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं जो इस प्रदेश की नहीं हैं, जो बाहर के और दूर के प्रदेशों की हैं। वे वस्तुएँ यहाँ कैसे आयीं? अगर बाहर के प्रदेशों के साथ मोहनजोदड़ो और हडप्पा का व्यापारिक संबंध नहीं था, तो काफी दूर-दूर के इलाकों की वस्तुओं का इन नगरों में उपलब्ध होना एक समस्या बन जाता है। उदाहरणार्थ, सिन्धु की घाटी में सोना, चाँदी, ताँबा, काँसा नहीं मिलता। फिर इन धातुओं के बर्तन, आभूषण तथा उपकरण यहाँ कैसे आये? सीप, शंख, कौडी, यहाँ नहीं होती, फिर ये यहाँ कैसे आयीं? देवदार का पेड तो पहाडों में होता है, परन्तु फिर यहाँ के मकानो में देवदार के शहतीर कहाँ से आये? यह सब तभी संभव हो सकता है अगर माना जाय कि सिन्धु-सभ्यता के ये नगर बाहर के प्रदेशो के साथ व्यापारिक संबध में जुडे हुए थे, अपनी चीजें बाहर भेजते थे, बाहर की अपने यहाँ मँगवाते थे। बाहर के देशों के साथ यहाँ के लोगों का व्यापारिक संबंध था, यह उस मोहर से भी प्रकट होता है जिस पर जहाज का चित्र है। यह जहाज क्या यह नहीं सूचित करता कि यहाँ के निवासी नौ-विद्या से परिचित थे और समुद्र के मार्ग से देश-विदेश से माल लाते और बाहर अपना माल भेजते थे। व्यापार के लिए चौथी चीज मुद्रा है। इन नगरों में ५५० मुद्राएँ मिली हैं जिन पर बैल, गेंडा, हाथी, बारहसिंगा आदि के चित्र अंकित हैं। इन मोहरो पर कुछ उत्कीर्ण लेख भी हैं जिन्हें अब तक पढ़ा नहीं जा सका। ये मोहरें प्राय पत्थर, मट्टी तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग-बिरंगे पत्थरों की बनी हुई हैं। इन मोहरों द्वारा व्यापार-विनिमय होता था। विदेश के साथ व्यापार करने में भी इन मोहरों का प्रयोग होता होगा क्योंकि सुमेरिया में कुछ ऐसी मोहरें मिली हैं जो मोहन-जोदडो जैसी हैं और मोहनजोदडो में ऐसी मोहरें मिली हैं जो सुमेरिया जैसी हैं। इसी प्रकार ईरान के साथ भी यहाँ का व्यापारिक संबंध था क्योंकि ईरान में भी वैसी ही मोहरें मिली हैं जैसी मोहनजोदडो की हैं।

३. सिन्धु-सभ्यता का सामाजिक रूप

(क) सामाजिक-संगठन—सामाजिक-जीवन पर विचार करते हुए सब से पहली बात जो सामने आती है वह यह कि उस समाज के लोग मिल-जुल कर रहते थे या नहीं। सिन्धु-सभ्यता की जिस रूप-रेखा का हमने ऊपर उल्लेख किया है उससे स्पष्ट है कि वे लोग एक सामाजिक-संगठन में बंधे हुए थे। तभी तो सारा-का-सारा नगर एक निश्चित योजना का ही क्रियात्मक रूप दीखता है। जब

तक सभी नगर-निवासी इस योजना पर मिलकर चलने के लिए तय्यार न हो, तब-तक सम्पूर्ण चित्र में एकपने की झलक नहीं आ सकती। ऊपर जिस स्नानागार का वर्णन हम कर आये है वह भी इस बात का प्रमाण है कि इन नगरो के निवासी समय-समय पर मिलते थे, एक-साथ उठते-बैठते और स्नान करते थे, एक साथ तैरते थे। जब ये लोग स्नान के समय इकट्ठे होते होंगे तब नगर की सब समस्याओं की चर्चा होती होगी। सब लोग अपनी-अपनी टीका-टिप्पणी करते होंगे। जहाँ सब के मिलने-जुलने की सुविधा हो, वहाँ सामाजिक-सगठन का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है।

(ख) आमोद-प्रमोद——आमोद-प्रमोद किसी भी सामाजिक-सगठन का महत्वपूर्ण अग होता है। सिन्धु-सभ्यता के लोगो में आमोद-प्रमोद की मात्रा पर्याप्त रूप में पायी जाती थी। इन नगरो में बच्चो के खेलने के लिए छोटी-छोटी बैल-गाडियाँ मिली है जिनमें बैल जुते हुए तथा पहिये लगे हुए है। बच्चे स्वयं भी कई खिलौने बनाते थे क्योंकि उन पर बच्चों की अगुलियों के निशान पाये जाते है। अन्य प्रकार के पशुओ तथा बन्दरो के खिलौने भी इन अवशेषों में प्राप्त हुए है। बच्चों के खिलौनों के अलावा बड़ों के खेलने के लिए पासे भी मिले हैं। पासे मट्टी, पत्थर तथा हाथी-दांत के भी पाये गये है। नृत्य-कला का भी यहाँ के निवासियों को शौक था। हम वस्त्र-निर्माण पर लिखते हुए कह आये हैं कि इन अवशेषों में एक नग्न-स्त्री की मूर्ति मिली है। यह स्त्री एक नर्तकी मालूम देती है। नर्तकी की मूर्ति का अर्थ यही हो सकता है कि यहाँ के लोगों को नाचने-गाने से दिलचस्पी थी। तबले, ढोल की आकृतियाँ भी अनेक स्थानों पर उत्कीर्ण मिली है——ये भी सिन्धु-सभ्यता के लोगो की आमोद-प्रियता की सूचक है। पुरुष तथा स्त्री बालों को सवारने के लिए हाथी-दांत के बने कघे का प्रयोग करते थे। कंघे के साथ दर्पण का होना भी आवश्यक है, सो तांबे के बने दर्पण भी अवशेषो में प्राप्त हुए है।

(ग) आभूषण——शृगार की वस्तुओं के साथ आभूषणों का आ जाना स्वाभाविक है। सिन्धु-सभ्यता में स्त्री-पुरुष दोनों आभूषण पहनते थे। यहाँ के अवशेषों में आभूषण बहुत अच्छी सख्या में प्राप्त हुए है। हड़प्पा में एक कलश फर्श से ८ फीट नीचे गडा मिला है जिसमें आभूषण भरे हुए थे। इस कलश में ५०९ छोटे-बडे आभूषण थे। सभवत किसी ने सुरक्षा के लिए इन आभूषणो को जमीन में गाड दिया था, आजकल भी तो गाँव के लोग चूल्हे के नीचे बहुत-कुछ गाड रखते है। उस समय के स्त्रियो के आभूषणों में हार, बाजू-बन्द, झुमके, कर्णफूल, नथ आदि प्रमुख थे। गरीब आदमी तांबे, हड्डी आदि के तथा अमीर सोने, चांदी, हाथी दांत के आभूषण पहनते थे। आभूषणों का इस प्रकार बहुतायत से पाया जाना उस समय की सामाजिक-अवस्था का द्योतक है। जो लोग आभूषण पहनते हों वे मकान को भिन्न-भिन्न अलकारों से जरूर सजाते

उत्पत्ति हो। इस दृष्टि से सभव है कि ससार के सव प्रदेशों में नग्न-स्त्री की मूर्ति वनाना शुरू हुआ हो और ये मूर्तियां उसी भावना की प्रतीक हो। नग्न-स्त्री के अतिरिक्त इन अवशेषों में नग्न-पुरुष की मूर्तियां भी मिलती हैं। यह हो सकता है कि इस सभ्यता के लोग नग्न-स्त्री के साथ-साथ नग्न-पुरुष की भी उत्पादक-शक्ति के तौर पर पूजा करते हों। नग्न स्त्री-पुरुष की पूजा का अवशेष अव भी शिवलिंग की पूजा के तौर पर हिन्दू-धर्म में पाया जाता है। यह प्रचलन किसी अश्लील-भावना से नहीं हुआ, प्रकृति में प्रजनन एक ऐसी चमत्कारिक-घटना है कि उस की पूजा के विना प्राचीन-मानव आत्म-सन्तोष नहीं कर सका, इसलिए उसने इनकी प्रतिमाएँ वनानी शुरू कर दीं।

(घ) पीपल की पूजा—हिन्दुओ में पीपल एक पवित्र वृक्ष माना जाता है। भगत लोग इस की जड में पानी देते हैं। पीपल के वृक्ष को काटने के लिए हिन्दू तय्यार नहीं होते। सिन्धु-सभ्यता में अनेक मुद्राओं पर पीपल का चित्र अकित है। पीपल की पूजा तुलसी की पूजा के समान है। इस पूजा के दो कारण हो सकते हैं। एक तो उस वृक्ष के अपने गुण के कारण उसकी पूजा, दूसरा उस वृक्ष में निवास करने वाले देवता के कारण उसकी पूजा। मोहनजोदडो में एक मोहर पर पीपल की दो डालो में एक देवता का चित्र अकित है जिससे यह अभिप्राय निकाला जाता है कि पीपल को अपने गुण तथा इसके देवता के निवास के अधिष्ठान होने के कारण इसकी पूजा की जाती थी। वृक्ष की पूजा प्राचीन धर्मों में अक्सर पायी जाती है। वौद्ध लोग भी वोधि-वृक्ष की पूजा करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु-सभ्यता की पीपल की पूजा ही आगे चल कर हिन्दु-धर्म में इस वृक्ष की पूजा का रूप धारण कर गई।

(ङ) पशु-पूजा—हिन्दू-धर्म में अनेक देवताओं के वाहन पशु माने गये हैं। गणेश का चूहा, शकर का नन्दी वैल, यम का भैसा, दुर्गा का सिंह वाहन है। सिन्धु-सभ्यता में पशुओं की कुछ ऐसी मूर्तियां मिली हैं जिन से प्रतीत होता है कि वे पशुओ में देवत्व की आराधना करते थे। एक चित्र में शरीर का कुछ भाग वैल का, कुछ वकरे का और मुख मनुष्य का है। सभव है कि हिन्दु-धर्म में भिन्न-भिन्न देवताओं के वाहन के रूप में गाय-वैल की जो पूजा चल पडी, उसका उद्गम स्थान सिन्धु-सभ्यता हो।

५ सिन्धु-सभ्यता का राजनैतिक रूप

हम पहले लिख आये हैं कि मोहनजोदडो तथा हडप्पा में लगभग ३५० मील का अन्तर है। यह सभ्यता हजारों वर्गमील क्षेत्र में फल-फूल रही थी। इस सारे क्षेत्र में एक-से माप-तोल, एक-सी ईंटें, एक-से भवन-निर्माण तथा एक-से नगर-निर्माण की योजना चल रही थी। क्या इतनी एकता विना किसी राज-नैतिक एक सगठन के सभव थी? इतने विशाल-क्षेत्र में इस प्रकार की एकता के लक्षण सिद्ध करते हैं कि सिन्धु-सभ्यता कोई ऐसी-वैसी सभ्यता नहीं थी, यह एक

विशाल साम्राज्य था। सिन्व, पजाव, विलोचिस्तान, काठियावाड़ तक फैली हुई यह सभ्यता एक साम्राज्य के सिवाय क्या हो सकती थी? इस में सन्देह नहीं कि इस विशाल-साम्राज्य के सवध में हमें विशेष रूप से कुछ पता नहीं चलता, परन्तु यह सभव है कि मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा इस साम्राज्य की दो राजधानियाँ थीं जिन को केन्द्र वना कर दोनों क्षेत्रो में शासन-व्यवस्था की जा रही थी।

६ सिन्धु-सभ्यता में कला का स्थान

कला के सवंध में विचार करते हुए ज्ञात होता है कि सिन्धु-सभ्यता में भवन-निर्माण-कला, मूर्ति-कला, मोहर-निर्माण-कला, नृत्य तथा सगीत-कला तथा लेखन-कला—सव मौजूद थीं। इन सव का स्थान-स्थान पर हम उल्लेख कर आये है फिर भी यहाँ उनका अलग-अलग उल्लेख कर देना भी असगत न होगा।

(क) भवन-निर्माण-कला—भवनों के निर्माण के सवंध में हम जो-कुछ लिख आये है उससे स्पष्ट है कि इस सभ्यता में उच्च-कोटि के ऐंजीनियर अवश्य रहे होंगे। २४२ फीट लम्बी और ११२ फीट चौडी इमारत मामूली इमारत नहीं कही जा सकती। इसके अतिरिक्त प्राय मकान दो-मजिले होते थे। छत वनाते हुए पहले शहतीरें डाली जाती थीं, उन पर वल्लियाँ जोडी जाती थीं, उन पर चटाइयाँ विछाई जाती थीं, उन पर मट्टी कूटी जाती थी। दुमजिले मकानों पर चढ़ने के लिए सीढ़ियो का प्रवन्ध था। मकानो को इस प्रकार वनाया जाता था जिससे वे अधिक-से-अधिक उपयोगी हो सकें। इस सव को देख कर यह कहा जा सकता है कि सिन्धु-सभ्यता के लोग भवन-निर्माण में निपुण थे।

(ख) मूर्ति-कला—मूर्ति-निर्माण का कार्य भी इस सभ्यता में कला का रूप धारण कर चुका था। मूर्तियों में एक नर्तकी की मूर्ति मिली है जो त्रिभंगी मुद्रा में पैर ऊपर उठा कर नर्तन का उपक्रम कर रही है। यूनानियो की मूर्तियाँ अगो की हृष्ट-पुष्टता को व्यक्त करती है, परन्तु सिन्धु-सभ्यता की मूर्तियाँ भाव को अभिव्यक्त करती है। यूनानी मूर्तियों को देख कर उनके अगों की प्रशंसा मुख से निकलती है, सिन्धु-सभ्यता की मूर्तियो को देख कर रसानुभूति होती है।

(ग) मोहर-निर्माण-कला—मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा में अनेक मोहरें मिली है जो मट्टी, पत्थर, धातु तथा हाथी दाँत की वनी है। ये मोहरें प्राय गोल है। इन पर भिन्न-भिन्न पशुओं के चित्र उत्कीर्ण है। ये मोहरें इतनी प्राप्त हुई है कि इन्हें भी उस काल की कला का नाम दिया जा सकता है।

(घ) नृत्य तथा सगीत-कला—इस कला के लोग नृत्य तथा संगीत के प्रेमी थे। एक नर्तकी की मूर्ति का वर्णन हम अभी कर आये है, इससे सिन्धु-सभ्यता के लोगों का नृत्य-प्रेम तो द्योतित होता ही है, साथ ही इन अवशेषों में छोटे-छोटे वाद्य-यंत्र भी उपलब्ध हुए हैं जिनसे सिन्धु-सभ्यता के लोगों का सगीत के

प्रति भी प्रेम प्रकट होता है। पक्षियो की आकृतियां इस प्रकार की वनाई गई हैं जिन की पूंछ से सीटी तथा बांसुरी की आवाज निकल सकती है। कहीं-कहीं तवले और ढोल के-से चित्र भी पाये गये हैं।

(ङ) लेखन-कला—सिन्धु-सभ्यता में मुद्राओ, ताम्र-पत्रो तथा मट्टी के बर्तनों पर कुछ लिखा मिला है जिसे अभी तक पढा नहीं जा सका। ईजिप्ट, सुमेर तथा सिन्धु-सभ्यता की लेखन-कला चित्र-लिपि में थी—ऐसा प्रतीत होता है। एक-एक चित्र किसी विशेष शब्द या वस्तु का सूचक था। इस प्रकार के ३९६ चिह्न ढूंढे गये हैं। लिपि के पडितो का कहना है कि जितने ये चिह्न कम होते है, उतनी ही सभ्यता विकसित समझी जाती है। सुमेर-सभ्यता में चित्र-लिपि के ९०० तथा किसी-किसी सभ्यता में २,००० तक चिह्न पाये गये हैं। कुछ विद्वानो का कहना है कि सिन्धु-सभ्यता की लिपि पहली पक्ति में दाहिने से बाईं को और दूसरी पक्ति में बॉयें से दाहिने को लिखी जाती थी।

७ सिन्धु-सभ्यता के प्रवर्तक

जब से सिन्धु-सभ्यता का पता चला है तब से यह प्रश्न विद्वानो को परेशान कर रहा है कि इस सभ्यता के प्रवर्तक कौन थे ? क्या यह सभ्यता यहाँ की आदिम सभ्यता थी या इस सभ्यता को लेकर बाहर से कोई लोग आये थे और अपनी सभ्यता को लेकर यहाँ वस गये थे। इस सवध में मुख्य तौर पर दो विचार हैं। एक विचार तो यह है कि यह सभ्यता यहीं की सिन्धु नदी की सभ्यता थी, यहीं उपजी थी, दूसरा विचार यह है कि यह सभ्यता बाहर से आयी थी।

(क) यह सभ्यता यही की थी—जो लोग इस सभ्यता को इसी देश की और सिन्धु नदी की ही उपज मानते हैं उनका कहना है कि ससार में जितनी वड़ी-वडी प्रसिद्ध सभ्यताएँ हैं उनका उद्भव-स्थान कोई-न-कोई विशाल नदी रही है। नील नदी ने मिश्र की सभ्यता को जन्म दिया, दजला-फरात नदियो ने सुमेरिया तथा बेबीलोन की सभ्यता को जन्म दिया, याग-टीसीक्याग तथा ह्वागहो नदियो ने चीन की सभ्यता को जन्म दिया, इसी प्रकार सिन्ध नदी ने मोहनजोदडो तथा हडप्पा की सभ्यता को जन्म दिया। नदी के किनारे प्रकृति के हरे-भरे खेत, नदी के पार प्रदेशों को देखने की भावना मनुष्य के मन को हिलोर देती है और मनुष्य एक सभ्यता को जन्म देता है। प्रकृति के इसी प्रभाव ने सिन्धु-सभ्यता को भी जन्म दिया।

इस सभ्यता का स्रोत बाहर की कोई सभ्यता है, सिन्धु-देश में ही इस सभ्यता ने जन्म नहीं लिया—यह तभी कहा जा सकता है जब इस सभ्यता की अन्य देशों की सभ्यताओं से समानता हो। यह समानता बाहर से आयी होगी—ऐसा कहा जा सकता है। सिन्धु-सभ्यता की लिपि ईजिप्ट की लिपि से इस बात में समान है कि दोनों की लिपियाँ चित्रों में लिखी गई हैं। परन्तु इस समानता से यह सिद्ध नहीं होता कि सिन्धु-सभ्यता बाहर से आयी है क्योंकि यद्यपि ईजिप्ट,

सुमेर तथा सिन्धु में चित्र-लिपि थी, तो भी इन की चित्र-लिपि एक नहीं थी, हरेक देश की चित्र-लिपि अलग-अलग थी। इस विचार परंपरा से कुछ विद्वानो का यही कहना है कि यह सभ्यता सिन्धु-देश की ही उपज थी, बाहर से नहीं आयी थी।

(ख) यह सभ्यता बाहर से आयी थी—इसके विपरीत एक दूसरी विचार-धारा है। इस विचार-धारा के समर्थकों का कहना है कि मोहनजोदड़ो तथा हडप्पा में भिन्न-भिन्न नस्लो के अस्थि-पंजर पाये गये हैं। कर्नल स्युअल तथा डॉ० गुहा का कथन है कि इस सभ्यता के अस्थि-पजर चार नस्लो की सत्ता को सिद्ध करते हैं—आस्ट्रेलॉयड, भूमध्यसागरीय, मंगोलियन तथा एलपाइन। मंगोलियन तथा एलपाइन नस्लों का केवल एक-एक कपाल इन स्थानो में मिला है, अधिक संख्या आस्ट्रेलॉयड तथा भूमध्यसागरीय कपालों की है। इनमें भी प्रधानता भूमध्यसागरीय कपालों की है। यह भूमध्यसागरीय नस्ल भूमध्य-सागर के तटवर्ती प्रदेशो तथा पश्चिमी-एशिया में निवास करती थी। इस नस्ल का दूसरा नाम आईबेरियन भी है। विद्वानों का कथन है कि संसार की प्राचीनतम सभ्यता का विकास इसी भूमध्यसागरीय अर्थात् आईबेरियन नस्ल ने किया। दक्षिण-भारत में जिन्हें हम द्राविड कहते हैं, वे यही भूमध्यसागरीय या आईबेरियन लोग थे और इन्हीं द्राविडों ने (अर्थात् भूमध्यसागरीय या आईबेरियन नस्ल के लोगों ने) सिन्धु-सभ्यता को जन्म दिया। इस विचार के मानने वालों का कहना है कि जब आर्य लोग भारत में आये तब यहाँ, पश्चिमी-एशिया से आये भूमध्यसागरीय लोगों द्वारा पालित-पोषित सिन्धु-सभ्यता, जिसे हम द्राविड-सभ्यता भी कह सकते हैं, फल-फूल रही थी। आर्यों ने इस द्राविड-सभ्यता के साथ युद्ध किया, इन्हें पीछे धकेल दिया और ये लोग आर्यो की मार खाकर दक्षिण-भारत की तरफ भाग खडे हुए और वहीं जा बसे। इन द्राविड़ों के सम्पर्क में भी आर्य आये और कुछ बातें आर्यों ने द्राविडो से लीं, कुछ द्राविड़ों को दीं, परन्तु ये दोनो एक-दूसरे को पचा नहीं सके। आर्यो तथा सिन्धु-सभ्यता के इन द्राविड़ो में जो आये-दिन लडाई हुआ करती थी उसी के कारण आर्य लोग इन लोगों को 'दास' या 'दस्यु' कहा करते थे। यह सब-कुछ कल्पनाओ की दौड है, इसमें सत्य क्या है—यह नहीं कहा जा सकता।

८ सिन्धु-सभ्यता का काल

सिन्धु-सभ्यता का काल आज से ५,००० वर्ष से भी पूर्व का माना जाता है। ईस्वी सन् से ३२५० से २७५० पूर्व तक का समय सिन्धु-सभ्यता का था। सिन्धु-सभ्यता के एक-दूसरे के बाद सात स्तर मिले हैं जिससे अनुमान किया जाता है कि सिन्धु-घाटी के नगर सात बार बसे और सात बार उजड गये। इसीलिए शायद मोहनजोदडो का अर्थ है—'मुर्दो का प्रदेश'। इन सात स्तरों में से एक-एक स्तर के लिए अगर पाँच-पाँच सौ वर्ष का समय निर्धारित किया जाय, तो भी इस सभ्यता का समय काफी दूर पहुँच जाता है। सिन्धु-सभ्यता का विनाश बाहर के हमलो द्वारा हुआ जान पडता है। यह इसलिए कि इस सभ्यता के सब से

ऊपरले स्तर का जो काल है, प्राय उसी काल में ससार के भिन्न-भिन्न देशो की सम्यताओं को नष्ट करने के हमले शुरू हो गये थे। ये हमले आर्य-जाति की भिन्न-भिन्न शाखाओं ने ससार के भिन्न-भिन्न प्रदेशो में करने शरू किये थे। इन हमलो द्वारा ग्रीक, लैटिन आदि प्राचीन आर्य-जातियो ने युरोप की भूमध्यसागरीय आईबेरियन-सम्यता का नाश किया था, इन हमलो द्वारा हिटाइट (हत्ती), मिटाइट (मित्ती) आदि प्राचीन आर्य-जातियों ने पश्चिमी-एशिया की आदिम सम्यता का विनाश किया था, और सभव है, इन्हीं हमलों द्वारा भारत में आर्य जाति की एक शाखा ने आकर भूमध्यसागरीय द्राविड सम्यता का उन्मूलन कर दिया। भूमध्यसागरीय जातियों की सम्यता का नाश करने वाले आर्य-जाति की शाखाओं के ये हमले ससार के भिन्न-भिन्न स्थानो में २,००० ई० पू० में शुरू हो गये थे इसलिए सिन्धु-सम्यता का ध्वस-काल २,००० ई० पू० के लगभग माना जाता है। ध्वस होने से पहले इस सम्यता को विकसित होने और पनपने में भी एक हजार के लगभग वर्ष लगे होंगे क्योंकि सम्यता का विकास जितनी ही तेज गति से आजकल होता है, उतनी ही धीमी गति से प्रागैतिहासिक काल में होता था। इसके अतिरिक्त सिन्धु-सम्यता इतनी विकसित सम्यता दीख पडती है कि उसके पनपने में एक हजार साल लग गये हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। ईस्वी सन् से दो हजार साल पहले नष्ट हुई, एक हजार साल विकसित होने में लगा, तो तीन हजार ई० पू० के लगभग उसका श्रीगणेश होना स्वत सिद्ध हो गया।

९. सिन्धु-सभ्यता से पहले की सभ्यता के अवशेष

सिन्धु-सम्यता से भी पूर्व कोई और सम्यता इस देश में पनप रही थी—इसका भी कुछ आभास होने लगा है। पाकिस्तान में अब हडप्पा से भी प्राचीन-काल के अवशेष उपलब्ध हुए हैं। पाक-पुरातत्व-विभाग द्वारा हाल में भूतपूर्व सिंध प्रात में की गई खुदाई से प्राप्त बर्तनों को देखने से मालूम हुआ है कि सिंधु-घाटी में हडप्पा से मिलती-जुलती लेकिन उससे प्राचीन सस्कृति का विकास हुआ था। यह प्राचीन सम्यता लगभग सात शताब्दी तक कायम रही।

पाक-पुरातत्व-विभाग के अधिकारी डा० एफ० ए० खां ने उस समय सिंधु-घाटी में बसे लोगों को 'कोटोडीजियन' बताया है। उन्होंने कहा है कि ऐसा मालूम होता है कि उस समय के नगरों और किलों की नकल हडप्पा और मोहन-जोदडो काल के लोगों ने की। प्राप्त बर्तनों, पत्थर के औजारों और कासे के तीर देखने से मालूम होता है कि उस समय बडे कुशल कारीगर थे। खुदाई में मिले एक विशाल दुर्ग को देखने से मालूम होता है कि उस समय समाज बडा सगठित और समृद्धिशाली था।

९

संसार की जीवित प्रजातियां

(LIVING RACES OF THE WORLD)

प्रागैतिहासिक-काल के मानव का अध्ययन करते हुए हम कई प्रकार के मानवों का वर्णन कर आये हैं। कहीं पिथैकैन्थ्रोपस का, कहीं पेकिंग और पिल्टडाउन मानव का, कहीं हीडलवर्ग-मानव और कहीं नियेन्डरथल-मानव का। मानव-शास्त्रियों का कथन है कि ये सब आदि-मानव के भिन्न-भिन्न अवशेष हैं। इन में से किसी से वर्तमान-मानव का प्रारंभ हुआ है, जिसे 'मेधावी-मानव' (Homo Sapiens) कहा जाता है। इस 'मेधावी-मानव' से मनुष्य की कई शाखाएं फूटी हैं जिन में सफेद, पीले काले रंग के मानव हैं। इन सफेद, पीले, काले मानवों से हरेक से फिर आगे शाखाएँ फूटी हैं जो मानव की भिन्न-भिन्न नस्लें हैं, भिन्न-भिन्न प्रजातियां हैं। इन नस्लों अर्थात् प्रजातियों का आधार रुधिर है। एक रुधिर के लोग एक प्रजाति के और दूसरे रुधिर के लोग दूसरी प्रजाति के माने जाते हैं। जो लोग अपनी प्रजाति के रुधिर को श्रेष्ठ मानते हैं, वे दूसरे रुधिर वालों से विवाह-संबंध तथा मेल-जोल उचित नहीं समझते। उनका कहना है कि अपने से भिन्न रुधिर के व्यक्तियों में विवाह-संबंध से उनकी प्रजाति के गुण कम हो जायेंगे। प्रजाति के आधार पर श्रेष्ठता का विचार प्राय हर देश में पाया जाता है। युरोप में जर्मन लोग अपने को अन्य प्रजातियों से श्रेष्ठ मानते रहे। इसी विचार के आधार पर हिटलर का दावा था कि जर्मन जाति संसार पर राज्य करने के लिए ही पैदा हुई है। भारत में भी ब्राह्मण लोग अपने रुधिर को दूसरों से श्रेष्ठ मानते रहे, और अन्य जातियों के साथ विवाह-संबंध पर प्रतिबन्ध लगाते रहे। प्रजाति का विचार संसार के लिए एक जीवित-जागृत विचार है। इससे संसार में मनुष्य मनुष्य में दीवार खड़ी हुई है। इस विचार पर लोग वैज्ञानिक-दृष्टि से विचार नहीं करते, अटकलपच्चू अपनी-अपनी हांकते हैं। इसलिए यह जानना आवश्यक है कि प्रजाति का वैज्ञानिक पहलू क्या है। प्रजाति के वैज्ञानिक पहलू पर मानव-शास्त्र ने अध्ययन किया है। हम उसी की चर्चा इस अध्याय में करेंगे।

'प्रजाति'-शब्द हाल में अंग्रेजी के 'रेस'-शब्द के लिए घड़ा गया है। हम लोग प्राय 'जाति'-शब्द का प्रयोग करते रहे हैं। 'जाति'-शब्द और इसी तरह अंग्रेजी का 'रेस'-शब्द—ये दोनों इतने व्यापक तथा लचकीले रहे हैं कि इनका वैज्ञानिक रूप कुछ नहीं रहा। हम अंग्रेजों, फ्रांसीसियों तथा चीनियों के

लिए अंग्रेज-जाति, फ्रेंच-जाति, चीनी-जाति---इन शब्दों का प्रयोग करते रहे हैं। वास्तव में ये जातियां नहीं, एक भूखंड पर रहनेवाले लोग हैं। हम लैटिन-जाति, ग्रीक-जाति---इन शब्दों का प्रयोग करते रहे हैं। वास्तव में ये भी जातियां नहीं, एक भाषा बोलने वाले लोग हैं। हम मनुष्य-जाति, पशु-जाति---इन शब्दों का प्रयोग करते रहे हैं। वास्तव में ये भी जातियां नहीं, प्राणियों के भिन्न-भिन्न विभाग हैं। जिस विषय को हम स्पष्ट रूप से समझना चाहते हैं उसके लिए हमें 'जाति', 'प्रजाति', 'अभिजाति', 'प्रजातीय-गुण' तथा 'स्कन्ध'---इन पांच शब्दों के अर्थों को अलग-अलग समझना होगा, और 'प्रजाति' (नस्ल, रेस) के साथ मिलते-जुलते शब्द 'राष्ट्र' (कौम, नेशन) के भेद को भी अपने मन में स्पष्ट कर लेना होगा।

१ जाति, प्रजाति, अभिजाति, प्रजातीय-गुण तथा स्कन्ध (Species, Race, Breed, Strain, Stock)

हम इस विषय को वैज्ञानिक रूप देने के लिए जाति, प्रजाति, अभिजाति, प्रजातीय-गुण तथा स्कन्ध---इन पांचों शब्दों को भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त करेंगे जिससे विषय स्पष्ट हो जाय।

'प्राणी-शास्त्र' में प्राणियों के मुख्य तौर पर दो विभाग किये जाते हैं। एक तो शेर, कुत्ता, बिल्ली---यह विभाग है, दूसरा शारीरिक-रचना के भेद से शेरों में कई तरह के शेर, कुत्तों में कई तरह के कुत्ते, बिल्लियों में कई तरह की बिल्लियां हैं। शेर, कुत्ता, बिल्ली की तरह मनुष्य भी प्राणियों का एक विभाग है, और जैसे शेरों में कई तरह के शेर, और कुत्तों में कई तरह के कुत्ते हैं, वैसे मनुष्यों में भी शारीरिक-रचना के भेद से कई तरह के मनुष्य होते हैं। शेर को 'नस्ल' या 'प्रजाति' नहीं कहा जाता, उसे 'जाति' (Species) कहा जाता है, तरह-तरह के शेरों को शेर की 'नस्लें' या 'प्रजातियाँ' (Races) कहा जाता है। जिस 'नस्ल' या 'प्रजाति' का शेर हो, उस 'नस्ल' या 'प्रजाति' की शेरनी के साथ उसके संयोग से सन्तान हो सकती है; दूसरी 'नस्ल' या 'प्रजाति' की शेरनी के साथ संयोग से भी इस की सन्तान हो सकती है। यह सन्तान 'अभिजाति' (Breed) कहाती है। शुद्ध प्रजातियों के संयोग से शुद्ध तथा अमिश्रित-रुधिर की सन्तान होगी, जिसे 'शुद्ध-अभिजाति' (True breed) कहा जायगा, भिन्न-भिन्न प्रजातियों के संयोग से मिश्रित-रुधिर की सन्तान होगी, जिसे 'मिश्रित-अभिजाति' या 'संकर' (Mixed breed) कहा जायगा। इसी प्रकार 'मनुष्य' को 'नस्ल' या 'प्रजाति' नहीं कहा जाता, उसे 'जाति' कहा जाता है। 'मेघावी-मानव' (Homo Sapiens) शेर-कुत्ते-बिल्ली आदि प्राणि-वर्ग की तरह प्राणियों का एक वर्ग है, एक 'जाति' (Species) है, तरह-तरह के मनुष्यों को---अल्पाइन, नार्डिक, भूमध्यसागरीय---इन को 'प्रजाति' (Races) कहा जाता है। अल्पाइन का अल्पाइन से संयोग हो सकता है, नार्डिक से संयोग हो सकता है, भूमध्यसागरीय प्रजाति से भी संयोग हो सकता है। ये तीनों तो श्वेत-प्रजातियां

है, इन का काली प्रजातियो से भी सयोग हो सकता है। इस प्रकार के सयोग से जो सन्तान होगी वह 'अभिजाति' (Breed) कहायेगी। एक ही 'प्रजाति' की अपनी 'प्रजाति' में सयोग से जो सन्तान होगी वह 'शुद्ध-अभिजाति' (True breed) कहायेगी, दूसरी 'प्रजाति' में सयोग से जो सन्तान होगी वह 'मिश्रित-अभिजाति' (Mixed breed) कहायेगी। 'मिश्रित-अभिजाति' में दो प्रजातियों के गुण आ जाते है, एक ही 'प्रजाति' के गुण नहीं आते। इन गुणो को 'प्रजातीय-गुण' (Strains) कहते हैं। अग्रेज और नीग्रो के मेल से जो सन्तान होगी उस में कुछ अग्रेज के गुण आ जायेंगे, कुछ नीग्रो के। ये गुण 'प्रजातीय-गुण' (Strains) कहायेंगे। वर्तमान-युग में प्रजातियो का इतना सम्मिश्रण हो चुका है कि 'शुद्ध-अभिजाति' (True breed) तो कहीं मिलती ही नहीं, सभी जगह 'प्रजातीय-गुण' (Strains) मिलते है।

जाति, प्रजाति, अभिजाति तथा प्रजातीय-गुणों के अलावा 'स्कन्ध'-शब्द का अर्थ जान लेना भी आवश्यक है। मनुष्य एक 'जाति' (Species) है, आज 'प्रजातियाँ' (Races) हजारों मौजूद है। 'जाति' से एकदम तो 'प्रजातियाँ' नहीं पैदा हो गई। जैसे वृक्ष का एक बडा तना होता है, उससे दो या तीन तने निकलते है, और इन तनो से बीसियो-पचासो टहनियाँ निकलती है, इसी प्रकार 'मनुष्य-जाति' तो पहला तना है। इससे शुरू-शुरू में तीन-चार तने और फूटे जिनमें से हरेक से 'प्रजातियों' (Races) के रूप में सैकड़ो टहनियाँ निकल पड़ीं। ये तीन चार तने मानव-शास्त्र की परिभाषा में 'स्कन्ध' (Stocks) कहाते हैं। मानव-जाति से मानव-स्कन्ध फूटे। ये 'स्कन्ध' चार कहे जाते हैं—सफेद-स्कन्ध, काला-स्कन्ध, पीला-स्कन्ध तथा आस्ट्रेलॉयड-स्कन्ध। एक-एक 'स्कन्ध' से 'प्रजातियाँ' फूटीं। सफेद-स्कन्ध से अलपाइन, नार्डिक तथा भूमध्यसागरीय; काले-स्कन्ध से नीग्रो, नीग्रिटो तथा बुशमैन, पीले-स्कन्ध से मगोल, इन्डो-अमरीकन तथा पोलीनेशियन। इस प्रकार आदि-मानव-जाति से भिन्न-भिन्न स्कन्धों द्वारा प्रजातियो, अभिजातियों तथा प्रजातीय-गुणों का विकास होता गया।

२. प्रजाति की व्याख्या

भिन्न-भिन्न लेखकों ने 'प्रजाति'-शब्द की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की है जिनमें से कुछ निम्न है :—

[क] क्रोबर की व्याख्या—"प्रजाति एक प्राणि-शास्त्रीय विचार है। प्रजाति एक ऐसा समूह है जो वशानुसक्रमण द्वारा बंधा हुआ है। इसका पैदाइश से, वाहक-तत्वों से या उप-जाति से सबध है।"

[क] "A race is a valid biological concept. It is a group united by heredity, a breed or genetic strain or sub-species "—*Kroeber*

[ख] बीसेंज तथा बीसेंज की व्याख्या—"प्रजाति एक ऐसा बड़ा समूह है जिस में पैदाइश से ही कुछ शारीरिक लक्षण दूसरो से भिन्न प्रकार के पाये जाते हैं।"

[ग] हौबेल की व्याख्या—"प्रजाति उस प्राणि-शास्त्रीय समूह को कहते हैं जिसमें आपस में सयोग से सन्तानोत्पत्ति होती है, जिस के शारीरिक लक्षण दूसरों से भिन्न होते हैं। ये भिन्न शारीरिक लक्षण एक पीढी से दूसरी पीढ़ी में शुद्ध रूप में पाये जाते हैं, मिश्रित रूप में नहीं।"

[घ] एटेबरी की व्याख्या—"प्राणि-शास्त्र की परिभाषा में 'प्रजाति' व्यक्तियों के उस समूह का नाम है जिनके शारीरिक गुण माता-पिता द्वारा वश-परपरा से एक-समान चले आते हैं और इन शारीरिक गुणो से हम उन्हें दूसरी 'प्रजाति' के व्यक्तियों से पृथक् पहचान सकते हैं।"

'प्रजाति' की ऊपर जो व्याख्याएँ दी गई हैं उनसे यह स्पष्ट है कि 'प्रजाति' को समझने के लिए हमें यह समझना होगा कि वश-परपरा के किन तत्वों के कारण एक प्रजाति दूसरे से भिन्न हो जाती है। इसके साथ ही हमें यह भी समझना होगा कि एक प्रजाति को दूसरी प्रजाति से भिन्न करने वाले शारीरिक गुण कौन-से हैं। एक प्रजाति दूसरी प्रजाति से किन तत्वों द्वारा भिन्न होती है—यह 'वश-परपरा' (Heredity) को समझने का विषय है, एक प्रजाति के शारीरिक गुण दूसरी प्रजाति के शारीरिक गुणो से किस प्रकार भिन्न होते हैं—यह 'भौतिक मानव-शास्त्र' (Physical Anthropology) का विषय है। हम पहले 'वश-परपरा' द्वारा और फिर 'भौतिक मानव-शास्त्र' द्वारा प्रजाति-भेद पर प्रकाश डालेंगे।

३ वश-परपरा
(Heredity)

'वश-परपरा' के नियम द्वारा एक 'प्रजाति' के गुण पुत्र-पौत्र तथा आगे की सन्तति में सक्रान्त होते रहते हैं। 'वशानुसक्रमण' का यह कौन-सा नियम है जिसके द्वारा ये गुण सक्रान्त होते है? यह तो सब जानते हैं कि सन्तान रज तथा वीर्य के मिलने से पैदा होती है। रज तथा वीर्य दोनों 'उत्पादक-कोष्ठ' (Generative cells) कहाते हैं। इन दोनों 'उत्पादक-कोष्ठों' (Generative cells)

[ख] "A race is a large group of people distinguished by inherited physical differences"—*Biesanz and Biesanz*

[ग] "A race is a biologically inbred group possessing a distinctive combination of physical traits that tend to breed true from generation to generation"—*Hoebel*

[घ] "A race, in the original biological sense of the word, is a group of people who possess a common set of hereditary physical characters which serve to distinguish them from other groups of people"—*Atteberry*

के बीच में एक कठोर गाँठ-सी होती है, जिसे 'न्यूक्लियस' (Nucleus) कहते है। इस 'न्यूक्लियस' में भी छोटे-छोटे रेशे-से, सूत्र-से होते हैं, जो रंगदार होने के कारण 'वर्ण-सूत्र' (Chromosomes) कहाते हैं। 'वर्ण-सूत्रों' की रचना अन्य छोटे-छोटे दानों से होती है जिन्हें 'वाहकाणु' (Genes) कहते हैं। यही 'वाहकाणु'—'जेनीज़'—गोरापन, कालापन, पीलापन, मोटा वाल, पतला वाल—गर्ज़ कि सब शारीरिक गुणो के 'वाहक' (Carriers या Factors) होते हैं। किसी 'प्रजाति' या 'नस्ल' में जो-जो भी उस नस्ल के विशेष गुण दिखाई देते हैं, वे इन 'जेनीज़' के कारण हैं। 'वर्ण-सूत्र' (Chromosomes) २४ माता के और २४ पिता के मिल कर ४८ बनते हैं। एक-एक 'वर्ण-सूत्र' में अनेक 'जेनीज़' होते हैं, और हर 'जेनी' की 'वर्ण-सूत्र' पर एक खास जगह होती है। इस जगह को 'स्थिति' (Loci) कहते हैं। माता तथा पिता के मिलकर 'वर्ण-सूत्र' ४८ होते हैं, जिसका अर्थ यह है कि इनके २४ जोड़े होते हैं। जैसे 'वर्ण-सूत्र' के जोड़े होते हैं, वैसे 'जेनीज़' का भी 'वर्ण-सूत्रों' के प्रत्येक जोड़े पर 'स्थान' (Loci) होने से 'जेनीज़' के भी जोड़े होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि २४ जोड़ों अथवा ४८ 'वर्ण-सूत्रों' में एक ही तरह के दो-दो 'जेनीज़' होते हैं। इस प्रकार जैसे दो 'वर्ण-सूत्रों' का एक जोड़ा हुआ, वैसे ही उन पर के दो-दो 'जेनीज़' का भी एक जोड़ा हुआ। जेनीज़ के इस जोड़े को 'एल्लील्स' (Alleles) कहते हैं, और 'जेनीज़' के इस जोड़े में ही मोटा, पतला, गोरा, काला आदि गुण रहते हैं। अगर हम वर्ण-सूत्रों के जोड़े की बात करें तो २४ और अगर जोड़े की बात न कर सिर्फ वर्ण-सूत्रों की संख्या की बात करें तो ४८ वर्ण-सूत्रों में जोड़ेदार 'जेनीज़' के अत्यधिक स्थान होते हैं। अर्थात्, 'वर्ण-सूत्रों' के एक-एक जोड़े पर अनेकों 'जेनीज़' के जोड़ो के स्थान होते हैं। 'वर्ण-सूत्रों' पर 'जोड़ेदार जेनीज़' (एल्लील्स) के ये स्थान (Loci) कितने होते हैं—यह नहीं कहा जा सकता। इनकी सख्या ५,००० से १ लाख तक कही जाती है। 'जेनीज़' के 'वर्ण-सूत्रों' पर अगर एक लाख स्थान हैं, तो एक लाख के लगभग तो 'जेनीज के जोड़े' (एल्लील्स) होने ही चाहिएँ। कहने का अभिप्राय यह है कि माता-पिता के मिला कर ४८ 'वर्ण-सूत्रों' में अनगिनत 'जेनीज़' होते हैं, जो माता-पिता के, नस्ल के, प्रजाति के गुणो के 'वाहक' होते हैं। ये 'वाहकाणु', ये 'जेनीज़' ही वंश-परंपरा द्वारा प्राणी की शारीरिक-रचना को बनाते हैं। अगर कोई काला है तो इनके कारण, गोरा है तो इनके कारण, अगर किसी के बाल भेड के-से हैं तो इनके कारण, मुलायम हैं तो इनके कारण। 'प्रजाति' या 'नस्ल' को बनाने का काम 'वाहकाणुओं' (Genes) का ही है। जिनके 'वाहकाणु' एक तरह के हैं वे एक नस्ल के, जिनके दूसरी तरह के हैं वे दूसरी नस्ल के। परन्तु प्रश्न हो सकता है कि शुरू-शुरू में नस्ल का भेद कैसे हुआ, शुरू में तो मनुष्य एक ही 'जाति' (Species) का था। इस एक 'जाति' से अनेक 'स्कन्ध' (Stocks) कैसे बने, अनेक 'स्कन्ध' बन गये तो उनसे अनेक 'प्रजातियाँ' (Races) कैसे बनीं? इस प्रश्न का उत्तर विकासवाद देता है।

की एक प्रजाति उत्पन्न हो गई। इस प्रकार भूमडल के अनेक प्रदेशो में नई-नई प्रजातियों का निर्माण हुआ है।

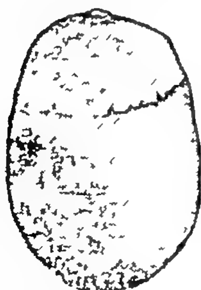
५ भौतिक मानव-शास्त्र (प्रजाति-भेद के शारीरिक आधार) (Physical Anthropology)

हम पहले कह आये हैं कि एक प्रजाति दूसरी प्रजाति से वश-परपरा तथा शारीरिक-गुणों के कारण भिन्न होती है। 'वश-परपरा' पर हम लिख चुके हैं। अब यह देखना है कि किन-किन शारीरिक-गुणों, शारीरिक-भेदो के कारण हम एक प्रजाति को दूसरी प्रजाति से भिन्न कहते हैं। प्रजातियो के शारीरिक-भेद जिनके आधार पर प्रजाति अर्थात् नस्ल का निर्णय किया जाता है—दो प्रकार के हैं। एक शारीरिक-भेद के निश्चित लक्षण, दूसरे शारीरिक-भेद के अनिश्चित-लक्षण।

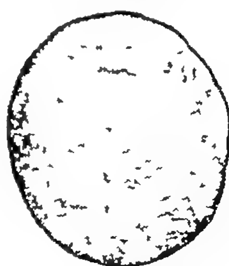
शारीरिक-भेद के निश्चित-लक्षण वे हैं जिन्हें नापा-तोला जा सकता है। खोपडी की लम्बाई-चौडाई, खोपडी का घनत्व, शरीर का कद, हाथ-पैर की लम्बाई, रक्त-समूह—ये सब ऐसी चीजें हैं जिन्हें नापा-तोला जा सकता है। इनके नापने के लिए भिन्न-भिन्न उपकरण बने हुए हैं। शरीर-भेद के अनिश्चित-लक्षण वे हैं जिन्हें नापा नहीं जा सकता। त्वचा तथा आंख का रग, बालो की विशेषता, पलकें, होंठ, जबडे—ये सब ऐसी चीजें हैं जिनमें प्रत्येक नस्ल की अपनी विशेषता तो होती है, परन्तु जिन्हें ठीक नाप-तोल में बैठाना कठिन होता है। हम पहले निश्चित लक्षणों का विवरण देंगे, फिर अनिश्चित लक्षणो का।

[शारीरिक-भेद के निश्चित लक्षण]

(क) शीर्ष-देशना तथा कपाल-देशना (Cephalic-index and Cranial-index)—नस्लों के हिसाब से सिर की खोपडी के तीन प्रकार माने जाते हैं—'लम्बी', 'बीच-की' और 'चौडी'। लम्बी खोपडी 'डौलिको-सैफेलिक' ([1]Dolicho-cephalic), बीच-की खोपडी 'मेसो-सैफेलिक'



(क) लम्बी खोपडी



(ख) चौडी खोपडी

---

1 Dolicho-Cephalic=Greek *Dolichos*, long, *Kephale* (कपाल) the head

(Meso-cephalic) तथा चौड़ी-खोपडी 'ब्रैकी-सैफेलिक' (Brachy-cephalic) कहाती है। इन तीनों प्रकार के व्यक्तियो की शीर्ष-देशना निकाली जाती है। जीवित-व्यक्तियों की सिर की देशना को 'शीर्ष-देशना' (Cephalic-index) तथा मृत-व्यक्तियो की खोपड़ी की देशना को 'कापालिक-देशना' (Cranial-index) कहते है। 'शीर्ष-देशना' या 'कापालिक-देशना' निकालने का तरीका यह है कि खोपडी की चौडाई को खोपड़ी की लम्वाई से भाग देकर १०० से गुणा कर देते हैं। इस प्रकार खोपडी की चौडाई और लम्वाई का पारस्परिक अनुपात निकल आता है। सिर या खोपडी की लम्वाई और चौडाई के अनुपात में लम्वाई वडी होगी तो 'लम्व-कपाल', वरावर होगी तो 'मध्यम-कपाल', चौड़ाई वडी होगी तो वह 'चौडा-कपाल' कहायेगी। भिन्न-भिन्न नस्लों में खोपडी के भिन्न-भिन्न प्रकार है।

इस प्रकार हमने देखा कि 'शीर्ष-देशना' या 'कपाल-देशना' निकालने का फार्मूला निम्न है:

$$\frac{\text{सिर की चौडाई}}{\text{सिर की लम्वाई}} \times १०० = \text{शीर्ष-देशना या कपाल-देशना}$$

सिर की चौडाई और लम्वाई से हमारा क्या तात्पर्य है? एक कान के ऊपर से दूसरे कान के ऊपर तक सिर के ऊपर से जो माप होता है उसे सिर की चौडाई कहते हैं; माथे में नाक की सीध में दोनों भौं जहाँ मिलती हैं वहाँ एक गढ़ा-सा होता है, और खोपडी के पीछे जहाँ वाल समाप्त होते हैं उससे ऊपर एक उभार-सा होता है; इन दोनों विन्दुओं का खोपडी के ऊपर से जो माप होता है उसे सिर की लम्वाई कहते हैं।

(i) लम्व-कपाल ([1]Dolicho-cephalic)—यदि किसी व्यक्ति या किसी नस्ल की शीर्ष-देशना ७५ से कम है तो यह लम्व-कपाल कहायेगा। पश्चिमी-आफ्रीका की नीग्रो-जातियों की शीर्ष-देशना ७५ से कम पायी गई है, इसलिए उन्हें लम्व-कपाल का कहा जाता है। आज से १० हजार पहले की जो खोपडियाँ पायी गई हैं, वे लम्व-कपाल की हैं।

(ii) मध्यम-कपाल ([2]Meso-cephalic)—यदि किसी व्यक्ति या किसी नस्ल की शीर्ष-देशना ७५ से लेकर ७९.९ तक हो, तो उसे मध्यम-कपाल का कहा जाता है। युरोप के वीच की पूर्व-पश्चिम मेखला के लोग मध्यम-कपाल के हैं।

(iii) चौडा-कपाल ([3]Brachy-cephalic)—यदि किसी व्यक्ति

---

1 Dolicho-cephalic=Greek *Dolichos*, long, *Kepale* (कपाल) the head

2 Meso-cephalic=Greek *Mesos*, middle, *Kepale* (कपाल) the head

3. Brachy-cephalic=Greek *Brachys*, short, *Kepale* (कपाल) the head

पैरों तक की लम्बाई मापी जाती है। यह लम्बाई भिन्न-भिन्न नस्लों में भिन्न-भिन्न पायी गई है।

(च) रक्त-समूह (Blood Group)—रक्त के सबंध में अन्वेषण करने से पता चला है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियो का रक्त एक-दूसरे से मेल नहीं खाता। इसी प्रकार नस्लो का रक्त एक-दूसरी नस्ल से भिन्न होता है। अगर एक नस्ल का रक्त दूसरी नस्ल से भिन्न है, तो नस्लो का भेद तो अपने-आप पैदा हो गया। मानव-शास्त्री के लिए यह देखने की बात रह जाती है कि रक्त-भेद के कारण अगर हमने एक नस्ल को दूसरी नस्ल से अलग कर लिया, तो यह भेद शारीरिक-भेद के लक्षणो से भी मेल खाते हैं या नहीं? अगर शरीर के नाप आदि से एक व्यक्ति नीग्रो नस्ल का ठहरता है, तो रक्त के परीक्षण से भी उसे नीग्रो नस्ल का ही सिद्ध होना चाहिए। अगर ऐसा नहीं होता, तो रक्त की परीक्षा से नस्ल का निर्धारण व्यर्थ हो जाता है। इस दिशा में मानव-शास्त्री प्रयत्नशील हैं और 'रक्त-परीक्षा' द्वारा जो लोग नस्ल का निर्धारण करते हैं उनके प्रयत्नो को दिलचस्पी से देख रहे हैं। इस प्रकार 'रक्त-परीक्षा' से नस्ल का निर्धारण 'लसी-विद्या' (Serology) कहाता है। 'लसी-विद्या' इसलिए क्योंकि रक्त में जो पीला पानी का-सा द्रव भाग होता है उसे 'लस' कहते हैं, अंग्रेजी में इसे 'सीरम' (Serum) कहते हैं। इस लस से 'लसी-विद्या' (Serology) शब्द बन गया है।

१९०० में लैंडस्टीनर (Landsteiner) ने यह पता लगाया कि एक ही जाति के व्यक्तियों के रुधिर में भेद होता है। मनुष्य-मनुष्य तो सब एक 'जाति' (Species) के हैं, परन्तु हर मनुष्य का रुधिर एक-सा नहीं होता। रुधिर को परीक्षण नलिका में डाल कर रखने से कुछ देर के बाद उसके दो भाग हो जाते हैं। एक भाग तो पीले पानी का-सा हो जाता है, दूसरा रुधिर के कोष्ठों का लाल-लाल-सा रह जाता है। पीले पानी-के-से भाग को हिन्दी में 'लस' तथा अंग्रेजी में 'सीरम' (Serum) कहते हैं। अगर सब मनुष्यों का रुधिर एक-सा ही हो, तो इस 'सीरम' में किसी भी मनुष्य का रुधिर क्यो न डाल दिया जाय, यह 'सीरम' और 'रुधिर' आपस में घुल-मिल जाने चाहिएं। परन्तु ऐसा नहीं होता। कुछ व्यक्तियों का रुधिर तो इस 'सीरम' में पड कर घुल जाता है, कुछ का घुलने के स्थान में अलग होकर गोंद-सा बन जाता है, कुछ का न 'सीरम' में घुलता है, न गोंद-सा बनता है, परन्तु वैसे-का-वैसा, रुधिर-का-रुधिर बना रहता है। रुधिर के इन भेदो के कारण लैंडस्टीनर ने रुधिर के तीन भेद किये जिन्हें उसने A, B तथा O का नाम दिया। दो वर्ष बाद स्टरली तथा डेकैं-स्टेलो (Sturli and Decastello) ने रुधिर के एक चौथे प्रकार को AB —यह नाम दिया।

रुधिर के ये चार प्रकार क्यो होते हैं—यह एक समस्या थी। इस समस्या का समाधान यह दिया गया कि मनुष्य के उत्पादक-कोष्ठों में जो 'वाहकाणु' (Genes) होते हैं, वही रुधिर में ये चार प्रकार के भेद उत्पन्न कर देते हैं। इन

'वाहकाणुओं' के कारण ही किसी का रुधिर दूसरे व्यक्ति के 'सीरम' में घुल-मिल जाता है, किसी का जम जाता है, किसी का वैसे-का-वैसा पडा रहता है। अगर यह वात ठीक है, तव तो एक 'प्रजाति' को दूसरी 'प्रजाति' से भिन्न करने वाली एक वडी चीज़ हाथ में आ जाती है। 'वाहकाणु' भिन्न-भिन्न प्रजातियो के रुधिर में A, B, O, A B—ये गुण पैदा करते हैं, अर्थात् 'वाहकाणुओं' द्वारा रुधिर घुलता, जमता या वैसे-का-वैसा रहता है, और इसी भेद से प्रजातियाँ उत्पन्न हो जाती है। मानव मानव के रुधिर में इस प्रकार का भेद है, इसीलिए जव किसी को रुधिर-दान देना होता है, तो हर-किसी का रुधिर नहीं लिया जा सकता, रुधिर उसी का लिया जा सकता है जिसका रुधिर उस व्यक्ति के रुधिर के अनुरूप हो जिसकी रक्षा के लिए रुधिर दिया जा रहा है।

गवेषणा से पता चला है कि 'A' रक्त-समूह की युरोप में प्रधानता है, 'B' की एशिया में प्रधानता है, 'O' रुधिर की अमेरिकन इडियन्स में प्रधानता है। विद्वानो का कथन है कि आदि-मानव के रुधिर में पहले-पहल सिर्फ 'O' रुधिर था, 'A' वाद को पश्चिम में उत्पन्न हुआ और वहाँ से ससार के अन्य प्रदेशों में फैला। इसी प्रकार 'B' एशिया में पैदा हुआ और इसका प्रसार एशिया से युरोप की तरफ हुआ। भारत में 'B'-प्रधान रक्त है। 'O' से 'A' तथा वाद को 'B' कैसे पैदा हुआ—इस का उत्तर यह दिया जाता है कि विकास में 'आकस्मिक-परिवर्तन' (Mutation) की एक प्रक्रिया होती है जिसका वर्णन हम ऊपर कर आये है। इस 'आकस्मिक-परिवर्तन' के नियम से ही 'O' से अन्य रक्त-समूह प्रकट हुए।

मानव-शास्त्रियो को रक्त-समूह-परीक्षा में दिलचस्पी इसलिए है क्योंकि अन्य जितने भी उपाय वे प्रजाति-भेद के जानने के लिए प्रयोग में लाते है, उनमें निश्चितता कहने पर भी अनिश्चितता की मात्रा खटकती रहती है। अगर रक्त-समूह-परीक्षा द्वारा प्रजाति-भेद के जानने में निश्चितता आ जाय, तो उन्हें वहुत सहारा मिले।

हर नस्ल में अवतक इतना सम्मिश्रण हो चुका है कि ऊपर के चार रक्त-समूहों में से हर नस्ल में थोड़ी-अधिक मात्रा में हर रक्त का 'प्रजातीय-गुण' (Strain) मिलता है, फिर भी हर प्रजाति में अपने-अपने रक्त की प्रधानता रहती है। नीचे के चित्र से भिन्न-भिन्न प्रजातियो के रक्त-समूह का कुछ आभास हो जायगा। इसमें रक्त-समूह का प्रतिशत दिया गया है :—

रक्त-समूह	अमरीका के श्वेत	अमरीका के नीग्रो	अमरीकन इडियन	रूसी	चीनी
O	४५	४४ २	१००	३१.९	३४.२
A	४१	३० ३	×	३४ ४	३० ८
B	१०	२१ ८	×	२४.९	२७ ७
AB	४	३ ७	×	८ ८	७ ३

[शारीरिक-भेद के अनिश्चित लक्षण]

शारीरिक-भेद के अनिश्चित लक्षणों में त्वचा तथा आँख का रग, वालों की विशेषता, पलकें, होठ, जवडे—ये सव आ जाते है। निश्चित शारीरिक-लक्षणो के वाद अव हम सक्षेप से अनिश्चित शारीरिक-लक्षणो का वर्णन करेंगे :—

(क) त्वचा का रग (Pigmentation)—त्वचा के रग के तीन भेद है—'गोरा-रग' (Leucoderm[1]), 'पीला-रग' (Xanthoderm[2]) तथा 'काला-रग' (Melanoderm[3])। कॉकेशियन का गोरा, मगोल का पीला तथा नीग्रो का काला रग होता है, परन्तु हर नस्ल में रग की विविधता भी पायी जाती है। कई व्यक्ति जो अन्य शारीरिक लक्षणो के अनुसार कॉकेशियन है, रग में आफ्रीकन नीग्रो जैसे काले है। भूमध्य-रेखा पर के देशो में मनुष्य का काला रग न हो, तो वह वहाँ की जल-वायु को सहन न कर सके। गोरे रग वाले भूमध्य-रेखा के देशों में परेशान हो जाते है। इसलिए त्वचा का काला रग मनुष्य की रक्षा के लिए है, और किसी वात के लिए नहीं। काले रग से यह समझ लेना कि इस रग का व्यक्ति गोरे रंग से किसी प्रकार भी हीन होगा, ग़लत है। आफ्रीका का काला नीग्रो मानसिक स्तर में काले रग के वावजूद इतना ही ऊँचा है जितना उत्तरी युरोप का कोई भी व्यक्ति। इस दृष्टि से त्वचा का रग नस्ल या 'प्रजाति' का निर्धारण तो कर सकता है, मनुष्य के ऊँचा-नीचा होने का नहीं।

(ख) आख का रग तथा वनावट—कॉकेशियन नस्ल के आँख के तारे का रग नीला, हरा या भूरा होता है। दूसरी नस्लों के आँख के तारे का रग काला होता है। कॉकेशियन नस्ल के लोगों का वर्गीकरण करने के लिए आँख का रग सहायक है, क्योंकि इनकी आँख का रग भिन्न-भिन्न प्रकार का पाया जाता है। दूसरी नस्लों में प्राय सभी की आँख का रग एक-सा है, इसलिए उनके वर्गीकरण में इससे विशेष सहायता नहीं मिलती। यह उपाय सिर्फ जीवित व्यक्तियों के वर्गीकरण के काम में लाया जा सकता है, मृत के नहीं, इसलिए इस उपाय का क्षेत्र वहुत परिमित है। आँख की वनावट भी नस्लों के वर्गीकरण में सहायक है। मगोल नस्ल के लोगों की आँखें भौंहो की खाल से ढकी-सी होती है, वादाम की शक्ल की-सी पायी जाती है, दूसरों की नहीं।

(ग) वाल—मृत-व्यक्तियों के वाल देर तक नहीं टिकते, इसलिए वालो द्वारा वर्गीकरण भी जीवित-व्यक्तियों के वर्गीकरण में ही सहायक है। वालों पर वाहर के प्रभाव कम असर करते है इसलिए वालो का मानव-जाति के वर्गीकरण में प्रधान स्थान है। वाल तीन तरह के होते है—सीधे ([4]Leiotrichi),

---

1 Leucoderm=Greek *Leukos*, white, *Derma* (चर्म), skin
2 Xanthoderm=Greek *Xanthos*, yellow, *Derma* skin
3 Melanoderm=Greek *Melan* (मलिन), black, *Derma*, skin
4 Leiotrichi=Greek , *Leios*, smooth, *trichos*, hair

घुंघराले ([1]Cymotrichi या Frizzly) तथा ऊन की तरह गोल ([2]Ulotrichi या Frizzly)। इसी प्रकार बालों का रग भी कई प्रकार का होता है—काला, भूरा और कहीं-कहीं लाल। सीधे बाल कॉकेशियन, मंगोल तथा ऑस्ट्रेलॉयड में, घुंघराले कॉकेशियन, आयनूस, ऑस्ट्रेलॉयड, वेडॉयड, माक्रोनेशियन-पैलीनेशियन में, ऊनी बाल पिग्मी, नीग्रॉयड, मैलीनेशियन तथा ऑस्ट्रेलॉयड में पाये जाते हैं।

(घ) होठ—नीग्रो लोगों के होठ मोटे, आर्यों के पतले होते हैं—इस प्रकार होठों को भी नस्ल का एक विभेदक शारीरिक-लक्षण माना जाता है।

(ङ) जबडो का ढाचा—नीग्रो नस्ल में चौडे जबड़े पाये जाते हैं, मगोलियन नस्ल में कम चौडे, कॉकेशियन के साधारण जबडे होते हैं।

६ शारीरिक लक्षणो को मापने के यंत्र
(Anthropometric instruments)

ऊपर हमने प्रजाति के वर्गीकरण के लिए भिन्न-भिन्न नस्लो के भिन्न-भिन्न अगों को मापने का वर्णन किया। इस सब को मापने के लिए मानव-शास्त्रियों ने कई यन्त्र बना रखे हैं। उन यन्त्रों में से कुछ का वर्णन हम यहाँ करेंगे :—

(क) मानव-मापक यत्र (Anthropometer)—यह धातु की २०० सैंटीमीटर लम्बी एक छड होती है। यह शून्य से शुरू होती है, २०० सैंटीमीटर तक जाती है। इस के पचास-पचास सैंटीमीटर के चार बराबर-बराबर के टुकडे होते हैं, जिन्हें अलग भी किया जा सकता है, जोडा भी जा सकता है। हर-एक टुकडे पर सैंटीमीटर के अलावा मिलिमीटर के चिह्न भी लगे रहते हैं। छड के सिरे पर एक हत्था बना होता है जिसमें भिन्न-भिन्न शक्लों के माप के टुकडे लगाये जा सकते हैं जिन्हें मापने के लिए ऊपर-नीचे-तिरछा किया जा सकता है।

(ख) गोलाई-मापक दीर्घ परकार (Large sliding caliper)—यह ६० सैन्टीमीटर की एक लम्बी परकार होती है, जिस के द्वारा गोल वस्तु का भीतरी तथा बाहरी माप लिया जा सकता है।

(ग) गोलाई-मापक लघु परकार (Small sliding caliper)—यह २५ सैंटीमीटर की एक छोटी परकार होती है जिसके दोनो सिरे नोकदार होते हैं। यह चेहरे के भिन्न-भिन्न मापो को लेने के काम आती है।

(घ) फैलने वाला लघु परकार (Small spreading caliper)—यह परकार ३० सैंटीमीटर का होता है। इस परकार को उलट भी सकते हैं, स्थिर भी कर सकते हैं, सब तरफ घुमा-फिरा सकते हैं ताकि किसी अग को हर पहलू से मापा जा सके।

---

1 Cymotrichi=Greek *Kyma*, a wave, *trichos*, hair
2 Ulotrichi=Greek *Oulos*, Crisp or curly, *trichos*, hair

७. प्रजातियो का वर्गीकरण
(Race Classification)

मनुष्यों के भिन्न-भिन्न शारीरिक-लक्षणों का वर्णन हमने किया। इन लक्षणों में कहीं रग का भेद है, कहीं वालों का भेद है, कहीं खोपडी के आकार का भेद है। इन भेदो के आधार पर मानव-शास्त्रियो ने मनुष्यो की प्रजातियो का भिन्न-भिन्न वर्गीकरण किया है।

(क) वर्नियर का वर्गीकरण—सब से पहले १६८४ में फ्रासीसी यात्री बर्नियर (Bernier) ने मानव की प्रजातियों का वर्गीकरण किया था। उसने मानव को चार या पांच विभागो में बाँटा था। वे विभाग ये—(१) युरोप, जिसमें ईजिप्ट भी शामिल हैं, एशिया का वहुत-सा भाग जिसमें भारत भी शामिल है। ईजिप्ट तथा भारत को युरोप के साथ गिनते हुए उसने लिखा कि यद्यपि इन देशों में काले या तांवाई रग के लोग पाये जाते हैं, तो भी वे और युरोप के वासी एक ही नस्ल के हैं। इनका काला या तांवाई रग जल-वायु के कारण हो गया है। (२) आफ्रीका के वासी जिनका काला रग जल-वायु के कारण नहीं, परन्तु नस्ल के कारण है, मोटे होठ, चपटी नाक, तथा सिर के ऊनी वाल। (३) एशिया का वह भाग जो पहले वर्गीकरण में नहीं आया। इन का रग गोरा, चौडे कन्धे, चपटा चेहरा, बैठी हुई छोटी-सी नाक, लम्बी, गहरी, सूअर की-सी आँखें और दाढी के सिर्फ तीन वाल। (४) लैप लोग जो कद में छोटे, मोटी टांगें, वडे कन्धे, छोटी गर्दन तथा वहुत लम्बा रीछ का-सा चेहरा। (५) अमरीका तथा दक्षिणी-आफ्रीका के निवासी जो नीग्रो कोटि के नहीं है, जिन्हें होट्टनटौट या बुश-मैन (झाडीवासी) कहा जा सकता है। बर्नियर का वर्गीकरण अधिकतर त्वचा के रग पर आश्रित था।

(ख) लीनियस का वर्गीकरण—वर्नियर के वर्गीकरण के बाद १७३५ में लीनियस (Linnaeus) ने त्वचा के रग के आधार पर ही एक दूसरा वर्गीकरण किया जिसमें उस समय के ज्ञात चार महा-प्रदेशों के आधार पर (१) युरोप-वासी, (२) अमरीका-वासी, (३) एशिया-वासी तथा (४) आफीका-वासी—मानव-प्रजातियों को इन चार भागो में बाँटा।

(ग) ब्लुमैनबैंच या वर्गीकरण—इसके बाद ब्लुमैनबैंच (Blumenbach) ने वर्गीकरण किया जिसका आधार त्वचा के रग के साथ-साथ खोपडी की शक्ल भी थी। इसके वर्गीकरण में मानवों की पाँच प्रजातियां गिनी गईं—(१) कॉकेशियन, (२) मगोलियन, (३) यूथोपियन (ईजिप्ट की), (४) अमेरिकन तथा (५) मलायन। मलायन में ऑस्ट्रेलियन, पपाऊन तथा मलाया के वासी सम्मिलित थे।

प्रजातियों के वर्गीकरण में 'कॉकेशियन'-शब्द का प्रयोग पहले-पहल ब्लुमैनबैंच ने किया। कॉकेशियन प्रजाति में युरोप के निवासी, पश्चिमी-एशिया के निवासी तथा उत्तरी-आफ्रीका के निवासी सम्मिलित समझे जाते है। इन सव के

लिए 'कॉकेशियन'-शब्द के प्रयोग पर कई मानव-शास्त्रियो को आपत्ति रही, परन्तु अव यह शब्द इन सवके लिए प्रयुक्त होने लगा है। आपत्ति का कारण यह था कि इस शब्द के प्रयोग से ऐसी झलक-सी निकलती थी कि इन प्रजातियो का उत्पत्ति-स्थान कॉकेशिया जगह है। अस्ल में ब्लुमैनवैच ने इन प्रजातियों के लिए 'कॉकेशियन'-शब्द का प्रयोग इसलिए किया था क्योकि ये प्रजातियाँ अन्य प्रजातियों से सुन्दर हैं, और कॉकेशिया के स्त्री-पुरुष भी सुन्दर होते हैं। मानव-शास्त्रियो को इस शब्द से आपत्ति इसलिए थी क्योकि अगर कॉकेशिया के लोग सुन्दर होते हैं, तो इसका यह अर्थ तो नहीं हो सकता कि इन प्रजातियो का उत्पत्ति-स्थान भी वही था। अस्तु, जैसा हमने कहा, अब इस शब्द का इन प्रजातियों के लिए प्रयोग प्रचलन के कारण सर्व-सम्मत-सा हो गया है।

(घ) कुवियर का वर्गीकरण—इसके वाद कुवियर (Cuvier) के वर्गीकरण का नवर आता है। कुवियर ने मानव-जाति को तीन भागो में वाँटा है। उसका कथन है कि नूह के जल-विप्लव के वाद मानव खत्म हो गया था। जल-विप्लव के वाद नूह से ससार चला। नूह की तीन सन्तानें थीं—जैफट, शैम तथा हैम। जैफट से कॉकेशियन, शैम से मगोलियन तथा हैम से आफ्रीकन नस्लें पैदा हुईं। एक ही पूर्वज से भिन्न-भिन्न रगों की सन्तान कैसे पैदा हो गई—इसका कुवियर के पास कोई समाधान नहीं। वह इतना कहता है कि हैम के पुत्र कनान को नूह ने शाप दिया था, सभवत. इस शाप से हैम की सन्तान का रग काला हो गया और उसी से आफ्रीकावासी उत्पन्न हुए, दूसरो का रंग काला न हुआ।

(ङ) इसिडोर ज्यो फ्रे सेन्ट हिलेयर का वर्गीकरण—अवतक त्वचा के रग या खोपड़ी के परिमाण से नस्लों का विभाग होता रहा। १९वीं शताब्दी में नस्लो का वर्गीकरण वालों के आधार पर किया जाने लगा। १८२७ में वोरी डी सेंट विनसेंट ने तथा वाद को हक्सले ने नस्लों के वर्गीकरण के लिए वालों को दो भागों में वाँटा था—'सीधे-वाल' (Leiotrichi) तथा 'ऊन की तरह गोल घुँघराले वाल' (Ulotrichi या Frizzly)। इसके वाद १८६० में इसिडोर ज्योफ्रे सेंट हिलेयर (Isidore Geoffrey Saint-Hilaire) ने संसार की मुख्य-मुख्य चार नस्लों को वालों की भिन्न-भिन्न रचना के आधार पर १३ उप-प्रजातियो में वाँटा। इस विभाजन में उसने वालों के अलावा नाक, त्वचा का रंग, खोपडी का परिमाण तथा चेहरे की आकृति आदि का भी सहारा लिया।

(च) हक्सले का वर्गीकरण—१८७० में हक्सले (Huxley) ने मानव-जाति को चार प्रजातियों में वाँटा—(१) ऑस्ट्रेलॉयड, (२) नीग्रॉयड, (३) क्सैंयोक्रॉयिक तथा (४) मगोलॉयड। उसका कथन था कि क्सैंयोक्रॉयिक के ही किसी अन्य रक्त के सम्मिश्रण से कॉकेशियन-प्रजाति उत्पन्न हुई है।

(छ) हेकल का वर्गीकरण—हेकल (Haeckel) ने १८७९ में सिर्फ वालो के आधार पर नस्लों का चार में वर्गीकरण किया—(१) ऊनी

वाले, (२) भेड़ों के-से बाल वाले, (३) सीधे-सख़्त बाल वाले, (४) घुंघराले बाल वाले। इन में से पहले और दूसरे में कोई मौलिक भेद नहीं है।

(ज) टोपीनार्ड का वर्गीकरण—१८८५ में टोपीनार्ड (Topinard) ने नाक तथा रग के आधार पर मानव-प्रजातियों का वर्गीकरण किया—(१) सफेद रग तथा लम्बी नाक वाले, (२) पीला रग तथा चपटी नाक वाले, और (३) काला रग तथा चौडी नाक वाले।

(झ) इलियट स्मिथ का वर्गीकरण—इलियट स्मिथ (Elliot Smith) ने मानव-प्रजातियो को ६ प्रजातियों में बांटा है—(१) ऑस्ट्रेलियन, (२) नीग्रो, (३) मगोल, (४) नौरडिक, (५) एलपाइन तथा (६) मैडिटरेनियन। नौरडिक, एलपाइन तथा मैडिटरेनियन—इन तीनों के लिए एक नाम कॉकेशियन—यह है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्रजातियां चार ह—ऑस्ट्रेलियन, नीग्रो, मगोल, और कॉकेशियन, किन्तु कॉकेशियन के तीन भाग हैं—नौरडिक, एलपाइन तथा मैडिटरेनियन। कॉकेशियन की तीन शाखाओं में 'नौरडिक' को मुख्य कहा जाता है, और यही 'आर्य'-प्रजाति कहाती है।

८ मुख्य-मुख्य प्रजातियो का विवरण

प्रजातियों की सख्या किसी के मत में कुछ है, किसी के कुछ। हम इस समय सख्या को ध्यान में रखते हुए ससार की मुख्य-मुख्य प्रजातियां ११ मान कर उनकी जन-सख्या के हिसाब से उनका क्रम सामने रखते हुए नीचे इन ग्यारह प्रजातियों का विवरण दे रहे हैं—

१ कॉकेशॉयड (Caucasoid)
२. मगोलॉयड (Mongoloid)
३ आफ्रीकन नीग्रॉयड (African Negroid)
४. मेलेनेशियन (Melanesian)
५ माइक्रोनेशियन-पौलीनेशियन (Micronesian-Polynesian)
६ कोंगो या सेंट्रल आफ्रीकन पिग्मी (Congo or Central African Pygmy)
७ फार ईस्टर्न पिग्मी (Far Eastern Pygmy)
८ ऑस्ट्रॉलॉयड (Australoid)
९ बुशमैन-हौट्टेनटौट (Bushmen-Hottentot)
१० अयनू (Ainu)
११ वेडॉयड (Veddoid)

(१) कॉकेशॉयड—ससार के १ अरब के लगभग जन-सख्या कॉकेशॉयड नस्ल की है। इनकी त्वचा का रग श्वेत से भूरे वर्ण तक विविध रंगो का पाया जाता है, इसलिए इस नस्ल को श्वेत-वर्ण का ही नहीं कहा जा सकता। इस प्रजाति के लिए श्वेत-वर्ण का इसलिए प्रयोग होता है क्योंकि अधिकांश व्यक्ति

इसमें श्वेत-वर्ण के ही पाये जाते हैं। सिर के बालों में भी पर्याप्त भिन्नता पायी जाती है, सिर पर सीधे बालों से लेकर घुंघराले बालो तक सब भेद इस प्रजाति में मिलते है, इनके शरीर पर काफी बाल होते हैं। इस नस्ल के ओष्ठ पतले, नाक नोकीली और उभरी हुई है, परन्तु नाक में एक किस्म नहीं है, अनेक किस्में है। शीर्ष-देशना साधारण तथा असाधारण दोनो प्रकार की पायी जाती है। कद छोटा भी मिलता है, बडा भी। कॉकेशॉयड के आगे तीन वर्ग माने जाते हैं—(1) एलपाइन, (11) मैडिटरेनियन तथा (111) नौरडिक।

(1) एलपाइन—ये लोग युरोप के मध्य में फ्रास से पश्चिमी-एशिया के केन्द्रीय भाग तक फैले हुए हैं। 'शीर्ष-देशना' (Cephalic-index) के अनुसार ये 'चौडे-कपाल' (Brachy-cephalic) के कहे जाते हैं। इन का सफेद रग और भूरी आँखें होती हैं। चेहरा चौडा, बाल सीधे और किसी-किसी के घुंघराले, कद नौरडिक से छोटा और मैडिटरेनियन से वडा। नाटे, गठीले, वर्गाकार, छोटे और चौडे पैर वाले होते हैं ये एलपाइन नस्ल के लोग।

(11) मैडिटरेनियन—मैडिटरेनियन में स्पेन से लेकर मोरोक्को के पार तक तथा वहाँ से पूर्वीय दिशा में भारत तक यह प्रजाति फैली हुई है। त्वचा का रग भूरे से गोरे तक भिन्न-भिन्न वर्णो का पाया जाता है। मैडिटरेनियन के आस-पास ४ प्रतिशत लोगों का गोरा रग और नीली आँखें पायी जाती हैं, परन्तु ज्यों-ज्यो पूर्व की तरफ जाते है, त्यों-त्यों यह प्रतिशत और कम होता जाता है। 'शीर्ष-देशना' (Cephalic-index) के अनुसार ये 'लम्बी-खोपडी' (Dolicho-cephalic) के कहे जाते हैं। कद में एलपाइन तथा नौरडिक से छोटे होते हैं।

(111) नौरडिक—इस नस्ल के लोगो का सब से मुख्य स्थान स्वीडन है। स्कैन्डीनेविया, वाल्टिक-प्रदेश, ब्रिटिश द्वीप-समूह आदि में ये पाये जाते हैं। सिर लम्बा, नाक ऊँची तथा नोकीली, होठ पतले, कद लम्बा और शरीर पतला, सिर के बाल सुनहरी, सीधे, घुंघराले, चमकदार, सुन्दर तथा विरल होते हैं। 'शीर्ष-देशना' (Cephalic-index) के अनुसार ये 'लम्बी-खोपडी' (Dolicho-cephalic) के कहे जाते हैं।

(२) मगोलॉयड—इन की संख्या १ अरब से काफी कम है। इन की त्वचा का रग पीला-सा होता है। इन के सिर के बाल अक्सर सीधे और काले रंग के होते हैं। बुशमैन तथा होट्टनटौट प्रजातियो को छोड कर अन्य प्रजातियों की अपेक्षा इन के सिर तथा शरीर के अगों के बाल कम होते हैं। नीग्रो की अपेक्षा इन की नाक चौडी होती है, परन्तु उतनी मोटी नहीं होती। ओष्ठ मुटाई की तरफ झुके होते हैं। गालो की हड्डियाँ उभरी तथा एक ओर को झुकी होती हैं। उत्तरी-एशिया की तरफ जो मगोल प्रजाति के लोग रहते हैं, उनकी आँखों की पलकें भारी, मासल तथा आँखों को ढके-सी रहती है, आँखें बादाम की-सी शक्ल की होती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अत्यन्त शीत से रक्षा करने के लिए प्रकृति

ने आँखों के लिए गड्ढा-सा चढा दिया है। कद मध्यम परन्तु छोटेपन की तरफ होता है।



फिलिपाइन नीग्रिटो स्त्री

(३) आफ्रीकन-नीग्रॉयड—इस प्रजाति की संख्या १० करोड के लगभग है। इस का निवासस्थान आफ्रीका में दक्षिणी-सहारा से लेकर केप-आफ-गुड-होप तक है। इन की त्वचा का रग भूरे से लेकर विल्कुल काले वर्ण तक होता है। सिर के बाल घुंघराले तथा ऊनी किस्म के होते हैं, शरीर पर बाल बहुत कम पाये जाते हैं। नाक बहुत चौडी, कान छोटे तथा ऊपर का जबडा आगे को वढा हुआ होता है। ओष्ठ दूसरी प्रजातियो की अपेक्षा मोटे तथा ऊपर को निकले होते हैं।

(४) मैलेनेशियन—इन की संख्या २० लाख के लगभग है। दक्षिणी-प्रशान्त-द्वीपो में, जिन्हें मैलेनेशिया कहा जाता है, इस प्रजाति के लोगों का निवास है। न्यू गिनी से फीजी तक २ हजार मील में ये द्वीप बिखरे पडे हैं। इन्ही में यह प्रजाति पायी जाती है। त्वचा का रग काला, घुंघराले बाल तथा उभरी हुई भौंएँ इनकी विशेषता है। मैलेनेशियन को आफ्रीकन नीग्रो से अलग गिनने का कारण यह है कि मानव-शास्त्री इन दोनों नस्लों का उद्भव अलग-अलग मानते हैं।



मैलेनेशियन जन-जाति का व्यक्ति

(५) माइक्रोनेशियन-पौलीनेशियन—मैलेनेशियन के उत्तर में जो द्वीप है उनमें १ लाख के लगभग माइक्रोनेशियन रहते हैं, और मैलेनेशियन के पूर्व में द्वीपों का जो त्रिभुजाकार समूह है उसमें ३ लाख के लगभग पौलीनेशियन रहते हैं। ये हवाई द्वीप से न्यू जीलैण्ड

और न्यू जीलैण्ड से ईस्टर आईलैंड तक फैले हुए हैं। इन्हें ओशेनियन भी का
हैं। इनके शरीर पर बाल कम होते हैं, त्वचा का रग हल्का और सिर के व
ऊनी होते हैं।

(६) कौंगो या सेंट्रल श्राफीकन पिग्मी—इन की सख्या १ लाख
लगभग है। कई विद्वान् इन्हें आफीकन-नीग्रॉयड में गिनते हैं, परन्तु इन दोनों
इतना भेद है कि इन्हें एक ही वर्ग में नहीं गिना जा सकता। इन का कद ५ फ
से भी कुछ छोटा होता है। यह संभव है कि अगर इनके खान-पान में कुछ सुध
कर दिया जाय, तो कद भी कुछ वढ जाय। ये आफ्रीकन-नीग्रॉयड तथा मैले
शियन जितने काले भी नहीं होते और इन दोनो से इनके शरीर पर वाल भी अि
होते हैं।

(७) फार-ईस्टर्न पिग्मी—इन में २,००० के लगभग अंडमन द्वीप
निवासी हैं, २५,००० के लगभग लुज़ोन, मिन्डानाओ तथा फिलिपाइन के अ
द्वीपो के निवासी हैं और कुछ-सौ मलय प्रायद्वीप के आदि-वासी हैं। इन्डोनेशि
न्यू गिनी तथा मैलेनेशिया में भी अनिश्चित सख्या इन नाटे कद वालों
हैं। इन्हें कई लोग सेंट्रल आफ्रीकन पिग्मी में गिनते हैं। इन के होंठ काफी मो
सिर के वाल ऊनी, त्वचा का रंग वहुत काला, शरीर पर वाल वहुत कम अ
ऊँचाई ५ फीट के लगभग होती है।

(८) ऑस्ट्रेलॉयड—आस्ट्रेलिया में ४०,००० के लगभग कृष्ण-
के आदि-वासी वहाँ पर ब्रिटिश उपनिवेश हो जाने पर भी मौजूद हैं। इन की त्व
का रंग चौकलेट जैसा और काला है, इसके अलावा इन के अन्य सव लक्षण कॉ
शॉयड के-से हैं। सिर के वाल इनके घुंघराले हैं।

(९) वुशमैन-हौट्टनटौट—कलहारी के रेगिस्तान तथा आस-पास
प्रदेशो में नाटे कद के पिग्मी नस्ल के २० हज़ार के लगभग लोग रहते हैं। व
भाषा वोलने वाले नीग्रॉयड प्रजाति के लोगों के आने से पूर्व सम्पूर्ण दक्षि
आफ्रीका में यही वुशमैन-हौट्टनटौट प्रजाति निवास करती थी। इस प्रजाति
किसी-किसी व्यक्ति में वोस्कोप-प्रजाति के लक्षण भी पाये जाते हैं, यद्यपि वोस्क
प्रजाति अव दक्षिणी-आफ्रीका में लुप्तप्राय हो गई है। वुशमैन नाटे होते
इनकी औसत लम्वाई ५ फीट होती है। हौट्टनटौट की लम्वाई वुशमैन से ज्य
होती है। वुशमैन के सिर के वाल गोलेदार और हौट्टनटौट के घुंघराले होते
इन दोनों की आँखें मगोल जैसी होती हैं। कौंगो-पिग्मी की भाँति इनके शरीर
वाल वहुत थोडे और त्वचा का रंग काला न होकर वीच का पाया जाता
जांघें और कमर के नीचे का हिस्सा मासल होता है, और इसके मांसल होने
कारण सभवत. 'वाहकाणु' (Genes) न होकर इन का खान-पान तथा हर स
आगे को झुके रहने की आदत है। इन को आंखो की मंगोल-प्रजाति के लो
की आंखों से समता को देख कर कई लोगों का कहना है कि मंगोल-प्रजाति
'वाहकाणु' (Genes) इस प्रजाति में किसी तरह पहुँचे हैं, परन्तु अ

१०

भारत की प्रजातियाँ

(INDIAN RACES)

हमने पिछले अध्याय में ससार की मख्य-मुख्य प्रजातियो के सवध में लिखा। इस विवरण से यह नहीं समझना चाहिए कि ससार में ये ही और इतनी ही प्रजातियाँ हैं। भिन्न-भिन्न लेखकों के अनुसार प्रजातियों की भिन्न-भिन्न सख्या और उनके भिन्न-भिन्न नाम दिये जाते हैं जिनमें से मुख्य-मुख्य का वर्णन हमने किया। हम इस अध्याय में भारत की मुख्य-मुख्य प्रजातियों का वर्णन करेंगे।

भारत में प्रजातियो के सबध में सब से पहले चर्चा सर हर्बर्ट रिज़ले ने अपनी पुस्तक 'पीपल्स ऑफ इडिया' में की। इनके बाद ए० सी० हैडुन, जे० एच० हट्टन तथा डॉक्टर बी० एस० गुहा ने भारत की प्रजातियो के वर्गीकरण पर अपने-अपने विचार प्रकट किये। इन्हीं के विचारों के आधार पर हम यहां इस विषय पर लिखेंगे।

१. सर हर्बर्ट रिज़ले का भारतीय-प्रजातियो का वर्गीकरण

सर हर्बर्ट रिज़ले (H. H Risley) ने भारत की प्रजातियो को सात भागों में बाँटा। इन सात में अन्डमन द्वीप के नीग्रिटो का नाम नहीं है, क्योंकि श्री रिज़ले के कथन के अनुसार नीग्रो प्रजाति का भारत की प्रजातियों में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। रिज़ले का कहना था कि मुख्य तौर पर तो भारत में तीन प्रजातियों का निवास रहा है—(१) ड्रेविडियन, (२) इडो-आर्यन तथा (३) मगोलियन, परन्तु इन तीन में से ड्रेविडियन तथा इडो-आर्यन के सम्मिश्रण से (४) इण्डो-ड्रेविडियन पैदा हो गये; ड्रैविडियन तथा मगोलियन की एक शाखा के सम्मिश्रण से (५) मगोलो-ड्रेविडियन पैदा हो गये, मगोल की अन्य शाखा और ड्रेविडियन के सम्मिश्रण से (६) सीथियन-ड्रैविडियन पैदा हो गये। सीथियन तथा मगोल का लगभग एक ही अर्थ है, इसलिए मगोल तथा ड्रेविडियन के सम्मिश्रण से मगोल-ड्रेविडियन कहने के स्थान में 'सीथियन-ड्रेविडियन'-शब्द प्रचलित है। इन छ के अलावा बिलोचिस्तान तथा उत्तर-पश्चिमीय सीमा-प्रात जो अब पाकिस्तान में चला गया है, वहाँ (७) टर्को-ईरानियन प्रजाति के लोग पाये जाते हैं। इस प्रकार पहले के तथा अब के भारत में मुख्य तौर पर सात प्रजातियाँ हैं। इन प्रजातियों के सम्बन्ध में श्री रिज़ले का विशेष विवरण निम्न है·

(१) ड्रेविडियन (Dravidian)—द्राविड लोग भारत के दक्षिण में पाये जाते है, विशेष कर मद्रास, हैदराबाद, मध्य-प्रदेश के दक्षिण तथा छोटा

नागपुर में इनका निवास अधिक है। दक्षिण-भारत के पनियन लोगों और छोटा नागपुर के सन्थाल लोगो में द्राविड प्रजाति के सब लक्षण पाये जाते हैं। इन का रग काला, आँखें काली, कद नाटा और बाल खूब होते हैं। बाल प्राय. घुंघराले पाये जाते हैं। सिर लम्बा होने के कारण ये 'लम्बी-खोपड़ीवाले' (Dolicho-cephalic) कहे जा सकते हैं। नाक इनकी खूब चौडी होती है जिसकी जड में एक भराव का स्थान दीख पड़ता है। इन्हीं को मैडीटरेनियन भी कहते हैं।

(२) इडो-ग्रार्यन (Indo-Aryan race)—ये लोग उत्तर-भारत में —पूर्वी पजाब, राजपूताना तथा काश्मीर में पाये जाते हैं। इन इलाको के लम्बे कद के खत्री और जाट इस वर्ग में आते हैं। इन का लम्बा चौडा देह, लम्बा सिर, नोकीली तथा उभरी हुई नाक, काली आँखें और गोरा रग इनकी विशेषता हैं। इन्हें 'लम्बी-खोपडी वाले' (Dolicho-cephalic) कहा जा सकता है।

(३) मगोलॉयड या किरात (Mongoloid)—हिमालय के प्रदेशो में मगोल प्रजाति जहाँ-तहाँ बिखरी पडी है। नैपाल, असम तथा बर्मा में इन की सख्या अधिक है। सामाजिक-दृष्टि से भिन्न-भिन्न प्रदेशो में इनके भिन्न-भिन्न नाम है, परन्तु शारीरिक बनावट की दृष्टि मे ये सब मगोल प्रजाति के हैं। इनके चौडे सिर और छोटी-सी सुन्दर नाक होती है, जो किसी-किसी व्यक्ति में चौडी भी पायी जाती है। इनका चेहरा चपटा होता है और आँख पर तहें-सी होती हैं जिनसे आँखें ढकी-सी रहती हैं। प्राय इन के शरीर पर बाल नहीं पाये जाते। कद में ये नाटे होते हैं। इन को भारतीय ग्रन्थों में 'मगोल' न कहकर 'किरात' कहा गया है।

(४) इडो-ड्रैविडियन (Indo-Dravidian race)—उत्तर-प्रदेश, राजपूताना तथा बिहार में इस प्रजाति के लोगों की प्रधानता है। इन्डो-आर्यन तथा ड्रैविडियन प्रजातियों के सम्मिश्रण से इनकी उत्पत्ति हुई है। रग स्थान-स्थान के भेद से बदलता हुआ पाया जाता है, साधारण तौर पर भूरे तथा काले के बीच का है इनका रग। इनकी नासिका की दृष्टि से इनकी 'चपटी-नाक' (Mesorrhine) तथा कहीं-कहीं 'चौडी-नाक' (Platyrrhine) है। इन्डो-आर्यन की नाक इस प्रजाति से सुन्दर होती है, और ये लोग इडो-आर्यन से कद में छोटे होते हैं। सिर की दृष्टि से इन्हें 'लम्बी-खोपडीवाला' (Dolicho-cephalic) कहा जा सकता है।

(५) मगोलो-ड्रैविडियन (Mongolo-Dravidian race)—यह प्रजाति बगाल तथा उडीसा में पायी जाती है। बंगाली ब्राह्मण, बगाली कायस्थ एव बंगाली मुसलमान ज्यादातर मगोलो-ड्रैविडियन प्रजाति के ही हैं। गुजरात में भी इस के लक्षण पाये जाते हैं। रिज्ले का कथन है कि मंगोलियनो का ऐसे ड्रैविडियनो के साथ सम्मिश्रण होने से जिनके रुधिर में कुछ अश इडो-आर्यन का था, यह प्रजाति उत्पन्न हुई है। इन की त्वचा का रग काला और चेहरे पर काफी बाल होते हैं। सिर इनका गोल, चौडा, मध्यमान की नाक के साथ-साथ

इनका कद भी बिचले दर्जे का होता है, इनके कद को किसी-किसी हालत में छोट भी कहा जा सकता है।

(६) सीथियन-ड्रैविडियन (Scytho-Dravidian race)—मंगोलो की एक बहुत निकट की शाखा सीथियन तथा ड्रैविडियन के सम्मिश्रण इनकी उत्पत्ति हुई है। ये मध्य प्रदेश, सौराष्ट्र तथा कुर्ग के पहाडी इलाको में पा जाते हैं। इन इलाको में उच्च-स्तर के मिश्रित-वर्ग में सीथियन रुधिर प्रधा है, निम्न-स्तर के मिश्रित-वर्ग में ड्रैविडियन रुधिर प्रधान है। इन की सुन्द छोटी-सी नाक होती है जो प्राय लम्बी नहीं देखी गई। मध्यम कद, गोरा रं शरीर पर कम बाल तथा 'चौडे सिरवाले' (Brachy-cephalic) हैं इ प्रजाति के लोग।

(७) टर्को-ईरानियन प्रजाति (Turko-Iranian race)—य प्रजाति बिलोचिस्तान तथा पाकिस्तान के सीमा-प्रान्त में निवास करती है। लोग कद में विशेष तौर पर लम्बे और रग के गोरे होते हैं। इनकी आंखो का रं काला होता है, परन्तु इनमें कभी-कभी भूरी आंखों के लोग भी मिल जाते हैं। घन दाढ़ी, चेहरे पर भरपूर बाल, उभरी हुई नोकीली-लम्बी नाक। इन का सिर छोट होने के कारण इन्हें 'चौडे-सिरवाला' (Brachy-cephalic) कहा जा सकता है

२ ए० सी० हैड्डन का भारतीय-प्रजातियो का वर्गीकरण

श्रीयुत् हैड्डन (A C Haddon) रिज़ले के वर्गीकरण से सहमत नहीं रिज़ले के वर्गीकरण पर पहली आपत्ति यह है कि उन्होंने मंगोल प्रजाति को बहुत बढा-चढ़ा कर अपने वर्गीकरण में स्थान दिया है, यहाँ तक कि द्राविडो के सा सम्मिश्रण से एक मंगोलो-ड्रैविडियन प्रजाति की उत्पत्ति की कल्पना की है इस प्रजाति की उत्पत्ति की कल्पना रिज़ले ने क्यो की है? इस का कारण यह कि उन्हें बगाल तथा गुजरात में चौडे सिर मिले और मंगोलो का भी सिर चौडा होत है। इस आधार पर उन्होंने बगाल तथा गुजरात में मंगोलो-ड्रैविडियन प्रजाति क कल्पना की। परन्तु यह कल्पना निराधार है। यह कल्पना निराधार इसलिए है क्योंकि मंगोलों के चौडे ही सिर हो यह जरूरी नहीं। अनेक स्थानो पर मंगोल के चौडे सिर नहीं भी मिलते। बंगाल तथा गुजरात के लोगों के चौडे सिर क कारण रिज़ले को कहीं अन्यत्र ढूंढना चाहिए था। रिज़ले के वर्गीकरण प दूसरी आपत्ति यह है कि मंगोलों की-सी थैली की-सी आंखें दार्जिलिग, चिटागा आदि में तो मिलती हैं, परन्तु बगाल की उच्च-जातियों में, ब्राह्मणो में, कायस्थ में कहीं नहीं मिलतीं। ऐसी हालत में बगाल में मंगोल-प्रभाव क्या हुआ? इन सब बातो के आधार पर हैड्डन महोदय को रिज़ले का वर्गीकरण स्वीकार नहीं हैड्डन ने अपना एक स्वतत्र वर्गीकरण किया है जिसमें पांच प्रजातियां गिनाई गई हैं—(१) आदि-द्राविड या निषाद, (२) द्राविड, (३) इडो-आर्यन, (४) इडो-एलपाइन तथा (५) मंगोल या किरात।

(१) आदि-द्राविड या निषाद (Pre-Dravidians)—हैडुन के कथनानुसार भारत में सब से पुरानी प्रजाति 'द्राविड' नहीं है, परन्तु इनसे पहले कई प्रजातियां थीं, जो भारत के जगलों में जहां-तहां घूमती फिरती थीं। क्योंकि द्राविडों से भी पहले भारत की आदि प्रजाति 'प्रोटो ऑस्ट्रेलॉयड' थी, इसलिए 'प्रोटो ऑस्ट्रेलॉयड' को ही 'आदि-द्रविड' या 'निषाद' कहा जाता है। 'प्रोटो' का अर्थ है—पहला, आदि। ये ही भारत में शुरू-शुरू में आये थे।

(२) द्राविड या मैडीटरेनियन (Dravidian)—इनके बाद द्राविड आये, जो पश्चिमी-बगाल की घाटी में बस गये और वहां से भारत को चीरते हुए छोटा नागपुर में आकर बस गये। इन्हीं को 'मैडीटरेनियन' भी कहते हैं।

(३) इडो-आर्यन (Indo-Aryan)—आर्य-भाषाओं को बोलने वाले लोग द्राविडो के बाद ईसा से २००० साल पहले की सहस्राब्दी में भारत में प्रविष्ट हुए। वे धीरे-धीरे भारत में आये और कई शताब्दियो तक वे आते रहे। पहले-पहल वे पजाब की उपजाऊ भूमि में आकर बसे, दक्षिण में वे इसलिए न बढ सके क्योंकि रास्ते में राजपूताने के रेगिस्तान उनके आगे बढने में रुकावट बने रहे और पूर्व में वे इसलिए न बढ़ सके क्योंकि उस तरफ घने जगलो के कारण आगे न बढा जा सकता था। अन्त में वे गगा और जमना की घाटी में फैल गये।

(४) इडो-एलपाइन (Indo-Alpine)—रिज़ले ने भारत में पाये जाने वाले 'चौडे-सिर' (Brachy-cephalic) के लिए यह कल्पना की थी कि मगोल-रक्त के लोगों के द्राविडो के सम्मिश्रण से एक प्रजाति उत्पन्न हुई जो बगाल तथा गुजरात में पायी जाती है। इस कल्पना का हैडुन ने विरोध किया और इसके मुकाबिले में यह कल्पना रक्खी कि भारत में 'चौडे-सिर' के लोग इसलिए पाये जाते हैं क्योंकि कॉकेशियन-स्कन्ध की एलपाइन शाखा, जिसका सिर चौडा होता है, भारत में आकर बसी। हैडुन का कहना है कि ये एलपाइन शाखा के लोग मगोलो से पहले भारत में आकर बसे।

(५) मगोल या किरात (Mongoloid)—इडो-एलपाइन के बाद मगोल भारत में आये और हिमालय के नैपाल, असम, बर्मा आदि में बस गये। जैसा हम पहले लिख आये हैं, भारतीय-साहित्य में इन 'मगोलों' को 'किरात' का नाम दिया गया है।

२ हट्टन का भारतीय-प्रजातियो का वर्गीकरण

हैडुन के बाद जे० एच० हट्टन ने भारतीय प्रजातियो का अध्ययन करके एक और वर्गीकरण किया। इस वर्गीकरण में (१) नीग्रिटो, (२) प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड, (३) मैडीटरेनियन, (४) एलपाइन की आर्मेनॉयड शाखा, (५) मगोलॉयड तथा (६) इडो-आर्यन—इस क्रम से ये प्रजातियां भारत में आयीं—ऐसा कहा गया है।

(१) नीग्रिटो—'नीग्रॉयड' (Negroid) तथा 'नीग्रिटो' (Negrito) में भेद है। मानव-जाति का विशाल वर्गीकरण जिसमें काकेशॉयड, आस्ट्रेलॉयड,

मगोलॉयड तथा नीग्रॉयड प्रजातियां है, इनमें 'नीग्रॉयड' एक हिस्सा है। 'नीग्रॉयड' एक तरह से मानव-जाति के एक 'स्कन्ध' (Stock) का नाम है। यह 'स्कन्ध' ससार के दो महाभागों में निवास करता है—आफ्रीका तथा ओशेनिया। इस प्रकार 'नीग्रो-स्कन्ध' आफ्रीका तथा ओशेनिया—इन दो भागो में बँट जाता है। इन दोनो महा-प्रदेशों के भिन्न-भिन्न भागों में नीग्रो लोगो की अनेक प्रजातियां रहती हैं, जिनमें से एक 'पिग्मी' (Pygmy) कहाती है। इन पिग्मी की सम-कक्ष यह 'नीग्रिटो' (Negrito) प्रजाति है जो कागो, अडमन, फिलिपाइन आदि में पायी जाती है। यह बहुत छोटे कद की होती है। इस की औसत ऊँचाई १५० सेंटीमीटर है। यह 'चौडे-सिर वाली' (Brachy-cephalic) कहाती है और इनकी 'शीर्ष-देशना' (Cephalic-index) ८३ है। त्वचा का रग गहरा पीला, वाल काली मिर्च के-से और घुंघराले होते है।

डा० हट्टन तथा बी० एस० गुहा इस 'नीग्रिटो' प्रजाति को भारत की प्राचीनतम प्रजाति मानते हैं। इस प्रजाति का मूल-स्थान 'मैलेनेशिया' है, जो प्रशान्त-महासागर का एक टापू है। उस टापू से यह प्रजाति असम, वर्मा, अडमन-निकोबार, मलाबार आदि में फैली। भारतवर्ष में हट्टन और गुहा के अनुसार यह प्रजाति सब से पहले फैली, परन्तु अब उसके अवशेष हमें भारत के मुख्य-भाग पर कहीं प्राप्त नहीं होते—यह इन दोनों विद्वानों का कथन है।

(२) प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड, 'आग्नेय' या 'निषाद'—नीग्रिटो के बाद भारत में प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड ([1]Proto Australoid) अर्थात् ऑस्ट्रेलिया के प्रथम-वासी आये। 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' तथा 'ऑस्ट्रेलॉयड' में इतना ही भेद है कि 'ऑस्ट्रेलॉयड' की भी जो सब से पहली शाखा है, उसे 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' कह देते हैं। हिन्दी में इसे 'आदि-ऑस्ट्रेलियन' कहेंगे। हिन्दी के कई लेखकों ने 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलियन' को 'आग्नेय' लिखा है। उन्होंने इस प्रजाति को 'आग्नेय' नाम इसलिए दिया है क्योंकि यह प्रजाति ससार के 'दक्षिण-पूर्व' में पायी जाती है जो 'आग्नेय-दिशा' है। 'दक्षिण-पूर्व' दिशा को सस्कृत में 'आग्नेय-दिशा' कहा जाता है। इन की त्वचा का रग भी चाकलेट जैसा और काला होता है, अग्नि की आभा जैसा नहीं। अस्तु, श्री हट्टन के कथनानुसार 'नीग्रिटो' के बाद 'आदि-ऑस्ट्रेलियन' भारत में आये। इनका आगमन किधर से हुआ इस विषय में हट्टन का कथन है कि ये पैलेस्टाइन में रहते थे और उधर से ही भारत में प्रविष्ट हुए। जैसा हम पहले कह आये हैं, ये 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' ही 'आदि-द्रविड' है। इन्हें भारतीय-साहित्य में 'निषाद' का नाम दिया गया है।

(३) मैडीटरेनियन या द्राविड—'आदि-ऑस्ट्रेलियन' के आने के बाद भारत में भूमध्यसागर की एक शाखा का आगमन हुआ जो मैडीटरेनियन-प्रजाति की आदि-शाखा (Early branch of Mediterranean race) थी। यह

---

1 Proto=Greek *Protos*, First

शाखा खेती करना जानती थी और इस की भाषा में शब्दों के अन्त में प्रत्यय जोड़े जाते थे। आजकल के ऑस्ट्रेलिया, न्यू ज़ीलैण्ड तथा आस-पास के द्वीप-समूहों के आदि-वासियो में ऐसी ही भाषा बोली जाती है। इस शाखा के बाद पूर्वी-यूरोप से एक और भूमध्यसागरीय शाखा (Eastern European Mediterranean race) ने भारत में प्रवेश किया जो धातुओ के उपकरण बनाना जानती थी, जो नगर-सभ्यता में दीक्षित थी। श्री हट्टन का कथन है कि पूर्वी-यूरोप से आनेवाली इसी मैडीटरेनियन-प्रजाति ने सिन्धु-सभ्यता को जन्म दिया और मोहनजोदडो तथा हड़प्पा की सभ्यता का इन्होंने श्रीगणेश किया। 'मैडीटरेनियन' का ही नाम भारत में 'द्राविड' है।

(४) एलपाइन की आर्मेनॉयड शाखा---भारत में चौडे सिर के लोग किस प्रजाति से उत्पन्न हुए---यह विषय बहुत विवाद का बना हुआ है। रिज़ले ने इसके लिए मंगोलो-ड्रेविडियन प्रजाति की कल्पना की, हैडुन ने इडो-एलपाइन की कल्पना की, हट्टन महोदय ने इसके लिए यह कल्पना की कि यद्यपि ये 'चौड़े-सिरवाले' (Brachy-cephalic) एलपाइन-प्रजाति के हैं, तो भी एलपाइन में से उसकी 'आर्मेनॉयड-शाखा' (Armenoid branch of Alpine race) के ये लोग हैं। इस शाखा ने ईसा से ४००० वर्ष पहले एक ऊँचे स्तर की सभ्यता का विकास कर लिया था। सभवत ये द्राविड भाषा बोलते थे और प्रागैतिहासिक काल के मैसेपोटामिया के लोगो में और इनमें समानता थी। ईसा से ३००० वर्ष पहले ईरान के पठार तथा पामीर की पहाडियों से इस प्रजाति के लोगो ने पश्चिम में अपनी सभ्यता की बाढ-सी ला दी और यही चौडे सिर वाले लोग भारत भी पहुँचे।

(५) मगोलॉयड---पूर्व की तरफ से मगोल प्रजाति के लोग वगाल की खाडी, इंडोनेशिया आदि में फैले और वगाल मे आने के कारण उनका भारत में भी काफी विस्तार हुआ। ये मगोल भारतीय साहित्य के 'किरात' हैं।

(६) इडो-आर्यन---श्री हट्टन का कहना है कि इन सब के बाद ईस्वी सन् से १५०० वर्ष के लगभग पहले इडो-आर्यन प्रजाति के लोग भारत में प्रविष्ट हुए और पजाब में बस गये।

४ डा० गुहा का भारतीय-प्रजातियो का वर्गीकरण

डा० गुहा का वर्गीकरण हट्टन के वर्गीकरण मे मेल खाता है। भेद इतना है कि डा० गुहा ने हट्टन के वर्गीकरण को कुछ और गहराई तक पहुँचाया है। डा० गुहा के वर्गीकरण में जो प्रजातियाँ गिनाई गई हैं, वे हैं---(१) नीग्रिटो, (२) प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड, (३) मगोलॉयड, (४) मैडीटरेनियन, (५) 'चौडे-सिर की प्रजाति' (Brachy-cephalic race) जिसके डा० गुहा ने तीन भेद किये हैं---एलपाइन, दिनारी तथा आर्मेनॉयड तथा (६) नॉर्डिक अथवा इण्डो-आर्यन।

(१) नीग्रिटो—नीग्रिटो का वर्णन हम पहले कर आये हैं। डा० हट्टन तथा डा० गुहा इसे भारत की सबसे प्राचीन प्रजाति मानते हैं। इनके अवशेष अब निकोबार-अण्डमन द्वीपो के सिवाय और कहीं नहीं मिलते।

(२) प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड (निषाद)—नीग्रिटो के बाद भारतवर्ष में आने वाली दूसरी प्रजाति प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड है। ये मुख्य तौर पर मध्य-प्रदेश तथा दक्षिण भारत में फैले हुए हैं, खास कर निम्न जातियो में इनका रक्त अधिक है। इनके संबंध में पहला मत तो यह है कि ये ऑस्ट्रेलिया से भारत में आये, दूसरा मत यह है कि नीग्रिटो से ही इन की उत्पत्ति हुई, तीसरा मत यह है कि पैलेस्टाइन से ये लोग इस देश में आये।

(३) मंगोलॉयड (किरात)—इन की शारीरिक विशेषताओं का तो हम पहले ही वर्णन कर आये हैं। इन में 'बी'-समूह के रक्त की प्रधानता है। इन का मूल स्थान इरावती नदी की घाटी, तिब्बत, चीन और मंगोलिया है। वहाँ से ये असम, नैपाल, बर्मा आदि में फैल गये हैं।

(४) मैडीटरेनियन (द्राविड)—भूमध्य-सागर से यह प्रजाति भारत में आयी। यह स्पेन और मोरक्को से भारत तक पायी जाती है। जैसा हम पहले कह आये हैं, दो शाखाओं में इस का भारत में प्रवेश हुआ। एक शाखा अपने साथ कृषि करने तथा पत्थरो के स्मारक खडे करने (Agricultural and Megalithic Culture) की सभ्यता को अपने साथ लायी, दूसरी शाखा पूर्वी-युरोप से ईरान की खाडी से होते हुए भारत में प्रविष्ट हुई। यह शाखा अपने साथ धातुओ का ज्ञान लायी। इस शाखा को नगर-सभ्यता का ज्ञान था और इसका मैसोपोटामिया की सभ्यता से संपर्क भी था। भूमध्यसागर की इसी शाखा ने सिन्धु-सभ्यता को जन्म देकर मोहनजोदडो तथा हडप्पा आदि नगरो का निर्माण किया भूमध्यसागर से आने वाली इन दोनो शाखाओ को 'मैडिटरेनियन' अथवा 'द्राविड' —इन दोनों नामो से स्मरण किया जाता है।

(५) चौडे सिर की तीन आर्य प्रजातियां—डा० गुहा का कथन है कि भारत में तीन चौडे सिर की प्रजातियो के लक्षण पाये जाते हैं, जिनमें से मुख्य हैं—(i) एलपाइन, (ii) दिनारी, (iii) तथा आर्मेनॉयड।

(i) एलपाइन (Alpine)—हट्टन के वर्गीकरण में तो एलपाइनी की शाखा आर्मेनॉयड (Armenoid) का परिगणन है, परन्तु डा० गुहा ने एलपाइन तथा आर्मेनॉयड—इन दोनो को अलग-अलग गिना है। इन्होंने इन दो के साथ 'दिनारी' प्रजाति को भी मिला कर चौडे सिर की तीन प्रजातियो को इकट्ठा करके तीनो की सत्ता को इस देश में माना है। 'एलपाइन' नाम इस प्रजाति को इसलिए दिया गया है क्योंकि इस प्रजाति के लोग युरोप के मध्य में एल्प्स पर्वत के आस-पास बडी संख्या में पाये जाते हैं। इनका औसत कद १६५ सेंटीमीटर, कन्धे चौडे, छाती गहरी, टाँगें लम्बी तथा चौडी, उंगलियाँ छोटी होती हैं और इन्हीं लक्षणो से भूमध्यसागरीय प्रजातियो से ये पृथक गिने जाते हैं।

(ii) दिनारिक (Dinaric)—युरोप की आल्प्स पर्वतमाला की एक शाखा का नाम 'दिनारिक' है। ये लोग युरोप में फ्रांस से मैसीडोनिया तक फैले हुए हैं। मुख्य-मुख्य प्रजातियो की उप-जातियों के आपस में सम्मिश्रण से यह प्रजाति उत्पन्न हुई है। ऊँचा, शिखरवाला सिर, ढलुआँ माथा, सिर का पिछला भाग चपटा, चौडा सिर, शीर्ष-देशना ८३ से अधिक, लम्बा-तंग चेहरा, उठी हुई नाक तथा ठोडी तथा पतले होंठ, लम्बा कद, औसत ऊँचाई १७० सेंटीमीटर, गठीला शरीर, भारी और लम्बी टाँगे, मोटी गर्दन, होंठ नार्डिक लोगों से अधिक चौड़े, त्वचा का वर्ण हल्का, जैतूनी और ज्यादातर काला, आँखे हल्के भूरे रग की, वाल काले, भूरे और घुंघराले—ये विशेषताएँ हैं इस प्रजाति की।

(iii) आर्मेनॉयड (Armenoid)—एलपाइन प्रजाति की एक शाखा आर्मेनॉयड नाम से मशहूर है। यह चौडे सिर की है। इसके विषय में हम पहले भी लिख आये हैं। वम्वई के पारसी मुख्य रूप में इसी शाखा के हैं।

(६) नौर्डिक या इण्डो-आर्यन—ये युरोप, वाल्टिक-प्रदेश, स्कैंडीनेविया, व्रिटिश द्वीप-समूह के शीत-प्रधान तथा समुद्री प्रदेशों में फैले हुए हैं। ईस्वी सन से १५०० वर्ष पहले ये भारत में आये और पहले पजाव में आकर वसे, फिर जमना तथा गगा की घाटी में रहने लगे, वाद में ये सारे भारत में फैल गये।

इनका सिर लम्वा, नाक ऊँची, पतली तथा नोकीली, होंठ पतले, शरीर इकहरा तथा लम्वा, औसत ऊँचाई १७२ सेंटीमीटर, त्वचा गुलावी और श्वेत, आँखें नीली, वाल घुंघराले तथा सुनहरे होते हैं। इनकी 'शीर्ष-देशना' ७५ के लगभग होती है। इनकी एक विशेषता यह है कि नीचे के दाँतों और टोडी की एक-दूसरे से दूरी अन्य प्रजातियों की अपेक्षा ज्यादा होती है।

डा० डी० एन० मजूमदार का 'नीग्रिटो' के सबध में मत

जैसे रिजले ने भारतीय-प्रजातियों के वर्गीकरण में 'मगोल'-प्रजाति को अनावश्यक महत्व दिया है, वैसे डा० मजूमदार के मत में इस वर्गीकरण में हट्टन तथा गुहा ने 'नीग्रिटो' को अनावश्यक महत्व दिया है। श्री मजूमदार के मत में भारत में आने वाली सव से पहली प्रजाति 'नीग्रिटो' न होकर 'प्रोटो-ऑस्ट्रेल्यॉयड' थी। 'नीग्रिटो' भारत में आने वाली पहली प्रजाति नहीं थी, इस सवध में श्री मजमदार ने निम्न युक्तियाँ दी हैं —

(१) नीग्रिटो का भारत में अभाव—गुहा का कथन है कि मध्य एवं दक्षिण भारत की आदिम प्रजातियो में 'नीग्रिटो'-तत्व की प्रधानता है। नी० एस० वेंकटाचार का कथन है कि मध्य-प्रदेश की गोंड प्रजाति नीग्रॉयड ही हैं। ये गोंड अर्थात् नीग्रॉयड जाति के लोग ही द्रविडो से पूर्व के लोग हैं। कई लोग 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' को द्रविड़ों से पूर्व का मान कर, किन्तु वेंकटाचार 'नीग्रिटो' को द्राविडो से पूर्व का मान कर, इन्हें 'आदि-द्रविड' (Pre-Dravidian)—यह नाम देते हैं। द्रविडों ने 'आदि-द्रविडों' को मद्रास से जव भगाया, तव वे खदेडे जाकर मध्य-प्रदेश में

आ बसे और उनका नाम गोड हुआ। श्री अय्यर का कथन है कि कोचीन के कडर तथा पुलय एव नीलगिरि की तरफ रहने वाली उराली तथा कनिकर प्रजातियो में जो बाल पाये जाते हैं, वे 'नीग्रिटो'-तत्व के लक्षण हैं। गुहा, वेंकटाचार तथा अय्यर के इन कथनो का उत्तर देते हुए श्री मजूमदार कहते हैं कि अगर 'नीग्रिटो' प्रजाति का भारत की प्रजातियो में इतना महत्वपूर्ण स्थान था, तो क्या कारण है कि आज सिर्फ अडमन द्वीप को छोड कर इनका उत्तरी तथा दक्षिणी भारत में कहीं नामो-निशान नही मिलता ? रिजले ने कहा है कि मानवशास्त्र के अध्ययन में 'नीग्रिटो' का नाम हमारी उत्सुकता को, जिज्ञासा को, कितना ही बढ़ाता हो, परन्तु यहां की प्रजातियो के निर्माण में इस प्रजाति का कोई हाथ नहीं दीखता। 'नीग्रिटो' इतने साहसी नहीं थे कि वे भारत जैसे विशाल देश के मूल आधार बन जाते। मेजर मोलेस्वर्थ मनुष्य के भिन्न-भिन्न अगो को माप कर 'मानव-मिति' ([1]Anthropometry) द्वारा इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि अडमन की 'नीग्रिटो' प्रजाति का भारतीय-जनता के निर्माण में कोई हाथ नहीं रहा। सर विलियम टर्नर कपालो को माप कर 'कपालमिति' ([2]Craniometry) द्वारा भी इसी परिणाम पर पहुँचे हैं। अय्यर महोदय ने बालो को देख कर 'नीग्रिटो'-तत्व भारत में होने की बात कही है, परन्तु कोचीन तथा नीलगिरि की कडर, पुलय, उराली तथा कनिकर जातियो के बालो की सूक्ष्म-वीक्षण-यत्र से अब तक कोई परीक्षा नहीं हुई जिससे सिद्ध हो कि इनके बाल 'नीग्रिटो'-प्रजाति के हैं। सिर्फ घुंघराले बालो से कोई प्रजाति 'नीग्रिटो' नहीं बन जाती।

'नीग्रिटो' के भारतीय-प्रजातियो के आदि-वशज होने के हट्टन तथा गुहा के कथन की अय्यप्पन महोदय ने धज्जियाँ उडा दी हैं। उनका कथन है कि जिन प्रजातियों को हम 'नीग्रिटो'-वर्ग की कहते हैं, वे उस वर्ग की न होकर स्थानीय जनता की अभिन्न अग हैं। अगर कहीं इने-गिने व्यक्तियो में कोई 'नीग्रिटो' लक्षण पाया भी जाता है, तो एक-आध में ऐसे लक्षण पाये जाने से यह नहीं कहा जा सकता कि यह 'प्रजाति' भारत की आधारभूत प्रजाति थी। दक्षिण-भारत में सर्वत्र 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड'-प्रजाति के लक्षण हर जगह दिखाई देते हैं, जिन्हें लोग 'नीग्रिटो' कहते हैं, वे भी 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' ही हैं, अन्य कुछ नहीं। कोचीन के कडर, पुलय तथा नीलगिरी के उराली एव कनिकर को अय्यर ने तो 'नीग्रिटो'-रक्त का कहा है, परन्तु अय्यप्पन का कथन है कि इन चारों में 'नीग्रिटो' के स्थान में 'ऑस्ट्रेलॉयड' लक्षण मौजूद हैं। आन्ध्र की रेड्डी, कोया तथा चेंचु प्रजातियो में भी 'नीग्रिटो' लक्षण कहे जाते हैं, परन्तु श्री अय्यप्पन का कथन है कि अगर इन प्रजातियो को साधारण आन्ध्रो के वस्त्र पहना दिये जायें, तो इन्हें कोई उनसे पृथक् प्रजाति का अर्थात् 'नीग्रिटो' नहीं कह सकता। इन के बाल तथा चेहरा-मोहरा सब ऑस्ट्रेलॉयड हैं, नीग्रिटो नहीं।

---

1 Anthropometry=Gk *Anthropos*, a man, *metron*, measure
2 Craniometry=Latin *Cranium*, a skull, *metron*, measure

मोहनजोदोड़ो में जो अस्थि-पंजर मिले हैं, उनसे भी यहाँ के आदि-वासियो की प्रजाति 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' सिद्ध होती है, 'नीग्रिटो' नहीं। श्री वसु ने श्री गुहा के साथ मिल कर मोहनजोदड़ो के १५ अस्थि-पजरो का अध्ययन किया। इन के अध्ययन का परिणाम यह था कि इन्हें इन पजरो में दो प्रजातियो के लक्षण दिखाई दिये। एक प्रजाति के पंजरो का सिर लम्वा था, ऊँची खोपड़ी थी, प्रमुख भौंएं थीं, ये संभवत. 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' प्रजाति के थे, दूसरी प्रजाति के पंजर ऊँची, पतली नाक वाले थे. जो 'मैडीटरेनियन' माने गये हैं। ज्यादातर इन पंजरों को इन दोनो प्रजातियो का मिश्रण पाया गया है। इन सव पजरो में 'नीग्रिटो' लक्षण नहीं मिले। गेड्स का कथन है कि भारत के उत्तर से जिन जातियो ने इस देश में प्रवेश किया उनके साथ शुरू-शुरू के काल में ही यहाँ के 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' का रक्त सवंध हो चला था और उन्हीं के पजरो के अवशेष हमें मोहनजोदडो आदि में उपलब्ध हुए हैं। इन उपलब्ध अवशेषो में 'नीग्रिटो' के लक्षण नहीं पाये जाते। अगर 'नीग्रिटो' भारत के प्रारभ के निवासी होते. तो ऊनी वाल, चौडा सिर, चपटी नाक, काला रंग उत्तर-भारत में आम पाया जाता। ऐसा न होना सिद्ध करता है कि यहाँ के आदि-वासी 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' थे, 'नीग्रिटो' नहीं थे। 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' अर्थात् 'आदि-द्रविड़'—ये 'द्राविडों' से भी पहले भारत में आये थे, और इन्हें 'द्राविड़ों' ने परास्त कर इस देश में अपना आधिपत्य जमाया था।

(२) 'वी' रक्त का भारत मे अभाव—'लसी-विद्या' (Serology) के आधार पर भी यह कहना पडता है कि 'नीग्रिटो' इस देश की सव से प्राचीन प्रजाति नहीं है। 'नीग्रिटो' में 'वी' रक्त-समूह की प्रधानता पायी जाती है, परन्तु भारत की सव प्रजातियो में 'वी' रक्त-समूह की प्रधानता नहीं है। भारत के भीतरी भागों की प्रजातियो में 'ए' रक्त-समूह की प्रधानता है, और 'ऑस्ट्रेलॉयड' में भी 'ए' रक्त-समूह की प्रधानता है। इसका अर्थ यह हुआ कि इस देश में 'ए'-प्रधान 'ऑस्ट्रेलॉयड'-प्रजाति से ही अन्य प्रजातियो की उत्पत्ति हुई है, 'वी'-प्रधान 'नीग्रिटो' प्रजाति मे नहीं। इस का यह मतलव नहीं कि भारत की प्रजातियो में 'वी' रक्त मिलता ही नहीं। मुण्डा और भील प्रजातियो में 'वी' रक्त की प्रधानता है, परन्तु 'वी' रक्त होने पर भी इन प्रजातियों के अन्य लक्षण 'नीग्रिटो' प्रजाति से नहीं मिलते। सिर्फ रक्त की समानता के आधार पर ही तो किसी वर्ग की प्रजाति निश्चित नहीं की जा सकती। रक्त के आधार पर जिस प्रजाति का निश्चय किया जाय, उसकी भौतिक-मानव-शास्त्र से पुष्टि भी होनी चाहिए, तभी किसी वर्ग की प्रजाति निश्चित की जा सकती है। अगर रक्त के आधार पर हम किसी वर्ग को 'नीग्रिटो' घोषित करते हैं, परन्तु उसके वाल, उसका सिर, उसकी आँखें उस वर्ग की पुष्टि नहीं करतीं, तव हमारा उसे 'नीग्रिटो' घोषित करना युक्ति-सगत नहीं हो सकता। भारत की प्रजातियो में 'वी' रक्त जहाँ-जहाँ पाया जाता है, वहाँ-वहाँ उन प्रजातियो

का 'नीग्रिटो' से सबध होने के अतिरिक्त अन्य कारण हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, पहाडी इलाको की थारु प्रजाति में 'बी' रक्त पाया जाता है। यह इसलिए नहीं पाया जाता क्योकि थारु लोग 'नीग्रिटो' है, परन्तु इसलिए पाया जाता है क्योकि जहाँ-जहाँ मलेरिया होता है, वहाँ-वहाँ मलेरिया का मुकाबिला करने के लिए प्रकृति वहाँ के मनुष्यो में 'बी' रक्त को 'आकस्मिक-परिवर्तन' (Mutation) के नियम के अनुसार उत्पन्न कर देती है। जिसमें 'बी' रक्त होगा उस पर मलेरिया आक्रमण नहीं करेगा। थारु लोगो को मलेरिया नहीं होता। उन्हें मलेरिया के प्रदेशो में रहते-रहते सदियाँ बीत गई, इसलिए प्रकृति ने उनके रक्त में मलेरिया के प्रति 'बी' रक्त द्वारा निरोध-शक्ति उत्पन्न कर दी। ऐसी हालत में किसी प्रजाति में 'बी' रक्त को देख कर उसका 'नीग्रिटो' से सबध जोड़ देना युक्ति-सगत नहीं है।

६ भिन्न-भिन्न प्रजातीय-तत्वो का भारत में सम्मिश्रण

हमने देखा कि भारत में भिन्न-भिन्न प्रजातीय-तत्वो का सम्मिश्रण पाया जाता है। यह अलग बात है कि कोई विद्वान् 'मगोल'-तत्व (किरात) पर विशेष बल देता है, कोई 'नीग्रिटो'-तत्व पर, कोई 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड'-तत्व (आदि-द्रविड, निषाद) पर, कोई 'भूमध्यसागरीय'-तत्व (द्राविड) पर और कोई 'इडो-आर्यन'-तत्व पर, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इन सब प्रजातियो के सम्मिश्रण से इस देश में एक सस्कृति ने जन्म लिया है, जो भारतीय-सस्कृति के नाम से पुकारी जाती है। भारतीय-सस्कृति इन सब प्रजातियो के रुधिर तथा विचारो के सम्मिश्रण से पैदा हुई है, इसमें सब सस्कृतियाँ पचा ली गई है, और इन्हे इस प्रकार पचाया गया है कि आज यह कह सकना कठिन है कि इस सस्कृति का कौन-सा तत्व इसका अपना है, कौन-सा अपना नहीं है। अस्ल में, प्रजातियो तथा उनकी सस्कृतियो का उत्थान इसी प्रकार हुआ करता है। जब दो या दो से अधिक प्रजातियाँ अपनी भिन्न-भिन्न सस्कृतियों को लेकर एक जगह पर मिलती है, तब दो प्रकार की प्रतिक्रिया होती है। पहली प्रतिक्रिया तो यह होती है कि वे अपना स्वतत्र व्यक्तित्व बनाये रखना चाहती है। वे एक-दूसरे से विवाह-सबध नहीं करतीं, एक-दूसरे के रीति-रिवाजो में भाग नहीं लेतीं, अपनी स्वतत्र, शुद्ध सत्ता बनाये रखने का प्रयत्न करती है। यह प्रतिक्रिया 'अपसार' (Divergence) कहाती है। परन्तु जब एक जगह आ ही मिले, तब कब तक वे अलग-अलग रह सकती है। इसलिए पहले 'अपसार' की प्रतिक्रिया के बाद दूसरी 'अभिसार' (Convergence) की प्रतिक्रिया प्रारभ हो जाती है, और इन प्रजातियो का आपस मे मेल-मिलाप, रोटी-बेटी का व्यवहार, रीति-रिवाजो में सहयोग प्रारभ हो जाता है। अगर किसी समाज में केवल अपने को पृथक् रखने की प्रतिक्रिया ही बनी रहे, तो वह उन्नति न कर सके, और साथ ही अगर वह अपने को दूसरे में मिटा ही दे, तब तो उसकी सत्ता ही न रहे। इसलिए स्वस्थ तथा प्रगतिगामी प्रजातियों में दोनो तरह की प्रतिक्रियाएँ

सदा चलती रहती है, और भारत में भी आदिकाल से यही नियम काम करता रहा है। प्रागैतिहासिक भारत में सब प्रजातियां आपस में लेती-देती रही हैं, एक-दूसरे में घुलती-मिलती रही हैं। यह तो हाल की बात है जब हमारे देश में एक-दूसरे से अपने को पृथक् करने की प्रवृत्ति की प्रबलता हो गई। यहाँ की प्रजातियाँ किस प्रकार अपने मे भिन्न प्रजातियो के साथ सम्मिश्रित होती रही हैं— इसकी कुछ चर्चा कर देना असगत न होगा।

(१) नीग्रिटो प्रजाति की भारत को देन—श्री हट्टन तथा गुहा के कथनानुसार भारत में बाहर मे आने वाली सब से पहली प्रजाति 'नीग्रिटो' है। श्री मजूमदार इस बात को नहीं मानते, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह पहली हो, या न हो, इस प्रजाति के लक्षण भारत में कही-कहीं पाये जाते है। आफ्रीका से अरब के रास्ते होते हुए 'नीग्रिटो' भारत में आये और यहाँ से मलाया, हिन्द-द्वीप-समूह होते हुए न्यू गिनी तक चले गये। इस समय इनके कुछ अवशेष अडमन द्वीप में मौजूद है। इन लोगों की सभ्यता बहुत अविकसित दशा में थी, ये 'पूर्व-पाषाण-युग' की सभ्यता को लेकर यहाँ आये थे, पत्थर, हड्डी के अनघड हथियार तथा तीर-कमान के सिवाय इन्हें कुछ ज्ञात न था। खेती, मट्टी के बर्तन बनाना तथा भवन-निर्माण का भी इन्हें ज्ञान न था। ये लोग गुफाएँ बना कर रहते थे। ऐसी हालत में ये क्या देन भारत को देते। इसीलिए इनके लक्षण यद्यपि कहीं-कहीं पाये जाते है, तो भी बहुत थोडे। विद्वानों का कथन है कि ये लोग वट-वृक्ष की पूजा करते थे। इस पूजा का उद्देश्य सन्तान प्राप्त करना तथा मृतको को सद्गति प्रदान करना था। इन विद्वानो का कथन है कि भारतीय-सस्कृति में वट-वृक्ष की पूजा का चलन इस 'नीग्रिटो' प्रजाति से ही प्रारंभ हुआ।

(२) प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड (आदि-द्राविड, आग्नेय या निषाद) प्रजाति की भारत को देन—डा० मजूमदार तथा अन्य मानवशास्त्री 'नीग्रिटो' को भारत की प्रथम प्रजाति न मान कर 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' प्रजाति को आदि प्रजाति मानते हैं। ये प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड कौन थे? डा० मजूमदार का कथन है कि सभव है, युरोप के 'नियेन्डरथल-मानव' का अनुवशज 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' हो, और 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' का अनुवशज 'ऑस्ट्रेलॉयड' हो। जो-कुछ भी हो, 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' प्रजाति का भारत की सभ्यता में महत्वपूर्ण स्थान है। ये लोग 'नव-पाषाण-युग' की सभ्यता को लेकर इस देश में आये। ये पत्थरो को घिस कर उनके धारदार औज़ार बनाते थे, कुदाल से ज़मीन को खोद कर खेती करते थे, कुम्हार के चाक से मट्टी के गोल-गोल घडे, बर्तन आदि बनाते थे। उत्तर-भारत में जहाँ-जहाँ खुदाई हुई है, इनके उपकरण प्राय हर जगह उपलब्ध हुए हैं। भारत को ये वस्तुएँ इस प्रजाति की देन हैं। इस समय भी विन्ध्य-पर्वत के पूर्वी-भाग में सन्थाल, मुण्डा, भूमिज, बिरहोर, असुर, अगर, कोरवा आदि प्रजातियां 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड'-भाषा बोलती हैं। श्री सुनीतिकुमार चैटर्जी के कथनानुसार इस प्रजाति की भाषा के अनेक शब्द भारत की प्रचलित भाषाओ में पाये जाते है जिससे प्रतीत होता है कि कुदाली

और खेती के साथ-साथ कृषि के ये शब्द और ये चीजें भी इसी प्रजाति की देन हैं। उदाहरणार्थ, धान, केला, नारियल, बैंगन, पान, तोरी, नींबू, जामुन, कपास—ये सब इसी प्रजाति से अपने देश को मिले हैं। इसी प्रजाति ने हाथी को पालतू बनाया। इसी प्रजाति से संस्कृत भाषा को बाण, लकुट (लाठी), शाल्मली (सिंबल), कुक्कवाकु (मुर्ग़ा), गज (हाथी), ताम्बूल (पान), वैंतगन (बैंगन), कदली (केला) आदि शब्द मिले।

भौतिक-क्षेत्र में जैसे खेती तथा पशु-पालन इस प्रजाति ने भारतीय-संस्कृति को प्रदान किये, वैसे सांस्कृतिक तथा धार्मिक क्षेत्र में भी अनेक चीजें इस प्रजाति की देन हैं। पान-सुपारी का व्यवहार तथा विवाहोत्सव में सिन्दूर और हल्दी का प्रयोग इसी प्रजाति से लिया गया है। पुनर्जन्म का विचार, ब्रह्माड तथा सृष्टि की उत्पत्ति संबंधी अनेक दन्तकथाएँ, कच्छपावतार की कल्पना, पत्थर को देवता बनाकर पूजना, नाग, मगर, बन्दर आदि पशुओं की पूजा, 'वर्जन' (Taboo) का विचार जिसके अनुसार कोई वस्तु ग्राह्य और कोई अग्राह्य मानी जाती है—ये सब आदि-द्राविडों की भारतीय-संस्कृति को देन हैं। श्री सुनीतिकुमार चैटर्जी का कथन है कि भारतीय-संस्कृति में 'गंगा'-शब्द भी आदि-द्रविड या आग्नेय-संस्कृति से आया है। भारत से लेकर दक्षिणी-चीन तक आग्नेय-परिवार की जितनी भाषाएँ हैं, उनमें नदी के लिए 'गंगा' से मिलते-जुलते ही शब्द पाये जाते हैं। हिंद-चीनी में नदी के लिए 'खोंग', दक्षिणी चीनी में 'कॉंग'—ये शब्द हैं। अपने देश में किसी भी नदी में नहाने को गंगा-स्नान कहा जाता है। चन्द्रमा के हिसाब से तिथि का परिगणन भी इसी सभ्यता की देन है। पूर्ण चन्द्र के लिए 'राका' तथा नवीन चन्द्र के लिए 'कुहू'-शब्द आग्नेय-परिवार से ही आये हैं।

(३) मैडीटरेनियन (द्राविड) प्रजाति की भारत को देन—आदि-द्राविडों के बाद भारत में द्राविड आये। मैडीटरेनियन अर्थात् भूमध्यसागर से आने वाली प्रजाति का नाम 'आदि-द्राविड़' इसलिए रखा गया है क्योंकि ये द्राविडों से पहले आये, इनका द्राविडों से किसी तरह का संबंध नहीं है। 'द्राविड' लोग 'आदि-द्राविडों' से सभ्यता में बढ़े-चढ़े थे, नगर-निर्माण-कला में निष्णात थे। आजकल तो द्राविड-प्रजाति के लोग मद्रास की तरफ ही मिलते हैं, परन्तु आदि-काल में ये उत्तर-भारत तक फैले हुए थे। भारत के पश्चिमी क्षेत्र में कलात एक प्रदेश है। इस कलात में 'ब्राहुई' भाषा बोली जाती है, जो द्राविड वंश की है। कहाँ दक्षिण भारत और कहाँ भारत का पश्चिमी कोना। अगर दक्षिण और पश्चिम दोनों जगह द्राविड भाषा पायी जाती है, तो इसका यही अर्थ हो सकता है कि किसी समय संपूर्ण भारत में द्राविड लोग रहते थे। भूमध्यसागर से आयी इस प्रजाति को जो किसी समय संपूर्ण भारत में छायी हुई थी, द्राविड क्यों कहते थे? इसका कारण यह बताया जाता है कि भूमध्यसागर की एक प्रजाति जिसका नाम लिसियन था अपने को त्रिम्मिली कहती थी। यही भूमध्यसागरी त्रिम्मिली प्रजाति भारत में

आकर तामिल कहलाई और 'तामिल' से 'द्राविड'-शब्द बनने में देर न लगी। 'तामिल' का ही अपभ्रंश 'द्राविड' है।

अब तक भारत में पूजा-पाठ की जो विधि चल रही थी उस पर द्राविडों ने नई पैबन्द लगाई। 'पाषाण-युग' की स्मृति को मानो तरोताजा रखने के लिए पत्थर को देवता का प्रतीक मान कर उस पर नैवेद्य चढाना, उसे सिन्दूर और चन्दन लगाना, उसके सम्मुख धूप-दीप जलाना, घंटा-घडियाल बजाना, उसके सामने मस्त होकर नाचना-गाना, मूर्ति को भोग लगाना और उस पर चढा भोग प्रसाद के रूप में बाँटना—ये सब द्राविडों की भारतीय संस्कृति को देन हैं। ये आर्य पूजा-पाठ की विधि न होकर द्राविड विधियाँ हैं, परन्तु सब संस्कृतियों को आत्मसात् करने वाले इस देश में इसे अपना कर द्राविड़-सभ्यता को भी पचा लिया गया है।

कुछ विद्वानों का कथन है कि शिव जी द्राविड देवता थे। दक्ष के यज्ञ में शिव जी नहीं बुलाये गये, इसलिए शिव के गणों ने दक्ष के यज्ञ का विध्वंस कर दिया। यह पौराणिक कथा सिद्ध करती है कि आर्यों के भारत में आने के बाद बहुत देर तक उन्होंने शिव को देवताओं की पंक्ति में नहीं सम्मिलित किया था। श्री क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि आर्य भारत में आक्रान्ता बन कर आये थे। उनके साथ स्त्रियाँ कम थीं। उन्होंने यहाँ की द्राविड स्त्रियों से विवाह शुरू कर दिया। द्राविड़ स्त्रियाँ शिव की उपासिका थीं। उन्होंने आर्य-ऋषियों को शिव की पूजा के लिए बाधित किया और इस प्रकार शिव-लिंग की पूजा जो द्राविड़ संस्कृति का अंग थी, आर्यों की संस्कृति में प्रविष्ट हुई। पद्म, स्कन्द, शिव पुराण में लिखा है कि ऋषियों ने शिव-लिंग पूजा को आर्य-धर्म में न आने देने का काफी प्रयत्न किया, परन्तु क्योंकि ऋषियों की द्राविड पत्नियाँ अपने पितृ-कुल के आचार को छोड़ना नहीं चाहती थीं, इसलिए आर्यों ने भी शिव-लिंग की पूजा को अपना लिया।

इसी प्रकार भक्तिवाद का मूल भी द्राविड-प्रजाति में पाया जाता है। उसी से यह भारतीय संस्कृति में प्रविष्ट हुआ। पद्म-पुराण में भक्तिवाद के लिए लिखा है—"उत्पन्ना द्राविडे चाहं कर्णाटे वृद्धिमागता, स्थिता किञ्चिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता"—अर्थात्, द्राविड देश में मेरा जन्म हुआ, कर्नाटक में कुछ बड़ी हुई, महाराष्ट्र में मैं कुछ देर टिकी और गुजरात में आकर जीर्ण हो गई। इसका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि भक्तिवाद का प्रारम्भ द्राविडों में हुआ और इस भक्तिवाद को भारतीय-संस्कृति ने अपना अंग बना लिया।

(४) मंगोल (किरात) प्रजाति की भारत को देन—मंगोल लोग जब भारत में आये तब यहाँ की संस्कृति का पर्याप्त विकास हो चुका था। ये लोग किसी खास प्रकार की सभ्यता को लेकर नहीं आये, इसलिए ये भारतीय-संस्कृति में कोई वृद्धि नहीं कर सके। इन का निवासस्थान तिब्बत और बर्मा है। इस प्रजाति की भारत में तीन शाखाएँ विद्यमान हैं—तिब्बत-हिमालयी, आसामोत्तरक तथा आसाम-बर्मी। इन का विस्तार भारत की उत्तरी तथा उत्तर-पूर्वी सीमाओं

जो भारतीय विधान को जलाते फिरते हैं ब्राह्मणो के विरुद्ध प्रचार करते हैं और राष्ट्रीय-ध्वज का अपमान करते हैं ।

मानव-शास्त्र की दृष्टि से भारत में भिन्न-भिन्न नृ-वंश, नस्लें, प्रजातियां हैं, और रही हैं। इनमें आपस में लेन-देन होकर वे एक-दूसरे में आत्म-विलय करती रही है, और एक-दूसरे को आत्मसात् भी करती रही हैं, इनमें 'अभिसार' तथा 'अपसार' की प्रक्रिया होती रही है, ये अपने स्वतत्र व्यक्तित्व को भुला-भुला कर कभी-कभी याद भी करने लगती हैं। यह प्रक्रिया चलती रहेगी, तवतक चलती रहेगी जब तक हम रंग के भेद को, जन्म के भेद को भुला नहीं देंगे। सस्कृति की दृष्टि से तो हम भूल चुके हैं कि कौन-सी बात किस सस्कृति की थी, भाषा की दृष्टि से भी हम एक-दूसरे के अधिक निकट आते चले जा रहे हैं, परन्तु अभी हममें यह भावना बनी हुई है कि अमुक व्यक्ति मेरी नस्ल का है, अमुक व्यक्ति मेरी नस्ल का नहीं है। मानव-समाज की प्रगति धीरे-धीरे इस प्रकार के प्रजाति-भेद को भूलने की तरफ बढ़ रही है।

११

आर्य-प्रजाति का आदिम निवास-स्थान

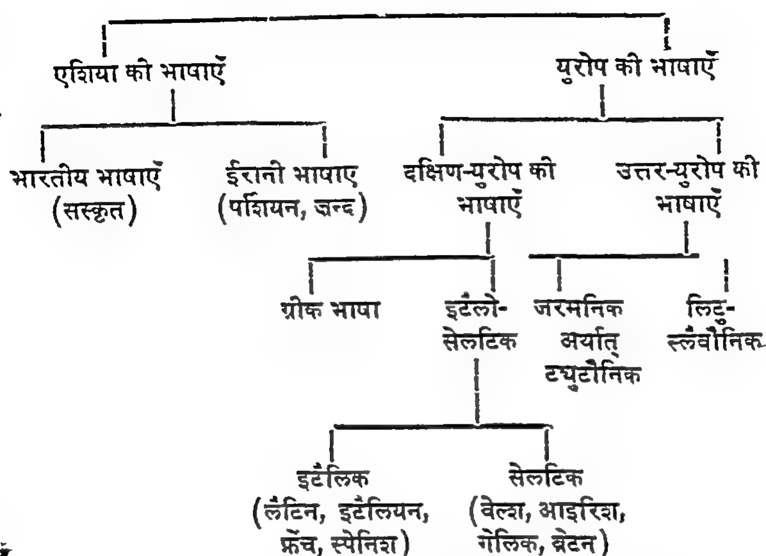
(ORIGINAL HOME OF ARYAN RACE)

हम पिछले अध्याय में भारत की प्रजातियो के सबंध में लिख आये हैं। इनमें नौर्डिक प्रजाति की वह शाखा जो भारत की तरफ आयी, उसे 'इडो-आर्यन' प्रजाति का नाम दिया जाता है। ये आर्य लोग भारत में कहाँ से आये—इस संबंध में विद्वानो के अनेक मत हैं। युरोप के विद्वान् इसी पक्ष के समर्थक हैं कि ये आर्य भारत में आक्रान्ता बन कर आये, इन्होने यहाँ के आदिवासियो के साथ युद्ध किया, उन्हें परास्त किया और इस देश में बस गये। इसके बाद इन्होने कुछ अपना लिया, कुछ आर्येतरों का लिया और भारत में एक संस्कृति का अभ्युदय हुआ। मानवशास्त्रियों के लिए इस प्रजाति के विषय में सब से बडी समस्या यह रही है कि यह आर्य-प्रजाति, जो भारत में ही नहीं समस्त संसार में फैली, इसका मूल-निवास-स्थान कहाँ था ? हम भी क्योंकि भारत में आर्य-प्रजाति का बहुत प्रबल स्थान देखते हैं, इसलिए हमारे लिए भी यह प्रश्न कम महत्व का नहीं है। इसी दृष्टि से हम इस अध्याय में आर्यो के मूल-स्थान के सबंध में जो नाना विचार हैं, उन पर प्रकाश डालेंगे। आर्यो के आदिम-निवास-स्थान के साथ ही इडो-आर्यन के निवास-स्थान का प्रश्न अपने-आप हल हो जाता है, क्योंकि जो आर्य भारत में आकर बस गये, उन्हीं का नाम 'इडो-आर्यन' है।

आर्यो के निवास-स्थान के सम्बन्ध में विद्वानों के पास सिर्फ तीन तरह की साक्षियाँ हैं। पहली साक्षी 'भाषा-शास्त्र' की है। भाषा-शास्त्र के आधार पर वे यह सिद्ध करते हैं कि जिन लोगों की एक-ही भाषा पायी जाती है, उनकी एक-ही प्रजाति होगी। क्योकि भारत, ईरान तथा युरोप में पायी जाने वाली संस्कृत, पर्शियन, लैटिन, ग्रीक भाषाओं में समानता है, इसलिए इन भाषाओं को बोलने वाले सब लोग कभी कहीं एक-ही स्थान पर रहे होंगे। यह ठीक है कि भाषा एक होने पर भी प्रजाति-भेद हो सकता है, और प्रजाति एक होने पर भी भाषा-भेद हो सकता है, परन्तु यह बात आजकल की विकसित सभ्यताओं में ही संभव है। जब सभ्यता का आदिकाल था, उस समय तो एक-प्रजाति और एक-भाषा की ही अधिक संभावना थी। इसलिए अगर भाषा-शास्त्र के आधार पर यह मान लिया जाय कि भारत, ईरान और युरोप के लोगों का आदिम-स्थान एक ही था, तो उनके निवास-स्थान की समस्या को हल करने वाली विद्वानों के पास दूसरी साक्षी यह है कि इस आर्य-

प्रजाति के शब्द-कोप तथा साहित्य में जिस प्रकार के वृक्षो, पशुओ, नदियो, जगलो, जातियो के चित्र खींचे गये हैं या जिनका वर्णन इनके साहित्य में जाता है, वे जहा हो वहीं पहले-पहल यह आर्य-जाति निवास करती होगी। अतिरिक्त भाषा तथा साहित्य भी तो सब जगह नहीं पाया जाता, इ तीसरी साक्षी जिस पर विद्वान् अपनी अटकल लडाते हैं यह है कि जो भूमि प्र काल में रहने लायक होगी, वहीं तो प्राचीन-काल के लोग निवास करते हो भूमि निवास करने लायक ही नहीं रही होगी, वहाँ वे रह ही कहाँ सकते हो तीनों साक्षियाँ जहाँ समान रूप से पायी जायें, वही आर्यो का आदिम-निवास माना जाना चाहिए।

इन तीनो साक्षियो में सब से प्रबल साक्षी विद्वानो के लिए भाषा-की रही है। इस साक्षी के १८वीं सदी के अन्त में प्रजाति-निर्धारण के आते ही पाश्चात्य-विद्वानो में एक तहलका-सा मच गया। सबसे पहले विद्वान् केअर्दु ने १७६७ में विद्वानो का ध्यान इस बात की तरफ खींचा कि र लैटिन तथा ग्रीक में शब्दो की ही नहीं, व्याकरण की भी समानता है। बाद १७८६ में बगाल के प्रधान-न्यायाधीश सर विलियम जोन्स ने इस का प्रतिपादन किया और एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बगाल के सामन आशय का एक निबन्ध पढा। उन्होने बताया कि सस्कृत में 'पितृ', लै 'पेतर', ग्रीक में 'पतेर', जिन्द में 'पैतर', अग्रेजी में 'फादर' मिलते-जुलते श इसी प्रकार 'मातृ', 'भ्रातृ', 'स्वसा', 'दुहिता' आदि शब्दो की इन भाष समानता की तरफ उन्होने विद्वानो का ध्यान खींचा। रिश्तेदारी के इ शब्दो में असाधारण समानता के कारण यह सब ने स्वीकार किया कि लैटिन, ईरानियन तथा अन्य आर्यन प्रजातियो का मूल अवश्य एक रहा सर विलियम जोन्स की इस स्थापना पर हीगल ने तो यहाँ तक कह डाला स्थापना एक नवीन-आविष्कार से किसी प्रकार कम नहीं। अगर इन प्रजा शब्दो में, इन की भाषा के व्याकरण में इतनी महान् समानता है, तो यह स्मिक नही हो सकती। विद्वानो ने इस समानता के आधार पर एक प निकाला। उन्होंने कहा कि ये भिन्न-भिन्न भाषाएँ अवश्य किसी एक मूल-भ निकली होगी और जिस प्रजाति की मूल-भाषा से ये निकली होगी, वही असल में आर्य-नस्ल रही होगी, और जहाँ वह आर्य-नस्ल रही होगी, वही जाति का मूल-निवास-स्थान कहा जा सकता है। ये विद्वान् यह नहीं मा सस्कृत से ग्रीक, लैटिन, पर्शियन आदि निकली है, यह भी नहीं मानते कि लैटिन आदि से सस्कृत आदि भाषाएँ निकली हैं। इन सब भाषाओ को तो ये भाषाएँ मानते हैं, परन्तु इनका उद्भव किसी एक आर्य-भाषा से मानते सस्कृत, ग्रीक, लैटिन, पर्शियन आदि सब भाषाओ की जननी है। उनका भ का वर्गीकरण निम्न प्रकार है —



उक्त चित्र से स्पष्ट है कि संस्कृत, पर्शियन, जन्द, ग्रीक, लैटिन, इटैलियन, फ्रेंच, स्पेनिश, वेल्श, आइरिश, गेलिक, ब्रेटन, जर्मन, स्लावोनिक आदि एशिया तथा युरोप की सब भाषाएँ किसी एक मूल-भाषा से निकली हैं जो इन सब की जननी है। यह मूल आर्य-भाषा जो लोग बोलते थे, वे शुरू-शुरू के आर्य थे, उन्हीं की सन्तान भिन्न-भिन्न देशों में बिखर गई। प्रश्न यह रह जाता है कि आर्यों के ये पूर्वज कहाँ रहते थे? इस संबंध में कई विचारक युरोप का कोई देश इनका निवास-स्थान मानते हैं, कई एशिया का कोई देश। युरोप में इनका निवास-स्थान मानने वाले डैन्यूब नदी की घाटी अर्थात् हंगरी का मैदान, दक्षिणी रूस तथा जर्मनी में से किसी स्थान को आदि-आर्यों का निवास-स्थान सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। एशिया में इनका निवास-स्थान मानने वाले मध्य-एशिया, पामीर-प्रदेश आदि में से किसी स्थान को आदि-आर्यों का निवास-स्थान सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। कई भारतीय विद्वान् सप्त-सिन्धु-देश अर्थात् भारत को यह श्रेय देते हैं और कहते हैं कि इसी देश से चारों तरफ आर्य लोग अपनी भाषा तथा संस्कृति को लेकर फैले। श्री बाल गंगाधर तिलक उत्तरी-ध्रुव को आर्यों का आदि-निवास-स्थान मानते हैं। हम इनमें से मुख्य-मुख्य विचारों को लेकर उन पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

१ हंगरी का मैदान या डैन्यूब नदी की घाटी

हंगरी या डैन्यूब नदी की घाटी के प्रदेश को श्री गाइल्स ने आर्यों का आदि निवास-स्थान सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया'

के प्रथम भाग में इसी मत का प्रतिपादन किया गया है। श्री गाइल्स का कथन है कि डैन्यूब नदी की घाटी में जो लोग निवास करते थे, उनकी भाषा से हमें ज्ञात होता है कि यहां के निवासी किन-किन पशुओ तथा वनस्पतियो एव वृक्षो से परिचित थे। पशुओ में ये गाय, बैल, भेड, घोडा, कुत्ता, सुअर, हिरण, गधा, खच्चर, हाथी से परिचित थे, जगली पशुओ में भेडिया तथा भालू का इन्हें ज्ञान था, बाघ व सिंह से वे अपरिचित थे, वत्तख तथा गिद्ध को वे जानते थे। वनस्पतियो में गेहूँ तथा जौ को ये लोग अपने इस्तेमाल में लाते थे। यह क्षेत्र गिरि-शृखला तथा जल द्वारा अन्य प्रदेशो से अलहदा था। इस क्षेत्र में जो पशु-पक्षी तथा वृक्ष-वनस्पति उत्पन्न होते थे, वे शीतोष्ण कटिबन्ध के प्रदेश में ही उत्पन्न हो सकते थे। ऐसा प्रदेश युरोप में हगरी के सिवाय और दूसरा कौन है? इस युक्ति के आधार पर श्री गाइल्स ने डैन्यूब नदी की घाटी को प्राचीन-आर्यो का निवास-स्थान घोषित किया और कहा कि आर्यों की प्रजाति की धाराएँ इसी स्थान से दुनियां के कोने-कोने में वहीं।

श्री गाइल्स की यह विचार-धारा बहुत-कुछ इसलिए है क्योकि वे युरोप के वासी है। युरोपियन लोगों को भी यह इसीलिए अपील करती है, क्योंकि इससे उनको आत्म-गौरव अनुभव होता है, अन्यथा जैसी प्राकृतिक-परिस्थिति का उन्होंने वर्णन किया है वैसी प्राकृतिक-परिस्थिति भारत तथा अन्य देशो में भी पायी जाती है।

२ दक्षिणी रूस

श्री नेहरिंग, प्रो० मायर्स तथा प्रो० चाइल्ड ने कैस्पियन सागर के पूर्व, रूस के दक्षिणी हिस्से में आदिम आर्यो के निवास-स्थान की कल्पना को जन्म दिया। यूक्राइन में कुछ पात्र मिले है जो ३ हजार ईस्वी पूर्व के है। इनके तथा अन्य पुरातत्व-सबधी अवशेषो के आधार पर उक्त कल्पना की गई है। इन पुरातत्व-सबधी अवशेषो के अतिरिक्त तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आधार पर भी प्रो० मायर्स ने दक्षिणी रूस के आदिम-आर्यो के निवास-स्थान होने की कल्पना को पुष्ट किया है। इस स्थान के लोग कृषि करने लगे थे, बस्तियां बसा कर रहते थे, पत्थरो के अतिरिक्त धातु के उपकरणों का भी प्रयोग करते थे। भेड, बकरी, गाय, घोडे को पालतू बना चुके थे। कैस्पियन सागर के पूर्व, दक्षिणी-रूस के हिस्से में भिन्न-भिन्न स्थानों पर कुछ समाधियां मिली है। प्रो० चाइल्ड का मत है कि ये समाधियां आर्य लोगो की ही बनाई हुई है। आर्य-लोग दक्षिणी रूस के इसी स्थान से ससार के अन्य स्थानो में फैले। प्रो० गाइल्स ने, जिनका जिक्र ऊपर डैन्यूब नदी के सिलसिले में आ चुका है, इस मत का यह कह कर खडन किया है कि जो बातें आर्यो के आदि-निवास की पहचान के लिए कही जाती है वे दक्षिणी रूस के इस प्रदेश में नहीं मिलतीं। इस सब के बावजूद पाश्चात्य-विद्वानो का झुकाव इसी मत की तरफ है।

३. स्कैन्डीनेविया

श्री पेन्का ने यह कल्पना की है कि प्राचीन-आर्यों का मूल-स्थान जर्मनी या जर्मनी का आस-पास का कोई प्रदेश था। उनकी स्थापना के अनुसार स्कैन्डीनेविया ही ऐसा प्रदेश है जहाँ से आदि-आर्य पृथ्वी के सब भागो पर फैलने प्रारभ हुए। पेन्का तथा इनके समर्थको का कहना है कि 'पूर्व-पाषाण-युग' के समाप्त होने के बाद जब 'नव-पाषाण-युग' प्रारभ हुआ, उसी युग में आदि-आर्य प्रकट हुए। इस युग के उपकरण स्कैन्डीनेविया में, पश्चिम बाल्टिक समुद्र के किनारे तथा जर्मन-प्रदेशो में उपलब्ध होते है, अत ये प्रदेश ही आदि-आर्यों के निवास-स्थान हो सकते है। परन्तु 'नव-पाषाण-युग' के ध्वसावशेष तो जर्मन-प्रदेशो को छोड कर अन्य प्रदेशो में भी पाये जाते है। उदाहरणार्थ, न्यू जीलैण्ड में भी 'नव-पाषाण-युग' के अवशेष प्राप्त हुए है। पोलैण्ड, युक्राइन में भी 'नव-पाषाण-युग' के ज्यामितिक आकार के पात्र उपलब्ध हुए है। भारत के विषय में लिखते हुए हम बतला आये है कि 'नव-पाषाण-युग' के ज्यामितिक आकार के पात्र भारत में भी पाये गये है। इन सब कारणों से उक्त प्रदेशों में से एक को क्या, सब को आदि-आर्यों का निवास-स्थान घोषित करना पडेगा। असल में, इन सब स्थानो पर आर्य पहुँचे थे—इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इन सब दूर-दूर के स्थानो में एक-सरीखे 'नव-पाषाण-युग' के उपकरण मिलते है इसी से सिद्ध होता है कि यद्यपि ये सब प्रजातियाँ एक ही थीं, तो भी वे इन स्थानो की न होकर किसी अन्य स्थान से इन स्थानो में पहुँची थीं, अन्यथा इन उपकरणो में समानता क्यो है? समानता का कारण तो यही हो सकता है कि ये सब किसी एक समान स्थान से आये हों।

४ मध्य-एशिया

पाश्चात्य-देशो में जिन-जिन स्थानो को आर्यों का आदि-निवास कहा जाता है उसका वर्णन हमने किया। तुलनात्मक भाषा-शास्त्र का जब से प्रारभ हुआ तब से यह विचार पैदा हुआ कि आर्य-भाषाएँ बोलने वाले सब एक रक्त के है, और उनका आदि-स्थान ढूंढा जाने लगा। युरोप के विद्वानों के लिए यह विषय आत्म-सम्मान का था इसलिए अनेक विद्वानो ने युरोप के किसी देश में इस आदि-स्थान को ढूंढने का प्रयत्न किया, परन्तु इन स्थानो में से कोई स्थान ऐसा प्रतीत नहीं होता, जिसे निश्चित तौर पर आर्यों का आदि-निवास-स्थान कहा जा सके। युरोप के अतिरिक्त अन्य स्थान जिधर विद्वानों का ध्यान गया, 'मध्य-एशिया' है। मध्य-एशिया में ईरान से उत्तर तथा कैस्पियन सागर के पूर्व में वैक्ट्रिया नामक एक प्रदेश है। मैक्समूलर ने मध्य-एशिया के इस प्रदेश को आर्यों का आदि-निवास घोषित किया। उनका कहना था कि ऋग्वेद ही ऐसा ग्रन्थ है जो प्राचीन-आर्यों के इतिहास में सब से प्राचीन है। पारसियों के धर्म-ग्रन्थ का नाम जिन्दावस्था है। ऋग्वेद तथा जिन्दावस्था में शब्दो की इतनी समानता है कि यह कहना असगत न होगा कि ऋग्वेद तथा जिन्दावस्था के आर्य दोनो किसी समय एक ही जगह रहते

खत्तनी जातियाँ एक-दूसरे के पास-पड़ोस में थीं इसलिए इनका आपस में संघर्ष भी चलता था। १३८० ई० पू० के लगभग इनकी आपस में सन्धि हो गई। यह सन्धि मट्टी की तख्तियो पर उत्कीर्ण है। यह सन्धि मित्तनी के राजा दशरत्त के पुत्र मतिउत और खत्ती के राजा सुबुलुलिम के बीच हुई है। इन पट्टियों पर सन्धि के साक्षी के रूप में मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यौ—इन देवताओं का उल्लेख है। इन देवताओं के नामो को लिखा भी अपने विशेष ढग से गया है। मित्र को मि-इत्-अस्, वरुण को व-अर-रु-उण-अस, इन्द्र को इन्-द-र, नासत्यौ को ना-स-अति-इय— इस प्रकार लिखा गया है। प्राचीन-काल में वैदिक पदों को इस प्रकार लिखने और पढने की प्रथा थी। ये पट्टियाँ बोगजकोई स्थान पर मिली हैं। इन पट्टियो से यह सिद्ध होता है कि मध्य-एशिया की ये मित्तनी तथा खत्तनी प्रजातियाँ आर्यों की ही शाखाएँ थीं, तभी तो वैदिक देवताओ को जो ऋग्वेद में पाये जाते हैं, साक्षी रख कर वे सन्धि करती थीं।

बोगजकोई में मट्टी की तख्तियो पर उत्कीर्ण एक पुस्तक भी मिली है जिसका विषय रथ-चालन है। यह पुस्तक मित्तनी-प्रजाति के किक्कुली नामक व्यक्ति की लिखी हुई है। इस पुस्तक में पहियो के घूमने के लिए 'आवर्त्तन्न' शब्द का प्रयोग किया गया है जो सस्कृत का 'आवर्तन' है। इसी प्रकार इस पट्टी पर एक-चक्कर के लिए 'ऐकवर्तन्न', तीन-चक्करो के लिए 'तेरवर्तन्न', पाँच-चक्करो के लिए 'पज-वर्तन्न', सात-चक्करों के लिए 'सत्तवर्तन्न' शब्दो का प्रयोग किया गया है। इससे भी सिद्ध होता है कि मध्य-एशिया की इस मित्तनी प्रजाति की भाषा संस्कृत से मिलती-जुलती थी और कभी मध्य-एशिया आदि-आर्यों का निवास-स्थान था।

एल-अमरना स्थान पर कुछ तख्तियाँ मिली हैं जिन पर मित्तनी राजाओ के नाम उत्कीर्ण हैं। इन नामो में अर्ततम, दशरत्त आदि नाम मिले हैं। ये भी सस्कृत नाम हैं।

ऊपर हमने जो विवरण दिया उससे स्पष्ट है कि मध्य-एशिया की कस्साइत, मित्तनी तथा खत्तनी प्रजातियाँ आर्य थीं और इनका निवास-स्थान मध्य-एशिया का ही कोई प्रदेश था।

५ सप्त-सैन्धव या भारत

आर्यों का आदि-स्थान सप्त-सिन्धु देश था, वह देश जिसमें सरस्वती, शतद्रु (सतलज), विपासा (व्यास), परुष्णी (रावी), असिक्नी (चिनाव), वितस्ता (जेहलम) और सिन्धु (सिन्ध) बहती थीं—यह स्थापना श्री अविनाश चन्द्र दास ने 'Rigvedic India'-नामक पुस्तक में की है। यह प्रदेश भारत का पजाब प्रान्त है जिसका बहुत बड़ा हिस्सा अब पाकिस्तान में चला गया है। श्री गगानाथ झा, डा० एल० डी० कल्ला तथा श्री डी० ए० त्रिवेदी भी इसी पक्ष के समर्थक हैं।

श्री अविनाशचन्द्र दास ने भूगर्भ-शास्त्र के प्रमाणो से यह दर्शाया है कि किसी समय वर्तमान राजपूताना के रेगिस्तानी प्रदेश में समुद्र था। इसी प्रकार

पूर्वी उत्तर-प्रदेश, बिहार और बंगाल के प्रदेशों में भी समुद्र था। राजपूताना के समुद्र को दक्षिणी-समुद्र और पूर्वी उत्तर-प्रदेश, बिहार, बंगाल के समुद्र को आर्य लोग पूर्वी-समुद्र कहते थे। ऋग्वेद में पूर्वी-समुद्र और दक्षिणी-समुद्र का वर्णन आता है, यह भारत के ही इन दो समुद्रों का वर्णन है। जो लोग भारत को आर्यों का आदि-निवास-स्थान मानते हैं, उनका कहना है कि ऋग्वेद में इन दो समुद्रों का वर्णन सिद्ध करता है कि जिस काल में उक्त प्रदेशों में समुद्र था, उस काल में ऋग्वेद बना, और उस काल में आर्य लोग सप्त-सिन्धु प्रदेश में रहते थे। इसी सप्त-सिन्धु प्रदेश से कालान्तर में आर्य लोग देश-देशान्तर में फैले। भारत की अनुश्रुति भी यही है—'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन, स्व-स्व चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानवा'—पृथ्वीभर के मानव इस देश में उत्पन्न हुए पुरुषों से ही सब-कुछ सीखें। मैक्समूलर ने जैसे वैदिक तथा जिन्दावस्था के देवताओं की समानता दर्शा कर मध्य-एशिया को आर्यों का मूल-स्थान सिद्ध किया है, वैसे ही श्री अविनाश चन्द्र दास ने इन्हीं समानताओं के आधार पर भारत को पारसियों तथा वैदिक आर्यों का मूल-स्थान कहा है। उनका कहना है कि आर्यों की एक शाखा 'असुर' की उपासक थी, वे अपने देवता को 'अहुर्मज्द' (असुर महत्) कहती थी और उसी की पूजा करती थी। वैदिक आर्य इन्द्र आदि देवताओं की पूजा करते थे। इस बात पर दोनों का संघर्ष छिड गया और वैदिक आर्यों ने असुर की उपासना करने वाले आर्यों को भारत से मार भगाया। वे लोग यहां से ईरान जाकर बस गये। जैसे असुर के उपासक ईरान जा बसे, वैसे आर्यों की एक और शाखा थी जिसे वेदों में 'पणि' कहा गया है। ये 'पणि' क्या थे, वणिक् थे, व्यापारी थे। ये लोग भी व्यापार में कुशल होने के कारण देश-विदेश में व्यापार करने के लिए जाने लगे और पश्चिम में जाकर फिनीशिया में जा बसे। इन्हीं को 'प्यूनिक' कहा जाता है। 'प्यूनिक'-शब्द वैदिक 'पणि' (वणिक्) का ही अपभ्रंश है।

आर्यों का आदि-स्थान मध्य-एशिया था इस संबंध में हमने जो युक्तियां दी है, वे सब आर्यों के भारत में निवास-स्थान होने के लिए भी दी जा सकती हैं। यह कहा जा सकता है कि वैदिक आर्यों की एक शाखा कस्साइत मध्य-एशिया में भारत से गई और यहां से 'सूर्य' तथा 'मरुत्' देवताओं की उपासना का विचार ले गई। यह कहा जा सकता है कि दजला तथा फरात नदियों की घाटियों में पौरव तथा इक्ष्वाकु का नाम आर्यों की ही कोई शाखा ले गई। यह कहा जा सकता है कि मित्ती तथा खत्ती लोग भी आर्य-शाखाओं के थे, जो भारत से ही मध्य-एशिया में मित्र, वरुण, इन्द्र तथा नासत्यौ देवताओं का नाम अपने संग ले गये थे।

६ उत्तरी ध्रुव

वेदों के आधार पर भारत के प्रसिद्ध विद्वान् लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आर्यों का मूल-स्थान आर्कटिक देश अर्थात् उत्तरी-ध्रुव था। ऋग्वेद जब बना तब तो आर्य लोग सप्त सैन्धव देश में पहुँच चुके थे, परन्तु ऋग्वेद के मंत्रों में उस काल की स्मृति उनमें बनी हुई थी

जब वे उत्तरी-ध्रुव में निवास करते थे। लोकमान्य तिलक का कथन है कि ऐसा प्रतीत होता है कि जब उत्तरी-ध्रुव की प्राकृतिक स्थिति ऐसी हो गई कि वहाँ रहा नहीं जा सकता था, तब वे उस स्थान को छोड कर पहले ईरान के मैदानो में आ बसे, और बाद को भारत में आ गये। आर्य लोग पहले जहाँ थे, वहाँ 'हिम' (Glacials) था, तभी उन्होंने ऋग्वेद में कहा 'तरेम तरसा शत हिमा'—अर्थात् हम सैकडो हिम-काल जीयें। हिम-युगो का वर्णन हम इस पुस्तक में पहले ही कर आये है। जब हिम उनके लिए असह्य हो गया, तब वे ऐसे स्थान में आ गये जहाँ हिम तो नहीं था, परन्तु जो देश शरत्-प्रधान था, इसलिए उन्होंने 'जीवेम शरद शतम्'—हम सौ शरद् ऋतुओं का आनन्द भोगें—यह कहा। पहले वे हिम-काल वाले प्रदेश में रहते थे, फिर वे शरत्-काल वाले प्रदेश में रहने लगे। श्री तिलक का कहना है कि ऋग्वेद के कई सूक्तो में छ मास के दिन का वर्णन आता है। एक सूक्त में ऐसी उषा का वर्णन है जो समाप्त ही नहीं होती। छ: मास के दिन और समाप्त न होने वाली उषा उत्तरी-ध्रुव के अलावा अन्य किसी स्थान में नहीं पायी जाती, मध्य-एशिया तथा भारत में तो ऐसे दिन और ऐसी उषा का कहीं पता भी नहीं। इन युक्तियो के आधार पर श्री तिलक ने उत्तरी-ध्रुव को आर्यों का आदि-निवास-स्थान सिद्ध किया है, परन्तु उनके इस मत से विद्वान् सहमत नहीं।

हमने आर्यो के मूल-देश के विषय में जो भिन्न-भिन्न मत है, उनका सक्षिप्त वर्णन किया। ये सब मत कल्पना के आधार पर खडे किय गये है। इनमें से कौन-सा ठीक है, कौन-सा गलत—यह तो कोई प्राचीन-युग का आर्य ही बतला सकता है। हम तो इन सब का वर्णन करने के सिवाय और कर ही क्या सकते है?

१२
प्रजातिवाद
(RACISM)

१ प्रजातिवाद की व्याख्या

जेकब्स तथा स्टर्न[1] ने 'प्रजातिवाद' की व्याख्या करते हुए लिखा है कि जातिवाद वह वाद है जिसके अनुसार मानव-समूह को इस प्रकार भिन्न-भिन्न गों में बांटा जाता है जिससे यह प्रतीत हो कि उनमें से प्रत्येक समूह के दूसरे मूहो से पृथक्, शारीरिक, मानसिक तथा स्वभाव-सम्बन्धी ऐसे अपने खास गुण हैं ो दूसरे समूहो में नहीं पाये जाते । इन्हें विभेदक-गुण कहा जा सकता है। ये विभेदक-गुण वश-परम्परा से आते हैं, इन पर समाज, शिक्षा अथवा पर्यावरण ा कोई प्रभाव नहीं पडता। इन गुणों के अनुसार प्रजातियाँ तथा उप-प्रजातियाँ क-दूसरे से श्रेष्ठ तथा हीन होती हैं, और वशानुसक्रमण द्वारा ही किसी प्रजाति या उप-प्रजाति की सस्कृति वनती है।

इस व्याख्या से यह स्पष्ट है कि 'प्रजातिवाद' के आधार में जो बातें हैं, न्हें हम निम्न प्रकार प्रकट कर सकते हैं —

(क) मनुष्य-मनुष्य में शारीरिक वनावट, मानसिक विकास तथा स्वभाव में भेद पाया जाता है,

(ख) इस भेद का आधार वशानुसक्रमण है, शिक्षा, समाज या पर्यावरण नहीं,

(ग) इस भेद के कारण कोई समाज उन्नति कर सकता है, कोई नहीं,

(घ) वशानुसक्रमण के कारण जो समाज उन्नति कर सकता है, वह श्रेष्ठ हैं, वशानुसक्रमण के कारण जो समाज उन्नति नहीं कर सकता, वह हीन है।

दूसरे शब्दो में, प्रजातिवाद का दावा है कि भिन्न-भिन्न नस्लों को शरीर की भिन्न-भन्न रचना, खास कर के उनकी खोपडी का परिमाण, मस्तिष्क का तोल, बुद्धि-

---

1 "Racism holds that each population is characterized by a cluster of inherited physical, mental and temperamental features peculiar to itself, or other environmental influences, that there are innately superior and inferior races and ethnic sub-divisions, and that hereditary factors determine every phase of a people's cultural life"—*Jacobs and stern*

परीक्षा के परीक्षणो से उनकी वुद्धि का माप तथा उनके भिन्न-भिन्न स्वभाव तथा आचार सिद्ध करते हैं कि वे नस्लें एक-दूसरे से इतनी भिन्न हैं कि उनमें किसी प्रकार की समता हो ही नहीं सकती। इन भिन्नताओ के आधार पर उनमें से कोई श्रेष्ठ तथा कोई हीन है। उदाहरणार्थ, 'प्रजातिवाद' का कथन है कि नीग्रो नस्लों से कॉकेशियन नस्लें श्रेष्ठ हैं, कॉकेशियन नस्लो में भी नॉर्डिक-नस्लें सबसे श्रेष्ठ हैं। हम इस अध्याय में इन सब बातो का विवेचन करेंगे।

२ प्रजातिवाद का प्रारभ

१८-१९वीं शताब्दी में 'प्रजातिवाद' के सिद्धान्त का प्रारभ हुआ। इसके प्रारंभ होने के दो कारण थे। पहला कारण तो यह था कि जब युरोपियन विद्वानों ने सस्कृत का अध्ययन शुरू किया तब उन्हें सस्कृत की पर्शियन, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओ के साथ समानता देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ। इस समानता का हम पहले वर्णन कर आये हैं। इस समानता को विद्वानो के सामने लाने में फ्रास के केअर्दु तथा अग्रेज विद्वान् सर विलियम जोन्स ने बडा भाग लिया था। इनके बाद मैक्स-मूलर ने इस दिशा में बहुत बडा काम किया। इन सब विद्वानो के अध्ययन से यह बात मानी जाने लगी कि बास्क, मगयार तथा फिनिश भाषा को छोड कर युरोप की सभी भाषाएँ सस्कृत और ईरानी परिवार की हैं। इस प्रकार प्रजातीय दृष्टि-कोण से विद्वानो के सम्मुख एक विशाल प्रजाति उठ खडी हुई जो भारत से लेकर मध्य-एशिया में से होती हुई युरोप के दूरतम प्रदेशो में बिखरी हुई थी। क्योंकि यह प्रजाति भाषाओं की समता के आधार पर भारत से युरोप तक पायी गई, इसलिए इसका नाम इडो-युरोपियन रखा गया। क्योंकि वेदों के आधार पर यह आर्य-प्रजाति थी, इसलिए इसका नाम आर्य-प्रजाति भी रखा गया। यह इडो-युरोपियन आर्य-प्रजाति जहाँ-जहाँ भी पायी गई, सभ्यता के उच्च-स्तर पर पायी गई। ससार में आगे बढ़ी तो यही आर्य-प्रजाति, आविष्कार किय तो इसी आर्य-प्रजाति ने, साहित्य का निर्माण हुआ तो इसी आर्य-प्रजाति में, आज भूमडल पर शासन कर रही है तो यही आर्य-प्रजाति। इस सब के आधार पर प्रजातिवादियो ने यह परिणाम निकाला कि यह आर्य-प्रजाति ही ससार की सब प्रजातियों में सर्वश्रेष्ठ है। आर्य-प्रजाति के सर्वश्रेष्ठ होने के सिद्धान्त को 'आर्यवाद' (Aryanism) कहा जाने लगा।

प्रजातिवाद के प्रारभ होने का पहला कारण तो भाषा-विज्ञान था, इसके प्रारभ होने का दूसरा कारण १८-१९वीं सदी का साम्राज्यवाद भी था। हर देश दूसरे देशों को खा जाना चाहता था, अपने साम्राज्य का विस्तार करना चाहता था। एक तरफ अग्रेज थे, दूसरी तरफ जर्मन थे, तीसरी तरफ फ्रेंच थे। ये सब अपने-अपने उपनिवेश बढ़ाने में जुटे थे ताकि उन उपनिवेशों से कच्चा माल ले जा सकें, अपने देशों के कल-कारखानों को समृद्ध कर सकें। इन्हें सस्ते मजदूरों की भी जरूरत थी जिससे दासों की तरह मुफ्त का काम ले सकें। 'प्रजातिवाद' ने इनके हाथ में एक ऐसा हथियार दे दिया जिसके सहारे ये अन्तरात्मा की धिक्कार को अनसुना कर सकते थे। अगर उपनिवेशो के रहने वाले लोग, नीग्रॉयड

प्रजाति के वशज या इसी तरह की अन्य प्रजातियाँ पैदाइश से ही निम्न-स्तर की हैं, तब इनसे भाड़े के टट्टू का काम लेना वेजा क्यों हो सकता है ? अगर इनको जानवरों की तरह ख़रीदा-बेचा जाय, तो भी क्या हर्ज है। ऐसा होता भी रहा। नीग्रो लोगों का बाकायदा शिकार किया जाता रहा। ऐसी कम्पनियाँ बनीं जो इनको पकड़ कर लाती थीं और बाज़ार में बेचती थीं। ऐसा नहीं होना चाहिए—यह हल्की-सी आवाज़ जो तबीयत में उठती थी, उसे 'प्रजातिवाद' ने शान्त कर दिया। एक तरह से अगर यह कहा जाय कि साम्राज्यवाद की प्रजातिवाद एक आवश्यक उपज थी तो कोई अत्युक्ति न होगी।

३. 'आर्यवाद' या 'नौर्डिसिज़्म'

क्योंकि युरोप का हर मुख्य देश अपने को समृद्ध बनाने के लिए 'प्रजातिवाद' का लाभ उठाना चाहता था, कोई युक्ति ढूंढना चाहता था जिससे दूसरों पर अत्याचार करने के कारण अन्तरात्मा की उठती आवाज़ को चुप कराने का बहाना मिल सके, इसलिए युरोप के हर मुख्य देश ने 'आर्यवाद' को अपने-अपने ढंग पर ढालना शुरू किया। 'आर्य-वाद' (Aryanism) को 'नौरडिक-वाद' (Nordicism) भी कहा जाता है। आर्य लोग 'लम्बे-सिर' (Dolichocephalic) के थे और उत्तरी-युरोप में रहते थे, इसलिए उत्तर में रहने के कारण इन्हें 'नौर्डिक' नाम दिया गया। अंग्रेजी में उत्तर के लिए 'नौर्थ' तथा जर्मन में 'नौर्ड'-शब्द है। 'नौर्ड' से ही 'नौर्डिक' बना। इस दृष्टि से 'आर्यवाद' तथा 'नौर्डिसिज़्म' का एक ही अर्थ है। यह 'नौर्डिसिज़्म' युरोप के हर देश में भिन्न-भिन्न रूप धारण कर गया। इंगलैण्ड में आर्यों की ऐंग्लो-सैक्सन शाखा है, इसलिए इंगलैण्ड में 'नौर्डिसिज़्म' का नाम 'ऐंग्लो-सैक्सनवाद' (Anglo-Saxonism) हो गया, जर्मनी में आर्यों की ट्यूटौनिक शाखा है, इसलिए जर्मनी में 'नौर्डिसिज़्म' का नाम 'ट्यूटनवाद' (Teutonism) हो गया, फ्रांस में आर्यों की गैलिक शाखा है, इसलिए फ्रांस में 'नौर्डिसिज़्म' का नाम 'गैलिकवाद' (Gallicism) हो गया।

४ प्रजातिवाद के आधार पर श्रेष्ठता

नस्ल के कारण जो शारीरिक-भेद दिखलाई देते हैं, इन्हें आधार बनाकर भिन्न-भिन्न प्रजातियों ने अपनी श्रेष्ठता की जो घोषणा करनी शुरू की उससे दुनिया में एक नई लहर चल पड़ी। वैसे तो यह सिद्धान्त प्रायः सभी युरोपियन देशों में थोड़ा-बहुत चला हुआ है, परन्तु पिछले दिनों जर्मनी में इसका बहुत प्रचार हुआ, ख़ास कर हिटलर के नाज़ीवाद का तो यह एक मुख्य सिद्धान्त हो गया। हिटलर का कहना था कि संसार की सब नस्लों में 'आर्य'-नस्ल के लोग, जिन्हें 'नौर्डिक' कहा जाता है, सर्व-श्रेष्ठ हैं। जैसा हम अभी कह आये हैं, 'नौर्डिक' अर्थात् 'आर्य' (Nordic or Aryan)-नस्ल के कई अवान्तर भेद हैं—इनमें से 'ऐंग्लो-सैक्सन' (Anglo-Saxon), 'ट्यूटौनिक' (Teutonic) तथा 'गैलिक' (Gallic) मुख्य हैं, जो क्रमशः इंगलैण्ड, जर्मनी तथा फ्रांस में बसते हैं।

हिटलर का कहना था कि इन तीनों में भी केवल ट्यूटोनिक-नस्ल के लोगो में शुद्ध-नौर्डिक रुधिर है। १९३३ में हिटलर ने जर्मनी में सत्ता प्राप्त करने के वाद नौर्डिक-वाद पर बहुत बल देना शुरू कर दिया था। १९३८ में हिटलर से सधि कर लेने पर मुसोलिनी ने भी घोषणा कर दी थी कि इटली में भी शुद्ध-नौर्डिक रुधिर के लोग रहते हैं। हिटलर तथा उसके अनुयायियो ने यह कहना शुरू किया कि आजतक नौर्डिक-नस्ल ने ही ससार में सभ्यता को जन्म दिया है, इसे वढाया है। ग्रीस तथा रोम के लोग नौर्डिक-नस्ल के थे। नौर्डिकवाद को जर्मनी में इतना वढाया गया कि यह सिद्ध किया जाने लगा कि ससार में जो भी महापुरुष हुए हैं, वे सब 'नौर्डिक' थे। ईसा, मुहम्मद, चगेज खाँ—इन सब में नौर्डिक रुधिर वह रहा था। जो 'नौर्डिक' नहीं है, वे ससार को कोई चीज नहीं दे सकते। यहूदी-लोग नौर्डिक नहीं हैं, नीची नस्ल के हैं, उनके साथ विवाह-सबध से शुद्ध नौर्डिक रक्त अपवित्र हो जायगा, इसलिए हिटलर ने उन्हें जर्मनी से निकाल वाहर किया। 'नौर्डिकवाद' के समर्थकों का कहना है कि आर्य-जाति के वशजो के भीतर सहस्रों महत्वाकाक्षाएँ छिपी पडी हैं। इन महत्वाकाक्षाओं को, इन उमगो को क्रियात्मक जामा पहनाने के लिए इस नस्ल के लोग सदा प्रयत्नशील रहते हैं, इसलिए ये सदा ससार को कोई-न-कोई नवीन वस्तु देते रहते हैं। जिन प्रजातियो के हृदय में किसी प्रकार की आकांक्षाएँ, उमगें ही नहीं, वे ससार को क्या देंगे और स्वय क्या हासिल करेंगे ? अबतक नौर्डिक ही शासन करते रहे हैं और ससार में आगे भी नौर्डिक ही शासन करेंगे। इसी भावना को लेकर हिटलर द्वितीय विश्व-युद्ध में कूद पडा था और सारे ससार में उसने रक्त की होली खेलनी शुरू कर दी थी। प्रजातिवाद का जो परिणाम हो सकता है, उसका हिटलर ने एक नगा नाच कर के दिखा दिया।

नस्ल के आधार पर अपने को श्रेष्ठ मानने का सिद्धान्त अमरीका में भी कम नहीं है। वहाँ के नीग्रो लोगो को दासता से मुक्त कर दिया गया है, परन्तु उनका सभ्य समाज से बहिष्कार है। कु-क्लक्स-क्लान (Ku-Klux-Klan) नाम की गुप्त सस्था नीग्रो लोगों का वध तक कर देती है। शुरू-शुरू में अमरीका में चीनियों को कुली के तौर पर भर्ती कर के ले आया गया था, परन्तु उस देश में उनके साथ ऐसा दुर्व्यवहार हुआ कि १८९० में उनकी जन-सख्या जो १ लाख थी, वह अब ८० हजार से भी कम रह गई है। अमरीका में गन्दी-गन्दी वस्तियो में चीनी पडे हैं, इन वस्तियो का नाम 'चाइना-टाउन' है। चीनी और जापानियों के साथ अमरीका में जो व्यवहार होता रहा, उसी का उग्र-रूप 'पीला-खतरा' (Yellow peril)—इस नाम से प्रसिद्ध हुआ। अमरीकी लोग कहने लगे कि इन नस्लों से अमरीका को खतरा पैदा हो गया है, अत इनके बहिष्कार के कानून वनने लगे। रग के आधार पर बनी यह जात-पाँत भारत की जात-पाँत से कम उग्र नहीं, कुछ अशो में अधिक कठोर है। दक्षिणी-आफ्रीका में काले-गोरो का जो भेद चल रहा है, वह भी नस्ल के आधार पर बनी अपने को श्रेष्ठ मानने की नीति का ही परिणाम है। दक्षिणी-आफ्रीका की नस्ल के आधार पर इस भेद-नीति को

'एपारयीड' (Apartheid) कहा जाता है। वहाँ यह भेद-भाव नीग्रो के अतिरिक्त भारतीयों से भी किया जाता है। वहाँ जो सरकार बनती है वह यह भी घोषणा करती है कि वह इस 'एपारयीड' नीति को जारी रखेगी, तभी उसे वोट मिलते हैं। जहाँ अंग्रेजों के मकान हैं, वहाँ काले लोग जमीन नहीं खरीद सकते, मकान नहीं बना सकते। वहाँ तो मामला यहाँ तक बढ़ा है कि बीमारों के लिए जो रक्त-दान दिया जाता है, उस के लिए भी कानून बनाया गया है कि नीग्रो रक्त अलग रखा जाय, और जब कोई नर्स किसी बीमार को दान दिये गये उस रक्त में से रक्त दे, तो पहले बतला दे कि यह किस प्रजाति का रक्त है। जो नर्स यह नहीं बतलायेगी उसे दंड मिल सकता है।

५ प्रजातिवाद के सिद्धान्त की आलोचना

प्रजाति अर्थात् रुधिर के आधार पर अपने को श्रेष्ठ मानने का सिद्धान्त हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था के अन्दर इतना उग्र नहीं है जितना संसार की अन्य नस्लों में पाया जाता है। परन्तु क्या इस सिद्धान्त में कोई सचाई है? हम पहले कह आये हैं कि 'प्रजातिवाद' के आधार में जो मुख्य-मुख्य बातें हैं, उनमें शारीरिक, मानसिक तथा चरित्र-संबंधी भेद मनुष्य को मनुष्य से पृथक् करते हैं। इन्हीं के आधार पर प्रजातिवादी कहते हैं कि मनुष्यों की भिन्न-भिन्न प्रजातियाँ हैं। हम यहाँ इस बात की विवेचना करेंगे कि शारीरिक, मानसिक तथा चरित्र-संबंधी भेद मानव-समाज में कहाँ तक हैं, और अगर हैं तो उनसे क्या सिद्ध होता है?

(क) प्रजातियों का सम्मिश्रण (Racial Intermixture)—सब से पहली बात तो यह है कि संसार में रुधिर का इतना सम्मिश्रण हुआ है कि कहीं, कोई भी मनुष्य शुद्ध रुधिर का नहीं है। मानव-शास्त्र इस दिशा में बड़ा काम कर सकता है। मानव-शास्त्र का अबतक दुरुपयोग हुआ है। मानव-शास्त्र के आधार पर कहा जाता रहा है कि अमुक प्रजाति अमुक प्रजाति से भिन्न है। मानव-शास्त्र ही इस क्षेत्र की अवैज्ञानिक विचार-धारा की रोक-थाम कर सकता है। मानव-शास्त्र के जितने भी मापने के प्रकार हैं उन सब से यह सिद्ध हो चुका है कि बिल्कुल शुद्ध रूप की कोई नस्ल इस समय धरती पर मौजूद नहीं है। इतना ही नहीं, प्राचीन प्रस्तरित-मानव के जो अवशेष उपलब्ध हुए हैं, उनमें भी शुद्ध रूप कहीं नहीं पाया जाता। प्रो० गौरडन चाइल्ड (Gordon Childe) का कहना है कि डेनमार्क तथा स्वीडन में पृथ्वी के नीचे दबे हुए 'पाषाण-युग' (Stone age) के जो नौर्डिक-नस्ल के प्रस्तरित-कंकाल (Fossils) मिले हैं, उनमें भी कई नस्लों का सम्मिश्रण है। डा० अम्मौन (Ammon) के मित्र रिपले (Ripley) ने लिखा है कि जब डा० अम्मौन को कहा गया कि बिल्कुल शुद्ध नस्ल के किसी व्यक्ति का चित्र दिखलायें, तो वे चक्कर में पड़ गये। उन्होंने हजारों सिरों का माप लिया था, परन्तु अगर किसी का सिर एक नस्ल का था, तो नाक दूसरी नस्ल की थी, नाक एक नस्ल की थी, तो आँख किसी और नस्ल की थी। कहने का अभिप्राय यह कि अगर किसी व्यक्ति को वे किसी एक नस्ल का समझते थे,

तो उसमें अनेक बातें ऐसी मिल जाती थीं, जो उसमें होनी ही नहीं चाहिए थीं। भिन्न-भिन्न नस्लो में रुधिर का सम्मिश्रण इतना अधिक हुआ है कि हम फ्रेंच नस्ल, जर्मन-नस्ल या अंग्रेज़ नस्ल—इन शब्दो का प्रयोग तो कर ही नहीं सकते, शुद्ध कॉकेशियन, ऐंग्लो-सैक्सन या नौर्डिक नस्ल का भी प्रयोग नहीं कर सकते। फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेज़—इनको कौमें (Nations) तो कहा जा सकता है, नस्लें (Races) नहीं। एक-एक कौम में और एक-एक व्यक्ति में कई-कई नस्लें मौजूद हैं। इंगलैण्ड-वालो को ऐंग्लो-सैक्सन कहा जाता है, परन्तु उनमें ट्यूटौनिक खून मौजूद है; जर्मनी वालो को ट्यूटौनिक कहा जाता है, परन्तु उनमें भी अन्य रुधिर मिले-जुले हैं। जर्मनी के जो भाग्य-विधाता थे, जो नस्ल के सिद्धान्त को लेकर उसे आसमान में चढा रहे थे, उनके चेहरों-मोहरो को देखने से ही पता चल जाता है कि उनमें से कोई भी शुद्ध-नौर्डिक अर्थात् शुद्ध-आर्य-नस्ल का नहीं था।

असल बात यह है कि जब से मनुष्य पैदा हुआ है, वह घुमक्कड रहा है। उन पहाडों और मैदानों के पीछे क्या छिपा है—यह जिज्ञासा उसे आगे-ही-आगे धकेलती रही है। शुरू-शुरू में तो पहाड-नदी-नाले-जंगल की 'भौगोलिक-पृथक्ता' (Geographical isolation) के कारण वह जिस नस्ल का था, उसी नस्ल का बना रहा, दूसरी नस्लों के साथ उसका मेल न हो सका, परन्तु ज्यो-ज्यों मानव-समाज संख्या में बढता गया, त्यों-त्यों अन्य नस्लों के लोग भी नदी-नाले-समुद्र पार करके इधर-उधर जाने लगे, और जहां मनुष्य का मनुष्य से मेल हुआ वह उससे रल-मिल गया। अगर ऐसा न होता, तो भिन्न-भिन्न नस्लें बनी रहतीं। इन 'नस्लों' (Races) के मिलने से 'कौमें' (Nations) न बनतीं। कोई कहता है, पहले तीन नस्लें थीं, कोई कहता है, पांच थीं, परन्तु जितनी भी थीं, अब अनेकों नस्लें कैसे बन गई? एक-दूसरे के साथ रोटी-बेटी का व्यवहार करने से ही तो आज इतनी नस्लें दिखाई देती हैं, और नस्लें ही नहीं, कोई एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं दिखाई देता जो किसी एक शुद्ध नस्ल का हो। जब कहीं शुद्ध नस्ल मिलती ही नहीं, सब जगह प्रजातियो का सम्मिश्रण दिखाई देता है, तब नस्ल के कारण श्रेष्ठता के सिद्धान्त को ठीक कैसे कहा जा सकता है?

(ख) शारीरिक-लक्षणो के कारण प्रजातिवाद (Racism due to Physical Characteristics)—मानव-शास्त्री शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों को मापते हैं, इसके लिए उन्होंने नाना प्रकार के उपकरण बनाये हुए हैं। अंगों को माप कर वे कहते हैं कि कॉकेशॉयड का कद लम्बा होता है, मंगोलॉयड का छोटा और नीग्रॉयड का नाटा होता है। सिर के बाल कॉकेशॉयड के सीधे तथा घुंघराले और नीग्रॉयड के ऊनी होते हैं, कॉकेशॉयड की नाक ऊँची, मंगोलॉयड की नीची और नीग्रॉयड की समतल होती है, कॉकेशॉयड के होंठ पतले, मंगोलॉयड के मध्यम तथा नीग्रॉयड के मोटे होते हैं, कॉकेशॉयड का रंग गोरा, मंगोलॉयड का पीला तथा नीग्रॉयड का काला होता है। इसमें सन्देह नहीं कि भिन्न-भिन्न प्रजाति की शारीरिक रचना में भेद दिखाई देता है, परन्तु क्या यह संभव नहीं कि शारीरिक

रचना का यह भेद मूल-रूप में पर्यावरण पर आश्रित हो। उष्ण कटिबन्ध में रहते-रहते रग काला हो जाता हो, शीत कटिबन्ध में रहते-रहते रग गोरा हो जाता हो। असल में इस सबध में परीक्षण कर सकना कठिन है। इस प्रकार के शारीरिक परिवर्तन एक-दो वर्षों में तो हो नहीं जाते। पर्यावरण के कारण इस प्रकार के परिवर्तन बीसियो-पचासो पीढ़ियो के बाद होते हैं, और तब तक उन परिवर्तनों को देखने वाला कोई नहीं रहता। इतना तो सभी को दीखता है कि रग, शक्ल आदि में थोडा-बहुत परिवर्तन हमारे देखते भी होता है, इसलिए शारीरिक परिवर्तनो को देख कर यह कह देना कि भिन्न-भिन्न शक्लों के लोग भिन्न-भिन्न प्रजातियो के ही हैं, कठिन है।

इसके अतिरिक्त मानव-शास्त्रियो के परीक्षणो से, जैसा हम अभी कह आये हैं, यह सिद्ध हुआ है कि जिनको हम उन्नत प्रजाति का समझते हैं, उनके शारीरिक लक्षण, उन्हें निम्न-स्तर का सिद्ध करते हैं, और जिन्हें हम निम्न प्रजाति का समझते हैं, उनके शारीरिक लक्षण उन्हें उच्च-स्तर का सिद्ध करते हैं। उदाहरणार्थ, नीग्रो निम्न प्रजाति के और कॉकेशियन उच्च-प्रजाति के समझे जाते हैं। श्री होबेल (Hoebel) ने बन्दरों तथा मनुष्यों में ११ शारीरिक-लक्षणों की पारस्परिक तुलना की। इस तुलना के परिणामस्वरूप वे इस नतीजे पर पहुँचे कि नीग्रो और बन्दरों में ११ लक्षणो में से सिर्फ ५ लक्षणों में वे बन्दरों से मिलते थे, ६ लक्षणो में बन्दरों से नहीं मिलते थे, परन्तु कॉकेशियन सिर्फ ३ लक्षणो में बन्दरों से नहीं मिलते थे, बाकी ८ लक्षणों में बन्दरो से मिलते थे। नीग्रो सिर्फ ५ और कॉकेशियन ८ लक्षणों में बन्दरों के सदृश हों और फिर भी कॉकेशियन को नीग्रो से उच्च-स्तर का समझा जाय—यह तभी सभव है अगर शारीरिक लक्षणों को प्रजाति-भेद में कोई महत्वपूर्ण स्थान न दिया जाय।

अगर यह मान भी लिया जाय कि भिन्न-भिन्न प्रजातियो में शारीरिक लक्षणों में ऐसा मौलिक भेद है कि उन्हें भिन्न-भिन्न प्रजातियों का ही कहा जाना चाहिए, इसके साथ अगर यह भी मान लिया जाय कि ये भिन्न-भिन्न शारीरिक-लक्षण वश-परम्परा से ही आते हैं, इन पर पर्यावरण का प्रभाव नहीं पडता, तो भी इससे यह तो सिद्ध नहीं हो जाता कि एक तरह के शारीरिक-लक्षणों की प्रजाति दूसरी तरह के शारीरिक-लक्षणों की प्रजाति से श्रेष्ठ है। जैसा हम बार-बार कह आये हैं, 'प्रजाति' का आधार वंश-परपरा है, प्रजाति एक प्राणि-शास्त्रीय घटना है, परन्तु प्रजाति का असर सिर्फ शरीर की रचना तक है, इससे आगे नहीं। 'प्रजाति' शरीर का निर्माण कर सकती है, रग गोरा, काला, पीला बना सकती है, कद लम्बा, मध्यम, नाटा बना सकती है, परन्तु मनुष्य की बुद्धि और उसके आचार-व्यवहार का निर्माण नहीं कर सकती। काला व्यक्ति बुद्धि में गोरे से बढ़ा-चढ़ा हो सकता है, गोरा व्यक्ति काले से आचार-व्यवहार में गिरा हुआ भी हो सकता है। इसलिए जो व्यक्ति नस्ल के कारण श्रेष्ठता के सिद्धान्त को मानते हैं, उनके सिद्धान्त की आलोचना के लिए यह देखना आवश्यक है कि क्या नस्ल भिन्न

होने के कारण व्यक्तियो की मानसिक-योग्यता में, उनके आचार-व्यवहार में भी कोई भेद पड जाता है ? इस सवध में कई मनोरजक परिणाम निकले हैं जिनकी तरफ विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। हम यहाँ उनकी तरफ भी कुछ निर्देश करेंगे।

(ग) नस्लो की खोपडी के घनत्व के कारण प्रजातिवाद (Racism due to the capacity of the skull)—मार्टिन (Martin) ने भिन्न-भिन्न नस्लों की खोपड़ियों का माप देख कर यह वतलाया है कि किस नस्ल की खोपडी कितनी छोटी और किसकी कितनी वडी है। जिस नस्लकी खोपडी वडी हो उसमें ज्यादा दिमाग़ आने की गुन्जाइश होनी चाहिए। युरोपियन कॉकेशॉयड नस्लों में आम तौर पर पुरुष की खोपडी में १,४५० और स्त्री की खोपड़ी में १,३०० घन सेंटीमीटर जगह पायी गई है। ऑस्ट्रेलॉयड-नस्लों में पुरुष की खोपडी में १,३४७ और स्त्री की खोपडी में १,१८१ घन सेंटीमीटर जगह होती है। इससे कहा जा सकता है कि युरोपियन-नस्लों में ऑस्ट्रेलॉयड-नस्लों की अपेक्षा खोपडी में ज्यादा स्थान होता है, इसलिए ज्यादा घनत्व के कारण उनकी मानसिक-शक्ति ज्यादा होनी चाहिए। परन्तु अगर भिन्न-भिन्न नस्लों की खोपडियों का गहराई से अध्ययन किया जाय, तो पता चलता है कि खोपडी के माप का मानसिक-शक्ति के साथ कोई 'पारस्परिक सम्बन्ध' (Correlation) नहीं है, अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि बडी खोपडी वाला बडे दिमाग़ का, और छोटी खोपडी वाला छोटे दिमाग़ का ही होता है। चीनी लोग सभ्यता में वढ़े हुए हैं, परन्तु उनकी खोपडी का औसत माप १,४५६, और कलमक नाम की एक असभ्य, जगली, फिरंदर नस्ल की खोपडी का का माप १,४६६ घन सेंटीमीटर है, जापानी उन्नत लोग हैं, उनकी खोपडी १,४८५ तथा जावा के पिछडे हुए लोगों की खोपडी १,५९० घन सेंटीमीटर पायी गई है। इतना ही नहीं, एक ही नस्ल के लोगों में ज़मीन-आस्मान का भेद होता है। मार्टिन का कथन है कि एक ही नस्ल में १,१०० से १,७०० घन सेंटीमीटर तक खोपडी के माप में भेद पाया जाता है। अगर एक ही नस्ल में खोपडी के माप में इतना भेद हो सकता है, तो कैसे कहा जा सकता है कि नीची नस्ल की खोपडी छोटी और ऊँची नस्ल की खोपडी बडी होती है। मानव-शास्त्रियों के पास सवसे छोटी खोपडी का रिकार्ड दान्ते (Dante) का है, जो इटली का एक प्रतिभाशाली विद्वान् था। अक्सर देखा जाता है कि वडे सिर वाले गँवार होते हैं, अत· वडी खोपडी से बडी नस्ल सिद्ध नहीं होती।

(घ) मस्तिष्क के तोल के कारण प्रजातिवाद (Racism due to weight of brain-matter)—कई कहते हैं कि भिन्न-भिन्न नस्लों में मस्तिष्क-तत्व का भिन्न-भिन्न तोल होता है। यह बात ऊपरली बात का ही परिणाम है। खोपडी में ज्यादह जगह होगी, तो उसमें ज्यादह भारी दिमाग़ समा सकेगा। परन्तु जब ऊपर की वात ग़लत है, तव यह वात स्वय ग़लत हो जाती है। टौपीनार्ड (Topinard) ने भिन्न-भिन्न नस्लों के ११,००० दिमाग़ों को तोला।

वह कहता है कि युरोपियनो के दिमाग़ो का आनुपातिक वज़न पुरुषो में १,३६१ और स्त्रियो में १,२०० ग्राम होता है। नॉर्थ अमेरिकन नीग्रो का १,३१६, जापानियों का १,३६७, चीनियों का १,४२८ ग्राम निकला। मार्टिन का कथन है कि पेसचेरा-नस्ल पशु के निकट की-सी मनुष्य की नस्ल है, परन्तु उसके दिमाग़ का वज़न युरोपियन-नस्ल के दिमाग़ के आस-पास है। ऐसी अवस्था में दिमाग़ के तोल के आधार पर क्या परिणाम निकाला जा सकता है ?

(ङ) बुद्धि-परीक्षा के कारण प्रजातिवाद (Racism due to Intelligence-tests)—'बुद्धि-परीक्षा' के परीक्षणों के आधार पर कहा जाता है कि भिन्न-भिन्न नस्लो की बुद्धि में भेद है। 'बुद्धि-परीक्षा' का क्या अर्थ है ? एक तो किताबें पढ़ कर मनुष्य विद्या ग्रहण करता है, दूसरे उसकी अपनी कुछ स्वाभाविक बुद्धि भी होती है। यह हो सकता है कि एक व्यक्ति बहुत साधारण बुद्धि का हो, परन्तु ऊँचे खानदान का होने के कारण उसे पढने-लिखने की सुविधा हो, उस पर ट्यूटर लगे हुए हों, और वह पढ़-लिख जाय। यह भी हो सकता है कि दूसरा व्यक्ति उससे बहुत ज्यादह बुद्धि रखता हो, परन्तु उसे ग़रीबी के कारण पढने-लिखने का अवसर न मिले। 'विद्या' (Knowledge) तथा 'बुद्धि' (Intelligence) में भेद है। 'विद्या' सीखी जाती है, 'पर्यावरण' से प्राप्त की जाती है; 'बुद्धि' सीखी नहीं जाती, 'वंश-परंपरा' से मिलती है; यह हो सकता है कि एक व्यक्ति विद्यावान् हो, बुद्धिमान् न हो; दूसरा व्यक्ति बुद्धिमान् हो, विद्यावान् न हो। इस प्रकार हमने देखा कि 'बुद्धि' जन्म से आती है, दूसरे शब्दो में यह नस्ल की चीज़ है। आजकल नस्ल से आने वाली इस मानसिक-शक्ति, अर्थात् 'बुद्धि' को मापने के जो परीक्षण होते है, उन्हें 'बुद्धि-परीक्षा' के परीक्षण कहा जाता है। अगर बुद्धि की यह भिन्नता नस्ल के कारण होती है, तो 'बुद्धि-परीक्षा' से नीग्रो की बुद्धि अमरीकन से नीची होनी चाहिए, बराबर तो किसी हालत में नहीं होनी चाहिए। परीक्षणों से पता चला है कि अगर गोरी-नस्लों की 'बुद्धि-लब्धि' (Intelligence Quotient) १०० मानी जाय, तो चीनियों और जापानियो की ९९, मैक्सिकनो की ७८, दक्षिणी-नीग्रो की ७५, उत्तरी-नीग्रो की ८५ और अमरीकन-इंडियनों की ७० पायी गई है। परन्तु 'बुद्धि-परीक्षा' के परीक्षणो पर मनोवैज्ञानिको में मत-भेद है। उनका कहना है कि 'बुद्धि-परीक्षा' के जो परीक्षण किये जाते है, वे बुद्धि को इतना नहीं मापते जितना व्यक्ति की संस्कृति को मापते हैं। एक बच्चा ऊँचे खानदान में रहता है, घर में रेडियो लगा है, रोज़ के समाचार सुनता है, उसकी परिस्थिति स्वयं उसे दूसरे बच्चे से भिन्न बना देती है। इस बच्चे की अगर किसी दूसरे बच्चे के साथ तुलना की जायगी, तो स्वभावत इसे ऐसी बातों का पता होगा जिनका दूसरे को कुछ भी ज्ञान न होगा। मनोवैज्ञानिको का कहना है कि 'बुद्धि-लब्धि' के परीक्षण सिर्फ बुद्धि को ही नहीं मापते, इसके साथ-साथ व्यक्ति की सांस्कृतिक परिस्थिति को भी माप डालते हैं। 'बुद्धि-लब्धि' व्यक्ति की परिस्थिति के अनुसार बदल भी सकती

है। गार्थ (Garth) का कहना है कि अगर एक हब्शी को पहले नीची स्थिति के स्कूल में रखा जाय, और फिर ऊँची स्थिति के स्कूल में रख दिया जाय, तो उसकी 'बुद्धि-लब्धि' (I Q.) बदल जाती है। ऐसी अवस्था में 'बुद्धि-परीक्षा' के आधार पर भी हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि भिन्न-भिन्न नस्लों की बुद्धि में भेद होता है।

(च) प्राविधिक-विकास की भिन्नता के कारण प्रजातिवाद (Racism due to Technological difference)—कहा जाता है कि नॉर्डिक-नस्ल के लोग विज्ञान में बहुत आगे बढे हुए हैं। युरोप के देशो के विज्ञान के क्षेत्र में सारी दुनियां से आगे होने को भी प्रजातिवाद को सिद्ध करने में प्रमाण रूप से पेश किया जाता है। प्रजातिवाद के समर्थको का कहना है कि अगर श्वेतांगों में नस्ल के कारण ही कोई श्रेष्ठता न होती, तो दूसरी प्रजातियो के लोग सभ्यता और विज्ञान की दौड में आगे क्यों न निकल जाते ? परन्तु यह बात ग़लत है। कोई समय था जब ईजिप्ट के लोग जो आर्य-प्रजाति की किसी शाखा के नहीं माने जाते, पिरैमिड बना रहे थे, जब चीनी जो मगोल कहे जाते हैं, कागज़ और छापने की कला का आविष्कार कर रहे थे, ऐसा समय जब युरोप के आज के सभ्य-देश जगली थे। कोई समय था जब ट्यूटौनिक-नस्ल के जर्मनी के आर्य लोग जगली थे, आज वे सभ्य हो गये। अगर रोमन-राज्य के समय में कोई कहता कि किसी समय यही ट्यूटौनिक-नस्ल के लोग इतनी उन्नति कर लेंगे, तो इस बात पर कौन विश्वास करता ? युरोपियन-नस्लों ने जो उन्नति की है, उसे दिन ही कितने हुए हैं ? एच० जी० वेल्स (H G Wells) ने लिखा है कि १६वीं शताब्दी में अगर कोई मगोल और मुस्लिम-सभ्यता के उत्कर्ष को देख कर भविष्य-वाणी करता, तो कह देता कि युरोप की पिछडी जातियां कुछ देर बाद मगोल या मुस्लिम-सभ्यता को स्वीकार कर लेंगी। परन्तु यह सब-कुछ न हुआ, और युरोप ने आश्चर्यजनक उन्नति की। यह उन्नति नस्ल के कारण नहीं हुई, परिस्थिति के कारण हुई। यह समझना कि सभ्यता, सस्कृति या विज्ञान किसी प्रजाति-विशेष की देन है, एक भ्रम है। यह भ्रम जहां तक प्रजातिवाद का सबध है, वहीं तक नहीं, प्रजातिवाद के अतिरिक्त दूसरे क्षेत्र में भी यह भ्रम फैला हुआ है। युरोप तथा एशिया के अनेक देशों में आर्य-प्रजाति के ही लोग हैं, परन्तु इन आर्य-प्रजातियों के सबध में भी यह कहा जाता है कि युरोप के आर्य अन्य आर्यों से शुद्ध रुधिर के हैं, इसलिए विज्ञान की खोजें वहीं पर होती हैं। यह भी कितना भ्रमपूर्ण विचार है। जिस समय युरोप के लोग कपडा पहनना भी नहीं जानते थे, उस समय ईजिप्ट, अरब, भारत के लोग सभ्यता के शिखर पर पहुँचे हुए थे। किसी समय ग्रीस तथा रोम की सभ्यता ससार पर शासन करती थी, आज उनका कोई नामलेवा भी नहीं रहा। हमने जो-कुछ लिखा उससे स्पष्ट है कि यह कहना कि क्योंकि युरोप आज विज्ञान के प्राविधिक उपकरणों का आविष्कार कर रहा है, या यह कहना कि क्योंकि आर्य-प्रजाति के लोग ही सभ्यता को विकास

की दिशा में प्रेरणा देते रहे है, इसलिए अन्य प्रजातियों में इस प्रकार का कोई सामर्थ्य नहीं है, युक्ति-युक्त नहीं है।

(छ) स्वभाव तथा आचार के कारण प्रजातिवाद (Racism due to temperament and character)—हम प्राय सुनते हैं कि भारतीय लोग नस्ल से आलसी स्वभाव के होते हैं, यहूदी क्रूर और कंजूस होते हैं, मंगोल सुस्त और जुआरी होते हैं, गोरी नस्लें उद्यमी और परिश्रमी होती हैं। जर्मनों के लिए कहा जाता है कि वे धीरे-धीरे प्रतिक्रिया करते हैं, परन्तु एक वार उठ खडे हो, तो शक्ति के भडार हो जाते हैं, अग्रेज हर वात में पहल करते हैं, गीदड-भभकी देते हैं, परन्तु समझौते के लिए सदा तय्यार रहते हैं, आचार के पक्के होते हैं, फ्रेंच वडे वातून होते हैं, मिलनसार होते हैं, परन्तु अग्रेजो के-से समर्थ नहीं होते। यह सव-कुछ ठीक है, परन्तु प्रश्न यह है कि जिस व्यक्ति को हम जर्मनो का, अग्रेजों का या अन्य किसी नस्ल का कहते हैं, वह व्यक्ति किसी एक नस्ल का तो है ही नहीं। अग्रेज तो 'कौम' (Nation) का नाम है, 'नस्ल' (Race) का नहीं, इसी तरह जर्मन भी कौम का नाम है। इन 'क़ौमो' (Nations) में सव तरह की 'नस्लों' (Races) का खून रला-मिला है। एक लेखक का कहना है कि युरोप की हर क़ौम में 'नौडिक'-'एलपाइन' तथा 'मैडिटरेनियन'-नस्लो का रुधिर है—इसलिए जिस बात को हम नस्लो का स्वभाव तथा आचार कहते है, वह 'नस्लों' (Races) का भेद नहीं, क़ौमो (Nations) का भेद है। एक प्रसिद्ध जर्मन लेखक का कथन है कि नस्लो का इतना सम्मिश्रण हुआ है कि नौडिक-शरीर तथा अ-नौडिक-मन एव अ-नौडिक-शरीर तथा नौडिक-मन युरोप में यत्र-तत्र-सर्वत्र पाया जाता है। ऐसी हालत में हम किस नस्ल का क्या स्वभाव तथा क्या आचार कह सकते हैं? सिर्फ इतना कह सकते हैं कि नस्ल के आधार पर खडी की गई श्रेष्ठता का सिद्धान्त, जो ससार में जगह-जगह पाया जाता है, ग़लत है।

६ प्रजाति, राष्ट्र तथा देश में भेद

'प्रजातिवाद' के सवध में जो तरह-तरह की कल्पनाएँ उठ खडी होती हैं, उनका सवसे वडा कारण यह है कि हम प्रजाति, राष्ट्र तथा देश में भेद नहीं करते, इन तीनो को एक-दूसरे से रला-मिला देते हैं, और जो वात प्रजाति के विषय में कहनी होती है, उसे राष्ट्र के या देश के विषय में कह डालते हैं। इन तीनो शब्दो का प्रयोग करने से पहले हमें इन तीनों के भेद को अपने दिमाग़ में साफ कर लेना चाहिए। ऐसा कर लेने से हमारे विचारो में सफाई आ जायगी।

(क) 'प्रजाति' तथा 'राष्ट्र' मे भेद (Difference between Race and Nation)—'वश' तथा 'पर्यावरण', इन दो कारणो से मनुष्य में परिवर्तन होता है। नस्ल के कारण श्रेष्ठता मानने वाले 'वश' को महत्व देते हैं, परन्तु हमने देखा कि जो वातें नस्ल के विषय में कही जाती है, उनका नस्ल से कोई सम्वन्ध नहीं है। अग्रेज़ों, जर्मनों, फ्रासीसियों, हिन्दुस्तानियों को हम नस्ल समझने लगते

है। हम कहते है अंग्रेजो की नस्ल ऐसी है, जर्मनो की नस्ल वैसी है। परन्तु असल बात यह है कि जन्म से 'नस्लें' (Races) बनती है, और कई नस्लों के मिलने से 'कौमें' (Nations) बनती है। जब कई नस्लें आपस में मिलकर रहने लगती है, वे अपने भिन्न-भिन्न तरह के रीति-रिवाज भूलकर एक तरह के रीति-रिवाज, एक तरह के आचार-विचार बना लेते है, तब वे जन्म-जात भेदों को भूल जाते है, और एक 'कौम' का, एक 'राष्ट्र' का निर्माण करते है। 'नस्ल' पीछे को देखती है, 'कौम' आगे को देखती है, 'नस्ल' बाप-दादा की बात करती है, 'कौम' अगली पीढ़ी की बात करती हे, 'नस्ल' भूत का गाना गाती है, 'कौम' भविष्यत् के स्वप्न लिया करती हे, 'नस्ल' जन्म पर जोर देती है, 'कौम' जन्म को उन्नति में बाधक नहीं बनने देती, 'नस्ल' एक प्राणि-शास्त्रीय (Biological) शब्द है, 'कौम' एक राजनैतिक (Political) शब्द है, 'नस्ल' बदली नहीं जा सकती, 'कौम' बदली जा सकती है, एक 'नस्ल' कई राष्ट्रो में रह सकती है, एक 'राष्ट्र' में कई नस्लें रह सकती है। आज ससार की दिशा नस्ल के घमड को छोड कर मानव-समाज के एक हो जाने की तरफ है। जब कई नस्लों से एक कौम, और कई कौमों से मनुष्यमात्र की एक कौम बन जायगी, तब समाज की अनेकता से एकता पाने की प्रक्रिया समाप्त होगी, उससे पहले नहीं। मानव-समाज के विकास की दिशा नस्लों के भेद को भूल कर कौमों की एकता की तरफ जा रही है। उपनिषदो में कहा है— 'मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'—जो ससार में नाना-भेद देखता है वह जीवन की तरफ नहीं, मृत्यु की तरफ जाता है।

(ख) 'राष्ट्र' तथा 'देश' मे भेद (Difference between Nation and Country)—'राष्ट्र' (Nation) तथा 'देश' (Country) में भी भेद है। वैसे तो बोल-चाल की भाषा में दोनों शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग होता है, परन्तु वैज्ञानिक-दृष्टि से इन दोनों में भेद है। 'राष्ट्रीयता' की भावना उत्पन्न होने पर ही 'राष्ट्र' बनता है, 'देश' के लिए 'राष्ट्रीयता' की भावना का होना लाजमी नहीं है। आफ्रीका एक देश है, राष्ट्र नहीं है, इसलिए राष्ट्र नहीं है क्योंकि वहाँ राष्ट्रीयता की भावना पैदा नहीं हुई। अगर आफ्रीकन लोगों में राष्ट्रीयता की भावना पैदा हो जाय, और इस भावना के परिणामस्वरूप उनका उस देश पर अधिकार हो जाय, तो वह देश सिर्फ देश ही न रहे, एक राष्ट्र हो जाय। राष्ट्र में राष्ट्रीयता का निवास होता है, देश में राष्ट्रीयता का निवास नहीं होता, देश में जब राष्ट्रीयता आ जाती है, तब यह देश ही राष्ट्र बन जाता है। देश में भिन्न-भिन्न नस्लें रह सकती है, राष्ट्र में भी भिन्न-भिन्न नस्लें रह सकती है, परन्तु जब कोई देश राष्ट्र बन जाता है, तब ये भिन्न-भिन्न नस्लें अपना भेद-भाव भूल कर एक हो जाती है, जब तक इन नस्लों में एकता की भावना नहीं पैदा होती, तबतक जिस देश में ये नस्लें रहती है, उसे हम 'देश' (Country) तो कह सकते है, 'राष्ट्र' (Nation) नहीं कह सकते। प्रगति की दिशा व्यक्ति को 'देश' तक सीमित न रखकर 'राष्ट्र' की तरफ ले जाने में है।

मानव को सस्कृति की देन उपहार में दे रही है, भ्रमात्मक विचार है। प्राचीन-मानव के पास भी अपनी सभ्यता थी, सस्कृति थी, साहित्य था, भाषा थी, अपने विश्वास थे, अपना धर्म था, अपना सगीत, अपने ढग की शिक्षा और अपने ढग की सामाजिक तथा राजनैतिक रचना थी। हमें यह मानना पडेगा कि प्राचीन-से-प्राचीन मानव के पास भी अपनी सभ्यता तथा सस्कृति थी, भले ही उसका विकास उस तरह न हुआ हो जिस तरह आज के मानव की सभ्यता तथा सस्कृति का विकास हो रहा है। क्योकि प्राचीन मानव की सभ्यता का विकास भौतिक-विकास नहीं था, वह कल-कारखाने नहीं बनाता था, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि वह निम्न-स्तर का ही था। आज का मानव अणु-बम और हाईड्रोजन-बम बनाकर अगर अपने को प्राचीन-मानव से श्रेष्ठ समझने लगा है, तो यह उसके अहकार के सिवाय और कुछ नहीं है। विनाशकारी आज का मानव उस मानव से श्रेष्ठ कैसे कहा जा सकता है, जिसने ससार की रक्षा करके उसे यहाँ तक पहुँचा दिया, जहाँ हम आज के मानव के सामने नष्ट होने के लिए खडे हैं ?

मानव-शास्त्र ने अब तक के अध्ययन से जो परिणाम निकाले हैं, उनसे यह स्पष्ट हो गया है कि नस्ल का सस्कृति से कोई सबध नहीं है। पहली बात तो यह कि हर-एक नस्ल के पास कोई-न-कोई सस्कृति है, हम अपने दृष्टि-कोण से उसे नीचा कह सकते हैं, परन्तु हमारा दृष्टि-कोण गलत भी हो सकता है, एक-देशीय हो सकता है। दूसरी बात यह कि नस्ल के आधार पर सस्कृति की व्याख्या नहीं हो सकती, नस्ल के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक नस्ल ऊँची सभ्यता को ही पैदा करेगी, अमुक नस्ल नीची सभ्यता को ही पैदा करेगी। आज जिन श्वेतागों की नस्ल को ऊँची सभ्यता का दिलदादा कहा जाता है, वे कभी नगी फिरती थीं, जगलों में फल-मूल चुगा करती थीं। उस समय आज की अवनत सभ्यता की नस्लें सभ्यता के उच्च शिखर पर थीं। अगर नस्ल का सभ्यता तथा संस्कृति से गहरा सबध होता, तो श्वेताग नस्लो को दूसरी नस्लों के मुकाबिले में सस्कृति के नीचे पाये पर कभी होना ही नहीं चाहिए था।

१३

भारत की जन-जातियाँ

(INDIAN TRIBES)

भारत की जनता में भिन्न-भिन्न नस्लें हैं, यह तो हम देख चुके। नस्लो के रूप में वर्गीकरण करने के अलावा भारत की जनता का एक दूसरी तरह से भी वर्गीकरण किया जाता है। एक वर्ग में तो 'उन्नत वर्ग' (Forward classes) के लोग हैं जो सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से हमारे समाज में प्रतिष्ठित तथा सम्पन्न हैं, दूसरे वर्ग में 'निम्न-वर्ग' (Backward classes) के लोग हैं। उन्नत-वर्ग के लोगों की समस्याओं के विषय में हमें कुछ नहीं कहना, निम्न-वर्ग की समस्याओ का प्रश्न समाज का मुख्य प्रश्न है। निम्न-वर्ग को दो भागो में बाँटा जा सकता है। एक तो ऐसा निम्न-वर्ग है जिसे जन्म के कारण उन्नत वर्ग का बनने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। वह तो काम नहीं करता, इसलिए अपने किये से निम्न-वर्ग का बना हुआ है, काम करे तो वह उन्नत-वर्ग में शामिल हो सकता है। इस वर्ग की समस्याओ के विषय में भी हमें यहां कुछ नहीं कहना। दूसरा निम्न-वर्ग ऐसा है जो अपने किये से नहीं, परन्तु जन्म के कारण निम्न वर्ग का है। जन्म के कारण निम्न-वर्ग का होने की वजह से समाज में भी उसे शिक्षा तथा समाज की अन्य सुविधाओ से वचित रहना पडता है। भारत की इस क्षेत्र की मुख्य समस्या, जन्म के कारण जिन्हें निम्न-वर्ग का कहा जाता है, उन्हीं लोगो की है। जन्म के कारण निम्न कहे जाने वाले लोगो में भी भारत में दो श्रेणियाँ हैं—एक वह श्रेणी है जिसे 'अछूत' (Untouchables) कहा जाता है। इस श्रेणी के लोग शहरो में ही, उच्च कहे जाने वाले लोगों के साथ, उन्हीं के मोहल्लो में रहते हैं, परन्तु इनके साथ व्यवहार ठीक तरह का नहीं होता। इन्हें लोग छूने से परहेज करते हैं, इन्हें मदिरो में नहीं जाने देते। इन्हें महात्मा गाधी ने 'हरिजन' का नाम दिया था। अछूतपन की समस्या को हल करने के लिए स्वतत्र-भारत ने कानूनन अछूतपन को रद्द कर दिया है और 'अस्पृश्यता निरोधक अधिनियम—१९५५' (Untouchability Offences Act—1955) के अनुसार इस कलक को भारत से मिटा दिया है। परन्तु कानून बना देने मात्र से तो समस्या हल नहीं हो जाती, अस्पृश्यता की समस्याएँ अभी पर्याप्त मात्रा में बनी हुई हैं, परन्तु इनकी समस्याओ के विषय में भी हमें यहां कुछ नहीं कहना। जन्म के कारण निम्न कहे जाने वालों की एक दूसरी श्रेणी है जिसे 'वन्य-जाति' या 'जन-जाति' (Tribes) कहा जाता है। इस श्रेणी के लिए अनेक शब्दो का प्रयोग होता है। इन्हें 'आदि-वासी'

(Aboriginals) कहा जाता है, क्योंकि ये इस देश के शुरू-शुरू के रहने वाले हैं, इन्हें 'वन्य-जाति' या 'वन-वासी' (Forest dwellers) भी कहा जाता है, क्योंकि ये देश के अन्य व्यक्तियों के साथ उनके गली-मोहल्लों में न रह कर जगलों, पहाड़ों



नेफा की मिश्मी जन-जाति की कन्या

या वस्तियों से वाहर रहते हैं, इन्हें 'आदिम-जाति' (Primitive tribes) भी कहा जाता है, क्योंकि सभ्यता की दृष्टि से ये प्रारभिक-अवस्था में हैं—नगे, जगलों में शिकार करते हुए, वृक्षों के नीचे या झोंपडियाँ वना कर रहने के कारण ये 'आदिम-जाति' कहाते हैं। हम क्योंकि 'मानव-शास्त्र' पर लिख रहे हैं, इसलिए हम 'अस्पृश्य' या अन्य किसी निम्न वर्ग के विषय में न लिख कर भारत की 'जन-

[घ] मजूमदार की व्याख्या—"जन-जाति परिवारो या परिवार-समूहो के समुदाय का नाम है। इन परिवारो या परिवार-समूहो का एक सामान्य नाम होता है। ये एक ही भू-भाग में निवास करते है, एक ही भाषा बोलते हैं तथा विवाह-उद्योग-धधो में एक ही प्रकार की बातो को निषिद्ध मानते हैं। एक-दूसरे के साथ व्यवहार के सबध में भी इन्होंने अपने पुराने अनुभव के आधार पर कुछ निश्चित नियम बना लिये होते हैं।"

[ङ] इम्पीरियल गजटीयर की व्याख्या—"जन-जाति परिवारो के एक ऐसे समुदाय का नाम है जिसका एक समान नाम हो, समान बोली हो, जो एक समान भू-भाग में रहते हों या उस भू-भाग को अपना मानते हो, और जो अपनी जन-जाति के भीतर ही विवाह करते हों।"

'जन-जाति' की हमने जो परिभाषाएँ दी हैं, इनके अतिरिक्त डा० रिवर्स (Rivers) ने भी इसकी व्याख्या की है, जिसके अनुसार 'जन-जाति' एक ऐसा सरल-सा समूह है जिसके सदस्य एक बोली बोलते हो, और जो युद्ध आदि के समय सम्मिलित रूप से कार्य करते हो। रिवर्स का कहना है कि अन्य व्याख्याकारो ने इस समूह का एक सामान्य भू-भाग में रहना आवश्यक बतलाया है, परन्तु प्राय अनेक जन-जातियाँ फिरदर-जीवन व्यतीत करती हैं, इसलिए 'जन-जाति' की व्याख्या में सामान्य-भू-भाग का होना आवश्यक नहीं है। इस बात की श्री पैरी (Perry) ने आलोचना करते हुए लिखा है कि कोई भी 'जन-जाति' कितना ही फिरदर जीवन क्यों न व्यतीत करती हो, फिर भी उसका किसी-न-किसी भू-भाग से सबध होता ही है। फिरदर जातियाँ ससार के एक सिरे से दूसरे सिरे तक नहीं फिरा करतीं, इसमें सन्देह नहीं कि वे फिरती हैं, परन्तु एक निश्चित भू-भाग में ही फिरती है। रिवर्स का कहना है कि जन-जातियाँ शत्रु के साथ युद्ध के समय एक हो जाती हैं—इसलिये रिवर्स ने इस बात को जन-जातियो का निश्चित लक्षण कहा है, परन्तु इस बात की आलोचना करते हुए रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) का कहना है कि दूसरों से लड़ने की बात तो दूर रही, ऑस्ट्रेलियन जन-जातियाँ आपस में ही लडा करती हैं—ऐसी हालत में इस लक्षण को जन-जातियो का आवश्यक लक्षण कैसे कहा जा सकता है?

[घ] "A tribe is a collection of families or groups of families bearing a common name, members of which occupy the same territory, speak the same language and observe certain taboos regarding marriage, profession or occupation and have developed a well-assessed system of reciprocity and mutuality of obligations"—*Majumdar*

[ङ] "A tribe is a collection of families, which have a common name and a common dialect and which occupy, or profess to occupy, a common territory and which have been, if they are not, endogamous"—*Imperial Gazetteer*

जो-कुछ हो, यह तो स्पष्ट है कि 'जन-जाति' की परिभाषा के संबंध में विद्वानों में मतभेद है, परन्तु अधिकतर विद्वानों की राय यही है कि 'जन-जाति' का किसी विशेष भू-भाग से संबंध होता ही है। भारत की जन-जातियों का तो विशेष-विशेष भू-भागों से संबंध है—इसमें कोई सन्देह नहीं। सन्थाल चाहे असम में क्यों न काम करते हों, वे सदा अपने को बिहार या बंगाल के अपने निश्चित स्थान का वासी कहते रहेंगे। एक निश्चित भू-भाग का होने से 'जन-जाति' के प्रत्येक व्यक्ति में अपने समुदाय के प्रति निष्ठा तथा सामुदायिक-भावना बनी रहती है। निश्चित भू-भाग के अतिरिक्त जन-जातियों में दूसरी बात यह पायी जाती है कि वे एक-समान बोली का व्यवहार करते हैं। असम के बगीचों में काम करते हुए सन्थाली जन-जाति के लोग वहाँ की बोली सीख जायेंगे, परन्तु आपस में अपनी 'जन-जाति' की बोली में ही बातचीत करेंगे। तीसरी बात 'जन-जाति' में यह पायी जाती है कि वे 'अन्तर्विवाही' (Endogamous) होते हैं, जन-जाति से बाहर विवाह-संबंध नहीं करते। ये 'जन-जाति' से बाहर विवाह नहीं करते—इसका यह अर्थ नहीं है कि 'जन-जाति' के भीतर ये जिससे चाहें विवाह कर सकते हैं। भीतर भी अपने 'गोत्र' (Clan) में ये विवाह नहीं करते। एक 'जन-जाति' (Tribe) कई 'गोत्रों' (Clans) से मिलकर बनती है। विवाह आदि के संबंध में इनके विधि-निषेध बने होते हैं, अपनी जन-जाति में विवाह करना 'विधि' का उदाहरण है, अपनी जन-जाति के गोत्र में विवाह न करना 'निषेध' का उदाहरण है। जन-जाति का क्योंकि अपना संगठन होता है, इसलिए इसकी शासन-व्यवस्था भी अपनी होती है। इस शासन-व्यवस्था में प्रत्येक जन-जाति का अपना 'जातीय-मुखिया' (Tribal chief) होता है। यह पद आनुवंशिक तौर पर चलता है। इस मुखिया को अपने कार्य में सहायता देने के लिए बड़े-बूढ़ों की एक परिषद्-सी भी होती है, जिसकी सलाह से मुखिया काम करता है।

२ भारत की जन-जातियों के भू-भाग
(Geographical location of Indian Tribes)

भारत के विभाजन से पूर्व भारत का उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रांत जन-जातियों के निवास-स्थान के लिए प्रसिद्ध था। इन जन-जातियों को कबीला कहा जाता है। जिस समय की हम चर्चा कर रहे हैं, उस समय ये कबीले मौके-बे-मौके हिन्दुस्तान पर छापे मारा करते थे। इन कबीलों के सरदारों को छापे मारने से रोकने के लिए सरकार कुछ पेंशन के रूप में दिया करती थी। जब से हिन्दुस्तान के दो हिस्से हो गये, तब से सीमा-प्रांत का यह हिस्सा पाकिस्तान में चला गया। अब उसी उत्तरी-पश्चिमी सीमा के कबायली लोग पख्तूनिस्तान की माँग कर रहे हैं, और पाकिस्तान का आये-दिन नाक में दम किये रहते हैं। जन-जातियों के लोग अपने को दूसरों से अलग नस्ल का समझते हैं, इसलिए अपने लिए अलग देश की माँग करते हैं। अपने देश में भी तो नागा जन-जाति के लोग स्वतंत्र नागा-प्रदेश की माँग कर रहे हैं। छोटा नागपुर की जन-जातियाँ अपना स्वतंत्र राज्य कायम करना

चाहती है। अब क्योंकि पाकिस्तान अपने देश का हिस्सा नहीं रहा, इसलिए हम उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रात की जन-जातियो की चर्चा यहाँ नहीं करेंगे।

भारत में जिन-जिन स्थानो में जन-जातियां बसी हुई है उनको ध्यान में रखते हुए जन-जातियों के भू-भाग को तीन बडे-बडे क्षेत्रों में बांटा जा सकता है— पूर्वोत्तर-क्षेत्र, मध्य-क्षेत्र तथा दक्षिणी-क्षेत्र।

पूर्वोत्तर-क्षेत्र में शिमला, लेह, लुशाई पहाडियां तथा मिश्मी का इलाक़ा आ जाता है। काश्मीर का पूर्वी हिस्सा, पूर्वी पजाब, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश का उत्तरी भाग तथा असम और सिक्किम इस क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। इस क्षेत्र में गुरङ्ग, लिम्बू, लेपचा, आका, दफला, अबर-मीरी, मिश्मी, राभा, कचारी, गारो, खासी, नागा, कूकी, चक्मा आदि जन-जातियां आ जाती है।

मध्य-क्षेत्र में बगाल, बिहार, दक्षिणी उत्तर-प्रदेश, दक्षिणी राजस्थान, मध्य-भारत, उत्तरी बम्बई, मध्य-प्रदेश तथा उडीसा का इलाका आ जाता है। उत्तरी राजस्थान, दक्षिणी बम्बई तथा बस्तर इस क्षेत्र के प्रातवर्ती भाग में आते है। तीनों क्षेत्रों में यह क्षेत्र सब से बडा है और इसकी आबादी अन्य दोनों क्षेत्रों से ज्यादा है। इस क्षेत्र में मध्य-प्रदेश के गोड, राजस्थान के भील, छोटा नागपुर के सन्थाल, उराव और मुण्डा, सिंहभूम और मानभूम के 'हो', उडीसा के कान्ध और खडिया, गजाम जिले के सावरा, गदव और बोन्दा आ जाते हैं। इनके अतिरिक्त भुंज, भूमिच, बिरहोर, भुंइयां, ज्वाग तथा सावरा जन-जातियां भी मध्य-क्षेत्र के अन्तर्गत है।

दक्षिणी-क्षेत्र में हैदराबाद, मैसूर, कुर्ग, ट्रावन्कोर-कोचीन, आन्ध्र-प्रदेश तथा मद्रास आ जाते हैं। मद्रास के तट का सबध निकोबार तथा अडमन टापू के साथ होता हुआ यह सारा क्षेत्र दक्षिणी क्षेत्र कहा जा सकता है। इस क्षेत्र में हैदराबाद के चेंचू, नीलगिरी के टोडा, वायनाड के पनियन, ट्रावन्कोर-कोचीन के कडार, कणीकर तथा कुरोवन प्रमुख जन-जातियां है। निकोबार तथा अडमन छोटे टापू है, परन्तु इनकी जन-जातियां अडमनी, जारवा, निकोबारी, सेंटीनेली, ओंग तथा शोंपन सख्या में थोडी है, परन्तु मानव-शास्त्र के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण हैं। अभी तक अडमन तथा निकोबार की इन जातियों की गणना जन-जातियों में नहीं थी, परन्तु १९५५ के 'पिछडी जातियों के आयोग' (Backward Classes Commission) की रिपोर्ट के अनुसार इनकी जन-जातियों में गणना की सिफारिश की गई है।

३. भारत की जन-जातियां

'भारतीय-सविधान' के अनुच्छेद ३४२, खड १ में लिखा है—"राष्ट्रपति सार्वजनिक सूचना द्वारा जन-जातियों, जन-जाति समुदायों, या जन-जाति समुदाय के भीतरी समूहों की घोषणा करेंगे। इस सूचना में जो जन-जातियां, जन-जाति

समुदाय या जन-जातियों के भीतरी समूह परिगणित किये जायेंगे, वे सब 'अनु-सूचित जन-जाति' (Scheduled Tribes) कहायेंगे।"[1]

संविधान के उक्त अनुच्छेद के अनुसार राष्ट्रपति ने 'अनुसूचित जन-जाति आदेश १९५०-५१' (Scheduled Tribes Order 1950-51) प्रसारित किया जिसके अनुसार १४ राज्यों तथा ६ सघ-सरक्षित-राज्यों में अनुसूचित जन-जाति के लोगो की सख्या १,९१,४७,०५४ लाख थी। १९५१ की जन-गणना के अनुसार भारत की जनसंख्या ३६,११,५१,६६९ है। इस हिसाव से भारत की कुल जन- संख्या में अनुसूचित जन-जाति के लोगों का अनुपात १९५१ की जन-गणना के अनुसार ५ ३० प्रतिशत था।

परन्तु क्योकि पिछडी हुई जातियों तथा जन-जातियों का परिगणन इसलिए किया गया था ताकि इनकी सामाजिक, आर्थिक, शिक्षा, एव स्वास्थ्य संबधी दशा में सुधार किया जाय, इनके ऊपर इनकी दशा सुधारने के लिए रुपया खर्च किया जाय, इसलिए अनेक पिछडे वर्गों ने जिनका उक्त गणना में नाम नहीं था, कहना शुरु किया कि उन्हें भी इन अनुसूचित जातियो तय जन-जातियो में गिना जाना चाहिए।

भारतीय-सविधान में इस वात की पहले ही कल्पना कर ली गई थी। संविधान के अनुच्छेद ३४० में लिखा है—"राष्ट्रपति अपनी आज्ञा से पिछड़े वर्ग के लोगों की सामाजिक तथा शिक्षा-सवधी हीन-दशाओं का पता लगाने के लिए एक आयोग की रचना कर सकेंगे, जिसकी रिपोर्ट पार्लियामेंट के सम्मुख रखी जा जायगी।"[2]

सविधान के उक्त अनुच्छेद के अनुसार २९ जनवरी १९५३ को राष्ट्रपति ने एक आयोग वनाये जाने की आज्ञा प्रसारित की जिसके अध्यक्ष श्री काका कालेलकर थे। इस कमीशन ने ३१ मार्च, १९५५ को अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति के सम्मुख उपस्थित की। इस रिपोर्ट के आधार पर १९५०-५१ की अनुसूचित

---

1 342 (1) "The President may, by public notification, specify the tribes or tribal communities or parts of or groups within tribes or tribal communities which shall for the purposes of this Constitution be deemed to be Scheduled Tribes "—*Constitution of India*

2 340 (1) "The President may by order appoint a Commission consisting of such persons as he thinks fit to investigate the conditions of socially and educationally backward classes within the territory of India and the difficulties under which they labour and to make recommendations as to the steps that should be taken by the Union or any state to remove such difficulties and to improve their condition . .and the order appointing such Commission shall define the procedure to be followed by the Commission "—*Constitution of India.*

जातियों की संख्या में संशोधन किया गया और पार्लियामेंट ने 'संशोधित अनुसूचित जन-जाति आदेश–१९५६' (Scheduled Tribes Order— Amendment Act, 1956) स्वीकार किया। इस नवीन संशोधन के अनुसार अब 'अनुसूचित जन-जातियों' के व्यक्तियों की संख्या २,२५,११,८५४ हो गई है, और भारत की संपूर्ण



कामेंग की आका जन-जाति की कन्या

जन-सख्या के अनुपात में जन-जाति के लोगो की सख्या ५ ३० प्रतिशत की जगह ६ २३ प्रतिशत हो गई है।[1]

काका कालेलकर के 'पिछडी जातियो के आयोग' (Backward Classes Commission) ने 'अनु-सूचित जातियो' (Scheduled Castes) तया 'अनु-सूचित जन-जातियो' (Scheduled Tribes)—इन दोनों की सूची तय्यार की है, परन्तु क्योंकि जैसा हम पहले लिख चुके हैं, मानव-शास्त्र में हमारा क्षेत्र जन-जातियों तक ही सीमित है, इसलिए उक्त कमीशन की रिपोर्ट में भिन्न-भिन्न प्रान्तों में जो 'अनुसूचित जन-जातियाँ' दी गई हैं, जिनमें से कुछ १९५०-५१ के आदेश में गिनाई गई हैं और कुछ की सिफारिश कमीशन ने की है, उनकी सूची हम नीचे दे रहे हैं :—

(१) अजमेर—भील, भील मीणा

(२) अडमान तया निकोवार—अडमनी, जारवा, निकोवारी, सेंटीनेली, ऑग, शोंपन।

(३) आन्ध्र—बगेट, चेंचु, गाडव, जटपा, कुम्मेर, कोटिय, वेंतो, ओरिय, वर्तिक, घूल्ला या दलिय, होल्वा, पेक पुटिया, सरोना, सिघोपैंको होल्वा, कोड दोर, कोड कापु, कोड रेड्डी, कोय, देसाय, कार्द्ध, दोंगिर कोंड, कुट्टिय, कोढु तिकिरिय कोड, योनिट कोड या गोड राज या राश कोय, लिंगधारी कोय, कोट्टु कोय, कट्टु-नागकन, कोढु, वोसयि कोढु, डोंग्र कोढु, कुट्टिय कोढु, तिकिरिय कोढु, येनिट कोढु, मुनदोर, नुकदोर, मुखदोर, पोर्जे, रेड्डिदोर, सवर कापु, सवर मालिय, सवर खुट्टु, सवर, (यरुकुला, यनादि, सुगाली, लवाडी, वाल्मीकि—ये आयोग की सिफारिश के अनुसार)।

(४) असम—डिमासा (कचारी), गारो, हाजग, खासी और जयन्तीया, कुकि-जनजातियाँ जिनकी अवान्तर जन-जातियाँ ३५ के लगभग हैं, लखेर, लुशाई (मेजो), मिकिर, नागा, सिन्टेंग, आवर, आका, आपाटनी, डफला, गालग, खामटि, मिछमि, नागा, सिफो, मम्वा, शरडुकपेन, वडी-वडोकचारी, देउरी, होजाई, कचारी, लालुग, मेच, मिरि, राभा, (चकमा, म्हार, मान, पावी तया अन्य ४७ जन-जातियाँ आयोग की सिफारिश के अनुसार)।

(५) भोपाल—भील, गोड, कोर, कोरकू, मोगिया, पारधि, सहरिया या सोइया या सौंर, (भिलाला, कोल—ये आयोग की सिफारिश के अनुसार)।

(६) बिहार—असुर, बैगा, बठुदी, बेदिया, बिझिआ, बिरहोर, बिरजिआ, चेरो, चिकबराइक, गोड, गोराइत, हो, करमाली, खरिआ, खरवार, खोड, किसान, कोड, कोरवा, लोहार, माहली, माल पहरिया, मुण्डा, उरांव, परहैया, सन्याल, सोरिया पहाडिया, सावर, भूमिज (अगडिया, नवजारा, भूइहर, घनवर, कावर,

---

1 Report of the Commissioner for Scheduled Castes and Tribes, 1956-57, Part II p 15.

कुमारभाग पहाड़िया, पहिरा, प्रधान, तमरिया, थारू तथा इनके अलावा २२ अन्य जन-जातियाँ आयोग की सिफारिश के अनुसार)।

(७) बम्बई—बर्डा, बावचा, भील (भगालिया, भीलगरासिया, घोली भील, डुंगरी भील, डुंगरी गरासिया, मेवासी भील, रावल भील, तडवी भील), चोधरा, धाणका, धोडिया, दुबला, गामित या गामटा, गोंड, काथोडी या कातकरी, कोकणा, कोली ढोर, कोली महादेव, मावची, नायकडा या नायक, पारधी (अडवी-चिचर, फाँसे पारधी), पटेलिया, पोमला, पावरा, रायवा, ठाकुर, वलवाई, वारली, वसावा, (चौधरी, कोंकणा, कुकणा, कोकणी, कोकणी कुणबी, कुणबी, तडवी, तलाविया—ये आयोग की सिफारिश के अनुसार)।

(८) कुर्ग—कोरम, कुडिय, कुरुवा, मराठा, मेडा, यरवा।

(९) दिल्ली—इस प्रदेश में कोई जन-जाति नहीं।

(१०) हिमाचल प्रदेश—तिब्बतन, (गद्दी, जूज्जर, जाड, लम्वा, खम्पा, कनोरा या कन्नर, लाहौला, पगवाल—आयोग की सिफारिश के अनुसार)।

(११) हैदराबाद—अन्ध, भील, चेंचु या चेंचुवार, गोंड (नायकपोड, राज गोंड), पहाडी रेडी, कोलम (मन्नूर वालू), कोया (राज कोया, भिने कोया), प्रधान, थोटी, (वडेर, या वेडा, घिसाडी या लोहार, कोली, लम्बाडा या वजारा या लमाण या लमाणी या माथुरा वनजारा, यनादी, यरुकला—ये आयोग की सिफारिश के अनुसार)।

(१२) कच्छ—भील, कोली, पारधी, वाघरी, वोडिया।

(१३) मद्रास—अरन्दन, वगत, भोत्तदास-वोडो भोत्तद या मुरिया भोत्तद और सनो भोत्तव, भूमिआ, भूरि भूमिया और बोडो भूमिआ, चेंचु, गडब-बोड गडव या सेरल्लम गडब या फ्रजी गडव याजोडि या गडव या ओलारो गडव या पगी गडब और प्रग गडब, गोंडी-मोदया गोड और राजो गोंड, गौडस-व्रातो, भीरिय्या दुधोकौरिया, हातो, जतको, जोरिया, कोसल्य गौडस-चोसोथोरिया गौडस, चित्ति गौडस, डगायय गौडस, डोड्डु कमरिया, डोड्डु कमरो, लदिय गौडस, पुल्लोसोरिय गौडस, मगध गौडस-वरनिया गौडु, बूदो मगध, डोंगयय गौडु, लड्य गौडु, पोन्न मगध, सन मगध, होल्वा, जदपस, जतपस, कम्मार, कल्लुनायकन, खत्तिस-खत्तो, कोमराओ, लोहार, कोडु, कोम्मार, कोंड धोरास, कोड कपुस, कोड रिड्डिस, कौंध्स-दसय कौंध्स, डोंगरिया कौंध्स, कुट्टिय कौंध्स, टिकिरिया कौंध्स, येनिटी कौंध्स, कोटा, कोटिया-बरतिका, बेन्थो उरिया, धूलिया दूलिया, होल्वा पैंको, पुतिय, सनरोना, सिद्धो पैंको, कोया या गौड (राज या राश कोया, लिंगधारी कोया, को ट्टु कोया), कुडिय, कुरुमनस, मन्न धोरा, मौने, मुख धोर-नूक धोरा, मुरिया, पैंगरपु, पलासी, पनियन, पोरजस-बोडो बोन्दा, दारुव, डिडुआ, जोरिया, मुँडिली, पेंगु, पाइदी, सलिया, रेड्डि धोरास, सवरस कपु सवरस, शोलग, टोडा, (कनियन, मलियाली, मराटी, मलयेकुडी, येरुकुलास, वडगा, येनादीस, काडर, आदियान, कुरीचन्स, पल्लियान, सुगली, काडु, कुरगन—ये आयोग की सिफारिश के अनुसार)।

(१४) मध्य-भारत—गोड, कोर्कु, सहरिया, भील, (बरेला, खारदे, मनकर, निहाल, पाटलिया, तडवी—ये आयोग की सिफारिश के अनुसार)।

(१५) मध्य-प्रदेश—आध, वैगा, भैना, भारिया-भूमिया या भूइआर-भूमिया, भतरा, भील, भूँजिया, बिझवार, बिरहुल या बिरहोर, धनवार, गदावा या गदवा, गोंड (माडिया, मारिया, मुडिया, मुरिया), हलवा, कमार, कवर या कवर, खैरिया, कोंध या खोंड या काध, कोल, कोलम, कोरकू, कोरवा, मझवार, मुंडा, नगेसिया या नगासिया, निहाल, उराव, परधान, पारधी, परजा, साओंता या सोंता, संवर या संवरा, (धुनव, दोनला, झोरिया, खैरवार, कोइतन, पनका, भिल्लाल, भील-कोटील, भील-तडवी, नायकर, नायकडा-भील, पाडो, कोया, मन्नेवार, डोरला, माना, वायसन हार्नमाडिया, घाणका, वहेलिया, चिता पारधी, लगोली पारधी, फास पारधी, शिकारी टाकनकर आदि आयोग की सिफारिश के अनुसार)।

(१६) मणिपुर—कुकी, लुशाई, नागा, (ऐमोल, अनल, अंगामी, चीरु, चौथ, गगते, ह्मार, कावु, कचा नागा, खोइराओ, कोइरेंग, कोम, कुकी, लमगग, लुशाई, मराम, मरिंग, माओ, नागा, पैती, पुरुम, रलते, सेमा, सुकते, तंखुल, थाडोव, वैफुई—ये आयोग की सिफारिश के अनुसार)।

(१७) मैसूर—हसलारु, इरुलिगा, जेनु कुरुवा, कडु कुरुवा, मालेरु, सोलीगरु। बेलारी जिले में वह सारी-की-सारी लिस्ट आ जाती है जो मद्रास में अरनन्दन से शुरू करके टोडा तक हम ऊपर दे आये हैं। उस सारी लिस्ट को दोबारा देना बेकार है। (गौडलु, मलैकुडी—ये दो जन-जातियाँ आयोग ने अपनी सिफारिश से और बढाई हैं)।

(१८) उडीसा—बागता, वैगा, बनजारा या बनजारी, बायुडो, भुइया या भूयाँ, बिझल, बिंझिया या बिझोआ, बिरहोर, बन्दोपरजा, चेंचु, दल, गादबा, घारा, गड, गोरेत या कोरेत, हो, जटापु, जुआँग, कावार, खरिआ या खरिआँ, करवार, कोन्ध या कध या नगुली कध या सीय कध, किसान, कोल्ह कोल लोहार, कोल्ह, कोली, कोन्द दोरा, कोरा, कोरुआ, कोया, कुलीस, माहाली, माकिडी, माकिरडिआ, मिरधा, मुंडा (मुंडा लोहार और मुंडा माहाली), मुंडारी, ओरग, परजा, साताल, सौरा, थारुआ, (भूमिआ, भूमिज, भुंजिआ, देसुआ भूमिज के अतिरिक्त २१ और जन-जातियाँ आयोग की सिफारिश के अनुसार उडीसा की जन-जातियों में परिगणित की गई है)।

(१९) पेप्सु—इस प्रदेश में कोई जन-जाति परिगणना में नहीं है।

(२०) पंजाब का कांगडा जिला—तिब्बतन, (गद्दी, जाड या कनौर—ये आयोग की सिफारिश के अनुसार)।

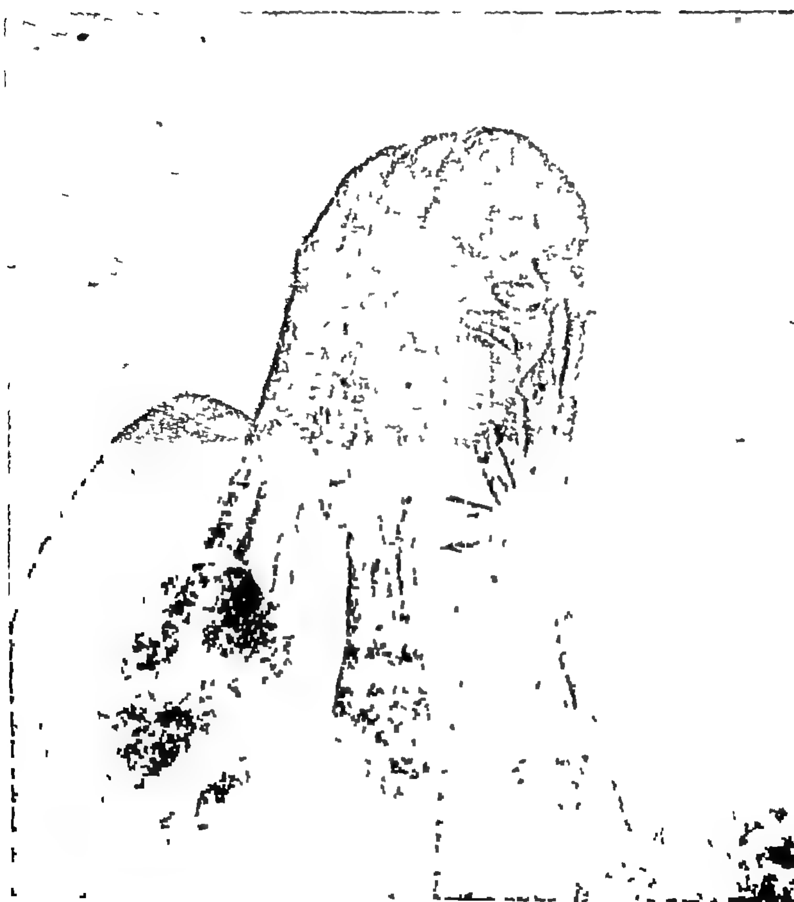
(२१) राजस्थान—भील, (भील, भीलमीणा, डमोर या डमरिया, गरासिया, सेहरिया या सहरिया तथा अलवर, भरतपुर, बूंदी, उदयपुर में मीणा—आयोग की सिफारिश के अनुसार)।

सातों भिन्न-भिन्न वर्गों के थे, कोई किसी की बात नहीं समझ सकता था। वे एक-दूसरे से पूछने लगे कि चावल के साथ खाने को दूसरे के पास क्या है? हर-एक ने नया ही नाम लिया। किसी ने कहा आतुशेह, किसी ने ग्वोमिशि मुगिशी किसी ने अमूसा, किसी ने अखेत्रे नाम लिया। जब कोई किसी की बात न समझा, तो सब ने अपनी चीज़ को खोल कर दिखलाया। सब के पास लाल-मिर्च थी। अलग-अलग भाषा के अतिरिक्त प्रत्येक उप-जाति का अपना भू-क्षेत्र निश्चित है और उसमें वे दूसरी नागा उप-जाति को नहीं आने देते। इनमें कई सिर के एक तरफ, कई सिर के पीछे चोटी रखते हैं। इन उप-जातियो का आपस में सदा द्वन्द्व-युद्ध चला करता है, एक ही उप-जाति में भी एक गाँव का दूसरे गाँव से झगडा रहता है। शत्रुता की भावना पिता से पुत्र और पुत्र से पौत्र तक चलती है। इनमें से कई लोग तो अपने गांव की सीमा से बाहर भी नहीं गये। इनमें शत्र का सिर काट लाने की अद्‌भुत प्रथा है। जो व्यक्ति शत्रु का सिर काट लाते हैं, उन्हीं को अपने शरीर को अलकृत करने का अधिकार होता है। इनमें से सेमा तया कोनयक उप-जातियां तो सिर का शिकार करने के लिए प्रसिद्ध है। नागाओं में अगामी नागाओं की सख्या सब से अधिक है और ये लोग कोहीमा की पहाडियों के आस-पास रहते हैं। अगामी नागा युद्ध-प्रेमी होते हैं और नागाओं की दूसरी उप-जातियां इनसे भयभीत रहती हैं। इन अगामी नागाओं में शिक्षा का भी कुछ प्रचार हो चला है और इन्हीं के विद्रोह के कारण 'नागा नैशनल कौंसिल' का निर्माण किया गया है। इन शिक्षित नागाओं का नेता ज़ेफो फिज़ो है जो नागाओ के एक स्वतत्र प्रदेश की माँग कर रहा है। ब्रिटिश शासनकाल में जो अफसर नागाओं के प्रदेशों में शासन कर रहे थे वे नागाओं के सपर्क में आने के बाद मानव-शास्त्र में रुचि लेने लगे। उनकी धीरे-धीरे यह सम्मति बन गई कि नागा-प्रदेशो को भारत से अलग रखना चाहिए क्योंकि सभ्य ससार के सपर्क में आने के बाद इन लोगो की अपनी सस्कृति नष्ट-प्राय हो जाती है। ये लोग काठ के या काँच तथा कौडियों के बने आभूषण बडे चाव से पहनते है, पेड़ के पत्तों से शरीर को ढकते हैं। एक ही ग्राम में गोत्र-सबध द्वारा सभी नागा आपस में रिश्तेदारी में बंधे होते हैं। कृषि करने का नागाओ का ही नहीं, प्राय सभी पहाडो पर रहने वाली आदिम-जातियों का ढग ऐसा रहा है जिससे ज़मीन का नुक्सान ज्यादा होता है। पहले ये पहाडो के वृक्ष या बाँस काट डालते हैं, इस प्रकार साफ किये जगल में आग लगा देते हैं, और बीज को राख में बखेर देते हैं। पहले साल-दो-साल अच्छी उपज होती है, बाद को ज़मीन की उपजाऊ शक्ति नष्ट हो जाती है, वृक्षों के न रहने से बरसात में ज़मीन का बहुत-सा हिस्सा बह जाता है। एक जगह खेती करने के बाद फिर वे दूसरी जगह चुन लेते है, और इस प्रकार साल-दो-साल में जगह बदलते रहते हैं। खेती को इस प्रकार बदल-बदल कर करने को असम तथा त्रिपुरा में 'झूम', मध्य-प्रदेश में 'बेवार', 'दाहिया' या 'पेंडा', आन्ध्र में 'पोडु', उत्तरी उडीसा में 'राम', 'दहि', 'कोमन' या 'बिंग' एव अग्रेजी में 'कृषि-स्थान-परिवर्तन' (Shifting culti-

vation) कहते हैं। खेती का यह ढग ज़मीन को खराब कर देता है, इसलिए अब कोशिश की जा रही है कि ये जन-जातियाँ खेती करने के नवीन उपायो को सीखें।

(२) असम के खासी—खासी लोग 'मातृ-सत्ताक' (Matriarchal) है, अर्थात् इनमें पिता की प्रधानता के स्थान में परिवार में माता की प्रधानता होती है। इनके समाज के चार विभाग हैं— शाही खानदान जिसे 'की सोएम' कहते हैं, पुरोहित खानदान जिसे 'की लिंगोह' कहते हैं, मन्त्रियों का खानदान तथा सामान्य खानदान—इस प्रकार इनमें चार 'खानदान' या 'गोत्र' (Clan) माने जाते हैं। इन चारो की सामाजिक-स्थिति एक-दूसरे के बाद आती है। शाही के बाद पुरोहित, पुरोहित के बाद मत्री और मत्री के बाद सामान्य लोग समझे जाते हैं। इस सामाजिक-भेद के होते हुए भी विवाह-बंधन में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। किसी खानदान का व्यक्ति किसी भी खानदान में शादी-व्याह कर सकता है। खासी लोग जैनतिया तथा खासी पहाडियों एवं शिलाग में रहते हैं। पहाडी ढलावों को ये लोग इस प्रकार काटते हैं कि वे समतल हो जाते हैं। एक समतल ढलाव दूसरे से नीचा होता है, और इस प्रकार पानी ऊपर से नीचे हर ढलाव को सींचता चला जाता है। इस प्रकार मील-मील तक ये ढलावों को सींच लेते हैं। हाल में खासियों के इलाके में आलू की खेती शुरू की गई है जिससे उनकी आर्थिक-व्यवस्था को बहुत लाभ पहुँचा है। इस प्रदेश में वर्षा बहुत होती है, ४०० इंच तक हो जाती है। यहाँ खेती करने का अपना ढग है जिसे 'झूम' कहते हैं। नागाओं का वर्णन करते हुए हम खेती की इस प्रथा का उल्लेख कर आये हैं। जगल को जला कर उसकी राख में ये लोग बीज बखेर देते हैं। पहले दो-तीन साल अच्छी खेती होती है, बाद को ज़मीन की उर्वरा-शक्ति कम होने पर उस जगह को छोड कर दूसरी जगह खेती करने लगते हैं। खाली पडी यह ज़मीन वर्षा में कट कर बहने लगती है जिससे ज़मीन को बहुत नुकसान पहुँचता है। इस दोष को दूर करने के लिए अनेक उपाय हमारी सरकार बरत रही है। गृह-निर्माण में लकडी, पत्थर, बांस, स्लेट, पत्ते आदि काम में लाये जाते हैं। पहले मकान की दीवार चारों तरफ से पत्थर की बनाने तथा मकान में कीलों का उपयोग करने के प्रति इस जन-जाति के लोगों में 'वर्जित-भावना' (Taboo) मौजूद थी, परन्तु अब शनै-शनै यह भावना हटती जा रही है। खासियों में सब से छोटी लडकी की स्थिति बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि परिवार की सम्पत्ति की वही रक्षक समझी जाती है, धार्मिक सस्कार भी वही करती है। इस प्रकार उत्तराधिकार में सम्पत्ति सबसे छोटी लडकी को मिलती है, और वह एक प्रकार से सारे परिवार की ट्रस्टी समझी जाती है। खासी लोग मृत-व्यक्ति का दाह-सस्कार करते हैं, परन्तु जो हैजा, चेचक आदि सक्रामक रोगो से मरते हैं, उन्हें ज़मीन में गाड दिया जाता है। खासियों की बहुत बड़ी संख्या ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया है और विजातियो के सपर्क के साथ-साथ उसको कई नई-नई समस्याएँ भी उठ खडी हुई हैं।

(३) नीलगिरी के टोडा—दक्षिण-भारत के उटकमड पर्वत की यात्रा के लिए जो लोग गये हैं, उन्होने वहां के किसी टोडा-गांव को देखा हो, तो उन्हें विचित्र प्रकार का अनुभव हुआ होगा। टोडा लोगो का शरीर सुदृढ तथा गठा हुआ होता है, रोमन नाक, तेजस्वी आँखें, चमकते हुए दाँत और घने बाल उनके शरीर की शोभा को बढ़ाते हैं। ये लोग बाल कटवाते या मुंडवाते नहीं, पुरुषो की शानदार दाढी-मूंछ लहराया करती है, और स्त्रियाँ लम्बे-लम्बे बालो को वट कर जटाओ के रूप में उन्हें लटका लेती हैं। टोडाओ की वेश-भूषा भी अपने ढग की निराली होती



टोडा जन-जाति की स्त्री

है। लम्बे सफेद कपडे के दोनो किनारो को बेल-बूटो से काढ कर वे पहनते हैं। इस कपडे को वे शरीर से लपेट-सा लेते हैं। स्त्रियों तथा पुरुषो के पहनावे में कोई भेद नहीं होता। स्त्रियां शरीर को गोदा लेती हैं, पीतल तथा चाँदी के आभूषण पहनती हैं।

नीलगिरि पर्वत के सुन्दर वनो में टोडा लोगों के गाँव होते है। इन गाँवों में ३-४ ही घर होते हैं। इन गाँवों को वे मुंड कहते हैं। इस मुंड में इनके छप्पर पडे होते हैं। इन का व्यवसाय पशु-पालन है। ये खूब दूध पीते और घी खाते हैं। स्त्रियाँ वालो में भी घी मलती हैं। किसी समय नीलगिरि का सारा प्रदेश इनका था, परन्तु अब तो इन्हें भोजन के भी लाले पड रहे हैं।

टोडा लोगो में एक अद्भुत प्रथा है जिसके अनुसार एक स्त्री के अनेक पति होते हैं। इस प्रथा को 'बहुभर्तृता' (Polyandry) कहते हैं। यह प्रथा देहरादून के जौनसारी लोगों में भी पायी जाती है। कुछ साल पहले टोडा लोगों में आतशक तथा सुजाक ऐसा फैलने लगा कि यह आशंका हो चली थी कि ६०० के लगभग सख्या की यह टोडा जन-जाति कहीं खत्म ही न हो जाय। १९५१ में मद्रास सरकार के प्रयत्नो से ये बीमारियाँ काबू में आयीं और तब से इस जन-जाति की रक्षा की व्यवस्था सोची जाने लगी। फिर भी वर्तमान सभ्यता का टोडा लोगो पर प्रभाव पड रहा है, और जैसे अन्य जन-जातियाँ अपनी संस्कृति को छोडती जा रही हैं, वैसे टोडाओं का अस्तित्व भी ढलता चला जा रहा है।

(४) उत्तर-प्रदेश के भील—उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश, भोपाल, बम्बई, हैदराबाद आदि अनेक स्थानो में भील फैले हुए हैं। इनका मुख्य व्यवसाय कृषि है, परन्तु शिकारी होने के कारण तीर-कमान साधने में भी ये कुशल-हस्त हैं। श्री रामचन्द्र जी ने भीलनी के दिये बेर खाये थे—ऐसा कथानक प्रसिद्ध है। द्रोणाचार्य से एक भील एकलव्य तीरदाजी सीखना चाहता था, और उसने उनकी मूर्ति सामने रख कर इस विद्या का इतना अभ्यास कर लिया था कि उसके छोडे हुए तीर निशाने को बींध कर वापस लौट आते थे—ऐसी बातें भी प्रसिद्ध हैं। भीलो का कद नाटा, रूखे बाल, लाल आँखें और उभरे हुए जबडे होते हैं। इनके यहाँ विवाह की एक विचित्र प्रथा प्रचलित है। जो युवक अद्भुत साहस का परिचय देता है वह जिस लड़की से चाहे उससे विवाह कर सकता है। होली के त्यौहार के समय एक बांस गाड कर उसके या किसी वृक्ष के ऊपर नारियल या गुड टाँग दिया जाता है। इस बांस या वृक्ष के चारो तरफ स्त्रियो का और स्त्रियों के चारों तरफ पुरुषो का घेरा लग जाता है। युवक लोग इन दोनो घेरो को चीर कर बांस या वृक्ष पर लगे नारियल या गुड को पाने का यत्न करते हैं। घेरे को पार करते समय स्त्रियाँ युवक के कपडे फाड़ देती हैं, उसे झाड़ू से मारती हैं, उसे नोचती हैं, घेरे को तोडने नहीं देतीं। जो भी युवक चाहे इस बांस या वृक्ष के चारो तरफ नाच-कूद सकता है। जो युवक इस घेरे को पार कर के नारियल या गुड खाने के लिए पहुँच जाता है, वह इस घेरे वाली जिस-किसी लडकी से भी विवाह कर सकता है और उसी समय उसे पकड कर घर ले जा सकता है। आदिम-जातियो में इस बात का सदा डर बना रहता है कि कोई बाहर का व्यक्ति उनके दायरे में प्रवेश न कर ले इसलिए वे अपनी जन-जाति में ही विवाह करती हैं, और इसीलिए आदिम-जातियाँ 'अन्तर्विवाही' (Endogamous) पायी जाती हैं। भील भी अन्तर्विवाही

है, फिर भी हिन्दुओं में प्रविष्ट होने के लिए इन्होने अनेक स्थानो में अन्तर्विवाही प्रथा को तोड कर हिन्दुओ की निम्न-जातियो में शादी-व्याह किया है। मुसलमान शासकों के विरुद्ध भीलो ने अपने राजाओ का साथ दिया था—इस दृष्टि से भी इस जन-जाति का भारत के इतिहास में काफी महत्व है।

(५) बिहार के सन्थाल—भारत की जन-जातियो में सन्याल लोगो की सख्या २० से ३० लाख तक है। वहुत ज्यादा जन-सख्या वाली जन-जातियो में इनकी गणना है। अधिकतर ये विहार में पाये जाते है, परन्तु अब दूसरे प्रदेशों में भी फैलने लगे हैं। उत्तरी वगाल में कृषिकार के रूप में, असम के चाय-बगीचो में कुलियो के रूप में, जूट तथा कपडो की मिलो में मजदूरों के रूप में ये काम करते हैं। इनके दो वर्ग पाये जाते हैं। एक वर्ग तो सभ्यता के सपर्क में आता जा रहा है, जो खेती, कुली, मजदूर के रूप में काम करने लगा है, दूसरा वर्ग सभ्यता के सपर्क में नहीं आया। इस वर्ग के लोग जगलो में रहते हैं, अगर इकले में कहीं शहरों का कोई व्यक्ति उन्हें मिल जाय, तो वे भाग खडे होते हैं, पेडो पर चढ़ जाते है, कीडे-मकौडे खाते है, नग्नप्राय रहते हैं। ऑस्ट्रिक-परिवार की एक उप-भाषा है जो एशिया में बोली जाती है। एशिया में बोली जाने के कारण इसे ऑस्ट्रो-एशियाई भाषा कहते है। इस भाषा-परिवार की अनेक भाषाओ में एक मुण्डा भाषा है। नागा लोग ऑस्ट्रिक परिवार की ऑस्ट्रो-एशियाटिक इस मुण्डा भाषा को बोलते है। अब धीरे-धीरे ये बहु-भाषी वनते चले जा रहे है। सन्थालों के समाज का सगठन 'टोटम' (Totem) के आधार पर वना हुआ है। 'टोटम' कोई ऐसा पशु, वृक्ष या अन्य कोई प्राकृतिक वस्तु होती है, जो किसी उप-जन-जाति का प्रतीक होता है। जिनका एक 'टोटम' होता है, वे आपस में विवाह नहीं करते। सामाजिक-सगठन की दृष्टि से प्रत्येक गाँव का एक मुखिया होता है जो अपनी बिरादरी पर शासन करता है। बडे गाँव में पचायत की-सी व्यवस्था होती है। ये लोग अधिकतर खेती और शिकार से पेट भरते है। जगलों को साफ करने में सन्थाल सिद्ध-हस्त होते है।

(६) कोचीन के कादर—'कादर'-शब्द का अर्थ ही है—'जगल के वासी'। ये लोग शहरों के आस-पास न रहकर घने जगलों में रहते हैं, सभवत' आदिम जन-जातियो में ये सबसे प्राचीन है। नस्ल की दृष्टि से इन्हें किसी शुद्ध नस्ल का नहीं कहा जा सकता। स्वभाव के सौम्य होते है, युद्ध के लिए उतावले नहीं रहते। जगल में प्राय फिरदर जीवन व्यतीत करते हैं, कहीं-कहीं बाँसो की झोंपडियां बना कर भी रहते हैं, १५–२० झोंपड़ियों का एक गांव होता है। ये लोग जगली कन्द-मूल खोद कर अपना निर्वाह करते रहे है, परन्तु मास-मछली के भी शौकीन हैं। जीवित या मृत रीछ या जगली साड का मास नहीं छूते। शहद का इन्हें बहुत शौक है और शहद इकट्ठा करने की मौसम का ये जी खोल कर आनन्द उठाते हैं। विवाह युवावस्था में करते है। इनमें 'अन्तर्विवाह' बहुत कम होता है, 'बहिर्विवाह' की प्रथा अधिक प्रचलित है। भाई-बहिन के बच्चो में

शादी हो सकती हैं। 'बहुभार्यता' (Polygyny) तथा 'बहुभर्तृता' (Polyandry) से ये लोग अपरिचित हैं। ये लोग एक पत्नीव्रत (Monogamy) का पालन करने वाले हैं। जगल से शहद, मोम, इलायची आदि छोटी-मोटी चीजें एकत्र कर लाते हैं। हाथी पकडने की कला में सिद्ध-हस्त होते हैं। सरकार की तरफ से इन्हें जगली-जमीनो में खेती करने की पूरी छूट है, उस पर कोई लगान नहीं लिया जाता, परन्तु जगली जानवरों के भय के कारण ये जंगलो में खेती नहीं करते। उनका ख्याल है कि बड़े पैमाने पर खेती करना समय को नष्ट करना है। अपनी झोपडी के आस-पास केले आदि के पेड लगा लेते हैं, और जो सब्जियाँ रोज-मर्रा के काम आती हैं, उन्हें बो लेते हैं। अब सभ्यता के सपर्क में आने से उनमें आतशक आदि बीमारियाँ घर करने लगी हैं, और इनकी नस्ल का ह्रास होने लगा है।

(७) हैदराबाद के चेंचु—हैदराबाद के घने पहाडी प्रदेशो से जहाँ जगली जानवरों की बहुतायत है, चेंचु जन-जाति के लोग रहते हैं। जिसे हम 'गांव' कहते हैं, उसे ये 'पेंटा' कहते हैं। इस प्रकार के इनके ५३ पेंटा गत जन-गणना में बसे हुए थे, जिनमें से एक-एक में १२-१५ झोंपडियाँ थीं। कुछ वर्ग-मील के घेरे में ये बेरियाँ, कन्द-मूल और शहद एकत्रित करते हुए घूमते-फिरते हैं। इनके पास युद्ध के अस्त्र-शस्त्र नहीं होते, तीर-कमान ही इनका एकमात्र अस्त्र है। ये बड़े ईमानदार, दयालु तथा आतिथ्य करने वाले होते हैं। कृषि से ये सर्वथा अनभिज्ञ हैं। अगर किसी चेंचु से कृषि के विषय में पूछा जाय, तो यही कहेगा कि वह खेती की कोई बात नहीं जानता। पशु-पालन से वे अभिज्ञ हैं। बकरियाँ और मुर्गियाँ पालते हैं, कुत्ते पालने का उन्हें शौक है। कन्द-मूल और जगल के बेर खाकर वे पेट भर लेते हैं। महुए का आटा भी बना लेते हैं, और इसका पेय भी बना लेते हैं। पशुओ का मास भी ये लोग खाते हैं। यह जन-जाति पांच 'टोटमों' (Totems) में विभक्त हैं। एक 'टोटम' का दूसरे 'टोटम' वाले के साथ विवाह नहीं कर सकता, विवाह अपनी जन-जाति में तो होता ही है, परन्तु अपने 'टोटम' में नहीं होता। इसके अतिरिक्त विवाह ममेरे तथा फुफेरे भाई-बहिन में ही हो सकता है, अन्य किसी में नहीं। कुछ चेंचु अपने मुर्दों का दाह-सस्कार करते ह, कुछ उन्हें जमीन में गाड देते हैं।

§ ५. भारत की जरायमपेशा जन-जातियाँ

वैसे तो जन-जातियो की सख्या बहुत बड़ी है, सब पर लिखने के लिए एक अलग पुस्तक की आवश्यकता है, तो भी हमने असम के नागा तथा खासी, नीलगिरि के टोडा, उत्तर-प्रदेश के भील, बिहार के सन्थाल, कोचीन के कादर तथा हैदराबाद के चेंचु—इनके विषय में कुछ लिखा है ताकि इन जन-जातियो के रहन-सहन, रीति-रिवाज के विषय में कुछ परिचय हो जाय।

इन जन-जातियों के अतिरिक्त भारत में कुछ ऐसी जन-जातियां हैं जो जरायम-पेशा (Criminal tribes) गिनी जाती हैं। हम जिन जन-

जातियो का वर्णन कर आये हैं वे जरायम-पेशा नहीं हैं, परन्तु जन-जातियों के संबध में जानकारी प्राप्त करते हुए हमें जरायम-पेशा जन-जातियों से भी परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए।

भारत में कई जन-जातियां ऐसी रही हैं जिनका पेशा चोरी, डकैती, लूट-मार करना रहा है। ऐसी अपराधी जातियो को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(क) वे जन-जातियां जो शुरू-शुरू में अपराधी थीं, परन्तु जो अब कहीं बस गई है और ईमानदारी से आजीविका का उपार्जन करती हैं। इन में से कुछ हिस्सा या कुछ व्यक्ति अभी तक किसी-न-किसी अपराध द्वारा ही आजीविका का निर्वाह करते हैं, (ख) ऐसी जन-जातियां जिनका निवास एक निश्चित स्थान पर है, जो जाहिरा तौर पर कोई धंधा भी करती हैं, परन्तु जिनका काम अपने निवास-स्थान से कहीं दूर जाकर चोरी-डाका डालना है, (ग) ऐसी जन-जातियां जो खानाबदोश हैं, कहीं टिक कर नहीं बैठतीं, और जब कभी जहां-कहीं मौका मिलता है, वहीं चोरी-डकैती-सेंध लगाकर अपना काम चलाती हैं।

अब से २५ साल पहले अपराधी जन-जातियो की जन-संख्या ४० लाख के लगभग थी। हर प्रान्त में इनकी काफी तादाद है। भिन्न-भिन्न प्रान्तो में भिन्न-भिन्न नामो की अपराधी जन-जातियां हैं। उदाहरणार्थ—

(१) उत्तर-प्रदेश की अपराधी जन-जातियां—गूजर, बहेलिया, बधिक, पासी, दुसाध, मल्लाह, नट, डोम, बनजारा, हबूडा, कजर, भातू, बावरिया, बेडिया, साँसिया, करवाल, औंधिया—ये उत्तर-प्रदेश की अपराधी जन-जातियां हैं। पासी खेती करते हैं, पर लूट-पाट से भी नहीं चूकते। बेडिया जाली सिक्के बनाते और राह चलतो को घर दबाते हैं। कजर अक्सर शिकारी जीवन व्यतीत करते हैं, चटाई-पत्तल-दोने बनाते हैं, और मौका पडने पर राहजनी से नहीं चूकते। नट अपनी स्त्रियो से वेश्यावृत्ति कराते हैं। बनजारे पशु-पालन करते, पशु चराते तथा मौके-बे-मौके दूसरों के पशु उडा लाते हैं। इसी प्रकार अन्य जन-जातियों के लोग किसी-न-किसी अपराध द्वारा जीवन-यापन करते हैं। जिन अपराधी जन-जातियो को जीवन-यापन का कोई ईमानदारी का धंधा मिल जाता है, वे अपराध करना छोड कर बस जाना पसन्द करती हैं, नहीं तो अपने पेशे में रमे रहती हैं।

(२) पंजाब की अपराधी जन-जातियाँ—बहेलिया, मीना, हरनिस, गुरमग, दुमना, चुवरा, रावल, बावरिया, धींवर तथा बंगाली—ये पंजाब की अपराधी जन-जातियां हैं।

(३) मध्य-प्रदेश की अपराधी जन-जातियाँ—बधिक, बेदर, बेरिया, बेंदिया, भामता, गोपाल, जादुआ, कजर, खगर, कोल्हासी, कोली, कोरकू, कोरवा, माल, माँग गरौरी, मीना, नहल, नट, पासी, सनौरिया, साँसीया, एरुकला—ये मध्य-प्रदेश की अपराधी जन-जातियां हैं।

(४) मद्रास-प्रान्त की अपराधी जन-जातियाँ—आदि-द्रविड़, ডोम, कल्लन, चेंचु, कोरुआर, एरुकुलर, बौरी, बोया, वार्तुजा, भाट्टू, तुरक, चपरबन्द, दडसी, खोगर, कत्थरबन्धु, कौरव—ये मद्रास-प्रात की अपराधी जन-जातियाँ हैं।

(५) बम्बई-प्रान्त की अपराधी जन-जातियाँ—कंकाड़ी, घटीचोर, हरिण शिकारी, मगरदिस, लमहड़ी, कजरभाट, छप्परबद, बोस्तर, कतबू, बेरद, हूर, घरल, बहुर, लाभानी, रामोशी, मान, भमता, फांसी, पर्धी, कजर, बघरी, नट—ये बम्बई-प्रान्त की अपराधी जन-जातियाँ हैं।

(६) राजपूताना की अपराधी जन-जातियाँ—बनरिया, सांसी, मीना, कजर, बागडी, भील, बदक, बहेलिया, अहेरिया, बेरिया, भाट्टू, नट—ये राजपूताना की अपराधी जन-जातियाँ हैं।

६. भारत की कुछ मुख्य-मुख्य जरायमपेशा जन-जातियाँ

भिन्न-भिन्न प्रान्तो में जिन अपराधी जन-जातियो का हमने परिगणन किया है, उसका यह अभिप्राय नहीं कि वे दूसरे प्रान्तो में नहीं होतीं। एक ही अपराधी जन-जाति भिन्न-भिन्न प्रान्तो में भी पायी जाती है। इनमें से कुछ अपराधी जन-जातियो पर हम यहां प्रकाश डालेंगे —

(१) नट—नट जन-जाति के लोग उत्तर-प्रदेश तथा राजपूताना में पाये जाते हैं। ये नाचते, गाते, खेल-तमाशा तथा मदारी के खेल दिखाते फिरते हैं। इनकी स्त्रियां नैतिकता की दृष्टि से उच्च-स्तर का पालन नहीं करतीं। ये लोग अपनी स्त्रियों से धंधा कराते हैं, वेश्यावृत्ति के लिए ये प्रसिद्ध हैं। मिर्ज़ापुर की तरफ इनकी सख्या अधिक पायी जाती है। वहां इनके कई विभाग पाये जाते हैं जिनमें से सब का अलग-अलग 'टोटम' (Totem) होता है। इनका सामाजिक सगठन अत्यन्त जटिल है। मर्दुमशुमारी में अनेक नटो ने अपने को हिन्दु लिखवाया है, यद्यपि इनमें कई मुस्लिम भी पाये जाते हैं। मध्य-प्रदेश, बम्बई तथा बगाल तक ये पाये जाते हैं, यद्यपि अधिक सख्या इनकी उत्तर-प्रदेश तथा राजपूताना में है। असाध्य रोगो तथा नामर्दी की भी ये दवा बेचते फिरते हैं। नट कुत्तो को पालते तथा उनसे जानवरो का शिकार करते हैं। रस्सो पर नाचने तथा मदारियो के अन्य खेल करने में ये निपुण होते हैं। यह नहीं कि ये लोग सदा चोरी-डकैती से ही जीवन का निर्वाह करते हो, आजीविका के लिए ये खेल-तमाशा करते हैं, परन्तु मौका पडने पर चोरी आदि करने मे भी नहीं चूकते।

(२) कजर—ये लोग उत्तरी-भारत में जहां-तहां फैले हुए हैं। ये लोग भाटों की तरह गा-बजाकर आजीविका का निर्वाह करते हैं, परन्तु अब इन्होंने अन्य व्यवसायों को भी अपनाना शुरू कर दिया है। बहुत-से कजर भीख मांग कर पेट पालते हैं, इनकी स्त्रियां भी हाथ में कटोरा लेकर दूसरे गांवो को निकल जाती हैं और सन्ध्या तक जितने पैसे बटोर सकती हैं, बटोर लाती हैं। मौके-बे-मौके चोरी करने का भी ये धंधा करते हैं।

कजरो में विवाह के लिए कन्या का मूल्य देना पडता है। इसका शायद यह कारण हो कि इनमें लडकियां कम हैं। जहां-जहां लडकियां ज्यादा होती हैं, वहां कन्या के लिए मूल्य देने की प्रथा में भी कमी पायी जाती है। कुछ मूल्य विवाह के पहले और बचा हुआ विवाह के पीछे देने का रिवाज है। नटों की तरह इनमें स्त्रियों की नैतिकता का स्तर नीचा नहीं है। सतीत्व पर विशेष बल दिया जाता है, और अगर यह प्रमाणित हो जाय कि कोई स्त्री व्यभिचारिणी है, तो कठोर दड दिया जाता है। पचायत दड-व्यवस्था करती है। कजरो में पचायत का बहुत जोर है।

अन्य जन-जातियो की तरह इनमें भी पशुओ, वृक्षो तथा प्राकृतिक-पदार्थों के नामों के ऊपर अपन गोत्र का नाम रखने की प्रथा है।

(३) भातू—यह जन-जाति जगह-जगह फिरती रहती है, किसी एक जगह टिक कर नहीं बैठती। इन का सगठन वडा जबर्दस्त है। इनकी पचायत अपनी सपूर्ण जन-जाति के सगठन को ही नहीं करती, साथ ही छोटे बच्चो को चोरी करने आदि की शिक्षा देने की व्यवस्था भी करती है। ये लोग अपने को महाराणा प्रताप के वशज कहते हैं। इनका कहना है कि महाराणा की हार के कारण वे सदियो से जगह-जगह भटकते फिरते हैं, कहीं टिक कर नहीं रहते।

(४) वहेलिया—ये उत्तर-प्रदेश, पजाब तथा राजपूताना में पाये जाते हैं। इनका जीवन शिकारी होता है। इनमें पचायत-पद्धति का बडा जोर है।

(५) बधिक, बावरिया तथा वागडी—उत्तर-प्रदेश के बधिक, राजपूताना के बागडी और बदक और मध्य-प्रदेश के बीधक एक ही हैं। इनकी बोली गुजराती का अपभ्रश है, और सभव है कि किसी समय ये गुजरात से अन्य स्थानों में फैले हों। छोटी-छोटी चोरी से डाके डालने तक ये नहीं हिचकते। शाहजहांपुर जिले में जो बधिक एक जगह आवास-स्थान (कौलोनी) बना कर बस गये हैं, वे अब अपराध नहीं करते।

(६) बनजारा—ये उत्तर-प्रदेश, राजस्थान तथा मध्य-भारत में पाये जाते हैं। ग्रीयर्सन के कथनानुसार पश्चिमी तथा दक्षिणी भारत में ये सर्वत्र दिखाई देते हैं। ये वनों में फिरने के कारण बनजारा कहाते हैं। इनका व्यवसाय गाड़ियों में सामान ढोना रहा है, परन्तु जब से रेलगाड़ियां, बसें और मोटरें चली हैं, तब से ये बेकार हो गये हैं और अपराध करना इनका पेशा हो गया है।

(७) डोम—ये उत्तर-प्रदेश, पश्चिमी बगाल, बिहार, उडीसा, मद्रास तथा अन्य राज्यों में पाये जाते हैं। क्रुक का कहना है कि ये शुरू-शुरू में द्राविड लोग थे जो सारे भारत में फैल गये। इन्हें जल्लाद भी कहा जाता है। इनका कहना है कि किसी समय ये राज करते थे। गोरखपुर जिले में डोमिनगढ़ एक स्थान है, जो इनके कथनानुसार किसी समय इनकी राजधानी था। सांसी और हबूडों की तरह ये फिरदर जीवन व्यतीत करते हैं और चोरी, डकैती, सेंध लगा कर निर्वाह करते हैं।

इन अपराधी जन-जातियों को वसाने तथा इनकी सामाजिक-अवस्था उन्नत करने के लिए समय-समय पर भारत-सरकार उद्योग करती रही है। इनके संवव में अवतक जो कानून वने हैं, उनकी चर्चा हमने अपनी 'समाज-कल्याण तथा सुरक्षा'-पुस्तक में विस्तार से कर दी है।

७ भारत की जन-जातियो का प्रजातीय उद्भव (Racial Origin of Indian Tribes)

हम पिछले एक अध्याय में भारतीय प्रजातियों के सवध में लिखते हुए श्री रिज़ले, श्री हैड्डन, श्री हट्टन, श्री गुहा तथा श्री मजूमदार का मत दर्शा आये हैं। मानवशास्त्रियो के सम्मुख यह वडी विकट समस्या है कि भारत की जो आदि प्रजातियाँ हैं—नीग्रिटो, प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड (निषाद), मगोलॉयड (किरात), मैडीटरेनियन (द्राविड) तथा आर्य—इनमें से किस 'प्रजाति' (Race) के साथ किस 'जन-जाति' (Tribe) का संवध जोडा जाय? इसमें तो सन्देह नहीं कि प्रजातियों के आपस के मेल-जोल से ही जन-जातियाँ वनी हैं, परन्तु कौन-सी जन-जाति किस-किस प्रजाति के सम्मिश्रण से वनी है—यह एक विकट समस्या है। इतना कहा जा सकता है कि रिज़ले, हैड्डन आदि ने पाँच-सात जिन भी आदिम-प्रजातियों का वर्गीकरण किया है, उन्हें मोटे तौर पर तीन में परिणत किया जा सकता है—द्राविड, मगोल तथा आर्य। ये तीन प्रजातियाँ ही भारत की आदिम-प्रजातियाँ है, और इन तीन में से भी आर्यो को छोड कर जन-जातियो का निर्माण द्राविडों तथा मगोलो के द्वारा ही हुआ है।

हैड्डन (Haddon) का कथन है कि आदि-द्राविड़ तथा द्राविड भारत के ही आदि-वासी हैं। मध्य-भारत में जो आदिवासी पाये जाते हैं, वे भी इसी देश के आदि-वासी हैं। इन आदि-वासियों में से कोई वाहर से नहीं आया, वाहर से अगर कोई सवसे पहले आया तो वे आर्य ही थे। ये आर्य २,००० ईस्वी सन् से पूर्व इस देश में आये। इनके वाद यहाँ शक, पहलव, ग्रीक, हूण तथा असम में शान लोग आये। इस प्रकार हैड्डन ने भारत की आदिवासी जन-जातियों के सवंध में कोई पुष्ट कल्पना हमारे सामने नहीं रखी। उनका कहना तो यह है कि यहाँ की आदि-वासी जन-जातियाँ यहीं की रहने वाली हैं, कहीं वाहर से नहीं आयीं।

वैरन इगौन वौन ईकस्टेड (Baron Egon von Eickstedt) का कहना है कि 'हिम-युग' (Glacial period) के काल में दक्षिणी-भारत में 'प्रोटो-नीग्रॉयड' (Proto-Negroid) प्रजाति के लोग रहते थे। भारत में रहने के कारण इन्हें उसने 'इंडो-नीग्रिड' (Indo-Nigrid) का नाम दिया है। इन 'इंडो-नीग्रिड'-नस्ल के लोगों के वाद भारत में 'वेड्डा'-नस्ल के लोग आये। आजकल सीलोन में जो 'वेड्डा'-लोग रहते हैं, वे उसी आदि-वेड्डा नस्ल के प्रतिनिधि हैं। 'इडो-नीग्रिड' और 'वेड्डा' के सम्मिश्रण से 'वेड्डिड'-वर्ग (Veddid group) वना। यह भारत का सवसे पुराना वर्ग है, और ईकस्टेड के कथनानुसार यही वर्ग भारत का आदिवासी वर्ग है। इसके अतिरिक्त ईकस्टेड ने भारत की अवशिष्ट

जनता को दो वर्गों में बांटा है, जिनका उसने नाम रखा है 'मैलेनिड'-वर्ग (Melanid group) तथा 'इडिड'-वर्ग (Indid group)। इस प्रकार भारत में आदि-प्रजातियो के तीन वर्ग बने—'वेड्डिड'-वर्ग, 'मैलेनिड'-वर्ग तथा 'इडिड'-वर्ग। 'वेड्डिड' तथा 'मैलेनिड' वर्गों के सम्मिश्रण से भारत की जन-जातियों की उत्पत्ति हुई है—यह ईकस्टेड का कथन है। 'वेड्डिड' तो सीलोन के 'वेड्डा' लोग हैं, 'मैलेनिड' में 'मल'-शब्द का अर्थ पहाड है, इसलिए 'मैलेनिड' का अर्थ पहाडी जातियो से है। 'वेड्डा' तथा पहाडी जातियो के रक्त-सबध से भारत की जन जातियां बनीं।

क्रिस्टोफ वौन फ्यूरर हैमनडौर्फ (Christoph von Furer-Haimendorf) का कहना है कि भारत में द्राविड तथा आर्य दोनो प्रजातियां एक ही काल में २,००० से १००० ई० पू० के समय प्रविष्ट हुईं। द्राविड लोग जल के रास्ते से भारत के पश्चिमी तट के समुद्र से प्रविष्ट हुए और दक्षिण में उन्होंने अपना अड्डा जमाया, आर्य लोगों ने उत्तर में अपना अड्डा जमाया। द्राविड लोग भारत के पश्चिमी भाग से इस देश में प्रविष्ट हुए इसका प्रमाण यह दिया जाता है कि भारत के पश्चिमी कोने में कलात के प्रदेश में एक द्राविड भाषा आज तक बोली जाती है जिसका नाम 'ब्राहुई' है। इस भाषा को बोलने वालो की सख्या १ लाख ८४ हजार है। जो द्राविड आज केवल दक्षिणी-भारत में पाये जाते हैं उनकी भाषा भारत के पश्चिमी-प्रदेश में क्यो है? इसका यही अर्थ हो सकता है कि ये लोग पश्चिमी समुद्र-तट से भारत में आये होंगे, और कुछ लोग यहां रह गये होंगे, बाकी दक्षिण-भारत की तरफ चले गये होंगे। इस दृष्टि से अनेक मानव शास्त्रियों का कहना है कि आर्यों की तरह द्राविड भी इस देश में बाहर से आये थे, वे इस देश के आदि-वासी नहीं हैं। दक्षिण से, पश्चिम से और उत्तर से द्राविडों तथा आर्यों ने भारत के आदि-वासियो को जब खदेडा, तब वे मध्य-भारत के जगलों तथा वहां की पहाडियो में जा छिपे। हैमनडौर्फ महोदय ईकस्टेड के साथ इस बात में सहमत हैं कि द्राविडो तथा आर्यों से खदेडे जाकर मध्य-भारत में शरण लेने वाले ये आदि-वासी 'मैलेनिड' थे, और ये 'मैलेनिड' ही भारत की आदि-वासी जन-जातियो के पूर्वज हैं। यह हम पहले ही लिख आये हैं कि 'मल'-शब्द का अर्थ पहाड है, इसलिए 'मैलेनिड' का अर्थ पहाडी जातियो से है।

हैड्डन तथा गुहा का कहना है कि भारत की प्रजातियां छ हैं—(१) नीग्रिटो, (२) प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड, (३) मगोलॉयड, (४) मैडिटरेनियन, (५) चौडी खोपडी वाले पश्चिमी लोग तथा (६) नौर्डिक। इनमें से जन-जातियों की उत्पत्ति नीग्रिटो, प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड तथा मगोलॉयड —इन तीन प्रजातियों के सम्मिश्रण से हुई है। भारत की सब से पुरानी जन-जातियो में नीग्रिटो रक्त है उदाहरणार्थ, कादर जन-जाति का उद्भव नीग्रिटो से हुआ है। मध्य-भारत की जन-जातियों का उद्भव प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड प्रजाति से और उत्तर-पश्चिम की जन-जातियो का उद्भव मगोल प्रजाति से हुआ है। हमने भारत की जन-जातियों

को उनके भू-भाग की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा था—पूर्वोत्तर-क्षेत्र, मध्य-क्षेत्र तथा दक्षिणी-क्षेत्र। इनमें से भारत के पूर्वोत्तर-क्षेत्र में जो जन-जातियाँ पायी जाती हैं, उनका उद्भव मंगोलॉयड नस्ल से है। भारत के मध्य-क्षेत्र में जो नस्लें पायी जाती हैं, उनका उद्भव प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड नस्ल से है और भारत के दक्षिणी-क्षेत्र में जो नस्लें पायी जाती हैं, उनका उद्भव नीग्रिटो नस्ल से है। उदाहरणार्थ, श्री गुहा का कहना है कि दक्षिण-भारत की कादर, इरुला तथा पनियन आदि प्रजातियों के ऊनी वाल होते हैं, इनमें निश्चित तौर पर नीग्रिटो अंश है, मध्य-भारत की जन-जातियों में प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड अंश है; पूर्वोत्तर की जन-जातियों के सिर लम्बे न होकर चौड़े पाये जाते हैं जिससे यह अनुमान लगाना उचित है कि इनमें मंगोल अंश है। यह हम पहले ही कह आये हैं कि मजूमदार भारत में नीग्रिटो अंश होने की वात से सहमत नहीं हैं।

असल में नस्ल के विचार को सामने रखते हुए भारत की जन-जातियों का वर्गीकरण कर सकना एक कठिन कार्य है। यह कह देना कि तीन प्रजातियों से भारत की सव जन-जातियाँ पैदा हुई, कुछ असंगत-सा जँचता है। कई जन-जातियों का तो उक्त तीन प्रजातियों के साथ किसी प्रकार का संवंध जोड़ा ही नहीं जा सकता। उदाहरणार्थ, नीलगिरि की टोडा एक ऐसी जन-जाति है जिसका किसी प्रजाति से भी संवंध जोड़ने में मानव-शास्त्री अभी तक सफल नहीं हुए। कई जन-जातियों को जिन्हें अलग-अलग समझा जाता रहा है, अव अनेक मानव-शास्त्री एक ही शाखा का मानने लगे हैं। उदाहरणार्थ, वैगा और भूइया को पहले अलग-अलग स्वतंत्र जन-जाति माना जाता था, अव इन्हें एक ही वर्ग का माना जाने लगा है। इन जन-जातियों के संवंध में अनुसंधान चल रहा है और ज्यों-ज्यों यह अनुसंधान आगे वढ़ेगा, त्यों-त्यों यह आशा की जानी चाहिए कि इनके उद्भव के विषय में हमें अधिक जानकारी प्राप्त होने लगेगी।

८ भारत की जन-जातीय भाषाओं का प्रजातीय उद्भव
(Racial Origin of Tribal Languages)

हमने देखा कि भारत की जन-जातियों में से कौन-सी 'जन-जाति' (Tribe) किस 'प्रजाति' (Race) से पैदा हुई—यह निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता। भिन्न-भिन्न जन-जातियों का अटकल से किसी-न-किसी प्रजाति से वादरायण संवंध जोड़ा जा सकता है। तो फिर क्या भिन्न-भिन्न जन-जातियों की भाषाओं का भिन्न-भिन्न प्रजातियों की भाषाओं से कोई संवंध जोड़ा जा सकता है? क्या यह कहा जा सकता है कि इन जन-जातियों की भाषाएँ अमुक प्रजाति की भाषा से निकली हैं?

कौन-सी जन-जातियों की भाषाएँ किस प्रजाति की भाषा से निकली हैं—यह देखने का हमारा उद्देश्य क्या है? जैसे इटैलियन, फ्रेंच, स्पेनिश, ग्रीक, जर्मन, इंग्लिश, पर्शियन तथा संस्कृत की समानता से हम इस परिणाम पर पहुँचे थे कि इन भिन्न-भिन्न भाषाओं के वोलने वाले आदि-काल में एक थे, उन्हें हमने 'आर्य'-

जाति का नाम दिया था, वैसे इन भिन्न-भिन्न जन-जातियों की भिन्न-भिन्न भाषाओं की सामानता के आधार पर हम यह परिणाम निकाल सकेंगे कि ये 'जन-जातियाँ' (Tribes) किसी एक ही 'प्रजाति' (Race) की शाखाएँ हैं। परन्तु ऐसा परिणाम निकालते हुए हमें कुछ सावधान भी रहना होगा। भिन्न-भिन्न जन-जातियो का अध्ययन सिद्ध करता है कि भाषा की भिन्नता के होते हुए भी दो जन-जातियाँ एक हो सकती हैं और एक भाषा होते हुए भी जन-जातियाँ भिन्न हो सकती है। उदाहरणार्थ, नागा एक ही जन-जाति है, परन्तु उसमें भिन्न-भिन्न स्थानों में रहने के कारण भाषा की इतनी भिन्नता पायी जाती है कि एक नागा दूसरे नागा की बात नहीं समझ पाता। इसी प्रकार छोटा नागपुर की मुण्डा तथा ओराउ दो जन-जातियाँ हैं, परन्तु वे इतना साथ-साथ रहती हैं कि दोनो की एक ही भाषा है। असल में कोई समय था जब भाषा का भेद मनुष्य मनुष्य में भेद करने के लिए काफी था, परन्तु आज के आर्थिक-युग में भाषा-भेद को प्रगतिशील मनुष्य भूलता जा रहा है, और भाषा-भेद का स्थान सामाजिक तथा आर्थिक भेद लेते जा रहे हैं। इसका यह मतलब नहीं कि भाषा-भेद को आज का मानव बिल्कुल आँखो से ओझल करता जा रहा है। पजाब में हिन्दी और गुरमुखी का आन्दोलन, मद्रास में अपनी-अपनी भाषाओ का आन्दोलन इस बात का प्रमाण है कि भाषा-भेद के आधार पर हम मनुष्य-मनुष्य के भेद का पता लगा सकते हैं। तो फिर भारत की भिन्न-भिन्न जन-जातियों की भाषाओं का किस-किस प्रजाति की भाषा से सबध है, किस-किस से उनका उद्भव है ? जिस-जिस जन-जाति की भाषा का जिस-जिस प्रजाति की भाषा से सबध होगा, वह उसी प्रजातीय-परिवार की समझी जायगी, दूसरे परिवार की नहीं समझी जायगी।

भारत की मुख्य-मुख्य भाषाओं को चार मुख्य परिवारो में बाँटा जा सकता है—(१) इडो-युरोपियन (आर्य) परिवार की भाषाएँ, (२) द्राविड परिवार की भाषाएँ, (३) ऑस्ट्रिक (मुंड या कोल या शबर) परिवार की भाषाएँ, और (४) तिब्बतो-चाइनीज (साइनो-तिब्बतन, मगोल या किरात) परिवार की भाषाएँ।

(१) इडो-युरोपियन या आर्य परिवार की भाषाएँ—इस समय भारत के बड़े हिस्से में आर्य-परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। ६७ ४ प्रतिशत व्यक्ति इस देश में आर्यभाषाओं को बोलने वाले हैं। उत्तर-भारत की प्राय सभी भाषाएँ, जिनमें पश्तो, कश्मीरी, पजाबी, हिन्दी, उडिया, असमी, बगाली, गुजराती, मराठी, सिन्धी, लहन्दा आ जाती हैं, आर्य-परिवार की हैं। आर्य-परिवार की इन भाषाओ में हिन्दी का सब से मुख्य स्थान है क्योंकि इसे बोलने वाले १५ करोड व्यक्ति हैं। इसीलिए सविधान में इसे राष्ट्र-भाषा का स्थान दिया गया है। बोल-चाल की हिन्दी के अनेक रूप हैं जिनमें खडी बोली, व्रज-भाषा, बागरू, राजस्थानी, पजाबी, बुन्देली, अवधी, छत्तीसगढी, बघेली, भोजपुरी, मैथिली,

मगही, गोरखाली, कमाऊँनी, गढ़वाली और कन्नोजी मुख्य हैं। भारत की जन-जातियों की भाषाओं का इन आर्य-परिवार की भाषाओं से कोई संबंध नहीं है।

(२) द्राविड परिवार की भाषाएँ—आर्य-परिवार की भाषाओं के बाद भारत में बोली जाने वाली भाषाओं में दूसरा स्थान द्राविड-भाषाओं का है। २१ ६ प्रतिशत व्यक्ति इन भाषाओं को बोलने वाले हैं। इस परिवार की मुख्य भाषाएँ चार हैं—कन्नड, तामिल, तेलगु और मलयालम। कन्नड कर्नाटक में, तामिल तामिलनाड में, तेलगु आन्ध्र में और मलयालम केरल में बोली जाती है। द्राविड परिवार की भाषाएँ दक्षिण-भारत में पायी जाती हैं, परन्तु एक द्राविड भाषा उत्तरी भारत के पश्चिमी कोने कलात में पायी जाती है जिसे 'ब्राहुई' कहते हैं। इसे बोलने वालों की संख्या १ लाख ८४ हजार है। इस भाषा के उत्तर-भारत में पाये जाने से मानवशास्त्रियों का यह अनुमान है कि द्राविड लोग भी आर्यों की तरह भारत में बाहर से आये थे।

भाषा-शास्त्रियों का कहना है कि गोंड जन-जाति जो मध्य-प्रदेश, हैदराबाद तथा आन्ध्र में फैली हुई है उसकी भाषा द्राविड परिवार की है। इसी प्रकार मध्य-प्रदेश तथा उडीसा में कोंध नाम की जन-जाति है। इसकी भाषा का संबंध भी द्राविड परिवार से है। कुई, कुरूखो, मल्तो बोलियाँ मध्य-भारत के विविध क्षेत्रों में बोली जाती हैं जिनका संबंध द्राविड परिवार से है। उटकमंड के पास नीलगिरी पर्वतों में रहने वाली टोडा जन-जाति की भाषा का उद्भव भी द्राविड भाषा-परिवार से है। डा०मजूमदार ने आराओ, मालेर, खोड, सओरा, परजा, कोया, पनियन, चेंचु, इरुला, कादर, मालसर तथा मलरयन—इन सब जन-जातीय भाषाओं को द्राविड-परिवार का लिखा है।

(३) ऑस्ट्रिक (मुंड, कोल या शबर) परिवार की भाषाएँ—इस शाखा की बोलियाँ विन्ध्य मेखला तथा उसके आस-पास के प्रदेश में बोली जाती है। मुण्ड या कोल भाषा के बोलने वाले मुख्य तौर पर छोटा नागपुर या सन्याल परगने के आस-पास के जंगली प्रदेशों में रहते हैं। इस परिवार की भाषा बोलने वालों की संख्या ४० लाख के लगभग है। जन-जातीय भाषाओं में मुण्डा, कोल, हो, सन्याल, खडिया, कोरवा, गदब, भूमिज, कोर्कु, सायरा, खासी—ये सब ऑस्ट्रिक परिवार, मुण्ड-परिवार या कोल-परिवार की भाषाएँ हैं। मानव-शास्त्री मुण्ड-भाषा बोलने वाली जन-जातियों को भारत की अत्यन्त प्राचीन जन-जातियों में गिनते हैं। कहते हैं हिमालय-प्रदेश के किन्नर भी मुण्ड-भाषा-वर्ग के हैं।

ऑस्ट्रिक-भाषा-परिवार के भाषा-शास्त्रियों ने दो वर्ग किये हैं—'ऑस्ट्रो-एशियाटिक' (Austro-Asiatic) तथा 'ऑस्ट्रोनेशियन' (Austronesian)। इनमें 'ऑस्ट्रो-एशियाटिक' वर्ग में कोल तथा मुण्ड बोलियाँ आ जाती हैं जिनका हमने अभी ऊपर परिगणन किया—हो, सन्याल, खडिया, कोरवा, गदब, भूमिज, कोर्कु, सायरा, खासी आदि। 'ऑस्ट्रोनेशियन' परिवार में इण्डोनेशिया की राष्ट्र-भाषा मलाया तथा माइक्रोनेशिया, मैलेनेशिया, पौलीनेशिया की भाषाएँ

आ जाती है। भारत की जन-जातीय-भाषाओं का सबध ऑस्ट्रिक वर्ग की 'ऑस्ट्रो-एशियाटिक' भाषाओ से है, 'ऑस्ट्रोनेशियन' भाषाओ से नही।

(४) तिब्बती-चीनी (मगोल या किरात) परिवार की भाषाएँ—हिमालय की दक्षिणी ढालों, उत्तरी-पजाब से लेकर भूटान, उत्तरी तथा पूर्वी बगाल और असम में पायी जाने वाली मगोल प्रजाति के लोग इस परिवार में गिने जाते है। इस परिवार की भाषाओ को दो भागो में बांटा जाता है—(क) तिब्बती-बर्मी, तथा (ख) स्यामी-चीनी। हिमालय के क्षेत्रो, नेपाल तथा दार्जिलिंग के प्रदेश में जो जन-जातियाँ है, उनकी भाषा तिब्बती-बर्मी कहाती है, सुदूरपूर्वी असम में जो जन-जातियाँ पायी जाती है, उनकी भाषा स्यामी-चीनी कहाती है। श्री मजूमदार के कथनानुसार असम के नागाओ की और गारो, कुकी, मिकिर, डफला, अभोर तथा खासी जन-जातियो की भाषा का सबध चीनी अर्थात् मगोल या किरात भाषा के साथ है, और इसलिए इन भाषाओं को बोलने वाली जन-जातियो का उद्भव मगोलॉयड-नस्ल से हुआ है।

भाषा के आधार पर भारत की जन-जातियो का वर्गीकरण हमें किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँचाता। जन-जातियो की इन भाषाओ का भारत की प्रजातियो से सबध अवश्य प्रतीत होता है, परन्तु कौन-सी 'जन-जाति' की भाषा किस 'प्रजाति' की भाषा से निकली है—इस विषय में अभी तक कोई निश्चय नहीं किया जा सका। जैसे जन-जातियो का प्रजातियो से उद्भव अटकल का विषय है, वैसे ही जन-जातियों की भाषाओ का प्रजातियो की भाषाओं से उद्भव भी अटकल का ही विषय है। फिर भी जन-जातियो के सबध में खोज करते हुए अन्य बातों के साथ भाषा भी हमे किसी परिणाम तक पहुँचने में सहायक अवश्य हो सकती है।

९ जन-जातियो का सास्कृतिक-स्तर
(Cultural level of tribes)

भारतीय जन-जातियो का उनके भू-भाग, उनकी नस्ल तथा उनकी भाषा के सबध में हमने वर्णन किया। इस समय ये जन-जातियाँ भारत की आवादी का हिस्सा तो है, परन्तु न यहाँ के गाँवो में और न यहाँ के शहरों में खपी हुई है। वे अपने को यहां की जनता से अलग समझती है। सभवत, शुरू-शुरू में जब इस देश में द्राविड, आर्य या अन्य प्रजातियों के लोग आये थे, तब से यह द्वैत-भावना चली आ रही है। जो-कुछ हो, जन-जातियों का भू-भागों में, नस्लों में, भाषाओ में वर्गीकरण कर लेना पर्याप्त नहीं है, इससे उनके पुनर्वास की किसी समस्या का समाधान नहीं होता, जन-जातियो के पुनर्वास की समस्या का समाधान उनकी सास्कृतिक तथा आर्थिक स्थिति को ठीक-ठीक समझने से ही हो सकता है।

जन-जातियो के पुनर्वास की समस्या क्या है? कई मानव-शास्त्री कहते है कि जन-जातियों को अपनी सस्कृति में ही रहने देना चाहिए, उन्हें वर्तमान-सभ्यता के आर्थिक लाभ पहुँचाने चाहिएँ, खेती करना, वर्तमान-गृहोद्योग आदि

उन्हें सिखाना चाहिए, परन्तु उनकी सस्कृति को, उनके रीति-रिवाज, कायदे-कानून, प्रथाओं को बदलने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। इतना भर पुनर्वास उनके लिए काफी है। हम क्यों समझें कि हमारी सस्कृति उनकी सस्कृति से ऊँची ही है। हम अपनी सस्कृति को बढ़ावें, वे अपनी को। परन्तु दूसरे मानव-शास्त्री कहते हैं कि जब हम जन-जातियो की आर्थिक-स्थिति सुधारेंगे, तब वे हमारे गाँवों और शहरों की जनता के सपर्क में आवेंगे ही। सस्कृति का प्रसार संपर्क मे होने लगता है। हमारे सपर्क में आने पर उनकी सस्कृति बदलेगी—इसमें सन्देह नहीं। अगर हम उनको सस्कृति को जैसी वह है, वैसा अक्षुण्ण बनाये रखना चाहते हैं, तो हमें उन्हें जगली हालत में ही रहने देना होगा, अगर हम उनके पुनर्वास की योजनाएँ बनायेंगे, उनके स्वास्थ्य-सुधार की योजनाएँ, उनकी आर्थिक-स्थिति को उन्नत करने को योजनाएँ—तब यह कैसे हो सकता है कि उनकी सस्कृति जैसी-की-तैसी बनी रहे। आर्थिक-पुनर्वास की हमारी योजनाओ मे वे हमारे गाँवों और शहरो के लोगों के सपर्क में अवश्य आयेंगे, और इस सपर्क का परिणाम उनकी सस्कृति पर अवश्य पडेगा। हो सकता है, कहीं-कहीं ये जन-जातियाँ अपनी सस्कृति को हीन समझ कर उसे तिलाजलि दे दें। इस विचार-धारा के लोगो का कहना है कि हमें जन-जातियो के पुनर्वास का कार्य, उनकी आर्थिक-स्थिति सुधारने की योजना—इस सब को अवश्य क्रियान्वित करना चाहिए, भले ही इन पुनर्वास की योजनाओ मे उनकी सस्कृति बच रहे, या नष्ट हो जाय।

सास्कृतिक-स्तर की दृष्टि से श्री एलविन, श्री मजूमदार तथा अन्य लोगो ने जन-जातियो का वर्गीकरण किया है, जो निम्न प्रकार है —

(क) एलविन का वर्गीकरण—सास्कृतिक-स्तर की दृष्टि मे अनेक मानव-शास्त्रियो ने जन-जातियो का वर्गीकरण किया है। डा० वेरियर एलविन (Verrier Elwin) भारत-सरकार को जन-जातियो के मवध में परामर्श देने के लिए नियुक्त हैं। उन्होंने जन-जातियो का वर्गीकरण करते हुए उन्हें चार भागो में बाँटा है। प्रथम वर्ग में तो उन्होने उन जन-जातियो को गिना है, जो बिल्कुल आदिम अवस्था में है, जिस अवस्था में मनुष्य वैयक्तिक जीवन व्यतीत नहीं करता, वह समुदाय में रहता है, और समुदाय का जीवन ही उसका जीवन होता है, जिस अवस्था में वह हल से खेती करने के स्थान में कुल्हाडे से काम चलाता है, खेती भी करता है, तो कुल्हाडे से ही जमीन को खोदता है। दूसरे वर्ग में उन्होंने उन जन-जातियों को गिना है, जो ससार से इतनी ही कटी रहती हैं जितनी प्रथम-वर्ग की जन-जातियाँ, अपने प्राचीन रीति-रिवाज को भी उसी तरह से मानती हैं, परन्तु जिनमें सामूहिक-जीवन के स्थान में वैयक्तिक-जीवन का अंश बढ़ जाता है, जो कुल्हाडे की इतनी दास नहीं रहतीं, जो आदिम-जातियो जैसी सरल और ईमानदार भी नहीं रहतीं। तीसरे वर्ग में उन्होंने उन जन-जातियो को गिना है, जो पहली दो की तरह निरी जगली नहीं, जो सभ्यता के सपर्क में आने लगी हैं, जो गांवों तथा शहरों में आती-जाती और उनके रीति-रिवाजों को देखती

हैं, जिन पर इस सभ्यता का प्रभाव पड रहा है, जिनके रीति-रिवाज, कायदे कानून इस प्रभाव के कारण डगमगा रहे हैं, जिनकी सस्कृति अगर यह कह दिय जाय कि नष्ट होने जा रही है तो भी कोई अत्युक्ति न होगी। इस प्रकार की जन जातियो के व्यक्तियो की सख्या २ करोड से कम न होगी। चौथे वर्ग में उन्होंने उ जन-जातियो को गिना है जिन्होंने गाँवों तथा शहरों के साथ सास्कृतिक-सपव भी बनाया है, और इस सपर्क के बावजूद उन्होंने अपनी सस्कृति को भी अक्षुण्ण बनाये रखा है। इस चौथे वर्ग में भील और नागा लोग हैं।

एलविन का कथन है कि जन-जातियो के पुनर्वास की समस्या को हल करत हुए हमें इस बात को ध्यान में रखना होगा कि हम ऐसे उपायों का अवलम्बन करें जिनसे जन-जातियो के प्रथम तथा द्वितीय वर्ग को तृतीय-वर्ग की प्रक्रिया में से न गुजरना पडे, वे अपनी प्रथम तथा द्वितीय वर्ग की हालत से सीधे चतुर्थ-वर्ग क हालत में पहुँचें जिससे उनको हमारी सभ्यता के आर्थिक लाभ तो पहुँच जायें परन्तु इन आर्थिक लाभों का मुआविज़ा उन्हें अपनी सस्कृति को खोकर न चुकान पडे।

श्रीयुत् मजूमदार तथा मदन को श्री एलविन के इस कथन पर आपत्ति है इन्हें पहली आपत्ति तो यह है कि श्री एलविन के कथन से यह झलकता है कि जन जाति के लोगों के उन लोगो के सपर्क में आने से जो जन-जाति के नहीं हैं, उनक नैतिक-स्तर गिर जाने की सभावना है। इसमें सन्देह नहीं कि जन-जाति के लोगं का नैतिक-स्तर ऊँचा है, वे झूठ नहीं बोलते, एक-दूसरे के साथ ईमानदारी र बरतते हैं। यह सब-कुछ तो ठीक है, परन्तु श्री एलविन क्या समझते हैं कि जन जाति के ये लोग जिन शहरी वा देहाती लोगो के सपर्क में आयेंगे, वे अवश्य निम्न स्तर के होंगे। असल बात यह है कि जन-जाति के लोगो का ज्यादातर सपव साहुकारो, ठेकेदारों आदि के साथ होता है जो एक रुपये का दस रुपया बनान चाहते हैं और इसीलिए जन-जाति के लोगो को ठगते और उनके सीधेपन क नाजायज़ फायदा उठाते हैं। श्री मजूमदार तथा मदन का कहना है कि शहरी तथ देहाती लोगो में ऐसे लोग भी तो हैं जो जन-जातियों को उन्नत होता हुआ देखन चाहते हैं। भले ही ऐसे लोगों की सख्या कम हो, फिर भी श्री एलविन-सरीखे लोग इन्हीं शहरी और देहाती लोगों में ही तो मिलते हैं। जन-जातियो को उनका भला चाहने वाले ऐसे लोगो के सपर्क से क्यों वचित किया जाय? श्री मजूमदार और मदन को श्री एलविन के कथन पर दूसरी आपत्ति यह है कि श्री एलविन यह चाहते हैं कि पहले तथा दूसरे वर्ग की जन-जातियाँ तीसरे वर्ग में न आकर सीधे चौथे वर्ग मे लायी जायें। इसका मतलब तो यह हुआ कि श्री एलविन इस चौथे वर्ग को आदर्श-वर्ग समझते हैं, वे यह नहीं चाहते कि यह चौथा वर्ग आगे बढ़े, वे यह चाहते हैं कि इस चौथे वर्ग को जहाँ-का-तहाँ रहने दिया जाय, यह अपनी सस्कृति के अन्दर कोई परिवर्तन न करे, इस चौथे वर्ग की सस्कृति ससार में एक म्यूज़ियम के तौर पर सुरक्षित रखी जाय। क्या यह उचित है कि हम किसी भी

जन-जाति की सस्कृति को आगे वढने से या नये संस्कारो में रगे जाने से रोकें ? सभ्यता के क्षेत्र में जैसे पछडे रहना लाभदायक नहीं है, वैसे सस्कृति के क्षेत्र में भी पछडे रहने से कोई लाभ नहीं है। हम किसी जन-जाति की संस्कृति को वचा कर क्या करेंगे ? हमें तो जन-जातियों की रक्षा करनी है, उनके स्वास्थ्य को वचाना है, उनकी आर्थिक-स्थिति को उन्नत करना है, यह सव-कुछ करते हुए अगर उनकी सस्कृति की रक्षा नहीं हो पाती, तो उस संस्कृति की रक्षा के लिए हमें उस सस्कृति को उत्पन्न करने वाले मानव से नहीं हाथ धो वैठना। मनुष्य रहेगा, तो सस्कृति अपने-आप रह जायगी, मनुष्य ही न रहेगा, तो सस्कृति कहां रह सकेगी। आज तो हमारा मुख्य प्रश्न जन-जातियो की रक्षा करने का हो गया है, क्योंकि आज की विकट परिस्थितियों में जन-जातियो की सस्कृति की रक्षा का प्रश्न तो पीछे पैदा होता है, जन-जातियो की रक्षा का ही प्रश्न विकट रूप धारण करता जा रहा है।

अगर जन-जातियो की समस्या पर निष्पक्ष-दृष्टि से विचार किया जाय, तो श्री एलविन तथा श्री मजूमदार—दोनो के कथन में सत्यता है। यह ठीक है कि जन-जातियो का जीवन अपने एक ख़ास ढग का है। यह भी ठीक है कि वे अपने रहन-सहन में, रग-ढग में, व्यवस्था में परिवर्तन नहीं चाहतीं। जो लोग उनके वीच जाकर, वड़े वनकर, उन्हें यह वतलाने का प्रयत्न करते हैं कि जन-जाति के लोग हीन अवस्था में हैं—इस वात को वे लोग पसन्द नहीं करते। ऐसी हालत में जन-जातियो में काम करने का एक ही तरीका हो सकता है। हमारे कार्य-कर्ता अपने को वड़ा और सभ्य समझ कर उनके वीच न जायें। पाश्चात्य देशो का रवैय्या अवतक यही रहा कि वे सभ्य हैं, और जन-जातियो के लोग असभ्य हैं। इतना ही नहीं, वे जन-जातियो में अपना फायदा उठाने के लिए ही जाते थे। उन्हें सस्ती मजदूरी करने वाले लोगो की जरूरत थी। जन-जातियों के लोगों को पकड़ कर वे उनसे काम लेते थे। इस सव की प्रतिक्रिया जन-जातियो में विद्रोह की भावना को उत्पन्न कर देती थी। हमें इस प्रकार इनके साथ वरतना होगा जिससे उनमें विद्रोह न उत्पन्न हो। स्वतन्त्रता प्राप्ति के वाद से भारत-सरकार ने उत्तर-पूर्व के पहाडी क्षेत्रों की जन-जातियो के क्षेत्र पर शासन करने के लिए, जिसमें २५ के लगभग वहां की जन-जातियां हैं, एक पृथक् शासन-सूत्र की रचना की है जिसका नाम 'नेफा' है। 'नेफा'-शब्द 'नॉर्थ-ईस्ट-फ्रंटीयर-एजेन्सी' (North-East Frontier Agency—NEFA) से वना है। यह क्षेत्र तिब्वत, भूटान, चीन और वर्मा को छूता है। इसका संचालन राष्ट्रपति द्वारा होता है। असम का राज्यपाल राष्ट्रपति के एजेंट के तौर पर इस प्रदेश का शासन करता है। कोई व्यक्ति विना परमिट लिए इस 'नेफा' क्षेत्र में प्रवेश नहीं पा सकता। इसका मुख्य कारण यही है कि भारत-सरकार नहीं चाहती, इन जन-जातियों पर कोई जव-र्दस्ती अपनी सस्कृति को लादने का प्रयत्न करे। ये स्वतन्त्र रूप में अपनी सस्कृति का विकास करते रहें—यह भारत-सरकार का लक्ष्य है, परन्तु इनका यह

भी मतलब नहीं कि इनकी आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए कुछ नहीं किय जा रहा। भारत-सरकार की तरफ से इस क्षेत्र में सडकें वन रही है, कृषि का विकास हो रहा है, पानी की व्यवस्था की जा रही है, शिक्षा का कार्य हो रहा है, यह नहीं समझा जा रहा कि वे लोग जो-कुछ है, उन्हें उससे आगे वढने की जरूरत नहीं। जन-जातियों के सबध में सही दृष्टि-कोण यही है कि उनकी आर्थिक-व्यवस्था को सुधारने में उनकी पूरी सहायता की जाय, और साथ ही हम अपनी सस्कृति को उनकी सस्कृति से वहुत वडा समझ कर ही उनके बीच में न जायें। उन्होने हमारी सस्कृति से जो-कुछ लेना होगा उसे वे अपने-आप ले लेंगे।

(ख) श्री मजूमदार का वर्गीकरण—भारत की जन-जातियो का सस्कृतिक दृष्टि से श्री मजूमदार ने वर्गीकरण करते हुए उन्हें दो भागो में बाँटा है—'सात्मीकृत' (Assimilated) तथा 'अनुकूलित' (Adaptive)। किसी जन जाति की सस्कृति 'सात्मीकृत' तव कहलायेगी जव उसकी सस्कृति किसी दूसरी सस्कृति में समा गई हो, उसके साथ अभिन्न हो गई हो। अगर किसी जन-जाति की सस्कृति दूसरी जन-जाति की सस्कृति के साथ मिल कर कुछ अपना रखती है कुछ उसका ले लेती है, अपने को उसके अनुकूल बना लेती है, तव उसे 'अनुकूलित सस्कृति कहेंगे। 'सात्मीकृत' तथा 'अनुकूलित'—सस्कृति के इन दोनो प्रकारो में स्थिरता नहीं है, परिवर्तन है। 'अनुकूलित' सस्कृति के परिवर्तन के श्री मजूमदार ने फिर तीन भाग किये है—सस्कृतियो का एक 'अनुकूलन' तो ऐसा होता है, जिसमें जन-जाति की उन दोनो सस्कृतियो का जिनका अनुकूलन हो रहा है आर्थिक-ढाँचा एक-समान होता है, इसे 'एकार्थक' (Commensalic) कह सकते हैं, सस्कृतियो का दूसरा 'अनुकूलन' ऐसा होता है जिसमें उनका आर्थिक-ढाँचा ही एक समान नहीं होता, परन्तु वे दोनों सस्कृतियाँ एक-दूसरे के सहारे खडी होती है एक-दूसरे से जीवन धारण करती है, एक के बिना दूसरी बेकार, इस अवस्था को 'समजीवी' (Symbiotic) कह सकते है, सस्कृतियो का तीसरा 'अनुकूलन ऐसा होता है जिसमें जन-जाति की एक सस्कृति अपने को दूसरी में विलीन कर देती है, उसकी पृथक् सत्ता ही नहीं रहती, इसे 'सस्कृतिकरण' (Acculturation) कहते हैं। भारत की जन-जातियो को मजूमदार के कथनानुसार सस्कृति की दृष्टि से इन तीन वर्गों में रखा जा सकता है। किसी जन-जाति की सस्कृति दूसरी सस्कृतियो के साथ 'एकार्थक' है, दोनो का आर्थिक ढाँचा एक ही है, किसी की सस्कृति दूसरी जन-जाति की सस्कृति के साथ 'समजीवी' है, दोनो का जीवन एक-साथ है, अलग-अलग नहीं, और किसी जन-जाति की सस्कृति ने अपने को दूसरी सस्कृति में मिटा दिया है, अपनी स्वतत्र-सत्ता ही नहीं रखी। जन-जाति की संस्कृतियो के इस वर्गीकरण में उन सस्कृतियों का कोई स्थान नही है, जो विल्कुल जगल में, एकान्त में, पहाडो में, दुनियां से किसी प्रकार का सबध विना रखे हुए हैं, क्योंकि आजकल के युग में जव कि हर प्रकार का आना-जाना, सबध, चारों

तरफ बना हुआ है, ऐसी किसी जन-जातीय संस्कृति का होना जिसे दुनियाँ की कोई हवा नहीं लगी, असंभवप्राय है।

(ग) श्री मजूमदार तथा श्री मदन का वर्गीकरण—श्री मजूमदार तथा श्री मदन ने जो ग्रन्थ लिखा है उसमें जन-जाति की सस्कृतियों का एक और वर्गीकरण दिया है। प्रथम-वर्ग में जन-जातियो की वे संस्कृतियाँ आती हैं जो हमारी शहरी तथा देहाती सस्कृतियो से अत्यन्त-अत्यन्त दूर हैं। उनके साथ हमारा किसी तरह का सपर्क नहीं। द्वितीय-वर्ग में जन-जातियो की वे सस्कृतियाँ हैं जो हमारे शहरो तथा देहातों की सस्कृतियो के सपर्क में आ रही हैं। इस सपर्क से उनकी सस्कृतियो के पाँव उखड रहे हैं, आये-दिन उनकी इस सपर्क के कारण नई-नई समस्याएँ पैदा होती रहती हैं। तृतीय-वर्ग में जन-जातियो की वे सस्कृतियाँ हैं, जो हमारी शहरी तथा देहाती सस्कृतियो के सपर्क में आने पर भी या तो अपने स्वरूप पर दृढ हैं, और या उनका सस्कृतीकरण (Acculturation) हो गया है, उनकी स्वतत्र-सत्ता नष्ट हो गई है, उन्होंने दूसरी सस्कृति को अपना लिया है।

(घ) 'सामाजिक कार्य की भारतीय परिषद्' (Indian Conference of Social Work) का वर्गीकरण—१९५२ में 'सामाजिक-कार्य की भारतीय-परिषद्' ने एक 'जन-जातीय कल्याण समिति' (Tribal Welfare Committee) बनाई थी जिसने जन-जातियो की सस्कृति का चार भागों में वर्गीकरण किया। वे चार विभाग थे—(१) 'जन-जातीय समुदाय' (Tribal Communities), (२) 'अर्ध-जन-जातीय समुदाय' (Semi-tribal Communities), (३) 'संस्कृतीकृत जन-जातीय समुदाय' (Acculturated tribal Communities) तथा (४) 'पूर्ण सात्मीकृत जन-जातीय समुदाय' (Totally assimilated tribes)।

'सस्कृतीकृत' तथा 'सात्मीकृत' में क्या भेद है? अपनी संस्कृति दूसरे को इस प्रकार देना कि दूसरा हमारे रग में रग जाय 'संस्कृतीकरण' (Acculturation) है, दूसरे की सस्कृति को अपने में इस प्रकार खपा लेना कि उसके रग को हम अपने में समा डालें 'सात्मीकरण' (Assimilation) है। 'सस्कृतीकरण' में दूसरे को बदलने का प्रश्न होता है, 'सात्मीकरण' में अपने बदलने का इतना नहीं जितना दूसरे की सस्कृति को अपने में अपनाने का प्रश्न होता है। इन दोनो का भेद शब्दो के हेर-फेर में ही छिपा हुआ है।

१० जन-जातियों का आर्थिक-स्तर
(Economic level of tribes)

हमने जन-जातियो के सास्कृतिक-स्तर पर लिखते हुए अभी कहा था कि जन-जातियो के पुनर्वास की समस्या का समाधान उनके भू-भाग, उनकी नस्ल, उनकी भाषा के ज्ञान प्राप्त कर लेने मे नहीं होने वाला। इसके लिए तो हमें उनकी सास्कृतिक तथा आर्थिक स्थिति को ठीक-ठीक समझना होगा। जन-जातियो का

सास्कृतिक-दृष्टि से जो वर्गीकरण हो सकता है, उस पर हमने प्रकाश डाला। अव प्रश्न है कि इनकी आर्थिक-दृष्टि से क्या स्थिति है, आर्थिक-दृष्टि से जन जातियो को हम किन-किन श्रेणियो में वांट सकते हैं ?

(क) जगल में कन्द-मूल से निर्वाह करने वाले (Food gathering types)—बहुत-सी जन-जातियाँ तो जगलों में रहती हैं, इसलिए स्वाभाविक तौर पर वे जगल में घूमती-फिरती, फल-मूल चुगती हुई अपना निर्वाह करती हैं। ट्रावनकोर-कोचीन के कादर, मलै पडारम आदि जन-जातियाँ इसी श्रेणी की हैं। आज जो जगल के नये-नये कानून वन रहे हैं उनका इन जन-जातियों की आजीविका पर गहरा असर पड रहा है, इसलिए इन कानूनो को वनाते हुए इन जन-जातियो की आजीविका का प्रश्न ध्यान में रखना जरूरी है।

(ख) कन्द-मूल तथा आदिम-कृषि से निर्वाह करने वाले (Midway types)—कुछ जन-जातियाँ ऐसी हैं, जो कृषि की नवीन पद्धतियो को नहीं जानतीं, आदिम-जातियों में जैसी-तैसी खेती होती थी, उसी के अनुसार खेती करती हैं, उतने से उनका निर्वाह नहीं हो पाता, इसलिए वे इस आदिम प्रकार की खेती के साथ-साथ जगलो से फल-मूल भी वटोर लाती हैं। ये जन-जातियाँ कन्द-मूल तथा कृषि पर निर्वाह करने वाली जन-जातियो के वीच की हैं। कमार, वैग आदि जन-जातियाँ इसी श्रेणी की हैं। जगलात के कानूनो का प्रभाव इस श्रेणी की जन-जातियों पर पडता है।

(ग) कृषि से निर्वाह करने वाली जन-जातिया (Agricultural types)—कुछ जन-जातियाँ ऐसी हैं जिनकी आजीविका का मुख्य-साधन तो कृषि है, परन्तु गौण रूप में वे जगल के फल-मूल भी वटोर लाती हैं। पूर्वोत्तर-प्रदेशो तथा मध्य-भारत की जन-जातियाँ इसी श्रेणी की है। भूमि-व्यवस्था सवधी कानूनो का इन पर विशेष प्रभाव पडता है, और खास करके जिन कानूनो से जमीन उनके हाथ से निकलती है, उन कानूनो से तो उनकी आजीविका पर सीधा प्रहार होता है।

(घ) मजदूरी से निर्वाह करने वाली जन-जातिया (Labourer types)—कुछ जन-जातियाँ ऐसी हैं जो आजीविका के लिए घर-वार छोड़ कर कल-कारखानों तथा चाय-बागान में मजदूर के तौर-पर काम करने जाती हैं। आर्थिक-समस्या के उग्र हो जाने के कारण एक तरफ तो घर से वाहर जाने का दवाव पड़ता है, दूसरी तरफ कल-कारखानो और चाय-वागान में मजदूरी ज्यादा मिलने के कारण वहाँ का खिचाव होता है—इन दोनों कारणों से ये लोग घरों को छोड कर मजदूरी करने के लिए असम, जमशेदपुर आदि चले जाते हैं। वहाँ जाकर इनकी आर्थिक समस्या तो हल हो जाती है, परन्तु इनकी दूसरी समस्याएँ उठ खडी होती हैं। खुली हवा में रहने वाले ये लोग छोटी-छोटी गन्दी जगहों में रहने के कारण वीमारियो के शिकार हो जाते हैं, गर्मी, सजाक आदि तरह-

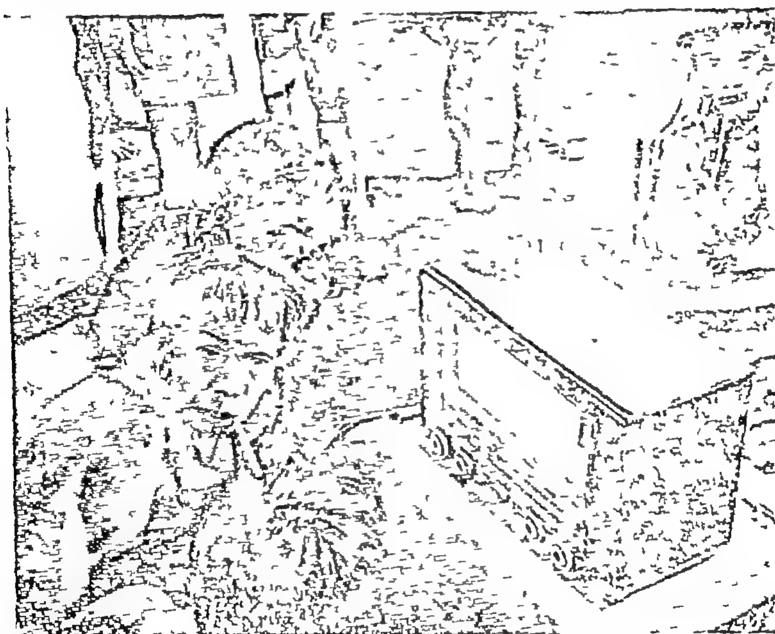
तरह के रोग लेकर जब घर लौटते है, तब वहाँ भी इन रोगों को फैला देते है। शराब, जुआ, वेश्यागमन आदि नई-नई बातें सीख जाते है। शहरो में रहने के कारण इन्हें इस बात का भी बोध होने लगता है कि भिन्न-भिन्न वर्ग अपना गुट बना कर अधिकारो की मांग करने का आन्दोलन कर सकते हैं, उन्हें अधिकार मिल भी जाते हैं। इन शहरी आन्दोलनों के ये भी शिकार हो जाते हैं। छोटा नागपुर के इलाके का 'झारखड' आन्दोलन इसी प्रकार का जन-जातियों का शहरी हवा के कारण पैदा हुआ आन्दोलन है।

११ जन-जातियो की समस्याएँ
(Problems of Indian Tribes)

अभी तक हमने जन-जातियों का केवल वर्णन किया है। वे किस भू-भाग में रहती है, उनका किन 'प्रजातियों' (Races) के साथ सबध है, उनकी भाषाओं का किन-किन आदि-भाषाओ मे उद्भव है, उन्हें सास्कृतिक तथा आर्थिक दृष्टि से किन-किन वर्गों में बाँटा जा सकता है—इन बातों पर प्रकाश डाला है। परन्तु हमें यह भी जानना चाहिए कि अगर हम उनका पुनर्वास करना चाहते हैं, तो उनकी मुख्य-मुख्य समस्याएँ क्या है। यहाँ हम उन्हीं कुछ समस्याओ पर प्रकाश डालेंगे :—

(क) सख्या के ह्रास की समस्या—जन-जातियो की मुख्य समस्या उनकी सख्या का दिनोदिन कम होता जाना है। जन-गणना रिपोर्ट से यह तो नहीं सिद्ध होता कि सभी जन-जातियां सख्या में कम होती जा रही है, यद्यपि अनेक जन-जातियो की सख्या कम अवश्य हो रही है। भील तथा गोंड तो भारत की अन्य जन-सख्या के अनुपात में ही बढ रहे है, परन्तु कोरवा, टोडा आदि की जन-जातियां धीरे-धीरे नष्ट होती जा रही है। गिलबर्ट मरे (Gilbert Murray) का कहना है कि इन जन-जातियों के नष्ट होने का कारण मनोवैज्ञानिक है। ये जन-जातियां जब दूसरे लोगो को देखती है, उन्नति करते हुए, बढते हुए, और उसके बाद अपने पर नजर डालती है, तब मानो उनके छक्के छूट जाते है। इसी का परिणाम जन-जातियो का क्रमिक ह्रास है। गिलबर्ट मरे की यह बात ठीक हो, न हो, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इनके ह्रास का कारण बीमारियां तथा बीमारियो के कारण स्वास्थ्य का गिर जाना है। जन-जातियां बीमारियो के दो कारण समझती है—एक तरह की वे बीमारियां जो शारीरिक-दोष से पैदा होती है, दूसरी तरह की वे बीमारियां जो भूत-प्रेत के कारण पैदा होती है। शारीरिक-दोष के कारण पैदा होने वाली बीमारियों का तो वे जड़ी-बूटियों से इलाज करते है, परन्तु चेचक, हैजा, बुखार आदि बीमारियो का कारण वे भूत-प्रेत-चुडैल को मानते है, इसलिए इनका दवाओं से इलाज करने के स्थान में भगत, ओझा, भोपा से इलाज कराते है, इसी कारण बीमारियों मे उनमें मृत्यु अधिक होती है, और उनकी जन-संख्या का दिनोदिन ह्रास होता जा रहा है।

जैसा हम पहले कह आये हैं, इस समय तिब्बत, भूटान, चीन और वर्मा को छूता हुआ जो भारतीय-क्षेत्र है वहां २५ के लगभग जन-जातियां आवाद हैं। यह क्षेत्र सीधा राष्ट्रपति के आधीन है। इस क्षेत्र को 'नार्थ-ईस्ट-फ्रंटीयर-एजेन्सी' (NEFA) कहते हैं। इस क्षेत्र में भारत-सरकार की तरफ से जो कार्य हो रहा है, उसमें इन जन-जातियो के स्वास्थ्य-सुधार की तरफ विशेष ध्यान दिया जा रहा है। इन प्रदेशो में मलेरिया का भयकर प्रकोप होता है। १९५४-५५ में ७३,१८३ मलेरिया के रोगियो का इलाज किया गया, १९५५-५६ में इनकी सख्या ५९,०७० रह गई। जैसा हम कह आये हैं, जन-जातियों के लोग बीमारी को भूत-प्रेत का फल मानते हैं, इसलिए कभी-कभी इनका औषध से इलाज करना कठिन भी



नेफा प्रदेश मे जन-जाति के लोग रेडियो सुन रहे है।

हो जाता है। नेफा के एक डाक्टर ने फरवरी १९५७ का एक अनुभव लिखा है। वह लिखता है कि एक दिन वह कडी सर्दी में अपने इलाके का मुआइना करने निकला, तो एक झोंपडी में उसने दो औरतो को जमीन पर लेटे पाया। उनका जिस्म सूज गया था, जोड जकड गये थे। डाक्टर को देख कर ये बोलीं—यह कष्ट हमें 'वुजु' ने दिया है। 'वुजु' किसी भूत का नाम है। डाक्टर क्योंकि दवा देता है, इसलिए ये लोग डाक्टर को देख कर कभी-कभी अपने बीमारो को छिपा लेते हैं। डाक्टर की दवा से रोगी चगा हो जाय तो वे उसे ओझा समझते है, डाक्टर नहीं। इन्हें

अपने देश के पुरोहितों पर ज्यादा विश्वास है। वे समझते हैं कि पुरोहित देवी-देवता को मना कर रोग को दूर कर सकता है। भारत की जो डाक्टर-मंडलियां नेफा में काम कर रही हैं उन्हें इन पुरोहितों के साथ हिल-मिल कर काम करना पड़ता है। अगर ये इन पुरोहितों को मूर्ख और जाहिल कहने लगें, तो इनका कोई इलाज ही न करे। एक पुरोहित ने एक डाक्टर के साथ सुलह की तो इस अवसर को सूअर की बलि देकर उसने मनाया। जिन लोगों के रोग के संबंध में ऐसे विचार हो, उनके स्वास्थ्य का गिरना निश्चित है।

नेफा के इलाकों में कुष्ठ भी बहुत फैला हुआ है। ६ अगस्त १९५० को नेफा-एजेन्सी ने पासीघाट में एक कुष्ठावास (Leprosy Colony) खोला। इसके बाद १९५२ में अलोंग में एक और कुष्ठावास खोला गया और १९५३ में तावाग में एक तीसरा कुष्ठावास अर्थात् कुष्ठ रोगियों की बस्ती खोली गई। ये रोगी आराम से रखे जाते हैं, जन-जातियों में जैसी झोपड़ियां बनाई जाती हैं, वैसी ही झोपड़ियों में इन्हें रखा जाता है, अपने-आप ये खेती करते है, अपना खाना आप बनाते हैं। इन्हें अपना मनचाहा जीवन बिताने की पूरी सुविधा है। इन इलाको में गला बढ़ जाने की, 'गॉयटर' की बीमारी भी बहुत अधिक है। प्राय. पहाड़ी इलाको में यह बीमारी पायी जाती है। इसका मुख्य कारण पानी में आयोडीन की कमी होता है। नेफा की तरफ से इन इलाको में पानी की सुविधा बढ़ाने का प्रयत्न हो रहा है। यह भी उद्योग हो रहा है कि इन प्रदेशों के लोग जिस नमक का उपयोग करें, वह आयोडीन मिश्रित हो ताकि गला बढ जाने की बीमारी यहां न रहे।

रोगो के अलावा जन-जातियो के रीति-रिवाजों के कारण भी इन लोगों की जन-संख्या घट रही है। उदाहरणार्थ, अनेक जन-जातियों में शिशु-हत्या की प्रथा पायी जाती है। अक्सर भोजन की कमी के कारण अनेक जन-जातियां बच्चो का गला घोंट देती हैं, या उन्हें जंगली जानवरों के सामने डाल देती हैं। सुन्दर स्त्रियों का अपहरण किया जाना भी अनेक जन-जातियों की सामाजिक-प्रथा है। इससे बचने के लिए अनेक जन-जातियां सुन्दर स्त्रियों को स्वयं मार डालती हैं, ताकि उनके कारण उन पर कोई हमला न करे। इस प्रकार स्त्रियो की कमी हो जाने के कारण भी कई जन-जातियों की संख्या में कमी हो रही है। कई जन-जातियों में कन्या का विवाह करने के लिए पैसा देना पड़ता है। ये लोग कन्याओ को मार डालते हैं। इन सब प्रथाओं का जन-जातियो के स्वास्थ्य तथा संख्या पर काफी प्रभाव पड़ता है।

(ञ) सामाजिक-संपर्क के अभाव से पैदा होने वाली समस्याएँ—जन-जातियों के सामने दो ही रास्ते हैं। या तो वे संसार के सभ्य कहलाये जाने वाले लोगों के साथ संपर्क स्थापित करें, या न करें। दोनों हालतों में इनकी भिन्न-भिन्न समस्याएं खड़ी हो जाती हैं। अगर ये दुनियां से अलग-अलग रहें, जैसा वे रह रही हैं, तो इनकी समस्याएं इनके भीतर से ही उठ खड़ी होती हैं। उदाहरणार्थ,

इनके खेती करने के ढग पर हम पहले लिख आये हैं। पहले ये जगल को काट देते हैं, बचे-खुचे झाड-झकार को आग लगा देते हैं, उसकी राख पर बीज छिड़क देते हैं। एक-दो साल अच्छी खेती होती है, फिर भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट हो जाती है। ऐसी हालत में उस जगह को छोड कर वे खेती के लिए दूसरी जगह बनाने लगते हैं। इधर वर्षा अधिक होने के कारण पहली जमीन, क्योंकि वहां से वृक्ष कट चुके होते हैं, भूमि को रोक नहीं सकते, और सारी जमीन कट-कट कर बह जाती है। परिणाम यह होता है कि इन लोगो को अपने गांव को पहली जगह से उठा कर दूसरी जगह बसाना पडता है, ये लोग भूखे मरने लगते हैं। इन समस्याओं का समाधान तो यही हो सकता है कि ये जन-जातियां सभ्य कहलाये जाने वाले लोगो के सपर्क में आयें और उनसे खेती आदि करने के उचित उपायो और साधनो को सीखें परन्तु सासारिक सपर्क में आने से इनमें दूसरी तरह की समस्याएं उठ खडी होती हैं।

(ग) सामारिक-सपर्क के कारण पैदा होने वाली ममस्याएँ—जब ये जन-जातियाँ सभ्य कहे जाने वाले लोगो के सपर्क में आती हैं तब इनमें दूसरी समस्याएं उठ खडी होती हैं। इनका सपर्क साहूकारो, ठेकेदारो से होता है, ये मजदूरी के लिए चाय-बाग़ान में जाते हैं। साहूकार इनका पैसा-पैसा सूंत लेते हैं, ठेकेदार इनसे सस्ते में मजदूरी कराते हैं। कई जगह तो अनेक जन-जातियो की हालत गुलामों से बेहतर नहीं है। देहरादून के इलाके में जौनसार- बावर प्रदेश में कोल्टा जन-जाति के लोग हैं जिनसे पुश्त-दर-पुश्त गुलामो का-सा बर्ताव किया जा रहा है। ये जन-जातियाँ सभ्य-समाज से अलग रहें तब भी इनकी मुसीबत, सभ्य-समाज के बीच रहें तब भी इनकी मुसीबत। बेगार की प्रथा का शिकार भी इन्हें सभ्य-समाज के बीच में रहने से होना पडता है। इसके अतिरिक्त सभ्य लोगो के बीच में रहने से सभ्यता के सब रग इन पर चढने लगते हैं। गर्मी, सुजाक, वेश्यागमन, शराब, जुआ—ये सब सभ्य-समाज के वरदान हैं। जब जन-जाति के लोग सभ्य-समाज के सपर्क में आते हैं तब इन सब को भी उससे सीख जाते हैं। मजदूर लोग शहरो से ये सब उपहार लेकर जब घरो को जाते हैं तब अपने बाल-बच्चो, स्त्रियो में इन सब उपहारों को बॉट देते हैं।

(घ) जन-जातियो की सास्कृतिक-समस्याएँ—जन-जातियो के सास्कृतिक-वर्गीकरण के विषय में हम पहले लिख आये हैं, परन्तु इनके पुनर्वास के प्रश्न को समझने के लिए इनकी सास्कृतिक-समस्या को समझना भी जरूरी है। इनकी सास्कृतिक-समस्या क्या है? इनकी सास्कृतिक-समस्या उन लोगो ने पैदा की है जो लोग जन-जाति के नहीं हैं। जब अग्रेज लोग थे, तब वे जन-जातियों के सपर्क में आये। जन-जाति के लोगो ने देखा कि ये काले और वे गोरे, वे हुकूमत करने वाले और ये जिन पर हुकूमत की जा रही है। इसके अतिरिक्त अग्रेज लोग जन-जाति के इन लोगों को घृणा की दृष्टि से भी देखते थे। इससे जन-जाति के अनेक लोगों में अपने प्रति हीनता की भावना उत्पन्न हो गई। इसके साथ ईसाई उनमें गये, हिन्दु गये, इन सब ने उनको हीनता की दृष्टि से देखा और उन्होने भी

इन लोगों के मुकाबिले में अपने को हीन ही समझा। परिणाम यह हुआ कि जन-जाति के कुछ लोग अपना रहन-सहन, रीति-रिवाज, धर्म-कर्म छोड़ कर ईसाई हो गये, और कई हिन्दु हो गये। कइयो को जबर्दस्ती ईसाई बना लिया गया। इच्छा से, अनिच्छा से जो लोग ईसाई या हिन्दू हो गये, उन्होंने समझा था कि वे अपनी हीनता की समस्या को हल कर रहे हैं, परन्तु इस परिवर्तन के साथ उनके सम्मुख और समस्या उठ खडी हुई। यह समस्या क्या थी? उनके सम्मुख सब से बडी समस्या तो यह उठ खडी हुई कि वे न इधर के रहे, न उधर के रहे। जन-जाति के लोग उनको इसलिए दुतकारने लगे क्योंकि उन्होने बाप-दादाओ के रास्ते को छोड दिया, हिन्दुओ और ईसाइयो में उन्हें खपाने को कोई तैयार न हुआ।

इसके अतिरिक्त इन लोगो के सम्मुख और भी कई तरह की सास्कृतिक-समस्याएँ खडी हो गईं। जन-जाति के जिन लोगो ने अपनी जन-जाति के सबधो को तोड डाला, उन्होंने अपनी भाषा को भी तिलाजलि दे दी। आस-पास की दूसरी सभ्य-जातियों की भाषाओ को उन्होने ग्रहण कर लिया। भाषा क्या है, भाषा तो भाव का प्रतीक है। सस्कृति के जो मूल्याकन होते हैं, वे भाषा द्वारा ही अभिव्यक्त किये जाते हैं। जिस सस्कृति के जो मूल्य हैं, उन मूल्यो के लिए उस-उस भाषा में अपने-अपने शब्द होते हैं। सस्कृत में 'चातुर्वर्ण्य' शब्द है, यह इस सस्कृति के मूल्य को अभिव्यक्त करता है। सस्कृति का मूल्य पहले होता है, भाषा उस मूल्य को अभिव्यक्त करने का एक साधन मात्र है। जन-जाति के जिन लोगो ने अपनी भाषा को भुलाकर दूसरी भाषाओं को अपना लिया, उनके जीवन में यह समस्या उठ खडी हुई कि नवीन भाषाओ के शब्द सस्कृति के जिन मूल्यों को अभिव्यक्त करते थे, उनसे तो जन-जाति के लोग परिचित थे नहीं, इसलिए ये नवीन भाषाएँ उनके लिए मूल्याकनहीन हो गईं। जन-जातियो के इन लोगो के अपनी सस्कृति के जो मूल्य थे उन्हें तो ये छोड नहीं सके, अपनी भाषा को इन्होंने छोड दिया, जिस नवीन भाषा को इन्होंने अपनाया उस भाषा में पडे हुए सस्कृति के मूल्य इनकी सस्कृति के नहीं थे—इस प्रकार इनके जीवन में सास्कृतिक-दृष्टि से एक खाई उठ खड़ी हुई, इनके जीवन में एक शून्य पैदा हो गया। अपनी सस्कृति को ये लोग न छोडते तो इन्हें सदा हीनता की भावना सताती रहती, अपनी सस्कृति को छोड दिया तो इनका जीवन सस्कृति के मूल्यो से शून्य हो गया—यह सास्कृतिक-समस्या, इच्छा से, अनिच्छा से अपनी सस्कृति को छोडने वाले जन-जाति के व्यक्ति के जीवन में हर समय बनी रहती है।

मनुष्य का स्वभाव है कि जिस सस्कृति में वह पैदा होता है, जिसमें वह पलता है, उसी में उसे सुख मिलता है। इसमें सन्देह नहीं कि जन-जातियो के लोग नगे रहते हैं, हम उन्हें नगा रहने के लिए धिक्कारते हैं, वे हम से कपडा पहनना भी सीख जाते हैं, परन्तु कपडा पहनना सीख कर क्या वे सुखी हो गये हैं? इतना पैसा तो उनके पास है नहीं कि वे कई कपडे खरीद सकें। एक कपडा जब तक वह चीथडा नहीं हो जाता, वे पहने रहते हैं। उनमें जूएँ हो जाती हैं, बदबू आने लगती है, लाभ के स्थान में इससे उन्हें नुक्सान हो जाता है। इसने तो बिना कपडे के

रहना अच्छा है। धर्म के सबध में भी ईसाइयत या हिन्दू-धर्म की जो बातें हम उन्हें सिखा देते हैं, उनसे उनकी आत्मा को उतना सन्तोष नहीं होता जितना अपनी जन-जाति में प्रचलित धार्मिक भावनाओ और अपनी धार्मिक-प्रथाओ से उन्हें सन्तोष होता है। इसमें सन्देह नहीं कि जन-जाति के लोगो के सम्मुख सास्कृतिक-दृष्टि से एक बडी समस्या है। क्या वे अपनी बाप-दादाओ के समय से चली आ रही सस्कृति में अक्षुण्ण-भाव से बने रहें, नगे रहते हैं तो नगे रहें, जादू-टोने को मानते हैं तो उसी में विश्वास करते रहें, या वे अपने को बदलें। अगर वे अपने को नहीं बदलते तो सभ्य जातियो की तुलना में वे अपने को हीन समझने लगते हैं, अगर बदलते हैं तो जिन विश्वासो के आधार पर और जिन सास्कृतिक-मूल्यो के कारण वे जीवन में निश्चिन्त थे, सुखी थे, उन्हें छोडना पडता है। इस सास्कृतिक-दुविधा के कारण ससार की सब जन-जातियाँ आज एक सकट में से गुज़र रही हैं।

१२ भारत की जन-जातियो का प्रशासन (Tribal Administration in India)

जन-जातियों के प्रशासन को दो कालो में बाँटा जा सकता है। एक काल तो ब्रिटिश समय का है, दूसरा स्वराज्य-प्राप्ति के बाद का है। इन दोनो कालो में जन-जातियों के प्रशासन की नीति में कुछ भेद रहा है। नीति के इस भेद को ध्यान में रखते हुए हम इन दोनो कालो के प्रशासन पर यहाँ कुछ प्रकाश डालेंगे —

(क) ब्रिटिश-काल की जन-जातियो के प्रशासन की नीति—अंग्रेज़ो का मुख्य उद्देश्य अपने साम्राज्य का विस्तार करना था। इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए उन्होने जन-जातियों पर भी हाथ डाला। बगाल में राजमहल पहाडी इलाको की कुछ जन-जातियो ने वहाँ के हिन्दू ज़मींदारो के खिलाफ विद्रोह खडा कर दिया था, उसे दबाने के लिए अंग्रेज़ों ने अपनी शस्त्र-शक्ति का सहारा लिया, परन्तु कुछ देर बाद अंग्रेज़ों ने जन-जातियो के सबध में अपनी नीति को बदला। ज़बर्दस्ती करने के स्थान में शान्ति के मार्ग का अवलबन उन्हें अधिक सुविधाजनक प्रतीत हुआ। जन-जातियों के सरदारो को शान्त रहने के लिए पेंशनें दी जाने लगीं। १७८२ में इस प्रदेश के शासक श्री ऑगस्टस क्लीवलैंड की सिफारिश पर राजमहल के पहाडी इलाके को साधारण-शासन से अलग कर दिया गया। इस इलाके की व्यवस्था का भार यहीं के स्थानीय-नेताओ की बनी अदालतों के सुपुर्द कर दिया गया। इन जन-जातियो का इनके ज़मींदारों से सबध तोड दिया गया और इन्हें ज़मींदारों की मार्फत ज़मीनें मिलने के स्थान में सीधे सरकार से ज़मीनें दी जाने लगीं। आधारभूत नीति यह थी कि इन जन-जातियों के काम-काज में 'न्यूनतम हस्तक्षेप' (Laissez-faire) की नीति का आश्रय लिया जाय जिससे वे समय-समय पर भडकते न रहें। यह सब-कुछ करने के बाद भी अंग्रेज़ों ने जन-जातियों के साथ किये जाने वाले व्यवहार में दूरदर्शिता का परिचय नहीं दिया, क्योंकि जन-जातियों के कुछ वर्गों को इन्होंने अपराधी घोषित करके उन पर 'अपराधी-जन-जाति-कानून' (Criminal Tribes Act) लगा दिया जिसके अनुसार

साधारण अपराधी की अपेक्षा इस जन-जाति के व्यक्ति को साधारण से अधिक सज़ा देने की व्यवस्था थी। इस प्रकार अंग्रेज़ों की नीति जन-जातियों के संबंध में कोई निश्चित नीति नहीं रही।

क्लीवलैंड तथा उसके बाद आने वाले शासकों के प्रयत्न से १७९६ में बंगाल की राजमहल पहाड़ियों की रहने वाली जन-जातियों के शासन के लिए, जिन्हें साधारण-शासन से अलग कर दिया गया था, एक 'पर्वतीय-परिषद्' (Hill Assembly) की स्थापना की गई, जिसका काम इस प्रदेश का शासन तथा शासन के नियमों का बनाना था। इस परिषद् ने इन जन-जातियों के लिए जो नियम बनाये, उन्हें 'रेगूलेशन—I' के नाम से जन-जातियों में जारी किया गया। इन नियमों का जन-जातियों पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। शासन में भ्रष्टाचार बढ़ने लगा, अयोग्य व्यक्ति भरे जाने लगे। परिणाम यह हुआ कि ३०–३१ साल बाद १८२७ में '१७९६ का रेगूलेशन–I' रद्द करना पड़ा और इसके स्थान में '१८२७ का रेगूलेशन–I' जारी कर दिया गया। इस नये रेगूलेशन के अनुसार राजमहल की पहाड़ियों की जन-जातियों को फिर से कुछ अंश तक साधारण-शासन के आधीन कर दिया गया। १८५५ तक यही हालत रही। १८५५ में सन्थाल लोगों ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह को दबाने के लिए जहाँ-जहाँ विद्रोह था वहाँ-वहाँ के शासकों को विशेष अधिकार दे दिये गये जिनसे वे इस प्रकार के विद्रोहों को दबा सकें। १९१९ में 'गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट' पास हुआ। इस एक्ट की ५२–ए(२) धारा के अनुसार गवर्नर-जनरल को अधिकार दे दिया गया कि जिन इलाकों को वह खास तौर पर पिछड़ा हुआ समझता है, उन्हें साधारण-शासन में से पृथक् कर के, उनमें, वहाँ की परिस्थिति के अनुसार एक भिन्न प्रकार की शासन-व्यवस्था को जारी कर सके। इस प्रकार साधारण-शासन से अलग किये गये प्रदेश दो तरह के थे— 'आंशिक बाह्य-प्रदेश' (Partially excluded areas) तथा 'सर्वथा बाह्य-प्रदेश' (Wholly excluded areas)। इन पृथक् किये हुए बाह्य-प्रदेशों में से कुछ प्रदेशों को उस समय की विधान-सभाओं में अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार बिल्कुल नहीं दिया गया, कुछ के प्रतिनिधि नामज़द करने का अधिकार सरकार ने अपने हाथ में रखा और कुछ को अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करने का अधिकार दे दिया गया। १९३५ में 'गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट' में फिर संशोधन हुआ। इस एक्ट के अनुसार कई विभाग मिनिस्टरों के सुपुर्द किये गये। इनमें भी 'सर्वथा बाह्य-प्रदेशों' (Wholly excluded areas) के विषय में तो मिनिस्टरों को कोई अधिकार नहीं दिये गये, परन्तु 'आंशिक-बाह्य-प्रदेशों' (Partially excluded areas) के विषय में मिनिस्टरों को अधिकार दिये गये। वे इन प्रदेशों के विषय में छान-बीन कर सकते थे, इनके संबंध में कानून बना सकते थे। अब तक अंग्रेज़ों की नीति नकारात्मक नीति थी। वे इन जन-जातियों का सुधार नहीं करना चाहते थे, इनको दबाये रखना चाहते थे, मौका पड़े तो इनका शोषण करना चाहते थे। देशी मिनिस्टरों के हाथ में जब से सत्ता आयी, तब से शासन का

दृष्टिकोण वदलने लगा और इन जन-जातियो के सुधार की, इनकी सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति की भावना ने जन्म लिया। नतीजा यह हुआ कि १९३५ के वाद भिन्न-भिन्न प्रान्तो में जो भारतीय मन्त्री-मडल वने उन्होने जन-जातियो की अवस्था पर विचार करने के लिए कमेटियां वनानी शुरू कर दीं। इस प्रकार की कमेटियां विहार, उडीसा, मद्रास, वम्वई आदि में वनीं। ये कमेटियां अपना काम न कर पायी थीं कि द्वितीय विश्व-युद्ध छिड गया और काग्रेस मन्त्री-मडल ने इस्तीफा दे दिया। इसके वाद जन-जातियो के इतिहास में स्वतन्त्रता प्राप्ति के वाद से दूसरा युग शुरू हुआ।

(ख) स्वतन्त्रता प्राप्ति के वाद १९४७ से जन-जातियो के प्रशासन की नीति—स्वतन्त्रता प्राप्ति के वाद भारत का जो 'सविधान' वना उसमें पिछडी जातियो तथा जन-जातियो के लिए खास व्यवस्थाएँ की गई थीं। 'सविधान ' की भूमिका में कहा गया था कि भारत के प्रत्येक नागरिक के साथ सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक न्याय किया जायगा, प्रत्येक को अपने स्वतन्त्र विचार रखने, उन्हें प्रकट करने, अपने विश्वास रखने तथा धर्म-कर्म की स्वतन्त्रता होगी, सव की स्थिति समान होगी, सव को समान अवसर मिलेगा। 'सविधान' में आधार-भूत अधिकारो का परिगणन करते हुए भारत के प्रत्येक नागरिक को यह विश्वास दिलाया गया था कि धर्म, प्रजाति, जाति, लिंग तथा जन्म के कारण किसी के साथ कोई भेद-भाव नहीं वर्ता जायगा। क्योकि अग्रेजों के समय में जन-जातियों के साथ अन्य लोगो से भेद का वर्ताव, धर्म, नस्ल, प्रजाति तथा जन्म के आधार पर किया जाता था, इसलिए जन-जातियो की दृष्टि से 'सविधान' की यह वात वडे महत्व की थी।

सविधान के अनुच्छेद (Article) २३ के अनुसार किसी व्यक्ति से जबर्दस्ती काम लेना ग़ैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। अव तक जन-जातियों से जबर्दस्ती मजदूरी का काम लिया जाता था।

सविधान के अनुच्छेद २९ के अनुसार अल्प-सख्यक जनता की सस्कृति की राज्य द्वारा रक्षा का आश्वासन दिया गया। जन-जातियो की अपनी सस्कृति है, इसलिए इस अनुच्छेद के अनुसार उन्हें अपनी सस्कृति की रक्षा प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त हो गया।

सविधान के अनुच्छेद ४६ में कहा गया कि राज्य जनता के दुर्वलतर विभागो की, विशेषतया अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित जन-जातियो की शिक्षा तथा आर्थिक हितो की विशेष सावधानी से उन्नति करेगा। सामाजिक अन्याय तथा सव प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करेगा। इससे भी जन-जातियो को शिक्षा, आर्थिक उन्नति तथा शोषण से वचाने का आश्वासन दिया गया।

सविधान के अनुच्छेद १६४ के अनुसार विहार, मध्य-प्रदेश और उडीसा में जन-जातियो के कल्याण के लिए एक अलग मन्त्रालय की स्थापना की व्यवस्था की गई।

संविधान के अनुच्छेद २४४ के अनुसार संविधान में दो शिड्यूल संलग्न किये गये। इनमें से एक पाँचवाँ शिड्यूल है, दूसरा छटा शिड्यूल है। पाँचवें शिड्यूल में यह कहा गया है कि असम को छोड कर अन्य राज्यों के 'अनुसूचित क्षेत्रों तथा अनुसूचित जन-जातियों' (Scheduled areas and tribes) का प्रशासन किस प्रकार होगा, छठे शिड्यूल में असम की जन-जातियो के प्रशासन की व्यवस्था बतलाई गई है।

अनुच्छेद २४४ के पाँचवें शिड्यूल में कहा गया है कि जिन-जिन राज्यो में जन-जातियाँ हैं, उनके राज्यपाल जब उनसे कहा जायगा तब राष्ट्रपति को अपने प्रदेशों की जन-जातियो के प्रशासन की रिपोर्ट दिया करेंगे, और इस रिपोर्ट पर राष्ट्रपति जो आदेश देंगे, उसका राज्यपाल पालन करेंगे। इस शिड्यूल में यह भी कहा गया है कि जन-जातियो वाले राज्यों में एक 'जन-जाति सलाहकार समिति' (Tribes Advisory Council) होगी, जिसमें २० सदस्य होंगे। इन बीस में से तीन चौथाई सदस्य वे होंगे जो अनुसूचित जन-जातियो के प्रतिनिधि के तौर पर अपने राज्य की विधान-सभा में चुने जाकर आये होंगे। इस शिड्यूल में यह भी कहा गया है कि राज्यपाल जन-जातियो के संबंध में सामान्य कानूनो को लागू होने से रोक सकता है। राज्यपाल इन जन-जातियो के संबंध में जो कानून बनायेगा वह 'जन-जाति सलाहकार समिति' के परामर्श से बनायेगा, परन्तु यह परामर्श राज्यपाल पर बाधित रूप से लागू नहीं होंगे।

अनुच्छेद २४४ के छठे शिड्यूल में कहा गया है कि असम के जन-जातीय-प्रदेशों को दो भागों में बाँटा जायगा। एक तो 'स्वायत्त-जिले' (Autonomous Districts) होंगे, दूसरे 'स्वायत्त-क्षेत्र' (Autonomous areas) होंगे। 'स्वायत्त-जिलों' में 'जिला-समितियाँ' (District Councils) होंगी, 'स्वायत्त-क्षेत्रों' में 'क्षेत्रीय-समितियाँ' (Regional Councils) होंगी। ये समितियाँ भूमि, जंगल, सिंचाई, खेती, ग्राम तथा शहर कमेटियों के नियम, मुखियाओं की नियुक्ति, जायदाद, विरासत, विवाह तथा अन्य सामाजिक प्रथाओं के संबंध में कानून बनायेंगी। ये समितियाँ न्याय-व्यवस्था का भी प्रबन्ध करेंगी। इन समितियों को प्राथमिक-शिक्षणालय खोलने, धन एकत्रित करने, आय-कर लगाने का भी अधिकार होगा। पार्लियामेंट या राज्यों के कानूनो को अपने क्षेत्रों में लागू होने से भी ये समितियाँ रोक सकती हैं। राज्यपाल को अधिकार होगा कि इन समितियों के हिसाब की जाँच कराये। अगर राज्यपाल यह अनुभव करे कि इन समितियों से भारत को किसी प्रकार का खतरा होने लगा है, तो वह इन्हें भंग भी कर सकता है।

संविधान के अनुच्छेद २७५ के अनुसार जन-जातियो के कल्याण तथा सुशासन के लिए केन्द्रीय-सरकार द्वारा राज्य सरकारो को अनुदान देने की व्यवस्था भी की गई।

संविधान के अनुच्छेद ३२५ के अनुसार यह व्यवस्था की गई कि कोई भी व्यक्ति धर्म, नस्ल, जाति अथवा लिंग के आधार पर मत-दान के अधिकार से वंचित न रहेगा।

संविधान के अनुच्छेद ३३० और ३३२ के अनुसार अनुसूचित पिछड़ी जातियों तथा जन-जातियो के लिए लोक-सभा तथा राज्यो की विधान-सभाओ में कुछ सीटो को संविधान के लागू होने के दस साल बाद तक के लिए सुरक्षित रखा गया है।

संविधान के अनुच्छेद ३३५ के अनुसार पिछड़ी जातियो तथा जन-जातियों को नौकरी के स्थानों के लिए विशेष ध्यान रखने का आश्वासन दिया गया है।

संविधान के अनुच्छेद ३३८ के अनुसार अनुसूचित पिछड़ी जातियो तथा जन-जातियो के लिए राष्ट्रपति द्वारा एक विशेष पदाधिकारी की नियुक्ति की व्यवस्था की गई है। इस पद पर पिछले कई वर्षों से श्रीयुत् श्रीकांत काम कर रहे हैं जो अनुसूचित पिछड़ी जातियो तथा जन-जातियो के कमिश्नर कहाते हैं। ये प्रतिवर्ष अपने काम की रिपोर्ट प्रकाशित करते हैं जो पार्लियामेंट में पेश होती है, उस पर बहस भी होती है।

संविधान के अनुच्छेद ३३९ के अनुसार राष्ट्रपति से कहा गया है कि संविधान लागू होने के दस साल तक के अनुसूचितों के शासन के संबंध में एक रिपोर्ट तैयार करने का आदेश दें जिससे पता चल सके कि इन दस सालो के भीतर अनुसूचित वर्गों ने क्या-क्या उन्नति की।

संविधान के अनुच्छेद ३४० के अनुसार राष्ट्रपति को अधिकार दिया गया है कि वे पिछड़े वर्गों की वास्तविक स्थिति की जाँच के लिए एक आयोग नियुक्त कर सकें, जो इन वर्गों की उन्नति कैसे हो सकती है—इस संबंध में सुझाव दे। १९५२-५३ में श्री काका कालेलकर की अध्यक्षता में ऐसा एक आयोग बनाया गया जिसने ३१ मार्च १९५५ में अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति को दे दी।

संविधान के अनुच्छेद ३४२ के अनुसार राष्ट्रपति को अधिकार दिया गया है कि वे राज्यपालों तथा राजप्रमुखो से सलाह-मशविरा करके जन-जातियों में से कौन-सी अनुसूचित श्रेणी में सम्मिलित की गई हैं—इसकी घोषणा कर दें।

१३ भारत की जन-जातियो का भविष्य

भारत की जन-जातियो का भविष्य क्या है? क्या उन्हें भारतीय-समाज से अलग रखा जाना ठीक है, या उन्हें भारतीय-समाज में मिला लिया जाना ठीक है? उनकी स्थिति अब जो है सो तो है ही, परन्तु क्या इस स्थिति में कुछ परिवर्तन आना चाहिए, अगर परिवर्तन आना चाहिए तो क्या—ये सब प्रश्न मानव-शास्त्रियों के विचार के विषय बन रहे हैं।

(क) डा० हट्टन के विचार—१९३१ की भारतीय जन-गणना के सर्वोपरि अधिकारी डा० हट्टन (Hutton) थे। उन्होंने जन-जातियों का बड़ा गहराई से अध्ययन किया था। उनका कहना है कि जन-जातियों का सभ्य-समाज

से बिलकुल 'एकान्तीकरण' (Isolation) भी ठीक नहीं, उनका सभ्य-समाज में बिल्कुल 'सात्मीकरण' (Assimilation) भी ठीक नहीं। अपनी विशेषताओ के लिए उनका अलग रहना भी ठीक है, अपनी भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उनका सभ्य-समाज से संपर्क बनाये रखना भी ठीक है।

(ख) डा० एलविन के विचार—डा० एलविन का कहना है कि हमें जन-जातियो के अतिरिक्त जो लोग हैं, उन्हें जन-जातियो के क्षेत्र से बिल्कुल अलग कर देना चाहिए, जन-जातियो के जीवन में किसी प्रकार का हस्त-क्षेप नहीं करना चाहिए। एक तरह से जन-जातियो के क्षेत्र 'राष्ट्रीय-पार्क' (National parks) का रूप धारण कर जाने चाहिएँ। जैसे बडे-बडे पार्कों में भिन्न-भिन्न प्रकार के वृक्ष-वनस्पति होते हैं, वैसे ये जन-जातियो के क्षेत्र भी एक प्रकार के मनुष्यों की विभिन्नताओ के पार्क हो जाने चाहिएँ।

(ग) श्री घुर्ये के विचार—बम्बई के उच्च-कोटि के समाजशास्त्री श्री घुर्ये का कहना है कि जन-जातियो को आदिम-जातियां या आदिवासी कहना गलत है। मूलरूप में ये सब हिन्दुओ के अग हैं, पिछडे हुए हिन्दू हैं और इनका कल्याण इसी में है कि इन्हें हिन्दु-समाज का फिर से अग बना लिया जाय।

(घ) श्री मजूमदार तथा मदन के विचार—श्री मजूमदार तथा श्री मदन का कहना है कि जन-जातियो तथा हिन्दुओ में भेद अवश्य है, घुर्ये का इन्हें एक ही कहना अत्युक्ति है। जन-जातियो की अपनी पृथक् सस्कृति है और इसका हिन्दुओ, ईसाइयो या किसी अन्य सस्कृति में 'सात्मीकरण' लाभप्रद नहीं होगा। जन-जातियो की सस्कृति में अनेक अच्छी बातें हैं और उनका सुरक्षित रखा जाना ही उचित है। सब से अच्छी नीति यह होगी कि जन-जातियो की सस्कृति का सभ्य-समाज की सस्कृति के साथ 'नियन्त्रित सात्मीकरण' (Controlled assimilation) किया जाय, अर्थात् उनकी अच्छी प्रथाओ, रीति-रिवाजो की रक्षा की जाय, और बुरी बातो का निराकरण किया जाय। जन-जातियो की कुछ अच्छी बातें ऐसी हैं, जो हिन्दु-लोग भी ले सकते हैं। उदाहरणार्थ, बडी आयु में शादी करने की प्रथा प्राय सभी जन-जातियो में पायी जाती है जो हिन्दुओ के लिए अनुकरणीय है।

जन-जातियो तथा भारत के हित में सब से अच्छी नीति यह है कि धीरे-धीरे इन्हें भारत की ग्रामीण जनता का अग बना दिया जाय। इस समय हमारी जनता तीन भागो में बँटी हुई है—शहर, गांव तथा जन-जातियां। शहरो से कुछ दूर गांव होते हैं, और गांवो से भी दूर जगलो और पहाडो में जन-जातियां रहती हैं। शहर तथा गांव तो एक-दूसरे को जीवन प्रदान करते रहते हैं, परन्तु जगलो तथा पहाडो में पडी जन-जातियां सभ्यता के किसी प्रकार के सपर्क में नहीं आतीं, प्रकृति की दिन-रात की कठिन समस्याओ के साथ ही उन्हें जूझना पड़ता है। अगर हम उनकी सस्कृति की भी रक्षा करना चाहते हैं, उनके भौतिक कष्टों को

भी दूर करना चाहते हैं, तो धीरे-धीरे अपने देश में इस प्रकार की प्रक्रिया चलनी चाहिए जिससे इस देश के तीन के स्थान में दो प्रदेश रह जांय--शहर तथा गांव, और जन-जातियां या तो आस-पास के गांवो में समा जांय, या स्वय उनके अपने पृथक् गांव बन जांय। गांवो तथा शहरो की पृथक्-पृथक् सस्कृतिया तो सदा से रही हैं, और जबतक ये दो पृथक्-पृथक् क्षेत्र बने रहेंगे, तबतक इन की पृथक्-पृथक् सस्कृतियां भी बनी रहेंगी।

१४

प्रजाति-सुप्रजनन

(EUGENICS OR RACE BETTERMENT)

हम पिछले कई अध्यायो में प्रजाति, नस्ल, रुधिर की भिन्नता आदि पर लिखते आये हैं। अगर रुधिर के कारण मनुष्य-मनुष्य में भेद है, और अगर सब नस्लें आदि-काल के ४-५ स्कन्धो से ही बनी हैं, तब तो यह तो स्पष्ट है कि नस्लो में परिवर्तन होता है। अगर नस्लो में परिवर्तन होता है, तो इस परिवर्तन के कारण माता-पिता के रज-वीर्य के सिवाय और दूसरा कारण क्या हो सकता है? ऐसी हालत में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि क्या ऐसा प्रयत्न नहीं किया जा सकता जिससे नस्लो को पहले से बेहतर बनाया जा सके? इसी विचार ने 'प्रजाति-सुप्रजनन' ([1]Eugenics) के विचार को जन्म दिया है।

१ प्रजाति-सुप्रजनन (Eugenics) की परिभाषा

'प्रजाति-सुप्रजनन'-शब्द की भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं, जिनमें से दो-एक हम यहाँ दे रहे हैं :—

[क] जेकब्स तथा स्टर्न की व्याख्या—"प्रजाति-सुप्रजनन उस शास्त्र को कहते हैं जिसका काम मनुष्य के भिन्न-भिन्न गुणों की आनुवंशिकता तथा उनके परिवर्तन के प्रकार का पता लगाना है ताकि मानव-जाति के चुने हुए व्यक्ति ही सन्तति का प्रजनन करें जिससे वंश-परंपरा से आने वाले उत्तम गुण ही मानव-समाज में आगे चल सकें।"

[ख] एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशयल साइन्सेज—"प्रजाति-सुप्रजनन उस शास्त्र का नाम है जो मनुष्य के वंश-परंपरा से आने वाले गुणों में उन्नति करने के तरीके का पता लगाता है।"

---

1 Eugenics=Greek word *Eu*, well, *Gen* (जन) to produce.

[क] "Eugenics is the study of the mechanisms of inheritance and change of human traits, with a practical perspective of selective breeding in order to improve the inherited quality of human populations"—*Jacobs and Stern.*

[ख] "Eugenics deals with the science and practice of improving hereditary characters in man" *Encyclopaedia of Social Sciences.*

२ प्रजाति-सुप्रजनन के विचार का विकास

जब से मनुष्य में प्रजाति का विचार चला है तब से इसके साथ-साथ प्रजाति के सुधार का विचार भी चलता रहा है। हम यह देखते हैं कि माता-पिता के अनेक गुण सन्तान में आते हैं, हम यह भी देखते हैं कि सन्तान माता-पिता से कुछ परिवर्तन भी होता है। माता-पिता मे वंश-परंपरा द्वा शारीरिक तथा मानसिक गुणो का आना तथा उनमें परिवर्तन होना—ये दो बातें सिद्ध करती हैं कि हम माता-पिता के अच्छे गुणो को चुन कर उनमें परिवर्त कर सकते हैं। इस उद्देश्य मे बहुत प्राचीनकाल से मनुष्य ने सोचना शुरू किय था।

(क) हिन्दुओ के नस्ल सुधार के सोलह सस्कार—सन्तति के सुधार विचार ने बहुत पहले हिन्दुओं में जन्म लिया। वेदो में विवाह तथा गर्भाधा के लिए जो मत्र आते हैं उनमें जगह-जगह लिखा है कि हमारी सन्तान मात पिता से बढ कर हो, 'यजमानस्य वीरो जायताम्'—यजमान का वीर पुत्र हो हिंदुओ ने सपूर्ण जीवन को सोलह सस्कारों में ओत-प्रोत कर दिया था। सस्कारो क उन्होने दो भागों में बाँटा था। कुछ सस्कार तो शिशु के उत्पन्न होने से पहले (Pre-natal) होते हैं—जैसे गर्भाधान, पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन। गर्भाधा तो हर-एक पति-पत्नी करते हैं, परन्तु इसे सस्कार का रूप सिर्फ वैदिक हिन्दुअ ने दिया था। इसका अभिप्राय यह है कि सन्तान का जब बीज रखा जा रहा है उस समय माता-पिता यह सकल्प कर के सन्तान उत्पन्न करते हैं कि जो भी सन्ता होगी उसमें माता-पिता के उत्तम गुण ही आयेंगे, दूसरे गुण नहीं। गर्भ-धार कर लेने के बाद पुंसवन सस्कार किया जाता है, माता के हृदय पर दृढ तौर यह बैठा दिया जाता है कि उसके पेट में जो जीव है उसके कल्याण के लिए उ जीना है। पुंसवन सस्कार तब किया जाता है जब बालक के शरीर का निर्मा हो रहा होता है। इस समय माता को ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए जिस गर्भस्थ शिशु के शारीरिक विकास में माता द्वारा किसी प्रकार की बाधा पड सके इसके बाद सीमन्तोन्नयन सस्कार किया जाता है। इसमें माता के सिर पर कघी पट्टी की जाती है, और उस पर यह प्रभाव डाला जाता है कि अब बालक क मस्तिष्क बनने लगा है, माता अगर मानसिक-दृष्टि से अपने को उन्नत बना का प्रयत्न करेगी, तो बालक के मस्तिष्क की रचना पर उसका प्रभाव पडेगा शिशु के उत्पन्न होने से पहले के इन सस्कारों के बाद कुछ सस्कार शिशु के उत्पन्न होने के बाद (Post-natal) किये जाते हैं। जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण अन्नप्राशन, चूडाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, वेदारंभ—ये आठ सस्कार ७-८ व की आयु तक में कर दिये जाते हैं। जन्म से पहले किये जाने वाले सस्कारों का अभिप्राय 'आनुवंशिकता' (Heredity) की समस्या को हल करना है, जन्म के बाद किये जाने वाले संस्कारो का अभिप्राय 'पर्यावरण' (Environment) की समस्या को हल करना है। दो प्रभावो से ही तो सन्तान का निर्माण होता है—

माता-पिता से आये हुए सस्कार तथा पर्यावरण से पडने वाले संस्कार। वैदिक-हिन्दुओ ने इन दोनो प्रभावो को ध्यान में रख कर सन्तति के सुधार के विचार को क्रियात्मक रूप देने के लिए सस्कार-प्रणाली को चलाया था। अब भी प्रत्येक हिन्दू के लिए सोलहो सस्कार करना लाजमी है, परन्तु जिन लोगो ने इन्हें चलाया था, उन्होंने किसी उद्देश्य को सम्मुख रख कर इन्हें चलाया था, हम अन्धे होकर लकीर पीट रहे है, संस्कार मौजूद हैं, इनमें से इन की आत्मा निकल चुकी है।

(ख) स्पार्टन लोगो के नस्ल-सुधार के विचार—नस्ल का सुधार किसी-न-किसी तरह होना चाहिए, यह विचार जैसा हमने कहा, बहुत पुराना है। ईसा से छठी शताब्दी पहले ग्रीक कवि थियोग्निस (Theognis) ने भी यह विचार प्रकट किया था कि जब हम वृक्ष-वनस्पति-पशु—इन सब की नस्ल को सुधारते हैं, तब मनुष्य की नस्ल को सुधारने का प्रयत्न क्यो नहीं किया जा सकता। इस विचार को ग्रीस के स्पार्टन लोगो ने विशेष रूप से क्रियात्मक रूप दिया था। ये वीर लोग थे, इन्हें अपनी नस्ल पर गौरव था। इन्होंने जीवन के लिए बडे कठोर नियम बनाये थे, और इन नियमो का कठोरता से ही पालन किया जाता था ताकि नस्ल गिरने न पाये। ये लोग कमजोर बच्चो को पहाडी पर से नीचे धकेल देते थे, उनमें जो बच रहते थे, उन्हीं को पालते थे। अपने यहां के उच्च-कोटि के व्यक्तियो को देश से बाहर नहीं जाने देते थे, ताकि वे देश में रहकर स्वस्थ तथा उन्नत सन्तान उत्पन्न करें। 'बहिर्गमन' (Emigration) के उन्होने कठोर नियम बनाये हुए थे। उत्तम सन्तान उत्पन्न करने वालो को पारितोषिक दिया जाता था। जो देश उनकी अधीनता स्वीकार कर लेते थे, उनका समय-समय पर वध कर डालते थे ताकि उनका स्पार्टन लोगो के साथ रुधिर का सम्मिश्रण होने से स्पार्टनों की नस्ल में कुछ फर्क न पड जाय।

(ग) प्लेटो के नस्ल-सुधार के विचार—प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में 'आदर्श-राज्य' (Ideal State) की कल्पना का चित्र खींचा है। इस चित्र में उसने आदर्श-राज्य में किस प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिए, इसके कुछ निर्देश दिये हैं। इन निर्देशों में सन्तति-सुधार पर विशेष बल दिया गया है। उसका कहना है कि निम्न-स्तर के माता-पिता के बच्चो की परवरिश नहीं की जानी चाहिए, दोषपूर्ण बच्चो को जीने नहीं देना चाहिए। जो लोग असाध्य रोगो से पीडित हैं, या जो ऐशो-आराम में जीवन बिताते हैं, उन्हें विवाह करके सन्तान उत्पन्न करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। नैतिक दृष्टि से जो लोग असाध्य हैं उन्हें मौत के घाट उतार देना चाहिए, ताकि वे सन्तान उत्पन्न ही न कर सकें। ऐसे लोग सन्तान पैदा करेंगे, तो अपने जैसे निकम्मे और दुश्चरित्र व्यक्ति ही तो पैदा करेंगे। प्लेटो का कहना था कि शराब का सन्तान पर विशेष प्रभाव पडता है, इसलिए आदर्श-राज्य में शराब पर और शराबी माता-पिता के सन्तान उत्पन्न करने पर प्रतिबन्ध होना चाहिए। प्लेटो ने सन्तति-सुधार पर एक नया विचार भी दिया। उसका कहना था कि उत्तम सन्तान उत्पन्न करने के

लिए 'सामयिक-यौन-सबधों' (Temporary Unions) को राज्य की तरफ मे प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए ताकि उच्च-कोटि के पुरुष राज्य को उत्तम सन्तान दे सकें। एक वार वर्नर्ड शॉ को एक सिनेमा-स्टार ने लिखा कि वह शॉ से सन्तान चाहती है, ताकि ऐसी सन्तान पैदा हो जिसमें स्टार की ख़ूबसूरती और वर्नर्ड शॉ की विद्वत्ता दोनो का अपूर्व सम्मिश्रण हो। शॉ ने उसका जवाब दिया कि अगर शॉ की वदसूरती और स्टार की वेअक्ली का सन्तान में सम्मिश्रण आ गया तव क्या होगा? खैर, प्लेटो ने अपने समय में एक नया विचार दिया—इनमें कोई सन्देह नहीं। कुछ इसी विचार से मिलता-जुलता विचार इस युग में ऋषि दयानन्द ने दिया था। उनका विचार 'नियोग' के नाम से प्रसिद्ध है। 'नियोग' के विचार को लेकर अपने समाज मे वहुत विवाद चले, शास्त्रार्थ हुए, परन्तु यह विचार कोई नया विचार नहीं है, प्लेटो के समय से यह विचार चला आ रहा है, महाभारत के रचयिता मुनि वेद-व्यास नियोग से ही उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार के सब विचार सन्तति-सुधार की दिशा में सोचने के परिणाम है। प्लेटो से जव कहा गया कि उच्च-कोटि के व्यक्तियों की वुद्धू सन्तान भी हो जाती है—इसका क्या इलाज होगा, तो उसने कहा कि यह तभी होता है जव उच्च-कोटि के व्यक्ति बुढापे में सन्तान पैदा करते है, इसलिए उसने बुढापे में सन्तान उत्पन्न करने पर प्रतिवन्ध लगा दिया। प्लेटो का कहना था कि सन्तानोत्पत्ति में शारीरिक दृष्टि से माता-पिता के स्वास्थ्य का उन्नत होना सब से पहली शर्त है, माता-पिता का शरीर स्वस्थ होगा, तो सन्तान का शरीर स्वस्थ होगा, और शरीर स्वस्थ होगा तो सन्तान का मानसिक-विकास अपने-आप होगा, इसलिए प्लेटो ने सन्तान उत्पन्न करने वाले माता-पिता के शारीरिक-स्वास्थ्य पर विशेष वल दिया है।

(घ) युरोप के मध्य-काल के नस्ल-सुधार के विचारो पर विचार—प्लेटो के वाद नस्ल-सुधार के विचारो ने युरोप में कोई विशेष प्रगति नहीं की। सत्रहवीं शताब्दी से पहले तक तो सन्तति-सुधार के विचार को लोग लगभग भूल-सा गये थे। सत्रहवीं शताब्दी में एक पादरी कैम्पनेल्ल (Campnella) ने सन्तति-सुधार के विचारों को प्लेटो के विचारों की रूप-रेखा के आधार पर पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया, परन्तु उसके उद्योग बहुत सफल नहीं हुए।

३ बीसवीं सदी के प्रजाति-सुप्रजनन के विचार

(क) फ्रांसिस गाल्टन के नस्ल-सुधार पर विचार—बीसवीं सदी में सब से पहले फ्रांसिस गाल्टन ने सन्तति-सुधार के विचार का प्रचार किया। 'प्रजाति-सुप्रजनन' (Eugenics)-शब्द का पहले-पहल प्रयोग ही गाल्टन ने १८८३ में किया। अव तक के परीक्षण वृक्षों-वनस्पतियों पर होते थे, फ्रांसिस गाल्टन ने १८७५ में इस प्रश्न पर विचार करना शुरू किया कि क्या कारण है कि सन्तति की सूरत-शक्ल केवल माता-पिता से ही नहीं मिलती, कहीं-कहीं माता-पिता से मिलने के स्थान में दादा से, कहीं परदादा से जा मिलती है। इस समस्या का हल सोचते-सोचते उसने यह कल्पना की कि माता-पिता का रज-वीर्य जैसे-का-

तैसा सन्तति में बना रहता होगा, इस प्रकार सन्तति में माता-पिता के रज-वीर्य का अंश ही नहीं, दादा-परदादा के रज-वीर्य का अंश भी आ जाता होगा। तभी तो यह संभव हो सकता है कि पुत्र पिता से मेल खाने के स्थान पर कहीं-कहीं परदादा के शारीरिक गठन से मिलता है। अगर यह बात ठीक है, तो इसका तो यह परिणाम निकलता है कि अगर हम रज-वीर्य के उन तत्वों को समझ जायें, जो कभी पिता से, कभी दादा से, कभी परदादा से निरंतर संतति-से-संतति में चले आ रहे हैं, तो उन पर नियन्त्रण करने से हम आगामी सन्तति के गुणों का नियंत्रण कर सकते हैं। अगर सन्तति-से-सन्तति में रज-वीर्य का तत्व निरंतर चलता चला जाता है, तो इस तत्व पर जिन गुणों का प्रभाव हो जाता होगा, वे संतति में प्रकट हो जाते होंगे। यह बात ठीक है, तो दुर्गुणों का भी रज-वीर्य पर प्रभाव पड़ता होगा। ऐसी हालत में सन्तति का सुधार करने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि दुर्गुणों वाले स्त्री-पुरुषों को सन्तान उत्पन्न ही न करने दी जाय। इसी विचार-धारा का नाम गाल्टन ने 'सुप्रजनन-शास्त्र' (Eugenics) रखा। गाल्टन ने अपने अन्वेषणों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि उत्कृष्ट प्रतिभाशाली व्यक्ति, यद्यपि साधारण घरानों में भी हो सकते हैं, तो भी जो प्रतिभाशाली घराने होते हैं, उनमें ऐसे व्यक्ति ज्यादा दिखाई देते हैं। तब तो इसका यह मतलब हुआ कि हमें स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट, प्रतिभाशाली व्यक्तियों को सन्तान उत्पन्न करने के लिए प्रेरित करना चाहिए, अस्वस्थ, कमजोर, हीन-बुद्धि व्यक्तियों को सन्तान उत्पन्न करने से रोकना चाहिए। इससे सन्तति का, नस्ल का सुधार होगा। गाल्टन ने इस दृष्टि से कई परिवारों का अध्ययन किया और इससे भी वह इसी परिणाम पर पहुँचा कि अगर हम नस्ल को सुधारना चाहते हैं तो हमें सन्तति-सुधार के उपायों का अवलंबन करना होगा। गाल्टन ने गणित के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि माता-पिता का कितना अंश सन्तान में जाता है। इन सब बातों के आधार पर उसने इस बात का भी प्रचार किया कि सरकारों को ऐसे नियम बनाने चाहिएँ जिनके अनुसार प्रत्येक ऐरे-गैरों को सन्तान उत्पन्न करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। गाल्टन ने यह भी चित्र खींचा कि अगर अमुक-अमुक गुण वाले माता-पिता को चुन कर उन्हें ही सन्तान उत्पन्न करने दी जाय, दूसरों को सन्तान उत्पन्न करने से रोक दिया जाय, तो मानव-समाज उन्नति के शिखर पर शीघ्र-से-शीघ्र पहुँच जायगा। गाल्टन के विचार २०वीं शताब्दी के प्रारंभ में ग्रेट ब्रिटेन में बहुत शीघ्रता से फैलने लगे। १९०४ में गाल्टन ने लंडन विश्वविद्यालय में सुप्रजनन-शास्त्र के अनुसंधान की एक फैलोशिप (Research Fellowship in Eugenics) की स्थापना की। यह धीरे-धीरे 'फ्रांसिस गाल्टन लेबोरेटरी ऑफ नेशनल युजेनिक्स' (Francis Galton Laboratory of National Eugenics) के रूप में परिणत हो गई। १९०८ में 'युजेनिक्स एज्यूकेशन सोसाइटी' (Eugenics Education Society) की स्थापना हुई जिसके अध्यक्ष का काम गाल्टन ने स्वयं संभाला।

गाल्टन के बाद इसके अध्यक्ष चार्ल्स डार्विन के पुत्र ल्युनार्ड डार्विन हुए। इस सोसाइटी की तरफ से एक पत्र प्रकाशित होता है जिसका नाम 'युजेनिक रिव्यू' (Eugenic Review) है। इस पत्र का काम ग्रेट ब्रिटेन के भिन्न-भिन्न सामाजिक-विधानों पर सुप्रजनन-शास्त्र की दृष्टि से विचार करना है। इस सोसाइटी की ब्रिटेन में अनेक स्थानो पर शाखा-प्रशाखाएँ हैं।

(ख) कार्ल पीयर्सन के नस्ल-सुधार पर विचार—फ्रांसिस गाल्टन की विचार-धारा को कार्ल पीयर्सन (Karl Pearson) ने और आगे बढाया। उसने यह परिणाम निकाला कि मानव-समाज में जो भिन्नता पायी जाती है, उस पर 'पर्यावरण' (Environment) का बहुत थोडा प्रभाव है, इस विविधता का मुख्य-कारण 'वशानुसक्रमण' (Heredity) है। पीयर्सन ने यहाँ तक कहा कि किसी व्यक्ति के निर्माण में 'पर्यावरण' और 'वशानुसक्रमण' का कहाँ तक असर है, इसे नापा-तोला भी जा सकता है। उसने कई ऐसे दृष्टात इकट्ठे किये जिनसे सिद्ध होता था कि एक ही जाति के दो व्यक्तियो पर परीक्षण किया जाय, तो 'पर्यावरण' की अपेक्षा 'वशानुसक्रमण' का असर सात गुना ज्यादा पाया जायगा। पीयर्सन के पग-चिह्नों पर चलते हुए अन्य अनेक विद्वानो ने इस विषय पर अनुसधान किये जिनमें से दो परिवारो के विषय में किये गये अनुसधान बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें से एक परिवार 'जोनाथन एडवर्ड्स' (Jonathan Edwards) तथा दूसरा 'जूक्स तथा कालीकाक' (Jukes and Kallikaks) के नाम से प्रसिद्ध है। इनमें से पहले खानदान के लोग सभी उच्च-कोटि के हुए तथा दूसरे खानदान के लोग सभी हीन-कोटि के हुए। इन सब से यही परिणाम निकाला गया कि सन्तति के अच्छे-बुरे होने पर माता-पिता के रज-वीर्य का बहुत बडा असर पडता है, इसलिए सन्तति को अगर हम सुधारना चाहते हैं, तो सन्तान उत्पन्न करने से पहले माता-पिता का ठीक-ठीक चुनाव होना जरूरी है। इस चुनाव का नाम ही 'सुप्रजनन-शास्त्र' (Eugenics) है।

सुप्रजनन-शास्त्र का मुख्य प्रश्न यह है कि क्या माता-पिता के गुण सन्तति में सक्रान्त होते हैं, या बालक अपनी सामाजिक-परिस्थिति से अपने गुणो का निर्माण करता है। गाल्टन का विचार था कि माता-पिता के गुण सन्तति में संक्रान्त होते हैं, 'जन्म' (Nature) 'कर्म' (Nurture) से बलवान् है। १९०० में कार्ल पीयर्सन ने गाल्टन की विचार-धारा को आधार बनाकर एक भाषण दिया जो न्यूकैसल-व्याख्यान के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस व्याख्यान ने ग्रेट ब्रिटेन में तहलका मचा दिया। पीयर्सन ने कहा—"अगर हमारी जाति ससार के किसी सघर्ष में भी टिकना चाहती है, तो हमें देश के प्रत्येक विभाग में सुप्रशिक्षित दिमागों की जरूरत होगी, परन्तु क्या हम कह सकते हैं कि हमारे पास ऐसे दिमागो का कोई सुरक्षित भडार है, जिसे हम प्रशिक्षित कह सकें? हमें स्मरण रखना होगा कि अन्य प्राणियों की तरह मनुष्य भी वश-परपरा के अखड नियम के आधीन है, और अगर हम उच्च-स्तर के मानव से काम लेने के स्थान में निम्न-स्तर के मानव से

काम लेते रहे, तो ऐसा समय आ सकता है जब देश में मानव की उच्च-शक्तियाँ देखने को भी न मिलें। हमारे कानूनदाँ लोग घोड़ों और जानवरों की नस्लों को बढ़ाने, उन्हें सुधारने में आश्चर्यजनक तौर पर उत्तेजित रहते हैं, वे जानवरों की नस्लों को सुधारने में खर्च करते हैं, इनाम बांटते हैं, तरह-तरह के कानून बनाते हैं, परन्तु मनुष्य की नस्ल सुधारने में उनमें से कौन चिंतित है? हमें स्मरण रखना होगा कि आज के जातीय-जीवन के निर्बल या बलवान् होने में कल के जातीय जीवन का बलाबल छिपा हुआ है।"

(ग) ग्रेट ब्रिटेन के अतिरिक्त अमरीका तथा अन्य देशों में नस्ल-सुधार पर विचार—जैसे ग्रेट ब्रिटेन में फ्रान्सिस गाल्टन तथा कार्ल पीयर्सन ने 'सुप्रजनन' के विचार का आन्दोलन किया, वैसे अमरीका में इस विचार का प्रथम समर्थक एलैक्जेंडर ग्राहम (Alexander Graham) था। उसके बाद १९१० में डेवनपोर्ट (Davenport) ने कारनेगी इन्स्टीट्यूट के सहयोग से 'प्रजनन-शास्त्र का विभाग' (Department of Genetics) की स्थापना करवाई। इस विभाग में एक रिकार्ड-आफिस खोला गया जिसका काम भिन्न-भिन्न परिवारों के इतिहास इकट्ठा करना था जिससे यह परिणाम निकालने में सहायता मिल सके कि वंश-परंपरा का सन्तान के शरीर, आचार-विचार आदि के निर्माण में क्या हाथ रहता है। इसी सिलसिले में अमरीका में 'युजेनिक्स रिसर्च एसोसियेशन' (Eugenics Research Association) की स्थापना हुई जिसकी तरफ से 'युजैनिकल-न्यूज़' (Eugenical News) पत्र निकलता है। १९२६ में अमरीका में 'अमेरिकन युजेनिक्स सोसाइटी' (American Eugenics Society) बनी जिसका काम अमरीका में 'आव्रजन' (Immigration) के नियमोंपर आँख रखना था और है। इसका उद्देश्य यह है कि 'आव्रजन' के नियमों में कोई ऐसी ढिलाई न होने पाये जिससे अन्य रुधिर के लोग अमरीका में आ बसें और वहाँ की नस्ल को खराब कर दें। 'अमरीकन युजैनिक्स सोसाइटी' ने अमरीका में कई शाखाएँ खोल रखी हैं जिनका काम सुप्रजनन के विचारों को फैलाना है। इस सोसाइटी की तरह वहाँ और भी कई संस्थाएँ हैं। उदाहरणार्थ, मिचिगन में 'रेस बैटरमेंट फाउन्डेशन ऑफ बैटल क्रीक' है, कैलीफोर्निया में 'इन्स्टीट्यूट ऑफ फैमिली रिलेशन' तथा 'ह्यूमन बैटरमेंट फाउन्डेशन' हैं, शिकागो में 'युजैनिक्स एज्यूकेशन सोसाइटी' और न्यू यार्क में 'गाल्टन सोसाइटी' है। इन सब का काम सुप्रजनन की विचार-धारा को अमरीका में फैलाना है।

डेवनपोर्ट का कहना है कि अमरीका में ४२ संस्थाएँ ऐसी हैं जिनमें हीन-बुद्धि के लोग भर्ती हैं, ११५ स्कूल अंधों और बहरों के हैं, ३५० अस्पताल पागलों के हैं, १२०० शरणार्थी-गृह हैं, १३०० जेलखाने हैं, १५०० दूसरी तरह के अस्पताल हैं, २,५०० भिखमंगों को रखने के दान-गृह हैं। इनमें ३ लाख पागल तथा हीन-बुद्धि के व्यक्ति भरे हुए हैं, १ लाख ६० हज़ार अन्धे और बहरे हैं, २० लाख अपाहिज हैं जिनकी अस्पतालों में देख-रेख होती है, ८० हज़ार कैदी हैं और

लाखों अपराधी जेलखानो के बाहर हैं, १ लाख भिखमगे दान-गृहो में रखे जा रहे है। यह सब क्या है? हम इस सारी बीमारी को पालने के लिए १० करोड डालर प्रतिवर्ष खर्च कर रहे हैं। कैसर की गवेषणा के लिए लोग अपना जीवन लगा देते है, यह सब हमारे जातीय जीवन में क्या कैसर से कम है? असल बात यह है कि हम अपराध, बीमारी, नैतिक ह्रास के इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि इधर हमारा ध्यान ही नहीं जाता, हम इन्हें जरूरी बुराइयाँ समझने लगे है। ससार जब अन्धकार में था तब तो इन्हें जरूरी बुराइयां समझा जा सकता था, परन्तु आज इन्हें आवश्यक समझना मानव की बुद्धि का तिरस्कार करना है। ये १० करोड डालर इन बुराइयो को बढाने में काम आ रहे है, इसी धन को 'सन्तति-सुधार' पर व्यय किया जाय, तो आज का समाज इन बुराइयो में से निकल सकता है। हमें इन अस्पतालों, अपाहिज घरो में जाकर इन लोगो की वश-परपरा का, इनके परिवारों का अध्ययन करना चाहिए, इनसे अच्छी अनुसधानशाला और दूसरी कौन हो सकती है। अगर इन स्थानो को वशानुसक्रमण के अध्ययन की अनुसधान-शाला समझ कर इनका अध्ययन किया जाय, तो मनुष्य में लागू होने वाले वश-सबधी अनेक नियमो का पता लग सकता है, परन्तु इधर किसी का ध्यान नहीं जाता।

ग्रेट ब्रिटेन, तथा अमरीका की तरह जर्मनी, फ्रास, स्वीडन, इटली, चेकोस्लोवाकिया तथा रशिया में भी इसी तरह की सभा-सोसाइटियां है। एक 'इटरनेशनल फेडरेशन ऑफ युजेनिक आर्गिनाइजेशन' की भी स्थापना हो चुकी है जो अपने वार्षिक अधिवेशन करती रहती है। इनका एक पत्र भी निकलता है, जिसका नाम 'युजेनिकल न्यूज' (Eugenical News) है।

४. सुप्रजनन-शास्त्र का प्राणिशास्त्रीय आधार

'सुप्रजनन-शास्त्र' (Eugenics) का आधारभूत सिद्धान्त 'प्राणिशास्त्रीय' (Biological) है। प्राणी-शास्त्र की जिस विचार-धारा का 'सुप्रजननशास्त्र' पर प्रभाव पडा, उस पर प्रकाश डालना आवश्यक है। 'प्राणी-शास्त्र' की वह विचार-धारा क्या थी?

(क) लैमार्क के प्राणिशास्त्रीय-विचार—१८०९ में लैमार्क (Lamarck) ने यह प्रतिपादित किया कि प्रत्येक प्राणी अपनी आवश्यकता के अनुसार अपने को बदलने का प्रयत्न करता है। 'सीखना' क्या है? यह परिस्थिति के अनुसार अपने को बदल लेने का ही दूसरा नाम है। जो नहीं बदलते, वे जिन्दा नहीं रह सकते। इस प्रकार 'परिस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया' (Response to environment) करने से प्राणी जो-कुछ सीखता है, अपने में जो परिवर्तन कर लेता है, वे परिवर्तन सन्तति में चले जाते है, 'वशानुसक्रात' (Inherit) हो जाते हैं। जीराफ की गर्दन लम्बी क्यो है? शुरू-शुरू में उसकी गर्दन छोटी थी, परन्तु ऊँचे वृक्षों के पत्ते खाने के लिए अपनी गर्दन को वह ऊँचा करता होगा। उसकी सतति की गर्दन उससे कुछ लम्बी हुई। होते-होते कई सन्ततियों में जाकर गर्दन बहुत लम्बी हो गई। जितनी लम्बी होने की जरूरत थी, उतनी लम्बी होकर

[illegible] होती हैं। [illegible] इस प्रकार [illegible] (Acquired Characters) [illegible] हो जाते हैं। [illegible] (Darwin) [illegible] (Acquired Characters) [illegible] प्रभाव पड़ सकता है।

(ख) [illegible] यह विचार ठीक है कि [illegible] गुणों का [illegible] क्या हो सकता है? [illegible] वातावरण [illegible] हो सकता है कि [illegible] हो जाते हैं। [illegible] वातावरण और [illegible] विचार को [illegible] सिद्धान्त [illegible] निरन्तरता (Continuity of Germ-plasm) [illegible] कोष्ठ [illegible] निरन्तरता [illegible] कोषों (Cells) से बना हुआ है। [illegible] कोष्ठ (Somatic Cells) हैं। [illegible] कोष्ठ (Germinal Cells) हैं। [illegible] शरीर के [illegible] हैं। [illegible] कोष्ठ शरीर की रचना करते हैं [illegible]

वर्ष अपनी आयु भुगत कर मर जाते हैं, परन्तु इन नश्वर 'शारीर-कोष्ठों' ने व
शरीर के भीतर अविनश्वर 'उत्पादक-कोष्ठ' रहते हैं। 'शारीर-कोष्ठों' से व
शरीर का काम इन 'उत्पादक-कोष्ठों' की रक्षा करना, इन्हें सभाल कर रखना है
नर के 'उत्पादक-कोष्ठो' को 'वीर्य-कण' (Sperms) तथा मादा के 'उत्पादव
कोष्ठों' को 'रज कण' (Ova) कहते हैं। नर के 'उत्पादक-कोष्ठ'—'वीर्य-कण'—
उसके शरीर में से निकल कर मादा के गर्भाशय में प्रविष्ट होकर उसके 'उत्पादव
कोष्ठों'—'रज कण'—से मिल जाते हैं, और इसी प्रक्रिया से शिशु का जन
होता है। शिशु के शरीर में 'उत्पादक-कोष्ठ' अपने सदृश दूसरे 'उत्पादक-कोष्ठ
(Generative cells) को तो उत्पन्न करते ही हैं, किन्तु साथ-ही-साथ 'शारी
कोष्ठों' (Somatic cells) को भी उत्पन्न करते रहते हैं। 'उत्पादक-कोष्
तो 'उत्पादक' तथा 'शारीर' दोनो प्रकार के 'कोष्ठों' को उत्पन्न करते हैं, 'शारी
कोष्ठ' सिर्फ शरीर के रूप में विकसित होकर 'उत्पादक-कोष्ठों' की रक्षा का का
करते हैं। ये 'शारीर-कोष्ठ' शरीर के भिन्न-भिन्न अगो के रूप में विकसित होते ह
शरीर के आयु भोग लेने पर स्वय नष्ट हो जाते हैं, परन्तु 'उत्पादक-कोष्ठों' प
नष्ट नहीं होने देते। 'उत्पादक-कोष्ठों' का तत्व नष्ट होने के वजाय पिता से पु
पुत्र से पौत्र, और इसी प्रकार सन्तान-से-सन्तान में चलता चला जाता है। य
मानो हमें धरोहर में मिली सम्पत्ति है, हम इसे सुरक्षित रखते हैं। जिस प्रका
बैंक में रुपया सुरक्षित रहता है, इसी प्रकार यह मानो हमारे शरीर में जमा रहत
है। 'उत्पादक-कोष्ठों' के इसी तत्व के सन्तान-से-सन्तान में अविकल प्रवाह व
'उत्पादक-कोष्ठों के तत्व की निरन्तरता' (Continuity of germ plasm
कहा जाता है। इसी तत्व में अर्जित-गुण जमा रहते हैं, जो अच्छे हों, बुरे हों, मौव
मिलने पर सन्तान में प्रकट हो जाते हैं।

विजमैन का सिद्धान्त यहीं तक बस नहीं करता, यह सिद्धान्त और आ
बढता है। विजमैन का कहना है कि 'उत्पादक-कोष्ठ' (Generative cells
तथा 'उत्पादक-तत्व' (Germ plasm) में भेद है। 'उत्पादक-तत्व' वह 'तत्व'—
'पदार्थ'—है, जो 'उत्पादक-कोष्ठ' में रहता है। 'उत्पादक-कोष्ठों' (Generativ
cells) में विद्यमान यह 'उत्पादक-तत्व' (Germ plasm) ही पैत्रिक-गुणों
सन्तति में सक्रान्त होनेका प्राणिशास्त्रीय या भौतिक आधार है।

'उत्पादक-तत्व' से बने 'उत्पादक-कोष्ठ' (Generative cell) में ए
गांठ-सी होती है जिसे 'न्यूक्लियस' (Nucleus) कहते हैं। इस 'न्यूक्लियस'
भी छोटे-छोटे रेशे-से होते हैं, जिन्हें आसानी से गहरा रग (वर्ण) पकड सकने औ
रेशे (सूत्र) जैसा होने के कारण 'वर्ण-सूत्र', अर्थात् 'क्रोमोसोम्स' (Chromo
somes) कहते हैं। विजमैन का कथन था कि यही 'वर्ण-सूत्र'—'क्रोमोसोम्स'
पैत्रिक गुणो के 'वाहक' होते हैं। पीछे जाकर दूरवीक्षण-यन्त्र के अधिक उन्नत ह
जाने पर नये परीक्षणो से पता चला कि 'वर्ण-सूत्रों'—'क्रोमोसोम्स'—की रचना
अन्य छोटे-छोटे दानो से होती है जिन्हें 'वाहकाणु'—'जेनीज' (Genes) कहते हैं।

यही 'वाहकाणु' ऊँचाई, लम्बाई, गोरापन, कालापन, नीली आँख, भूरी आँख आदि भिन्न-भिन्न गुणों के वाहक (Carriers या Factors) होते हैं। एक 'वाहकाणु'—'जेनीज़'—में एक ही गुण रहता है, दो नहीं। मनुष्य के एक 'उत्पादक-कोष्ठ' (Generative cell) में २४ 'वर्ण-सूत्र'—'क्रोमोसोम्स'—होते हैं। स्त्री-पुरुष के संयोग होने पर २४ पुरुष तथा २४ स्त्री के कुल मिला कर ४८ 'वर्ण-सूत्र'—'क्रोमोसोम्स'—बनते हैं जिनसे सन्तान का जीवन प्रारंभ होता है। इन ४८ में से एक-एक 'वर्ण-सूत्र' में कई-सी 'वाहकाणु'—'जेनीज़'—होते हैं। 'प्रजाति' या 'नस्ल' इन 'वाहकाणुओं'—'जेनीज़'—द्वारा ही बनती है। अगर किसी में उच्च-गुणों के 'वाहकाणु'—'जेनीज़'—हैं, तो वह उच्च-गुणों वाला, और निम्न-गुणों के 'वाहकाणु'—'जेनीज़'—हैं, तो वह निम्न-गुणों वाला बनता है।

'सुप्रजनन-शास्त्र' (Eugenics) की समस्या यह है कि क्या इन 'वाहकाणुओं'—'जेनीज़'—में ऐसा परिवर्तन लाया जा सकता है जिससे इन पर अच्छे संस्कार पड़ जाँय और अच्छे गुणों की सन्तान उत्पन्न हो। 'जेनीज़' में परिवर्तन आता है—यह तो विकासवादी मानते हैं। 'जेनीज़' में परिवर्तन कैसे आता है? हम 'संसार की जीवित-प्रजातियों' के अध्याय में लिख आये हैं कि 'जेनीज़' में परिवर्तन के पाँच कारण हैं—'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection), 'आकस्मिक-परिवर्तन' (Mutation), 'पृथक्ता' (Isolation), 'अन्तर्यौन-संबंध' (Crossing) तथा 'वाहकाणुओं की आकस्मिक-हानि' (Accidental loss of Genes)। अगर इन कारणों से 'जेनीज़' में परिवर्तन आ सकता है, तो यह तो स्पष्ट है कि 'जेनीज़' में परिवर्तन किसी-न-किसी प्रकार आ ही सकता है। विजमैन के सिद्धान्त के आधार पर सुप्रजनन-वादियों का यही कहना है कि या तो अच्छे संस्कारों से जेनीज़ में परिवर्तन लाकर उत्तम सन्तान को उत्पन्न करना होगा, या और कुछ नहीं तो जो बुरे 'जेनीज़' के पुरुष-स्त्री हैं, उन्हें सन्तान उत्पन्न करने से रोकना होगा ताकि मानव-समाज में ये 'जेनीज़' बढ़ कर बुरी सन्तति को बढ़ाने में सहायक न बनें।

'जनन-विज्ञान' (Genetics) के अन्वेषकों के सामने एक प्रश्न यह था कि अगर 'जेनीज़' ही शारीरिक तथा मानसिक गुणों के वाहक हैं, और अगर हर-एक व्यक्ति में अच्छे तथा बुरे दोनों प्रकार के गुणों के 'जेनीज़' होते हैं, तो फिर क्या कारण है कि किसी सन्तान में बुरे 'जेनीज़' होने के बावजूद अच्छे गुण प्रकट हो जाते हैं, किसी में अच्छे 'जेनीज़' के बावजूद बुरे गुण प्रकट हो जाते हैं। इसका उत्तर विजमैन ने यह दिया कि 'जेनीज़' दो तरह के होते हैं—कुछ 'प्रभावक' (Dominant) तथा कुछ 'प्रभावित' (Recessive), कुछ प्रधान, कुछ गौण। जब कोई जेनीज़ प्रधान हो जाता है, तब वह 'प्रभावक' बन जाता है, दूसरे 'प्रभावित' बन जाते हैं। यह हो सकता है कि एक सन्तति में जो 'वाहकाणु'—'जेनीज़'—प्रधान है, अगली में वही गौण हो जाय, परन्तु उससे अगली चौथी, पांचवीं या दसवीं किसी भी सन्तति में यह फिर प्रधान हो जाय। जो 'वाहकाणु'—'जेनीज़'—प्रभावशाली

होगा वह सन्तति में प्रकट हो जायगा, जो प्रभावित होगा वह शरीर म रहता हुआ भी प्रकट नहीं होगा। 'सुप्रजनन-शास्त्र' की समस्या यही है कि किसी तरह बुरे 'जेनीज' को 'प्रभावक' न वनने दिया जाय, और अच्छे 'जेनीज' को 'प्रभावित' होने की स्थिति में न आने दिया जाय।

(ग) मेंडल के परीक्षग से विजमैन के विचरो की पुष्टि——मेंडल (Mendel) ने १८६५ में मटरो पर कुछ परीक्षण किये थे, परन्तु उस समय उसके परीक्षणो की तरफ किसी का ध्यान नहीं गया। मेंडल ने अपने परीक्षणो से वश-परपरा (Heredity) के जो नियम निर्धारित किये थे, वही नियम अचानक १९०० में फिर-से पता लगे। इस बार इन नियमो की तरफ और साथ ही मेंडल के परीक्षणो की तरफ भी 'जनन-विज्ञानियों' (Geneticists) का ध्यान वरबस आकृष्ट हुआ। मेंडल के इन नियमों से विजमैन के सिद्धान्तो की पुष्टि होती थी।

मेंडल का नियम क्या है? मेंडल ने वडे तथा छोटे मटरो पर 'प्रजनन' (Genetics) की दृष्टि से परीक्षण किये। उसने तीन साल तक लगातार परिश्रम करके ऐसे मटर के बीज तैयार किये, जो हर दृष्टि से शुद्ध कहे जा सकते थे, अर्थात् जिन्हें सकर नहीं कहा जा सकता था। ऐसे कुछ बीज शुद्ध वडे मटर के थे, कुछ शुद्ध छोटे मटर के थे। शुद्ध वडे का मतलब है—जिन बीजो को बोते जाय, और छोटे मटर के फूलो के ससर्ग में न आने दें, तो हर पैदावार में वडे-ही-वडे मटर पैदा हों, छोटा कोई न हो। इसी प्रकार शुद्ध छोटे का मतलब है कि उनके बीजों से जो बीज पैदा हों, हर पैदावार में वे छोटे ही मटर पैदा करें। इन शुद्ध वडो तथा शुद्ध छोटों को उसने एक क्यारी में बो दिया। अब जो पौधे उगे, उन से जो बीज बने, वे शुद्ध नहीं हो सकते थे, क्योंकि बडे तथा छोटे मटरो के पास-पास होने के कारण उनके फूलों में एक-दूसरे के पराग मिल जाते थे। मेंडल ने इस प्रकार वडे तथा छोटे मटरों के सयोग से उत्पन्न हुए मटर के बीजो से यह देखना चाहा कि उनकी वश-परपरा कैसे चलती है। इन सकर-मटरो की पहली पीढी में एक ही प्रकार के मटर के बीजों के कुछ बडे और कुछ छोटे मटर पैदा हुए। इस पहली पीढ़ी की अगली जो पीढी हुई, उसमें बडे मटरों के वडे ही मटर होते, और छोटे मटरों के छोटे ही मटर होते——ऐसा नहीं देखा गया। उनमें एक खास नियम काम कर रहा था। वह नियम यह था कि बडे मटरों के सकर हो जाने के बाद, जो पहली पीढ़ी हुई, उसमें २५ प्रतिशत तो 'शुद्ध-बडे' थे, अर्थात् ये २५ प्रतिशत, अपने से अगली पीढियो में बडे मटरों को ही पैदा करते थे, छोटो को नहीं, २५ प्रतिशत 'शुद्ध-छोटे' थे, अर्थात् ये २५ प्रतिशत, अपने से अगली पीढियो में छोटे मटरों को ही पैदा करते थे, बडों को नहीं, बाकी ५० प्रतिशत मटर 'सकर' अर्थात् 'मिश्रित' थे, अर्थात् स्वय वडे होते हुए भी अगली पीढियों में वडों को ही नहीं पैदा करते थे, परन्तु ऊपर के नियम के अनुसार ही वश-परम्परा चलाते थे, अर्थात् स्वय वडे होते हुए भी २५ प्रतिशत वडों, २५ प्रतिशत छोटों, और ५० प्रतिशत 'सकर' अर्थात् 'मिश्रित'-मटरों को उत्पन्न करते थे। मटरो में वडेपन के 'वाहकाणु'——'जेनीज'——'प्रभावक'

(Dominant) बन गये, छोटेपन के 'प्रभावित' (Recessive) बन गये, तो यह नियम चल पडा, इससे उल्टा हो गया, तो उल्टा नियम चल पड़ा।

ये परीक्षण मटरो पर किये गये थे, मनुष्यों पर नहीं, परन्तु इन परीक्षणो से विज़मैन का यह सिद्धान्त पुष्ट हो गया कि कोई ऐसा तत्व है जो पीढी-दर-पीढी निरन्तर चलता चला जाता है, जिसे विज़मैन ने 'उत्पादक-तत्व की निरन्तरता' (Continuity of germ-plasm) का नाम दिया था। तभी तो यह सभव है कि बड़े मटर भी छोटे मटरों को पैदा कर देते हैं, इसलिए कर देते हैं क्योंकि उनमें बडे होने पर भी छोटे मटर का उत्पादक-तत्व मौजूद रहता है। इन परीक्षणों से यह भी स्पष्ट हो गया कि कभी-कभी लम्बे माता-पिता की बौनी, और बौने माता-पिता को लम्बी, भूरी आंख वालो की नीली आंख तथा नीली आंख वालों की भूरी आंख वाली सन्तान क्यों हो जाती है। इन सब बातों का आधार 'उत्पादक-तत्व की निरन्तरता' है, इस निरन्तरता में पूर्वजों के 'वाहकाणु'--'जेनीज़'—मौजूद होते हैं, और ये 'जेनीज़' अगर प्रभावक हो जाते हैं, तो माता-पिता के छोटे होने पर भी बडी सन्तान को पैदा कर देते हैं और हम आश्चर्य करने लगते हैं कि ठिगने माता-पिता की लम्बी सन्तान कैसे हो गई।

'प्रजनन-शास्त्रियों' (Geneticists) का कहना है कि जैसे शुद्ध बड़े मटरों की पैदावार शुद्ध बडे मटर होती है, वैसे ही अगर माता-पिता दोनों नीली आंखों के है तो उनकी सन्तान भी शुद्ध नीली आंखों की होगी। अगर माता-पिता में एक नीली और दूसरा काली आंख का है, तो जो नियम मटरो पर लागू होता है, वही नियम नीली आंख पर लागू होगा। इसी बात को 'प्रजाति-सुप्रजनन शास्त्री' (Eugenists) अपने क्षेत्र में घटाते है। वे कहते है कि अगर माता-पिता दोनो हीन-बुद्धि है, तो सन्तान का विशुद्ध तौर पर हीन-बुद्धि होना लाज़मी है। डा० हैनरी गौडार्ड (Henry Goddard) ने ४८२ परिवारों का अध्ययन किया जिनमें माता-पिता दोनो हीन-बुद्धि थे। इन सब परिवारों की सन्तानें हीन-बुद्धि थीं, सिर्फ ६ हीन-बुद्धि नहीं थीं, जिसका कोई अन्य कारण हो सकता है। मेंडल के नियम की तरफ पहले-पहल सुप्रजनन-शास्त्रियों का ध्यान १९०० में गया। उससे पहले मनुष्य के विषय में गाल्टन का नियम माना जाता था। गाल्टन का मनुष्य के वशानुसक्रमण के विषय में नियम क्या था ? गाल्टन का कहना था कि सन्तान में माता-पिता से जो गुण आते है, वे सन्तान के 'सपूर्ण वशानु-सक्रमण' (Total heritage) का आधा हिस्सा होते हैं। बाकी आधा हिस्सा रह गया। इस सन्तान के, जिसका हम वर्णन कर रहे है, पिता के माता-पिता तथा माता के माता-पिता—इस प्रकार दादा-दादी, नाना-नानी ये ४ पूर्वज हुए। इस बचे हुए आधे हिस्से में चौथाई हिस्सा इन चारों का मिल कर आता है। अब इस आधे में तीन-चौथाई हिस्सा बच रहा। दादा-दादी, नाना-नानी के माता-पिता की सख्या आठ होगी। इस आधे हिस्से के बचे हुए तीन-चौथाई में $\frac{1}{8}$ हिस्सा परदादा-परदादी आदि इन ८ का आता है। इस प्रकार एक सन्तान में ऊपर के पूर्वजो का

थोडा-थोडा हिस्सा आता चला जाता है। मेंडल के मटरो पर के नियम परीक्षणो पर आश्रित थे, गाल्टन के मनुष्यो के सबध में निकाले गये नियम अटकल पर आश्रित थे, परन्तु मटरो पर किये गये परीक्षणो ने गाल्टन की इस बात की सत्यता को प्रमाणित कर दिया कि एक सन्तति का कुछ स्थिर प्राणि-शास्त्रीय तथा भौतिक तत्व आगे-आगे सन्तति में निरन्तर रूप में चलता चला जाता है, नष्ट नहीं होता मेंडल ने मटरो में तथा गाल्टन ने मनुष्यो में यह बतलाने का प्रयत्न किया कि गणित की दृष्टि से आगे जानेवाला अश कितना होता है।

५ 'सुप्रजनन-शास्त्र' के अध्ययन में कठिनाइया

हमने 'सुप्रजनन-शास्त्र' के विषय में बहुत-कुछ लिख दिया, परन्तु इसकी आधारभूत समस्या क्या है? इसकी आधारभूत समस्या यह है कि हम 'वाहकाणुओं'——'जेनीज़'——में परिवर्तन कैसे करें ताकि अगली सन्तति उच्च गुणो को लेकर पैदा हो। इस सबध में इस शास्त्र के पास कोई उत्तर नहीं। असल में अबतक सन्तति सुधार के जो परीक्षण हुए हैं वे सब वृक्ष-वनस्पतियों या पशु-पक्षियों पर हुए हैं घोडों की नस्लें उन्नत की गई हैं, गायों की नस्ल सुधारी गई है, मनुष्य की नस्ल सुधारने की बातें तो बहुत ही की गई हैं, परन्तु इस तरफ कोई क्रियात्मक कदम नहीं उठाया जा सका। इस सबध में जो-कुछ कहा गया है वह कल्पना पर ही आश्रित है। इसका एक कारण है। वनस्पतियो तथा प्राणियो पर किये गये परीक्षणो से वश-परपरा के जो नियम सिद्ध होते हैं, उन्हीं के मनुष्यो पर लागू होने की कल्पना तो की जा सकती है, मनुष्यों पर उन परीक्षणो को किया नहीं जा सकता परीक्षण करने के लिए जिस पर परीक्षण किया जाय, उसको परीक्षणकर्ता अपने सामने रख कर, उसकी हर बात को नियन्त्रित कर के, जैसे अनुसधान-शाला में परीक्षण किये जाते हैं, वैसे परीक्षण करे तभी कोई नतीजा निकल सकता है यह बात मटरों, मक्खियों, घोडों, बैलो पर तो हो सकती है, मनुष्यों पर कैसे हो सकती है? मक्खियों आदि की तो कई-कई पीढियाँ हमारे सामने से गुजर जाती हैं और हर पीढ़ी में क्या परिवर्तन आया इसका हम अध्ययन कर सकते हैं। मनुष्य में पहले तो उनको अनुसधानशाला के-से नियन्त्रण में रखना कठिन है, फिर जो परीक्षण करने वाला है और जिस पर परीक्षण किया जाना है, दोनों की आयु एक समान होने से कोई किसी पर परीक्षण कर नहीं सकता, करे तो उसके परिणामों को देखने के लिए आगे बना नहीं रह सकता।

६ सुप्रजनन के दो उपाय——विधेयक तथा निषेधक

सुप्रजनन-शास्त्र का कहना है कि ससार की नस्लो में कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जिनमें अच्छे गुण हैं, कुछ ऐसे है जिनमें बुरे गुण है। प्रतिभाशाली होना अच्छा गुण है, बुद्धि-हीन होना बुरा गुण है, स्वस्थ होना अच्छा गुण है, रुग्ण होना बुरा गुण है, ईमानदार तथा सच्चा होना अच्छा गुण है, बेईमान तथा झूठा होना बुरा

गुण है। हमें अच्छे गुणों वाले व्यक्तियो की उत्पादन की दर बढानी होगी, बुरे गुणों वाले व्यक्तियों की उत्पादन की दर घटानी होगी। अच्छे गुणों वाले व्यक्तियों की उत्पादन की दर बढाने के उपाय 'विधेयक-उपाय' (Positive methods) तथा बुरे गुणों वाले व्यक्तियों की उत्पादन की दर घटाने के उपाय 'निषेधक उपाय (Negative methods) कहाते हैं। ये 'विधेयक' तथा 'निषेधक' उपाय क्या हैं ? हम इन दोनों पर क्रमश विचार करेंगे—

(क) विधेयक-उपाय—सुप्रजनन-शास्त्र का कहना यह है कि अच्छे गुणों वाले स्त्री-पुरुष को ही सन्तान उत्पन्न करनी चाहिए, इससे समाज को उत्तम नागरिक मिलेंगे। प्राय देखा गया है कि अच्छे लोगों की कम सन्तान होती है, बुरे लोगों की ज्यादा सन्तान होती है। इसका नतीजा यह होता है कि हमारे समाज में ज्यादातर भर्ती नीचे के स्तर के लोगों से होती है और इसलिए समाज दिनोदिन क्षीण होता जाता है, बुरे लोग बढते जाते हैं। अच्छे, प्रतिभाशाली, सद्गुणो के व्यक्ति या तो विवाह कम करते हैं, या उनकी सन्तानें कम होती हैं। इसका प्रतिकार करने के लिए स्वस्थ, सदाचारी, प्रतिभाशाली व्यक्तियों को राज्य की तरफ से विवाह करने तथा ज्यादा सन्तान उत्पन्न करने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए, अगर उनकी आर्थिक-स्थिति अच्छी न हो तो उनको आर्थिक-सहायता भी राज्य की तरफ से दी जानी चाहिए। इससे ज्यादा विधेयक-उपायों के विषय में अभी तक सुप्रजनन-शास्त्र में कुछ नहीं सोचा जा सका।

(ख) निषेधक-उपाय—सुप्रजनन-शास्त्रियों का मुख्य काम निषेधक-उपायों पर बल देना है। इनका कहना है कि अगर रोगी, अपराधी, अपाहिज, पागल, हीन-बुद्धि व्यक्ति सन्तानोत्पत्ति नहीं करेंगे, तो अगली सन्तति में ऐसे व्यक्तियों की सख्या अपने-आप कम हो जायगी। अगर हम विधेयक उपायो से आगामी सन्तति को उन्नत नहीं कर सकते, तो कम-से-कम अयोग्य व्यक्तियों को सन्तान उत्पन्न करने से रोक तो सकते है। यह तो माना हुआ सिद्धान्त है कि अगर स्त्री-पुरुष दोनों के 'वाहकाणु'—'जेनीज'—दूषित हैं, तो उनकी सन्तान निश्चित रूप से दूषित पैदा होगी। फिर ऐसों को सन्तान उत्पन्न करने से रोका क्यो न जाय ? अच्छे माता-पिता के सन्तान उत्पन्न करने पर भी दूषित-सन्तान पैदा हो सकती है। इसके दो कारण हो सकते हैं। या तो किसी के 'वाहकाणुओं'—'जेनीज'—में 'आकस्मिक-परिवर्तन' (Mutation) हो जाय जैसा विकास की प्रक्रिया में होता रहता है। इसकी बहुत कम सभावना है। दूसरा कारण यह हो सकता है कि सन्तान उत्पन्न करने वाले माता-पिता तो अच्छे गुणो के हैं परन्तु उनके 'वाहकाणुओं'—'जेनीज'—में पहले के किसी हीन-पूर्वज के 'वाहकाणु'—'जनीज'—प्रसुप्त रूप में चले आ रहे हैं, आगे जाकर किसी सन्तति में वे 'प्रभावक' (Dominant) का रूप धारण कर गये हैं। ऐसी अवस्था को रोकने के लिए यही किया जा सकता है कि ऐसे व्यक्ति को विवाह करने से रोक दिया जाय। इस प्रकार मानव-समाज छँटते-छँटते ऐसी हालत में पहुँच जायगा जब 'दूषित-वाहकाणु'

मानव-समाज से छँट कर समाप्त हो जायेंगे, और अच्छी सन्तति ही मानव-समाज को अग्रसर करेगी।

सुप्रजनन-शास्त्रियो का यह विचार अव्यावहारिक है। करोडो-अरबों वर्षों से यह मानव-समाज चला आ रहा है। एक-एक स्त्री-पुरुष में न-जाने कितने 'वाहकाणु'—'जेनीज'— होते हैं। इनसे न-जाने कितने व्यक्ति पैदा हो चुके हैं इन 'वाहकाणुओं'—'जेनीज'— से एक व्यक्ति के पैदा होकर मनुष्य बनने में सालों लगते हैं। इन सब को छांटना कहां तक सभव है? जिस व्यक्ति को हम स्वस्थ ईमानदार, प्रतिभाशाली समझ कर उसको विवाह की अनुमति देते हैं, न-जाने उसमें ही कितने दूषित 'वाहकाणु'—'जेनीज'—छिपे हैं, प्रसुप्त हैं, और न-जाने कब, किस सन्तान में वे प्रसुप्त की जगह प्रभावक रूप धारण कर लें और हमारे साफ किये हुए तालाव को फिर से इतना गदा कर दें कि वह कितना साफ किये जाने पर भी साफ न हो सके।

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि सुप्रजनन-शास्त्रियो की बात सर्वथा त्याज्य है। इसमें शक नहीं कि इस दिशा में प्रयत्न होना चाहिए, उससे समाज को लाभ भी बहुत होगा, कोढी-अपाहिजों से तो कोढी और अपाहिज ही पैदा होंगे। इस दृष्टि से सुप्रजनन-शास्त्रियो ने जो निषेधक-उपाय सोचे हैं, वे निम्न हैं —

(1) जो आदतन अपराधी मनोवृत्ति के लोग हैं, उन्हें सन्तानोत्पत्ति से रोक दिया जाय। यह ठीक है कि सन्तानोत्पत्ति से रोकना तथा विषय-वासना से रोकना—ये दो पृथक्-पृथक् बातें हैं। विषय-वासना मनुष्य की सहज-प्रवृत्ति है, इसका असर समाज पर सन्तति के रूप में न हो, इसके लिए सुप्रजनन-शास्त्री 'निर्बीजीकरण' (Sterilization) का उपाय बतलाते हैं। ऐसे व्यक्तियों का ऐसा ऑपरेशन कर देना चाहिए जिससे उनकी सन्तान ही न हो सके। अमरीका में अनेक राज्यों में ऐसे विधान बने हुए हैं जिनमें खास-खास तरह के व्यक्ति सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकते, उनका ऑपरेशन कर दिया जाता है। कैलीफोर्निया में इस तरह के ५ हजार ऑपरेशन हो चुके हैं, और इससे भी अधिक अब तक हो चुके होंगे। इन ऑपरेशनों का परिणाम यह होता है कि स्त्री-पुरुष विषय-वासना को पूरा करने के बावजूद सन्तानोत्पत्ति करने के लिये असमर्थ हो जाते हैं।

(ii) इसी प्रकार पागल, हीन-बुद्धि, सक्रामक रोगो से पीडित व्यक्तियो को भी सन्तानोत्पत्ति की आज्ञा नहीं होनी चाहिए। इनको या तो 'निर्बीज' कर देना चाहिए, या इन्हें समाज से ही पृथक् कर देना चाहिए। 'पृथक्करण' (Isolation) से भी समाज इन लोगों के सपर्क में आने से बचा रह सकता है।

(iii) विवाह से पहले हर स्त्री-पुरुष को अपना डाक्टरी मुआइना कराना चाहिए। इस मुआइने का मुख्य उद्देश्य इस बात का पता लगाना होना चाहिए कि जो स्त्री-पुरुष विवाह करके सन्तान उत्पन्न करने जा रहे हैं, वे सब तरह से स्वस्थ हैं या नहीं। डाक्टरी सर्टिफिकेट के बिना किसी को विवाह कर के सन्तान उत्पन्न करने की छूट नहीं होनी चाहिए।

७ सुप्रजनन के विचार के प्रति प्रतिक्रिया

सुप्रजनन का विचार प्रत्येक देश तथा जाति के भले के लिये है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु साथ ही इस विचार के प्रति विचारको में प्रतिक्रिया भी है। इस प्रतिक्रिया के मुख्य दो कारण हैं, जिनकी हम यहाँ चर्चा करेंगे -

(क) सुप्रजनन-शास्त्र तथा प्रजातिवाद—सुप्रजनन के विचार से 'प्रजातिवाद' (Racism) को विशेष वल मिल गया है। प्रजातिवाद का विचार ससार में सब से वडा जहर है। इसने देश को देश से, जाति को जाति से, मनुष्य को मनुष्य से लडाया है। हर देश, हर जाति यह समझती है कि उसी का रक्त ससार में सब से अच्छा है। हिटलर का विचार था कि नौर्डिक-नस्ल के लोगों के रक्त में ही उच्च गुण हैं। यही गुण संसार में जीवन-सघर्ष में टिक सकते हैं। इसी विचार के आवेश में उसने ससार पर एकमात्र प्रभुत्व स्थापित करना चाहा और रक्तपात की नदियाँ वहा दीं, यहूदियों को मृत्यु के घाट उतार दिया। आज भी अमरीका जैसे प्रगतिगामी देश में 'आव्रजन-निर्व्रजन' (Immigration-Emigration) के ऐसे कानून वने हुए हैं जो 'प्रजातिवाद' पर आश्रित हैं, और जो इस वात पर आश्रित हैं कि वे अपनी नस्ल को उच्च-गुणों का समझते हैं। आफ्रीका में 'रग-भेद-नीति' चल रही है। आफ्रीका के अंग्रेज भी अपने को एशियावासियो से नस्ल की दृष्टि से ऊँचे स्तर का समझते हैं। 'सुप्रजनन-शास्त्र' (Eugenics) को जब तक 'प्रजातिवाद' (Racism) से अलग नहीं किया जायगा, तव तक इसके प्रति लोगों की भावना ठीक नहीं हो सकती। अपराधी तो अपराधी है, रोगी तो रोगी है, चाहे वह नीग्रो नस्ल का हो, चाहे नौर्डिक नस्ल का हो। नीग्रो या नौर्डिक नस्ल दोनों प्रकार के अपराधियों को सन्तान उत्पन्न करने से रोकना और नीग्रो तथा नौर्डिक नस्ल दोनो प्रकार के प्रतिभाशाली व्यक्तियो को सन्तान उत्पन्न करने के लिए प्रोत्साहित करना ही वास्तविक तथा शुद्ध सुप्रजनन-शास्त्र की दृष्टि है।

(ख) 'वशानुसंक्रमण' तथा 'पर्यावरणवाद'—'सुप्रजनन-शास्त्र' का मुख्य आधार 'वशानुसक्रमण' (Heredity) का सिद्धान्त है। 'वशानुसंक्रमण' का सिद्धान्त इस वात पर वल देता है कि सन्तान में जो गुण आते हैं, सव माता-पिता से आते हैं। 'सुप्रजनन-शास्त्र' इस वात को आधार वनाकर चलता है। परन्तु 'पर्यावरणवादी' (Environmentalists) इस वात को नहीं मानते। उनका कहना है कि माता-पिता का सन्तान को वनाने में उतना हाथ नहीं है जितना 'पर्यावरण' का है। अपनी वात को सिद्ध करने के लिए उन्होने कई प्रकार के परीक्षण किये हैं। ये परीक्षण दो तरह के हैं। एक परीक्षण तो ऐसे हैं जिनमें 'वशानुसक्रमण' (Heredity) तो एक ही हैं, परन्तु 'पर्यावरण' (Environment) वदल गया है, दूसरे परीक्षण ऐसे हैं जिनमें 'पर्यावरण' एक ही है, 'वशानुसक्रमण' वदला हुआ है। इस प्रकार के परीक्षणो को 'वशोकुल-परीक्षण' (Con-

trolled experiments) कहा जाता है। 'वशीकृत' इसलिए क्योंकि इनमें 'वशानुसक्रमण' या 'पर्यावरण' में से एक चीज हमारे वश में, हमारे हाथ में होती है। एक ही परिस्थिति में जुडवाँ (यमज) वच्चो का, तथा भिन्न-भिन्न वश के वच्चों का एक ही परिस्थिति में अध्ययन उक्त दोनो प्रकार के परीक्षणो के दृष्टात है। एक ही परिस्थिति में जुडवाँ (यमज) वच्चों का अध्ययन करने से यह परिणाम निकाला गया कि यद्यपि उनका मूल-भूत 'वशानुसक्रमण' एक ही था, तो भी भिन्न-भिन्न सामाजिक परिस्थितियों में रहने के कारण उनका स्वभाव भिन्न-भिन्न हो गया। इसी प्रकार जव भिन्न-भिन्न वशों, भिन्न-भिन्न घरानों के वच्चो को जिनका 'वशानुसक्रमण' अलग-अलग था, एक-सी परिस्थिति में रखा गया तो वे एक-से वने। इस प्रकार के परीक्षणों से 'पर्यावरणवादियो' (Environmentalists) का कहना है कि सन्तति पर प्रभाव डालने वाली असली चीज समाज है, पर्यावरण है, कर्म है, जन्म नहीं, वश, घराना या 'जेनीज' नहीं।

'वशानुसक्रमण' तथा 'पर्यावरण'—इन दोनो सिद्धान्तो का आपस का झगडा वहुत पुराना है। हमने अपनी पुस्तक 'समाजशास्त्र के मूल-तत्व' में 'वशानुसक्रमण' के अध्याय में इस विषय की विस्तार से चर्चा की है। असल में, वातें तो दोनों ठीक है, 'वशानुसक्रमण' का भी असर होता है, 'पर्यावरण' का भी असर होता है, झगडा तभी खडा हो जाता है जब विचारक लोग अपने पक्ष को लेकर इतना आगे वढ़ने लगते हैं कि दूसरे पक्ष को निरर्थक सावित कर देते हैं। क्रियात्मक दृष्टि से देखा जाय तो दोनों पक्षों के सम्मिश्रण में ही सत्य निहित है।

१५

संस्कृति-संवर्धन के भिन्न-भिन्न सिद्धान्त—विकासवाद, प्रसारवाद तथा संस्कृति-संस्करणवाद

(THEORIES OF CULTURE-GROWTH—EVOLUTIONALISM, DIFFUSIONISM, ACCULTURATION)

हम पिछले अध्यायो में भिन्न-भिन्न नस्लों अर्थात् 'प्रजातियों' (Races) तथा 'जन-जातियों' (Tribes) के संबध में लिख आये हैं। इन नस्लों की अपनी-अपनी सस्कृतियां हैं। मानव-शास्त्री इन नस्लो, इन प्रजातियो, इन जन-जातियों के अध्ययन के साथ-साथ इनकी सस्कृतियों का भी अध्ययन करते हैं। प्रागैतिहासिक नस्लों की सस्कृतियों की रूप-रेखा उनके उपकरणों के आधार पर बनाई जाती है, और जीवित नस्लों की सस्कृतियो का उनके बीच में जाकर अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार आजकल की जीवित जगली प्रजातियों की सस्कृति के अध्ययन को 'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' (Cultural Anthropology) कहा जाता है।

१. 'सांस्कृतिक-मानवशास्त्र' की कठिनाइयां

'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' अभी अपने शैशव-काल में है। इसके अध्ययन में कई प्रकार की कठिनाइयो का सामना करना पड रहा है। उदाहरणार्थ, (१) इस शास्त्र का अध्ययन अभी तक युरोपियन लोगों के ही हाथ में रहा है। उन्हीं के पास इतना धन तथा इतने साधन हैं कि वे जंगली प्रजातियो में जाकर सालों रह सकें और उनके जीवन का अध्ययन कर सकें। वे अपने को अन्य प्रजातियों से इतना ऊँचा समझते हैं कि जब वे इन जगली प्रजातियों में जाते हैं, उनकी हर बात को पहले से ही जगली बात समझने की कोशिश करते हैं। वे यह सोच ही नहीं सकते कि जगली प्रजातियों में भी कोई ऊँची बात हो सकती है। इस कारण इनके परिणाम बहुत-कुछ पक्षपातपूर्ण होते हैं, (२) जो लोग जंगली प्रजातियों का अध्ययन करते हैं, उनके पास कुछ साधन होते भी हैं, तो इतने नहीं होते कि वे देर तक इस अध्ययन को जारी रख सकें, (३) जो लोग कुछ समय इस अध्ययन में बिताना चाहते हैं, उनको यह भरोसा नहीं होता कि इस प्रकार अपने जीवन का बहुत-सा भाग इस अध्ययन में बिताने के बाद उन्हें कुछ ऐसा काम मिल जायगा जिससे इस अध्ययन को वे जीविका-निर्वाह में सहायक बना सकें, (४) जो इस प्रकार का अध्ययन करना चाहते भी हैं, उनके लिए जगली प्रजातियों की भाषा का न जानना भी इस अध्ययन में बाधक हो जाता है,

(५) जगली प्रजातियो में भी उनके बीच उनके रीति-रिवाजो की पडताल करने वालो के प्रति अविश्वास की भावना है, वे समझते है कि किसी मतलब से ये हमारे बीच आये हैं—यह विचार भी इस अध्ययन में रुकावट बन जाता है, (६) रशिया तथा अमरीका को छोड कर हमारे पास ऐसे प्रशिक्षित व्यक्ति भी नहीं हैं, जो इस प्रकार का अध्ययन करने में निपुण हो, (७) जगली प्रजातियो की सस्कृति का युरोपियनो ने अनेक स्थानो में सर्वनाश भी कर दिया है। इन सब कठिनाइयो से 'सास्कृतिक मानवशास्त्र' के अध्ययन में वह प्रगति नहीं हो रही जो होनी चाहिए, फिर भी इस दिशा में मानवशास्त्रियो ने बहुत-कुछ सोचा-विचारा और किया है।

२ 'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' तथा 'भौतिक-विज्ञानो' की पद्धति में भेद

'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' के विद्यार्थी का कार्य-क्षेत्र जगली प्रजातियाँ है जिनमें जाकर उसे उनकी सस्कृति के हर पहलू का ठीक-ठीक निरीक्षण करना होता है। उनमें हर आयु के लोग होते हैं, स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, भिन्न-भिन्न स्वभावों के लोग होते हैं, उनके अपने-अपने ख्याल होते हैं। 'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' के विद्यार्थी को मनुष्य से वास्ता पडता है, जिसकी किसी भी बात को हम निश्चित नहीं समझ सकते। भौतिक तथा प्राणिशास्त्रीय विज्ञानो में यह बात नही है। भौतिक तथा प्राणिशास्त्रीय विज्ञानो में किसी व्यक्ति की आयु का, उसके स्वभाव का, उसके ख्यालात का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अगर हमने पृथ्वी की गुरुत्व-शक्ति का अध्ययन करना है, तो यह तो प्रश्न साथ ही हल नहीं करना पडता कि पृथ्वी पुरुष है या स्त्री। अगर हमने प्राणीशास्त्र में आँख की रचना का अध्ययन करना है, तो भी ऐसी कोई बात सामने नहीं आती। इसके विपरीत भिन्न-भिन्न प्रजातियो की सस्कृति का अध्ययन करते हुए तो अगर उन-उन प्रजातियों के लोग हमें अपने रीति-रिवाजो का अध्ययन न करने देना चाहें, तो हम एक कदम भी आगे नहीं बढ सकते। 'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' के अध्ययन में हमें इन प्रजातियों की सहानुभूति अपनी तरफ खेंचनी पडती है, इनसे मित्रता का सबध स्थापित करना पडता है, इनके साथ एकात्मता स्थापित करनी पडती है, और वह भी बीच में ही किसी कारण से टूट जाय, तो सारा ताना-बाना टूट जाता है। इससे स्पष्ट है कि 'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' तथा 'भौतिक' एव 'प्राणिशास्त्रीय' विज्ञानों में हमारे अध्ययन की जो सामग्री है, उसमें आधारभूत ऐसा भेद है जिसके कारण 'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' का अध्ययन बहुत कठिन तथा जटिल हो जाता है।

इसके अतिरिक्त 'भौतिक-विज्ञान' तथा 'प्राणीशास्त्र' में लाखो, करोडों तथा अरबो की सख्या में एक-से तत्व होते हैं, उन सब में एक ही नियम काम करते हैं, इसलिए इन विज्ञानो के नतीजे 'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' से भिन्न होते हैं उदाहरणार्थ, भौतिक-विज्ञान के अरबो-खरबो और अनन्त परमाणुओ में एक ही नियम काम कर रहा है, प्राणीशास्त्र के जीवन-कोष्ठ भी असख्य हैं, उनमें भी जो नियम एक जीवन-कोष्ठ में काम कर रहा है, वही नियम दूसरे जीवन-कोष्ठ

में काम कर रहा है। 'मानव-शास्त्र' में ऐसा नहीं है। पहले तो मानव-शास्त्र में प्रजातियों की सख्या भौतिक-विज्ञान तथा प्राणीशास्त्र के परमाणुओ तथा जीवन-कोष्ठों की तरह अनन्त नहीं है। कुछ इनी-गिनी प्रजातियाँ हैं। उनमें भी जैसे परमाणुओ तथा जीवन-कोष्ठों में एक ही-से नियम काम करते हैं, वैसे इन प्रजातियों में एक-से नियम काम नहीं करते। किसी प्रजाति में मनुष्य को मारना बुरा है, तो आसाम की नागा प्रजातियो में किसी का सिर काट लाना वहादुरी का निशान है। सव प्रजातियो के रीति-रिवाज, रहन-सहन के तरीके अलग-अलग हैं, उनकी शासन-व्यवस्था अलग-अलग है। 'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' अन्य विज्ञानो की तरह गणित के-से फार्मूले नहीं दे सकता, नपी-तुली, गिनी-गिनाई बातें नहीं कर सकता, विलकुल निश्चित नियम नहीं वतला सकता, परन्तु इस सव के बावजूद संस्कृतियों के उत्थान-पतन, उनके प्रादुर्भाव, सवर्धन आदि के विषय में कुछ ऐसी बातें जरूर वतला सकता है जिनसे इस शास्त्र को शास्त्र का नाम दिया जा सके।

'सांस्कृतिक-मानवशास्त्र' के विद्यार्थी को इस शास्त्र के क्रियात्मक रूप के ज्ञान के लिए किसी जंगली जाति में जाकर बैठना होगा। उस जाति के रोजमर्रा के काम के क्या-क्या उपकरण हैं—इसका अध्ययन करना होगा। उनकी भाषा का भी कुछ ज्ञान उपलब्ध करना होगा। भाषा का ज्ञान न प्राप्त कर सके, तो उनके किसी व्यक्ति से घनिष्ठ सबध स्थापित करना होगा जो अपने लोगों की सव बातें उसे समझा सके। इतने से ही काम नहीं चलता, इसलिए उनके साथ घुल-मिलकर ही उनकी सस्कृति की भीतर से झाँकी मिल सकती है। जो लोग अपनी सस्कृति के विषय में कुछ न वताना चाहें, उनसे भी अगर उत्सुकतापूर्वक उनके उपकरणो आदि के सबध में पूछा जाय, तुम झोपडी कैसे बनाते हो, तुम शिकार को कैसे पकडते हो, तो अपनी डींग हाँकने के लिए वे सव-कुछ वताने लगते हैं। मनुष्य का स्वभाव है, उसे वढाओ तो वह सव उगलने लगता है। यह पद्धति है जो 'भौतिक-विज्ञानों' या 'प्राणीशास्त्र' में तो नहीं, परन्तु 'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' में काम आती है। अव हमें यह देखना है कि किसी सस्कृति का अध्ययन करते हुए हमें सस्कृति के किन तत्वों पर, किन गुणो पर ध्यान देना होगा।

३ सांस्कृतिक-मानवशास्त्र के गुण अथवा तत्व
(Attributes of Cultural Anthropology)

जैसे 'रसायन-शास्त्र' के अध्ययन के लिए अणु, परमाणु आदि भिन्न-भिन्न गुणो, तत्वो का जानना आवश्यक है, वैसे 'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' के अध्ययन के लिए भी कुछ आधारभूत गुणों, तत्वों का जानना आवश्यक है। 'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' में ग्राम, समुदाय, समूह आदि अनेक शब्दो का प्रयोग होता है। इन शब्दो का इस शास्त्र में अपना-अपना अर्थ है। सस्कृति के सबध में जब हम विचार करते हैं, तब जिन महत्वपूर्ण शब्दो का हम प्रयोग करते हैं, उनमें से कुछ पर प्रकाश डालना आवश्यक है क्योंकि ये शब्द ही सास्कृतिक-मानवशास्त्र के गुण हैं। वे शब्द हैं —

(१) 'सास्कृतिक-विशिष्ट-गुण' (Culture Traits or Elements)
(२) 'सस्कृति-सकुल' (Culture Complex)
(३) 'सस्कृति-प्रतिमान' (Culture Pattern)
(४) 'सास्कृतिक-विषय' (Culture Themes or Elementary Ideas)
(५) 'जीवन का प्रकार' (Style of Life)
(६) 'सास्कृतिक-क्षेत्र' (Culture Areas)
(७) 'प्रकट' तथा 'अप्रकट' सास्कृतिक तत्व (Explicit and Implicit Culture Elements)
(८) 'सस्कृति' तथा 'सभ्यता' (Culture and Civilization)
(९) 'सास्कृतिक भाग्यनिर्णयवाद' (Cultural Determinism)
(१०) 'सस्कृति' तथा 'व्यक्ति' (Culture and the Individual)

हम अपने विषय में आगे बढ़ने से पहले इन दसों पर सक्षेप में प्रकाश डालेंगे ताकि 'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' को ठीक-से समझा जा सके।

(१) सास्कृतिक-विशिष्ट-गुण (Culture Traits or Culture Elements)—'सस्कृति' मनुष्य के रहने के एक प्रकार का, एक तरीके (Way of Life) का नाम है। किसी के रहने का प्रकार किसी एक तरह का होता है, किसी का किसी दूसरी तरह का। मनुष्यों अथवा मानव-समूहों के जीवन के इन भिन्न-भिन्न प्रकारों को, भिन्न-भिन्न तरीको को उनकी 'सस्कृति' कहते है। इन प्रकारों, इन तरीकों को हम स्पष्ट रूप में समझना चाहें, तो हम क्या कहेंगे ? इन सस्कृतियों के अपने-अपने उपकरण हैं, अपनी-अपनी भाषा है, धर्म है, कला है, शासन-प्रणाली है। परन्तु उपकरण इनके सब के एक-से न होकर अपने-अपने तरीके के हैं, भाषा इनकी अपने तरीके की, और धर्म, कला और शासन-प्रणाली भी अपने-अपने ख़ास तरीके की है। सब के उपकरण, सब की भाषा, सब के धर्म आदि एक ही प्रकार के नहीं है, अपने-अपने विशिष्ट तरीके के हैं। उदाहरणार्थ, उपकरणों में किसी प्रजाति में पत्थर को दूसरे पत्थर से ठोकर देकर तोडा जाता है, किसी में 'दबाव-विधि' (Pressure method) से तोडा जाता है, किसी धर्म में प्रार्थना करते हुए देवता के आगे दूध रखा जाता है, किसी में रुधिर रखा जाता है। ये सब उस-उस सस्कृति के 'विशिष्ट-गुण' (Culture traits) कहे जाते हैं। हर सस्कृति में अपने-अपने 'विशिष्ट-गुण' होते हैं, जो दूसरो से भिन्न होते हैं। तो फिर सस्कृति के 'विशिष्ट-गुण' क्या हैं ? सस्कृति के 'विशिष्ट-गुण' वे गुण हैं, जो एक तरह से सस्कृति की इकाइयां हैं, जिन का आगे विभाग नहीं किया जाता, जिनसे सस्कृति का निर्माण होता है। जो भी लोग किसी समुदाय में रहते हैं, वह समुदाय कितना ही छोटा क्यों न हो, उन्हें अपने समुदाय से अपनी सस्कृति के कुछ 'विशिष्ट-गुण' वश-परपरा द्वारा विरासत में मिलते हैं। ये सास्कृतिक 'विशिष्ट-गुण' हजारों, लाखों की तादाद में होते हैं।

प्रत्येक प्रजाति की अपनी भाषा की विशेषताएँ ही हजारों हो सकती हैं। अपनी-अपनी प्रजाति के उपकरणों में दूसरी प्रजातियों से हजारों भेद पाये जाते हैं। सगीत, शासन-व्यवस्था आदि सब में प्रत्येक प्रजाति अपने 'सास्कृतिक विशिष्ट-गुणों' के कारण दूसरों से भिन्न होती है।

जैसे भौतिक-शास्त्र में भौतिक-तत्वो की इकाइयाँ अणु-परमाणु, अरबों, खरबों होते हैं, वैसे सास्कृतिक-मानवशास्त्र में सस्कृति की इकाइयाँ जिन्हें हमने 'सास्कृतिक-विशिष्ट-गुण' कहा, इतनी अधिक तो नहीं, परन्तु हजारों होती हैं। जैसे अणु-परमाणु यूँ ही नहीं चक्कर काटा करते, परन्तु उनका दूसरे अणुओं-परमाणुओ से सबध होता है, उस सबध से भिन्न-भिन्न वस्तुएँ बनती हैं, वैसे इन 'सास्कृतिक विशिष्ट-गुणो' का आपस में सबध होता है। जैसे वस्तुओं का निर्माण विना परमाणुओं के सबध के नहीं हो सकता, वैसे विना इन 'विशिष्ट-गुणों' के 'पारस्परिक-सवध' (Inter-relation or Inter-connection of cultural elements) के सस्कृति का निर्माण भी नहीं हो सकता। 'सांस्कृतिक-मानवशास्त्र' क्या करता है? प्रागैतिहासिक-सस्कृतियों के सम्बन्ध में जहाँ-जहाँ खुदाई होती है, वहाँ-वहाँ 'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' इन 'विशिष्ट-गुणों' को ढूँढता है, इनका पता लगाता है। प्रागैतिहासिक-काल के 'विशिष्ट-गुण' तो सिर्फ उपकरणों में मिलते हैं। इसलिए प्रागैतिहासिक-काल का पाषाण-युग का कोई खास प्रकार का उपकरण अगर कहीं मिल जाता है, तो उसके आधार पर 'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' इस निर्णय पर पहुँच जाता है कि उस स्थान पर इन 'विशिष्ट-गुणो' वाली सस्कृति विद्यमान थी। इसी प्रकार जीवित-प्रजातियों का अध्ययन करते हुए भी अगर किसी सस्कृति का कोई 'विशिष्ट-गुण' किसी दूसरी जगह मिल जाता है, तो यह परिणाम निकालना सहज हो जाता है कि इस जगह पर भी इस 'विशिष्ट-गुण' वाली सस्कृति मौजूद थी। यह परिणाम इस आधार पर निकाला जाता है क्योंकि सस्कृतियों के 'विशिष्ट-गुण' जुदा-जुदा नहीं पडे रहते, उनका आपस में सबध जुडा रहता है, और वे मिल कर सस्कृति का निर्माण करते हैं। 'सांस्कृतिक-विशिष्ट-गुण' एक ही सस्कृति में भिन्न-भिन्न प्रकार से मिलकर उस 'सस्कृति' का निर्माण तो करते ही हैं, वे दूसरी सस्कृतियों में मिल कर उनमें भी नवीन-नवीन सांस्कृतिक-प्रतिमानों का निर्माण कर देते हैं।

हमने अभी 'सास्कृतिक-विशिष्ट-गुणों' के 'पारस्परिक-सवंध' पर जोर दिया। इसका मतलव यह है कि 'सांस्कृतिक-मानवशास्त्र' सिर्फ संस्कृति के 'विशिष्ट-गुणों' का ही अध्ययन नहीं करता, सस्कृति के 'विशिष्ट-गुणो' का आन्तरिक अभिप्राय क्या है, ये खोखले शब्द हैं या इन शब्दों के अन्दर भी कुछ भरा है—सिर्फ इसका ही अध्ययन नहीं करता, परन्तु भिन्न-भिन्न समुदायों की सस्कृतियों के 'विशिष्ट-गुणों' के 'पारस्परिक-संवधों' का भी अध्ययन करता है। भारत में मुसलमान आये, अग्रेज आये, इनकी सस्कृति के 'विशिष्ट-गुणों' का हिन्दू-सस्कृति के 'विशिष्ट-गुणों' के साथ कैसा सवध रहा—यह सब-कुछ ढंढने का भी

'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' प्रयत्न करता है। दाढी-मूंछ मुंडाने का 'सास्कृतिक विशिष्ट-गुण' अग्रेजो की सस्कृति से हिन्दू-सस्कृति में आया। इसका आना इन दोनो सस्कृतियो के आन्तरिक-सवध को सूचित करता है।

सास्कृतिक-सवध पर ऐतिहासिक-दृष्टि से विचार किया जा सकता है, भौगोलिक दृष्टि से विचार किया जा सकता है, सामाजिक-दृष्टि से विचार किया जा सकता है, मानसिक-दृष्टि से विचार किया जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से सास्कृतिक-सवध पर विचार करने का अर्थ यह है कि हम देखें कि किस सस्कृति का कौन-सा 'सास्कृतिक-विशिष्ट-गुण' किस दूसरी सस्कृति में कब गया ? भौगोलिक दृष्टि से सांस्कृतिक-सवध पर विचार करने का अर्थ यह है कि हम देखें कि किस स्थान से किस सस्कृति का कौन-सा 'सास्कृतिक-विशिष्ट-गुण' दूसरी किस जगह गया ? सामाजिक-दृष्टि से सास्कृतिक-सवध पर विचार करने का अर्थ यह है कि हम देखें कि किस समाज का कौन-सा 'सास्कृतिक-विशिष्ट-गुण' किस दूसरे समाज में गया, उसका उस समाज पर क्या प्रभाव पडा ? मानसिक-दष्टि से सास्कृतिक-सवध पर विचार करने का अर्थ यह है कि हम देखें कि किस 'सास्कृतिक-विशिष्ट-गुण' का अब के या तब के मानव-समाज की विचार-धारा पर क्या प्रभाव पडा। कई विचारक इनमें से एक दृष्टि को महत्व देते है, दूसरी को नहीं, परन्तु 'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' का काम इनमें से किसी एक दृष्टि से नहीं, अपितु इन चारों दृष्टियो से सास्कृतिक-सवधो पर विचार करना है, और इस विचार में सस्कृति के 'विशिष्ट-गुणो' की सहायता से ही विचार हो सकता है।

तो फिर 'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' का काम क्या है ? 'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' का काम सस्कृति के 'विशिष्ट-गुणो' का अध्ययन करना है। सस्कृति के ये 'विशिष्ट-गुण' क्या-क्या है, ये कैसे उत्पन्न होते है, इनमें क्या-क्या परिवर्तन आता रहता है, और इन 'विशिष्ट-गुणों' का, जिस सस्कृति के ये है, उससे क्या सबध है, साधारण-सा सबध है, या गहरा सबध है—इस सब-कुछ का अध्ययन करना 'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' का काम है। इस सारे अध्ययन में 'सास्कृतिक-विशिष्ट-गुणो' का इतना महत्व नहीं है जितना इन गुणों के आपसी सबध का महत्व है। उदाहरणार्थ, 'नमस्ते' हिन्दू-सस्कृति का एक विशिष्ट-गुण बन गया है, पहले-कभी यह ऐसा नहीं था, अब मुसलमान और ईसाई भी 'नमस्ते' करने लगे है। यह क्यों इतना बढा, पहले-कभी तो हिन्दू-लोग भी इससे चिढते थे। इसका कारण है आर्यसमाजी लेखको का सिनेमा के पट-चित्रों के निर्माण में आना और जनता में इसके प्रचार का कारण हुआ जनता की सिनेमा के प्रति रुचि दिखाना। जब हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी सिनेमा जाते है, तब सिनेमा की बात को वे सभी एक-समान पकड़ लेते है और सभी की सस्कृतियो में 'नमस्ते' की पैवन्द लगती जा रही है। इस प्रकार एक 'सास्कृतिक विशिष्ट-गुण' का भिन्न-भिन्न सस्कृतियों के सपर्क में आने से उसका सब जगह अस्तित्व दीखने लगता है, परन्तु गुण है वह एक खास ही सस्कृति का। हिन्दू-सस्कृति का अग होते हुए भी 'नमस्ते'—यह

'सास्कृतिक-विशिष्ट-गुण' अन्य सस्कृतियो के सबंध में आकर अपना पहला रूप, जिससे लोग चिढा करते थे, बदल रहा है। इस प्रकार हमने देखा कि 'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' की मुख्य समस्या 'सास्कृतिक-विशिष्ट-गुणों' का अध्ययन करना इतना नहीं है, जितना इन गुणो का आपसी-सबध तथा इन गुणो का अन्य सस्कृतियों से सबध जानना है। कल्पना कीजिये, हमने जान लिया कि 'नमस्ते' हिन्दू सस्कृति का एक 'सास्कृतिक-विशिष्ट-गुण' है। इतने-से क्या हुआ ? असल में हम इतना ही नहीं जानना चाहते कि हिन्दू-सस्कृति के 'विशिष्ट-गुण' क्या है, हम मुख्य तौर पर तो यह जानना चाहते हैं कि इन 'विशिष्ट-गुणो' का अपनी सस्कृति में क्या स्थान है, इन गुणों का दूसरी सस्कृतियों के सबध में क्या स्थान है ? दूसरे शब्दों में, हमारी मुख्य समस्या ये गुण नहीं है, इन गुणों का 'सबध' (Inter-relation) है।

(२) सस्कृति-सकुल (Culture Complex)—हमारी मुख्य-समस्या सस्कृति के 'विशिष्ट-गुण' न होकर, इन गुणों का सबध है। इसीलिए इस सबध पर विचार करते-करते 'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' ने एक अन्य शब्द की कल्पना की है, और वह शब्द है 'सस्कृति-सकुल'। 'सस्कृति-सकुल' क्या है ? यह अनेक 'सास्कृतिक-विशिष्ट-गुणों' का समुदाय है। परन्तु समुदाय तो निरर्थक भी हो सकता है। 'सास्कृतिक-विशिष्ट-गुणों' के सार्थक, सप्रयोजन समुदाय को 'सस्कृति-सकुल' कहते हैं। यह समुदाय सस्कृति का एक अग, एक भाग, एक हिस्सा या एक टुकडा होता है। सारी सस्कृति तो 'सस्कृति-सकुल' नहीं कहला सकती, परन्तु उसका एक भाग जिसमें कई 'विशिष्ट-गुण' सम्मिलित हो, 'सस्कृति-सकुल' कहला सकता है। उदाहरणार्थ, गरीब लोगों की टूटी-फूटी झोंपडियाँ, उनके फटे चीथडे, उनके सोचने-विचारने के ढग, उनकी अपने-आप को सम्पन्न लोगो से अपने को क्षुद्र समझने की भावना—ये सब एक तरह के 'सस्कृति-सकुल' है, जो अनेक 'सास्कृतिक-विशिष्ट-गुणों' के 'पारस्परिक-सबध' (Inter-connection) से बने हैं। इसी प्रकार जब से घोडे को पालतू बना कर उससे मनुष्य ने काम लेकर एक विशेष प्रकार की सभ्यता को जन्म दिया है, जिसमें घोडे से नाना प्रकार के काम लिए जाने लगे है, तब से एक अन्य प्रकार का 'सस्कृति-सकुल' पैदा हो गया है, जिसे 'अश्व-सकुल' (Horse complex) कह सकते हैं। इस 'अश्व-सकुल' में अश्व के साथ सम्बन्ध रखने वाले अनेक 'सास्कृतिक-विशिष्ट-गुणों' का सम्मिश्रण है। घोडे की नाल, घोडे की काठी, घोडे को काबू में रखना, उसे पालना, साधना—ये सब 'अश्व-सस्कृति' के 'विशिष्ट-गुण' है, जो 'पारस्परिक-सबध' हो जाने पर सस्कृति की परिभाषा में 'अश्व-सकुल' कहे जा सकते हैं।

(३) सस्कृति-प्रतिमान (Culture Pattern)—'प्रतिमान' का अर्थ है मापने का वह पैमाना जिसके द्वारा हम अपने जीवन के तरीके को, 'जीवन के प्रकार' (Way of life) को, अपने व्यवहार को, जो सब हमारी सस्कृति के ही भाग है, सही या गलत कहा करते है। इसी 'प्रतिमान' के द्वारा हम अपनी

सस्कृति की हर वात का मूल्य ठहराया करते हैं, इसको तो हम सही मान क
चलते हैं, दूसरी वातों को इसके अनुकूल होने पर सही और प्रतिकूल होने पर ग़ल
कहा करते हैं। उदाहरणार्थ, 'परिवार' की रचना हर समाज में मौजूद है, पर
भिन्न-भिन्न समुदायों, भिन्न-भिन्न सस्कृतियो में परिवार का 'व्यवहार', परिवा
का तरीका भिन्न-भिन्न है। भारत के परिवार में स्त्री दवी रहती है, रसोई-चौक
चूल्हा ही अपना क्षेत्र समझती है, अमरीका के परिवार में वह दवी नहीं रहत
स्वतत्र है, दफ्तर में काम करती है। अव अगर भारतीय नारी के विवाह व
प्रश्न होगा, तो भारत में स्त्री के परिवार में व्यवहार का जो 'प्रतिमान' है, उस
अनुरूप ही इस प्रश्न का हल होगा, वह स्वतत्र होकर अपनी इच्छा से जहाँ चा
वहाँ शादी-व्याह नहीं करेगी, अमरीका की नारी के विवाह का प्रश्न होगा, त
अमरीका में स्त्री के परिवार में व्यवहार का जो 'प्रतिमान' है, उसी के अनुरूप इ
प्रश्न का हल होगा, वह स्वतत्र होकर अपनी इच्छा से जहाँ चाहे शादी-व्याह करेगी
दोनों के व्यवहार में भिन्नता का कारण क्या है? इनके व्यवहार में भिन्नता क
कारण यह है कि भारत की 'सस्कृति' का स्त्री के सवध में अपना एक धुंधला-स
'आदर्श-नक्शा', एक 'मान', एक 'नमूना' वना हुआ है, वश-परपरा द्वारा सदिय
से वह 'आदर्श-नक्शा', वह 'मान', वह 'नमूना' हमारी 'सामाजिक-विरासत'
तौर पर चलता चला आ रहा है। शास्त्रों को न जानता हुआ भी प्रत्येक हि
यह जानता है कि उसकी 'सस्कृति' इस-इस तरह की है, इसके अनुकूल चलना औ
इसके प्रतिकूल न चलना ही उसके लिए उचित है। जिस प्रकार एक भारतीय
मन में स्त्री के सवध में एक 'नक्शा', एक 'नमूना', एक 'प्रतिमान' (Pattern
सामाजिक-विरासत के तौर पर चलता चला आ रहा है, उसी प्रकार एक अमरीक
के मन में भी स्त्री के सवध में एक 'नक्शा', एक 'नमूना', एक 'प्रतिमान' वना हुअ
है। इस 'प्रतिमान' को सामने रख कर हम भारतीय तथा अमरीकन अपनी
अपनी सस्कृति में स्त्री से सबध रखती हुई प्रत्येक बात पर विचार करते हैं
सस्कृति की इसी 'आदर्श-कल्पना' को, इसी 'नमूने' को, इसी 'प्रतिमान' को, जिसक
तुलना में हम अपने व्यवहार को सही या ग़लत कहते हैं, 'सस्कृति-प्रतिमान
(Culture pattern) कहते हैं।

जब कोई प्रजाति किसी दूसरी प्रजाति से उसका 'सांस्कृतिक-विशिष्ट
गुण' (Culture trait) या 'सस्कृति-सकुल' (Culture complex
लेती है, उसे अपनी सस्कृति का अग बनाती है, तो उसे अपनी सस्कृति का अ
बनाते हुए अपने 'सास्कृतिक-प्रतिमान' (Culture pattern) को अवश्य ध्यान
रखती है। यह बात वर्तमान उन्नत सस्कृतियो में इतनी नहीं पायी जाती जितन
जीवित जगली जातियों में पायी जाती है। उदाहरणार्थ, जगली जातियाँ अगर
आजकल के पिस्तौल, बदूक आदि शस्त्रों का उपयोग करेंगी तो इन शस्त्रास्त्रों
की पूजा भी करेंगी, इन पर फूल भी चढ़ायेंगी। उनकी सस्कृति के 'प्रतिमान' के
अनुसार इस प्रकार की पूजा से देवी-देवता प्रसन्न होते हैं, उन्हें प्रसन्न करने के लिए

उन शस्त्रों की पूजा आवश्यक है जिनके द्वारा देवताओ पर वलि चढाई जा सकती है। 'सास्कृतिक-प्रतिमान' के सवध में श्रीमती रुथ वेनिडिक्ट (Ruth Benedict) की विचारधारा विशेष मनन के योग्य है, जगली जातियों का अध्ययन करते हुए उन्होने इस विचार का विशेष रूप से उपयोग किया है। हम इसका आगे वर्णन करेंगे।

(४) सास्कृतिक-विषय (Culture themes)—रुथ वैनिडिक्ट ने प्रत्येक प्रजाति के सास्कृतिक-प्रतिमानों का जिक्र किया है। उनका कहना है कि ये 'प्रतिमान' दो तरह के होते है। एक 'प्रतिमान' के अनुसार किसी प्रजाति का सारे-का-सारा सास्कृतिक-व्यवहार शान्त-गुण-युक्त होगा, दूसरे 'प्रतिमान' के अनुसार किसी प्रजाति का सारे-का-सारा सास्कृतिक-व्यवहार अशान्त-गुण-युक्त होगा। उदाहरणार्थ, रुथ वैनिडिक्ट ने कई प्रजातियो का अध्ययन किया है जिनमें से प्युब्लोज (Pueblos) प्रजाति के लोग शान्त-गुण-युक्त पाये गये है। इनके शान्त-गुण-युक्त होने का सब से वडा उदाहरण मृत्यु के समय इनका व्यवहार है। उस समय ये लोग शोर-शार नहीं मचाते, छाती नहीं पीटते। मृत्यु के समय की वेदना को जितना हो सके उतना कम करने का ये प्रयत्न करते है। इनका उद्देश्य यह होता है कि मृत-व्यक्ति के सवधी उसे भूल जायें। इससे विपरीत अन्य अनेक प्रजातियो में दूसरे लोग ही इतना रोना-धोना मचाते है कि रिश्तेदार ही तग आ जाते है। श्री ओपलर (M E Opler) महोदय वैनिडिक्ट की इस वात को तो स्वीकार करते है कि प्रत्येक प्रजाति की सस्कृति के अपने 'प्रतिमान' होते है, परन्तु वे इस वात को नहीं स्वीकार करते कि ये 'प्रतिमान' सिर्फ दो है। उनका कहना है कि हर प्रजाति के अपने-अपने प्रतिमान हो सकते है, और इन प्रजातियों का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी को इन प्रजातियो के वीच जाकर उनके 'प्रतिमानो' का पता लगाना चाहिए। ये 'प्रतिमान' दो नहीं, वीसियो हो सकते है। इन्हें वे 'सांस्कृतिक-विषय' कहते है। 'प्रतिमान' (Patterns) तथा 'सास्कृतिक-विषय' (Themes) लगभग एक ही वात का नाम है, भेद इतना है कि रुथ वैनिडिक्ट ने 'प्रतिमान' को दो में सीमित कर दिया है, श्री ओपलर यह नहीं मानते कि 'प्रतिमान' दो ही होते हैं, वे अनेक हो सकते है, और इसलिए उन्हें 'सास्कृतिक-प्रतिमान' न कहकर 'सांस्कृतिक-विषय' कहा गया है।

(५) जीवन का प्रकार (Style of life)—हम पहले कह आये है कि सस्कृति का अध्ययन जीवन के प्रकार, जीवन के ढग का अध्ययन है। अगर हम किसी प्रजाति के जीवन के ढग, रहने-सहने के तरीके का अध्ययन करते है, तो उस प्रजाति की सस्कृति का अध्ययन कर रहे होते है। इस अध्ययन में वैनिडिक्ट के कथनानुसार दो 'प्रतिमान' होते है, श्री ओपलर के कथनानुसार अनेक 'प्रतिमान' हो सकते है। परन्तु इन प्रतिमानों में हम जीवन के जिस ढग का अध्ययन करते है, उसका आधारभूत विषय क्या होता है? हमें किस वात का अध्ययन करना है? रेडफील्ड (Redfield) का कथन है कि किसी प्रजाति की सस्कृति का

अध्ययन करते हुए हमें उसकी हर बात का, उसके जीवन के हर प्रकार और हर पहलू का अध्ययन करना होगा, हर ऐसे पहलू का अध्ययन करना होगा जो उस प्रजाति की सस्कृति की शुरूआत से आजतक उसमें मौजूद है। इसी से तो उस सस्कृति के प्रकार, उसके ढग के सबध में हमें जानकारी मिलेगी। इस सस्कृति के लोग शुरू से आजतक आजीविका के उपार्जन के लिए ऐसे कौन-कौन-से उपाय बरतते रहे है, जिन्हें ये आजीविका के लिए उचित समझते रहे हैं, किन विचारो को ये अपने आचार-व्यवहार के लिए ठीक मानते रहे हैं--इस सब का हमें अध्ययन करना होगा क्योंकि इन्हीं बातों से तो पता चलेगा कि इस प्रजाति की दृष्टि में व्यक्ति को इस प्रजाति के योग्य बनाने के लिये, कौन-कौन-सी बातें ये लोग आवश्यक समझते है। किसी प्रजाति की सस्कृति का अध्ययन तभी ठीक हो सकता है अगर हम यह पता लगायें कि इस प्रजाति के लोगों की दृष्टि में कौन-कौन-से सामाजिक-व्यवहार, किस प्रकार का रहन-सहन, किस प्रकार का चाल-चलन ठीक समझा जाता है। इसी से मालूम पड़ेगा कि इस प्रजाति की दृष्टि में किन बातो का मूल्य है। इसी अध्ययन को रेडफील्ड ने 'जीवन के प्रकार' (Style of life) का अध्ययन कहा है, जो 'सास्कृतिक मानव-शास्त्र' के अध्ययन के लिए 'सास्कृतिक-प्रतिमानो' (Patterns) तथा 'सास्कृतिक-विषयों' (Themes) के अध्ययन की तरह आवश्यक है।

(६) सास्कृतिक-क्षेत्र (Culture areas)--पुरातत्व-शास्त्र के पडितो ने ससार को कई युगों में बांटा है। पाषाण-युग, ब्रौंज-युग, ताम्र-युग, लौह-युग, अणु-युग के विषय में हम सब जानते हैं। पाषाण-युग को पूर्व-पाषाण-युग, नव-पाषाण-युग में बांटा गया है। नस्लों का वर्गीकरण करते हुए नियंन्डरथल, क्रो-मैगनन आदि मानवों में नस्लों का विभाग किया गया है। इसी प्रकार सस्कृति के क्षेत्र में सस्कृति की दृष्टि से यह विभाग करना उचित प्रतीत होता है कि किस क्षेत्र में कौन-सी सस्कृति है। जिन प्रजातियों की आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, कला-सबधी तथा अन्य सास्कृतिक बातों की समानता पायी जाती है, वे जहां-जहां बसती है उन्हें उस सस्कृति का क्षेत्र कहा जाता है। यह जरूरी नहीं कि एक सास्कृतिक-क्षेत्र में एक ही नस्ल बसती हो। भिन्न-भिन्न नस्लें एक ही सस्कृति को अपनाने वाली पायी जा सकती हैं, और आजकल तो एक ही नस्ल में भिन्न-भिन्न सस्कृतियां घुस गई हैं। जिस क्षेत्र में एक प्रकार की सस्कृति पायी जाती है, एक प्रकार के आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, कलात्मक सगठन मिलते है उसमें भले ही कितनी नस्लें क्यों न हों, वह एक 'सास्कृतिक-क्षेत्र' कहलायेगा और 'सांस्कृतिक-मानव-शास्त्र' के लिए सास्कृतिक-दृष्टि से उसका महत्व होगा।

सस्कृति के इन 'क्षेत्रों' (Culture areas) में कई-कई क्षेत्र ऐसे होते हैं जिनमें उस सस्कृति के 'विशिष्ट-गुण' (Culture traits) तथा उस सस्कृति के 'सकुल' (Culture complex) एक जगह केन्द्रित पाये जाते हैं। सस्कृति के इन केन्द्रों को 'सस्कृति-केन्द्र' (Culture centres) कहा जाता है। उदाहर-

गार्य, भारतीय सस्कृति के हरिद्वार, वनारस, अलाहावाद केन्द्र हैं। परन्तु इन केन्द्रो का यह अर्थ नहीं है कि सस्कृति रूपी नदी का प्रवाह इन केन्द्रो से फूटता है। संस्कृति का स्रोत यहाँ भी ही सकता है, कहीं और भी हो सकता है। किन्हीं कारणो से इस क्षेत्र में संस्कृति आकर केन्द्रित हो जाती है, और इसीलिए ये क्षेत्र 'सस्कृति-केन्द्र' कहे जाते हैं।

इन 'सास्कृतिक-क्षेत्रों' का फैलाव एक पतली-सी पट्टी के तौर पर न होकर एक विशाल भू-भाग के तौर पर होता है। इस भू-भाग के भीतर के भाग में तो सस्कृति का केन्द्र रहता है, परन्तु प्रान्त-भागो में वही सस्कृति कुछ मध्यम-सी हो जाती है। 'सास्कृतिक-क्षेत्रों' (Culture areas) के इन प्रान्त-भागों की संस्कृति को 'प्रान्तीय-सस्कृति' (Marginal culture) कहते हैं। संस्कृति का प्रवाह केन्द्र से प्रान्त-भाग की तरफ वहता है, और ज्यों-ज्यों सस्कृति की प्रगति 'केन्द्र' (Centre) से 'प्रान्त' (Margin) की तरफ वढती है, त्यो-त्यों प्रान्त-वर्ती अन्य सस्कृतियो के साथ 'आन्तरिक-सवध' (Inter-relation) के कारण इसका शुद्ध रूप हल्का पडता जाता है और जहाँ इस सस्कृति का रूप वहुत हल्का हो जाता है, वहाँ से दूसरी सस्कृति का क्षेत्र प्रारभ हो जाता है।

अमरीका, आफ्रीका, भारत आदि भिन्न-भिन्न देशों को 'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' की दृष्टि से भिन्न-भिन्न 'सास्कृतिक-क्षेत्रों' में वाँटा जा सकता है। वोअस (Boas) तथा उनके पीछे चलते हुए क्लार्क विजलर (Clark Wissler) ने अमरीका को भिन्न-भिन्न सास्कृतिक-क्षेत्रों में विभक्त करने का प्रयत्न किया। इन क्षेत्रो का विभाजन करते हुए उन्होंने इस वात का ध्यान रखा कि एक क्षेत्र में एक-से उपकरणो का प्रयोग करने वाले, एक-सी कला तथा एक-सी सस्थाओ वाले जन-समूह को रखा जाय। इस विभाजन से यह भी प्रतीत हुआ कि भिन्न-भिन्न नस्लो के लोग सास्कृतिक-एकता के कारण एक 'सास्कृतिक-क्षेत्र' में आ जाते हैं, और एक ही नस्ल के लोग सस्कृतियों की भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न 'सास्कृतिक-क्षेत्रों' में गिने जाते हैं। प्रत्येक 'सास्कृतिक-क्षेत्र' में 'सास्कृतिक-केन्द्र' भी होगा और उस केन्द्र के परे उस सस्कृति का प्रान्तवर्ती भाग भी होगा। इन संस्कृतियों में 'सास्कृतिक-विशिष्ट-गुण' तथा 'सस्कृति-सकुलों' का भी स्थान होगा।

(७) प्रकट तथा अप्रकट सास्कृतिक-तत्व (Explicit and Implicit Culture Elements)—क्लकहौन (Kluckhohn) का कथन है कि किसी सस्कृति को देख कर हम अपनी वाह्य इन्द्रियो द्वारा उसके विषय में जो-कुछ जानते हैं, उस सस्कृति के पूरे रूप को जानने के लिए वह काफी नहीं है। आँख से देख कर और कानो से सुन कर किसी सस्कृति के विषय में हमारा जो ज्ञान होता है, वह तो उस सस्कृति के 'प्रकट-तत्वों' (Explicit elements) का ज्ञान होता है; इसके अतिरिक्त उस सस्कृति में कुछ ऐसे तत्व भी होते हैं, जो साधारण तौर पर सामने नहीं आते, इन तत्वो को ढूँढ़ निकालना 'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' का काम है। इनको ढूंढ़ने के लिए अनुसंधानकर्ता में इसी बात की विशेष योग्यता

होनी चाहिए। उस सस्कृति की आधारभूत प्रेरणाएँ क्या हैं, लक्ष्य क्या हैं, किन प्रयोजनों को लेकर उस सस्कृति के लोग जिन्दगी वसर करते हैं—ये सब वातें ऐसी हैं जिनका उस सस्कृतिवालो को भी ज्ञान नहीं होता, परन्तु जो उस सस्कृति की किसी-न-किसी वात में छिपी मिल जाती हैं। ये सस्कृति के 'अप्रकट-तत्व' (Implicit elements) कहलाते हैं जिनकी तलाश 'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' करता रहता है।

(८) 'सस्कृति' तथा 'सभ्यता' (Culture and Civilization)—कई लेखको का कहना है कि मानव-समाज को दो भागो में बाँटा जा सकता है। एक तो मानव वह था जो जगलो में रहा करता था, पढना-लिखना नहीं जानता था, असभ्य था, दूसरा मानव वह है जो गाँव और शहर बनाकर रहने लगा है, पढना-लिखना जानता है, सभ्य है। 'असभ्य' तथा 'सभ्य' दोनो मानवों के रहन-सहन के तरीके को 'सस्कृति' (Culture) कहते हैं, परन्तु जब से मानव ने जगलों में रहना छोड कर गाँवो और शहरो में रहना शुरू किया, पढना-लिखना सीख लिया, दूसरे शब्दों में जब से मानव असभ्य से सभ्य हुआ, तब से उसके रहन-सहन की 'सस्कृति' (Culture) का नाम ही 'सभ्यता' (Civilization) हुआ। इस दृष्टि से प्राचीन-मानव के पास 'सस्कृति' तो थी, 'सभ्यता' नहीं थी, क्योंकि 'सभ्यता' उस 'सस्कृति' का नाम है जिसमें मनुष्य ने भौतिक-विकास कर लिया है। यह विचार मौर्गन (Morgan) का है। 'सस्कृति' के दो पहलू हैं—प्राचीन तथा अर्वाचीन। 'सस्कृति' के अर्वाचीन पहलू को, जिसमें भौतिक उन्नति हुई है, मौर्गन ने 'सभ्यता' कहा है।

जर्मन तथा अमरीकन समाज-शास्त्री इस वात को नहीं मानते। अमरीकन समाज-शास्त्री मैकआइवर (MacIver) का कहना है कि 'सस्कृति' मनुष्य के नैतिक, आत्मिक तथा मानसिक विकास का नाम है। हम अपनी सस्कृति के 'प्रतिमान' से ही किसी वात का मूल्य आँकते हैं। अगर हमारे 'सास्कृतिक-प्रतिमानो' के अनुसार कोई चीज है, तभी वह हमारे लिए काम की हो सकती है, अगर हमारे प्रतिमानों के अनुसार नहीं तो वह हमारे किसी काम की नहीं। 'सस्कृति' ही किसी वस्तु में मूल्य डालती है। हमारे व्यवहार तथा क्रिया-कलाप की आधारभूत भावना हमारी 'सस्कृति' है, यह हमारे जीवन की प्रेरक-सूत्र है, यह हमारे वाहर की नहीं, भीतरी वस्तु है। इस सस्कृति में उन्नति भी हो सकती है, अवनति भी। इसके विपरीत 'सभ्यता' हमारे जीवन की प्रेरक या मुख्य वस्तु नहीं। 'सभ्यता' हमारी भीतरी चीज नहीं, वाहर की चीज है। जितना भौतिक-विकास है, जितने प्राविधिक उपकरण हैं—मोटर, रेडियो, रेल, तार—ये सब 'सभ्यता' के अग हैं, 'सस्कृति' के नहीं। 'सस्कृति' उन्नति भी कर सकती है, अवनति भी, परन्तु 'सभ्यता' के विषय में उन्नति-अवनति का प्रश्न नहीं उठता। 'सभ्यता' तो जैसा हमने अभी कहा 'प्राविधिक' तत्वों का नाम है, रेल-मोटर-तार आदि का नाम है, इनमें तो न उन्नति होती है, न अवनति, इनमें तो वढती होती चली

जाती है। यह 'सभ्यता' आज रेल-तार के रूप में दिखाई देती है, प्रागैतिहासिक-युग में पत्थर के उपकरणों के रूप में थी। मौर्गन नहीं मानता कि प्रागैतिहासिक युग में 'सभ्यता' थी, उसके अनुसार तो 'सभ्यता' वर्तमान युग की देन है, परन्तु मैक आइवर आदि मानते हैं कि 'संस्कृति' तथा 'सभ्यता' आदि-काल से एक-साथ चले आ रहे हैं।

(९) सांस्कृतिक भाग्य-निर्णयवाद (Cultural determinism)—कार्ल मार्क्स (Karl Marx) का कथन है कि सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राजनैतिक विचार-धाराएँ हमारी आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम होती हैं। इसे 'आर्थिक-भाग्य-निर्णयवाद (Economic determinism) कहा जाता है। आर्थिक-दृष्टि से जो निश्चिन्त होते हैं, वे सत्य और अहिंसा की बातें करते हैं, जो आर्थिक-दृष्टि से निश्चिन्त नहीं होते, उनकी विचार-धारा दूसरी दिशा में बहने लगती है। 'सांस्कृतिक-भाग्य-निर्णयवादी' इससे उल्टी बात कहते हैं। उनका कहना है कि 'संस्कृति' से सब-कुछ उपजा है, 'संस्कृति' ही हमारी आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक रचनाओं की प्रेरक-सूत्र है, 'संस्कृति' के कारण लोग झूठ बोलने के स्थान में भूखा मरना भी पसन्द करते हैं। इन लोगों का कहना है कि 'संस्कृति' का नियमन करने वाले कोई बाह्य नियम नहीं हैं, 'संस्कृति' स्वयं अपने नियमों द्वारा अपना नियमन करती है। प्राणी-शास्त्र, मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र—इनमें से कोई भी विज्ञान 'संस्कृति' के अस्तित्व का समाधान नहीं कर सकता। 'संस्कृति' प्राणी-शास्त्र के नियमों से ऊपर (Super-organic) है, मनोविज्ञान के नियमों से ऊपर (Super-psychic) है, समाजशास्त्र के नियमों से ऊपर (Super-social) है। इसका कोई नियन्ता नहीं, यह स्वयं अपनी नियन्ता है और इसके नियमन से ही समाज की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक रचनाएँ बनती-बिगड़ती हैं।

अगर 'संस्कृति' का नियमन स्वयं 'संस्कृति' करती है, तो क्या व्यक्ति का 'संस्कृति' के निर्माण में कोई हाथ नहीं है? हम तो देखते हैं कि 'संस्कृति' को मनुष्य बनाता है। इस शंका का समाधान करने के लिए संस्कृतिवादी लेसली व्हाइट (Leslie White) ने इस सिद्धान्त को यह रूप दिया कि संस्कृति इस प्रकार काम करती है, मानो मनुष्य के बिना काम कर रही हो, मानो यह स्वयं चल रही हो, मानो अपना नियमन अपने-आप कर रही हो। यह 'मानो' इसलिए जोड़ा गया क्योंकि यद्यपि हम कहते हैं कि संस्कृति अपने-आप अपना नियमन कर रही है, तो भी नियमन तो इसका व्यक्ति ही करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य संस्कृति का पुत्र है, परन्तु इसमें भी तो सन्देह नहीं कि मनुष्य संस्कृति को जन्म देता है।

(१०) संस्कृति तथा व्यक्ति (Culture and the Individual)—लिंटन (Linton) का कथन है कि 'संस्कृति' का काम 'व्यक्ति' के सम्मुख ऐसे आदर्श खड़े कर देना है जिनके ऊपर चल कर वह समाज में अपने

को जीवित रख सके। जो व्यक्ति अपने समाज के सास्कृतिक-आदर्शो के अनुसार चलता है, समाज उसकी रक्षा करता है, जो इन आदर्शो के अनुसार न चल कर इनके विरुद्ध चलता है, वह समाज में सुरक्षित जीवन नहीं व्यतीत कर सकता। समाज ने व्यक्ति के सम्मुख एक आदर्श रखा कि वह गृहस्थ में प्रवेश कर के सन्तान उत्पन्न करे। जो व्यक्ति समाज के इस आदर्श पर चलेगा, समाज अपनी सपूर्ण शक्ति से उसकी रक्षा करेगा। जो व्यक्ति समाज के इस आदर्श के विरुद्ध जिस-किसी लडकी से सबध स्थापित करना चाहेगा, वह समाज में सुरक्षित नहीं रह सकता। इसका अभिप्राय यह हुआ कि कोई व्यक्ति, अगर वह समाज के आदर्शो के सम्मुख अपने स्वतत्र व्यक्तित्व को मिटा देता है, अपनी इच्छानुसार चलने के स्थान में समाज की इच्छा को अपनी इच्छा वना लेता है, तो भले ही वह कमजोर हो, समाज उसकी रक्षा करता है। व्यक्ति के जीवित रहने का गुर समर्थ होकर जीवित रहना नहीं, परन्तु समाज के सम्मुख अपने को मिटा देना है। जो व्यक्ति समाज तथा समाज की सस्कृति के सामने अपने को दवा देता है, वह समाज की रक्षा का हाथ अपने सिर पर ले आता है। समाज में जीवित रहने के लिए अपनी हस्ती को मिटा कर समाज तथा सस्कृति के सामने सिर झुका देना है। आम तौर पर सर्वसाधारण का यही मार्ग है।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि ऐसे व्यक्तियों का समाज में अभाव है, जो समाज तथा सस्कृति के आदर्शो के मुकाबिले में, इनकी टक्कर में, अपने वैयक्तिक-आदर्श खडे नहीं करते। ऐसे व्यक्ति समाज में पाये जाते है जो समाज के आदर्शो से टक्कर लेते है। इस प्रकार के व्यक्ति दो तरह के हो सकते है। एक तो वे जो समाज के आदर्शो को छिन्न-भिन्न कर देना चाहते है। समाज कहता है, चोरी नहीं करना, वे चोरी करते है, समाज कहता है, झूठ नहीं बोलना, वे झूठ बोलते है। ये व्यक्ति सहारात्मक-जीवन व्यतीत करते है और समाज इनको खत्म कर देता है। जहां ये समाज के शिकजे में चढ़े, वहीं पार कर दिये गये। इन व्यक्तियों में चोर, उचक्के आ जाते है। दूसरे वे व्यक्ति है, जो सहारात्मक-जीवन व्यतीत करने के स्थान में समाज के प्रचलित आदर्शो के मुकाविले में इन से भी ऊँचे आदर्श पेश करते है, और इनके आदर्श 'सहारात्मक' (Destructive) होने के स्थान में 'रचनात्मक' (Constructive) होते है। ऐसे व्यक्ति भी समाज के आदर्शो से टक्कर लेते है, परन्तु ये लोग प्रचलित-आदर्शो से भी उच्च-आदर्शो को लेकर समाज की सस्कृति से टक्कर लेते है। इन व्यक्तियो में महात्मा तथा समाज-सुधारक आ जाते है।

इस प्रकार हमने देखा कि सस्कृति तथा व्यक्ति का जो सबध है, उसमें मुख्य तौर पर तो सस्कृति ही व्यक्ति पर आरूढ़ रहती है, परन्तु कभी-कभी व्यक्ति भी सस्कृति के साथ टक्कर ले लेता है।

४ सस्कृति-सवर्धन के सिद्धान्त (Theories of Culture growth)

हमने 'सस्कृति' के सबध में 'सास्कृतिक-विशिष्ट-गुणो' (Culture traits), 'सस्कृति-सकुलों' (Culture complexes) तथा 'सास्कृतिक-

प्रतिमानों' (Culture patterns) का वर्णन किया। 'सांस्कृतिक मानव-शास्त्र' के सम्मुख सब से बड़ी समस्या यह है कि ये विशिष्ट-गुण, ये संकुल तथा ये प्रतिमान पैदा कैसे होते हैं। दूसरे शब्दों में, सस्कृति का विकास, इसका संवर्धन कैसे होता है? इतना ही नहीं, हम देखते हैं कि ससार में एक-सी संस्कृतियां कई जगह दिखाई देती हैं। अगर एक सस्कृति का एक जगह विकास हो गया, तो दूसरी जगह वैसी ही सस्कृति कैसे और क्यो कर दिखाई देती है? इन सब प्रश्नो के समाधान के लिए 'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' (Cultural Anthropology) में भिन्न-भिन्न सिद्धान्त हैं। इन सिद्धान्तों में मुख्य-मुख्य सिद्धान्त निम्न हैं .

(क) विकासवाद (Evolutionism)
(ख) प्रसारवाद (Diffusionism)
(ग) सस्करणवाद (Acculturation)

हम आगे इन तीनों सिद्धान्तों की सक्षेप से व्याख्या करेंगे और यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि 'सस्कृति' का विकास और सवर्धन किस प्रकार होता है।

५. विकासवाद (Evolutionism)

जिस समय विज्ञान के क्षेत्र में डार्विन तथा हर्बर्ट स्पेंसर विकासवाद की धम मचा रहे थे, हर क्षेत्र में विकासवाद के सिद्धान्त को घटाकर दिखा रहे थे, उसी समय मानव-शास्त्र ने युरोप में जन्म लिया। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होना ही था कि 'भौतिक-मानवशास्त्र' (Physical Anthropology) तथा 'सास्कृतिक-मानवशास्त्र' (Cultural Anthropology)—इन दोनों के सबंध में सारा विचार विकासवाद की दृष्टि से ओत-प्रोत होता। इसीलिए १८६० से लेकर १९०० तक हर एक मानव-शास्त्री विकासवादी सिद्धान्त को लेकर ही चलता था। विकासवाद का सिद्धान्त है कि इस सृष्टि में हर बात का 'सरल से विषम' (Simple to complex) की तरफ विकास हो रहा है। शुरू-शुरू में एक जीव-कोष्ठ के प्राणी थे, उनसे अनेक कोष्ठो के प्राणी हुए, शुरू में साधारण अगों के जीव थे, उनसे विषम अगो के जीव हुए। हर वस्तु, हर सस्था, हर सगठन, हर समुदाय शुरू में सरल था, इस सरल से ही विषम बना। विकासवाद के इस सूत्र को पकड कर इसे भौतिक तथा सास्कृतिक मानवशास्त्र पर जिन-जिन विद्वानों ने जिस तरह घटाने का प्रयत्न किया, उसका कुछ वर्णन कर देने से विषय अधिक स्पष्ट हो जायगा।

(क) डार्विन (Darwin)—विकासवाद का प्रवर्त्तक तो डार्विन ही था। इसने 'प्राणी-शास्त्र' के क्षेत्र में विकासवाद के सिद्धान्त को घटाया। 'भौतिक-मानवशास्त्र' में जब हम प्राचीन-मानवो की खोपड़ियों का अध्ययन करते हैं, तब अधिकतर उनका अध्ययन इसी दृष्टि से किया जाता है कि जो खोपडी अधिक विकसित हो, वह पहले के काल की न होकर पीछे के काल की है। उदाहरणार्थ, प्रागैतिहासिक काल के मानव की अगर किसी एक खोपडी के ज्ञान-केन्द्र से यह प्रतीत हो कि उसे भाषा का ज्ञान नहीं था और दूसरी यह से प्रतीत हो कि

उसे भाषा का ज्ञान था, तो विकासवाद की दृष्टि से यह निश्चित है कि जिसे भाषा का ज्ञान नहीं था वह बहुत पहले की और जिसे ज्ञान था वह बहुत बाद की है। डार्विन ने ही सब से पहले विकासवाद के इस 'सरल से विषम' के सिद्धान्त को 'प्राणी-शास्त्र' में घटा कर यह प्रतिपादित किया कि मानव का विकास वानर से हुआ है, और इस विचार ने जब विद्वानो के मस्तिष्क को अपने शिकजे में कस लिया तब से बडी सरगर्मी के साथ मानव-शास्त्रियों ने उस लुप्त-कडी को ढूंढना शुरू किया जो वानर तथा मानव के बीच की थी, अर्थात् वह कडी वानर भी नहीं थी क्योंकि वानर से आगे विकास हो चुका था, और वह कडी मानव भी नहीं थी क्योंकि अभी पूरा मनव बनने में कुछ कमी थी।

(ख) टायलर (Tylor)—टायलर ने विकासवाद के सिद्धान्त को धर्म के क्षेत्र में घटाकर सास्कृतिक-मानवशास्त्र में धर्म को चित्रित करने का प्रयत्न किया। टायलर का कहना था कि प्रागैतिहासिक-काल में मानव का विश्वास आत्मा में था। मनुष्य के मर जाने पर उसकी आत्मा में विश्वास होना स्वाभाविक था। क्योकि शरीर अनेक हैं, इसलिए उनमें निवास करने वाला आत्मा एक न होकर अनेक था—यह मानना भी स्वाभाविक था। अनेक आत्माओं में विश्वास के बाद अनेक देवताओ में विश्वास का विकास हुआ और धीरे-धीरे यह विश्वास विकास की प्रक्रिया में से गुजरता-गुजरता अनेक देवतावाद से एक देवतावाद में परिणत हो गया। इस दृष्टि से विकासवादी मानवशास्त्री टायलर का कहना है कि एक ईश्वर की उपासना पर मनुष्य बहुत पीछे पहुँचा। इसी दृष्टि को सम्मुख रखकर विकासवादी-मानवशास्त्री पुरानी तथा नवीन जातियो के धर्म का अध्ययन करते हैं।

(ग) मौर्गन (Morgan)—अमरीकन मानवशास्त्रियो में श्री लूई मौर्गन का नाम बहुत प्रसिद्ध है। ये भी विकासवादी मानवशास्त्री थे। इन्होंने मानव के विकास के तीन क्रमों के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इनका कहना था कि विकासवाद का 'सरल से विषम' का सिद्धान्त मनुष्य-जाति की सस्कृति के विकास पर ठीक बैठता है। मानव की सस्कृति के विकास में पहली अवस्था 'वन्य-मानव' (Savage[1]) की है, दूसरी अवस्था 'असभ्य-मानव' (Barbarian[2]) की है, तीसरी अवस्था 'नगर-मानव' (Civilized[3]) की है। 'वन्य मानव' जगल में फिरता था, भाषा का प्रयोग नहीं कर सकता था, आचार व्यवहार में निरा पशु था, 'असभ्य-मानव' में सभ्यता की बातें तो नहीं विकसित हुई थीं, परन्तु कुछ-कुछ अस्पष्ट भाषा का प्रयोग वह करने लगा था, परन्तु अभी

1 Savage=Latin *Silva*, wood

2 Barbarian=Greek *Barbaros*, one whose language is unintelligible

3 Civilized=Latin *Civis*, a citizen (having a city)

एक जगह स्थान वना कर नहीं रहने लगा था, 'नगर-मानव' एक जगह मकान वना कर रहने लगा था, भाषा का प्रयोग करने लगा था, सभ्यता के विकास के मार्ग पर चल पडा था। इसी 'नगर-मानव' के विकास की शृंखला में हम बीसवीं सदी के लोग एक कडी है। इस विकास को और अधिक विस्तार से मौर्गन ने प्राचीन सस्कृतियो पर घटाने का प्रयत्न किया है। उसका कथन है कि इनमें से हर सास्कृतिक-अवस्था के निम्न-मध्यम-उत्तम—ये तीन भेद होते है। 'वन्य-मानव' पहले विल्कुल निम्न-स्तर पर था, उसके बाद जव वह 'ऑस्ट्रेलॉयड'-प्रजाति के रूप में आया, तव यह उसका मध्यम-स्तर था। इस स्तर के वाद उत्तम-स्तर वह था जव 'वन्य-मानव' पौलीनेशियन-रूप में विकसित हुआ। इसी प्रकार जव 'वन्य-मानव' विकसित होता-होता 'असभ्य-मानव' के रूप में प्रकट हुआ, तव 'असभ्य-मानव' के विकास के भी तीन स्तर थे—निम्न, मध्यम, उत्तम। निम्न-स्तर के 'असभ्य-मानव' इरोक्यूओज थे, मध्यम-स्तर के जेनीज थे, उत्तम-स्तर के होमर के समय के ग्रीक थे। इसके वाद 'असभ्य-मानव' से 'नगर-मानव' का विकास हुआ, जिसमें फिर तीन स्तर थे—निम्न, मध्यम, उत्तम। निम्न-स्तर का 'नगर-मानव' तव प्रकट हुआ जव भाषा का विकास हुआ, मानव ने अपने विचारों को प्रकट करने के लिए लकीरें लगानी शुरू कीं, एक तरह से जव से लिखने की कला का श्रीगणेश हुआ, मध्यम-स्तर के 'नगर-मानव' का विकास हम लोगो में दीख रहा है जो साधारण रूप में इस वीसवीं सदी की सभ्यता के पुत्र है, उत्तम-स्तर के 'नगर-मानव' की सभ्यता तथा सस्कृति का रूप युरोपियन सभ्यता है, जो दिनोदिन सभ्यता के क्षेत्र में तेजी से आगे-आगे वढती चली जा रही है।

मौर्गन का सस्कृति के सवध में विकासवादी विचार यह है कि मानव की सस्कृति 'वन्यावस्था' (Savagery) से 'असभ्यावस्था' (Barbarism) तथा 'असभ्यावस्था' से 'नगरावस्था' (Civilization) की तरफ क्रम से विकसित हुई है और इसी दृष्टि से विकासवादी मानवशास्त्री प्रागैतिहासिक-मानव की सस्कृति का अध्ययन करते है।

मौर्गन ने जैसे विकासवाद के सिद्धान्त को सभ्यता तथा सस्कृति पर घटाया, वैसे ही इसे परिवार के विकास पर भी घटाया। उसका कहना था कि शुरू-शुरू की आदि-मानव की सस्कृति में विवाह का कोई वधन नहीं था, जो पुरुष जिस स्त्री से और जो स्त्री जिस पुरुष से चाहे यौन-सवध कर सकती थी। यह अवस्था 'सकर' (Promiscuity) की अवस्था थी। इसके वाद क्योंकि मनुष्य इकला नहीं रह सकता था, झुण्ड वना कर रहता था, इसलिए 'सकर-विवाह' के वाद 'झुण्ड-विवाह' की अवस्था आयी जिसे 'यूथ-विवाह' (Group marriage) कहा जाता है। 'यूथ-विवाह' के वाद 'समान-रुधिर-विवाह' (Consanguine marriage) शुरू हुआ क्योंकि उस समय एक ही रुधिर के लोग इकट्ठे रहते थे, दूसरो को तो वे अपना दुश्मन समझते थे। 'समान-रुधिर-विवाह' के वाद 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matrilineal family) का निर्माण हुआ क्योंकि पहले सन्तान **माता के**

परिवार के पास ही रहती थी, इसके वाद जब परिवार की यह रचना सुविधाजनक नहीं प्रतीत हुई, तब 'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patrilineal family) विकसित हुआ। इस सारे विकास में 'एक-विवाही परिवार' (Monogamous family) तो सबसे अन्त में विकसित हुआ। मौर्गन तथा अन्य विकासवादी-मानवशास्त्रियो के कथनानुसार परिवार की सस्कृति का विकास इसी क्रम से हुआ है, और इसी क्रम को सम्मुख रखते हुए ये लोग प्राचीन-सस्कृतियो का अध्ययन करते हैं।

(घ) हैड्न (Haddon)—हैड्न ने विकासवाद की विचार-धारा को सास्कृतिक-मानवशास्त्र में कला के क्षेत्र में घटाने का प्रयत्न किया। इनका कहना था कि शुरू-शुरू की कला जैसी चीज दीखती थी उसका वैसा ही चित्रण कर देती थी। इसे 'यथार्थवादी' (Realistic) कहा जा सकता है। ज्यों-ज्यों सरल से विषम की तरफ विकास हुआ, त्यो-त्यो कला भी 'यथार्थवादी' होने के स्थान में 'सकेतवादी' (Symbolic) होती चली गई। पहले इसमें ज्यामितिक रेखाए नहीं थीं, अब इसमें ज्यामितिक रेखाए, आलङ्कारिकता आदि आने लगी। पहले 'मूर्त' (Concrete) वस्तुओं का चित्र बनाया जाता था, फिर 'अमूर्त' (Abstract) का बनाया जाने लगा क्योकि विकास जैसे सरल से विषम की तरफ जाता है, वैसे ही मूर्त से अमूर्त की तरफ जाता है। इस विचार पर हम आदिकालीन-कला पर विचार करते हुए विस्तार से लिखेंगे।

(ङ) भाषा-विज्ञान (Linguistics)—अभी हमने देखा कि सास्कृतिक-मानवशास्त्रियो ने सस्कृति के हर पहलू पर विकासवाद की दृष्टि से विचार करना शुरू कर दिया क्योकि 'मानव-शास्त्र' का जब श्रीगणेश हो रहा था तब विकासवाद अपने शिखर पर पहुचा हुआ था। इन्हीं विकासवादी मानवशास्त्रियो ने भाषा पर विचार करते हुए यह सिद्धान्त रखा कि शुरू-शुरू में लम्बे-लम्बे शब्दो वाली भाषाओ का विकास हुआ, बाद को छोटे शब्दों वाली भाषाओ का। विकास की दृष्टि से यह बात समझ में भी आती है कि थोडे-से में बहुत अधिक कह सकना पहले की नहीं, पीछे की अवस्था ही हो सकती है।

७ मानव की मानसिक-एकता का विकासवादी सिद्धान्त (Evolutionary Doctrine of Psychic-unity of Mankind)

ऊपर हमने डार्विन, टायलर, मौर्गन, हैड्न आदि का उल्लेख किया है जिनका कथन यह है कि आदि-समाज में मानव की सस्कृति की विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार उत्पत्ति हुई और इसी सिद्धान्त के अनुसार इसका सवर्धन हुआ। इनका कहना है कि परिस्थिति की जैसी माँग होती है वैसी प्रतिक्रिया करने की प्राणी में स्वाभाविक शक्ति है। सृष्टि के प्रारभ में प्राणी के सम्मुख जैसी परिस्थितियाँ उपस्थित हुईं, उनके अनुसार उसने प्रतिक्रिया की, और इस प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप उसके अग बने, उसकी सस्कृति बनी, उसका सब-कुछ बना। अगर वह प्राकृतिक अवस्थाओं के उत्पन्न होने पर ठीक प्रतिक्रिया न करता, तो आज वह जिन्दा नजर न आता। इन अनुकूल प्रतिक्रियाओ का ही नतीजा है

कि आज मनुष्य के पास अपना विकसित हुआ-हुआ शरीर है, उसकी सामाजिक-सस्कृति में उसके पास परिवार है, धर्म है, भाषा है, अपना राजनैतिक-सगठन है, सब-कुछ है।

विकासवादियो का कहना है कि क्योंकि हर देश और हर काल के मानव का मन एक-सा है, इसलिए समान परिस्थितियो के उत्पन्न होने पर मानव ने सर्वत्र एक-समान संस्कृति को जन्म दिया है। विकासवाद की इस दृष्टि को सम्मुख रखकर विकासवादी-मानवशास्त्री दो शब्दों का प्रयोग करते हैं—'स्वतंत्र-आविष्कार' (Independent inventions) तथा 'समानान्तर-आविष्कार' (Parallel inventions)। इनमें से 'स्वतत्र-आविष्कार' तो वे हैं, जो किन्हीं खास प्रकार की परिस्थितियों के उत्पन्न होने पर मानव-समाज स्वतत्र रूप से, बिना किसी दूसरे से सीखे, अपने-आप आविष्कृत कर लेता है। सस्कृति के प्राय. सभी 'विशिष्ट-गुण' (Cultural traits) इसी प्रकार के 'स्वतत्र-आविष्कार' हैं। कई सास्कृतिक-मानवशास्त्रियों का कहना है कि जब कहीं कोई 'स्वतत्र-आविष्कार' हो जाता है, तब वह दूसरी जगहों में भी इन्हीं लोगो के सम्पर्क में आने के कारण इनके अन्त सबध से पहुँच जाता है। 'प्रसारवादी' (Diffusionists) इसी बात के समर्थक हैं। परन्तु विकासवादियो का कहना है कि ऐसी बात नहीं है। एक 'स्वतत्र-आविष्कार' के आस-पास के लोगों में एक-दूसरे के सम्पर्क में आने के कारण उसका पहुँच जाना तो प्रसारवाद द्वारा समझ आ सकता है, परन्तु हम देखते हैं कि एक-से आविष्कार ऐसे लोगो में भी पाये जाते हैं जिनके आपस में किसी प्रकार के सपर्क में आने की सभावना भी नहीं है। उदाहरणार्थ, कृषि का आविष्कार दक्षिण-पूर्व, दक्षिण-पश्चिम एशिया तथा अमरीका में स्वतत्र रूप से हुआ, शून्य का आविष्कार हिन्दुओ, बैबीलोनियन तथा माया जाति के लोगो में स्वतत्र रूप से हुआ, लेखन-कला का अनेक स्थानों पर स्वतत्र रूप से आविष्कार हुआ, कागज के निर्माण तथा छापेखाने का पूर्व तथा पश्चिम में स्वतत्र रूप से आविष्कार हुआ। एक स्थान के आविष्कार को 'स्वतत्र-आविष्कार' (Independent invention) कहा जाता है, और कई स्थानो में उसी तरह के स्वतत्र-आविष्कारों को 'समानान्तर-आविष्कार' (Parallel inventions) कहा जाता है। विकासवादी सास्कृतिक-मानवशास्त्रियों का कहना है कि इस प्रकार के एक-ही-से आविष्कारो का कई स्थानो में स्वतत्ररूप से समानान्तर प्रकट होना मानव की मानसिक-एकता' (Psychic unity of mankind) के कारण है।

७ संस्कृति के सम्बन्ध में विकासवादी विचार-धारा के तत्त्व
(Basic concepts of Evolutionary theory of Culture)

सस्कृति के प्रादुर्भाव तथा उसके विकास के सबध में विकासवादी सास्कृतिक-मानवशास्त्रियो की जो विचार-धारा है, उसकी मुख्य-मुख्य बातें निम्न हैं :—

(क) मानव-सस्कृति का विकास एक सीधी रेखा में चलता चला आ रहा है। हर क्षेत्र में सरल से विषम की ओर विकास जा रहा है। प्राणी के

शरीर का प्रश्न हो, परिवार, धर्म, भाषा, संस्कृति—हर क्षेत्र में विकास एक ही दिशा में जा रहा है, सरल अवस्था से विषम अवस्था में। इसे 'एक-दैशिक' या 'एक-दिशा-विकास' (Unilinear evolution) कहा जाता है, एक दिशा इसलिए क्योंकि इस सिद्धान्त में विकास की एक ही दिशा है—हर क्षेत्र में 'सरलता से विषमता' की दिशा।

(ख) इस सिद्धान्त की दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि क्योंकि सृष्टि भर में मानव के मानस की रचना एक ही प्रकार की है इसलिए समान परिस्थितियो के उत्पन्न होने पर हर देश तथा काल में मानव के मन की प्रतिक्रिया एक-सी होती है। मानव की 'मानसिक-एकता' (Psychical unity of mankind) के कारण भिन्न-भिन्न स्थानों पर स्वतंत्र रूप से मानव का मानस एक-सी प्रतिक्रिया करता है, इसलिए स्वतंत्र रूप से भी मनुष्य ने भिन्न-भिन्न देश तथा काल में एक-से तथा समानान्तर आविष्कार (Parallel inventions) किये हैं।

(ग) इस सिद्धान्त को मानने वाले अपने पक्ष की पुष्टि में सब से बडी युक्ति यह देते हैं कि उन्नत-समाजों में भी प्रारंभिक-समाज के रीति-रिवाज बचे-खुचे 'अवशेष' (Survivals, vestiges) के तौर पर दिखाई देते हैं। उन्नत समाजो में ये बचे-खुचे प्रारंभिक-समाज के रीति-रिवाजो के अवशेष यह सिद्ध करते हैं कि किसी समय यह समाज भी प्रारंभिक-अवस्था में था जिस अवस्था से विकसित होता-होता यह अब उन्नत-अवस्था में पहुँच गया। अगर यह किसी समय विकास की प्रारंभिक-अवस्था में नहीं था, तो अब उन्नत अवस्था में इसके भीतर प्रारंभिक-अवस्था के 'अवशेष' क्यो दिखाई देते हैं ?

८ सांस्कृतिक-विकास की विचार-धारा की समीक्षा
(Evolutionary theory of Culture Examined)

संस्कृति के संबंध में विकासवाद की विचार-धारा के संबंध में सब विद्वानों की सहमति नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार संस्कृति के विकास के संबंध में उन्होंने जो आक्षेप किये हैं, उनमें से कुछ निम्न हैं —

(क) यह कहना कि संस्कृति का विकास 'वन्यावस्था' से 'असभ्यावस्था' तथा 'असभ्यावस्था' से 'नगरावस्था' में हुआ, परिवार का विकास 'सकरावस्था' से 'यूथ-विवाह' और 'यूथ-विवाह' से 'एक-विवाह' के रूप में हुआ, आर्थिक-विकास फल चुगने से शिकारी-जीवन, शिकारी-जीवन से पशु-पालन और पशु-पालन से कृषि के विकास में हुआ—यह सब विकास तर्क, युक्ति और क्रम से इतना बंधा और जकडा हुआ है कि इसी बात के आधार पर इस प्रकार का विकास मानना युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता। क्या प्राणियो का विकास इस प्रकार निश्चित है कि वह एक ही दिशा में चलता चला जा रहा है ? क्या यह निश्चित बात है कि पहले सकरावस्था ही थी, उसके बाद यूथ-विवाह ही आया, कोई और दूसरा क्रम नहीं आया ? इस प्रकार की निश्चित प्रक्रिया प्राणि-जगत् में चल रही नहीं दीखती। उदाहरणार्थ, यह कहना कि पशु-पालन की सभ्यता कृषि-सभ्यता से पहले

आयी गलत है, क्योंकि उत्तरी अमरीका में अनेक जन-जातियाँ पायी जाती हैं जो कृषि-सभ्यता तक बिना पशु-पालन की जानकारी के पहुँची हैं। ऐसी हालत में विकासवादी लोग संस्कृति के हर क्षेत्र में जो क्रम बतलाते हैं, वह ठीक नहीं माना जा सकता।

(ख) विकासवादियों का क्रम जैसा हमने अभी कहा, तर्क, युक्ति और क्रम से इतना अधिक बंधा-जकड़ा है कि वह जड़-जगत् में भले ही चल सके, प्राणि-जगत् में नहीं चल सकता। प्राणी की अपनी इच्छा भी तो होती है, जो उसे सीधा एक लकीर में विकसित होने से रोकती है। विकासवाद का कहना तो यह है कि विकास एक सीधी रेखा में, एक ही दिशा में, 'एक-दैशिक' (Unilinear evolution) होता चला जा रहा है। विकास की इस प्रकार की एक दिशा, इस प्रकार का एक निश्चित क्रम, जो एक रेखा में आँख मींच कर चल रहा हो, जड़-जगत् के सिवाय चेतन-जगत् में, जहाँ किसी प्रकार के भी व्यवहार में प्राणी की इच्छा प्रधान होती है, नहीं चल सकता।

(ग) यह युक्ति कि उन्नत-समाजों में प्रारंभिक-समाजों के 'अवशेष' (Survivals, vestiges) दिखाई देते हैं जिससे सिद्ध होता है कि किसी समय ये उन्नत-समाज प्रारंभिक अवस्था में थे, तभी ठीक हो सकती है अगर हम विकास-वाद के इस सिद्धान्त को स्वयं-सिद्ध मान लें कि विकास तो हुआ ही है, अब जो 'अवशेष' दिखाई देते हैं, वे इस उन्नत-समाज की पहली किसी उस अवस्था के सूचक हैं, जब यह प्रारंभिक-अवस्था में था। जिसे विकासवादी 'अवशेष' कहते हैं, उसे हम 'अवशेष' क्यों मानें? क्यों न हम यह मानें कि हमारे समाज के ये असली रूप हैं, ये पिछले किसी समय के बचे-खुचे अवशेष नहीं हैं।

(घ) विकासवादी इस बात को भी भूल जाते हैं कि संस्कृति का लेन-देन होता है, एक जगह से वह दूसरी जगह पहुँचती है, इसका 'प्रसार' (Diffusion) होता है। वे भिन्न-भिन्न संस्कृतियों की समानता को देख कर यह कहने लगते हैं कि क्योंकि सृष्टि के मानव के मन की अन्य मानवों में एकता है, इसलिए हर जगह स्वतंत्र रूप से मनुष्य ने एक ही-सी बातों का आविष्कार कर लिया है। इतिहास में हम देखते हैं कि एक संस्कृति के लोग दूसरी जगह जाते हैं दूसरों के संपर्क में आते हैं, इनमें संस्कृतियों का आदान-प्रदान होता है। फिर भला क्यों मान लिया जाय कि हर जगह स्वतंत्र रूप से संस्कृतियों का विकास हुआ है?

(ङ) विकासवादियों का कहना है कि संस्कृति एक दिशा में चलती चली जाती है। हर देश तथा काल में एक-सी संस्कृतियाँ जन्म लेती हैं। धर्म, भाषा, परिवार आदि में विकास की यह एक दिशा सब देशों तथा कालों में पायी जाती है। परन्तु विकासवादियों का इस प्रकार सोचना भी गलत है। गलत इसलिए है क्योंकि वे यह भूल जाते हैं कि संस्कृति के इस प्रकार के एक दिशा के विकास में जातियों-प्रजातियों-उपजातियों-जनजातियों का एक-दूसरे के प्रति विरोध उसे एक दिशा में विकसित नहीं भी होने देता। ऐसी हालत में यह कैसे कहा जा

सकता है कि कोई जाति अगर विकास की दिशा में चलेगी तो वह डार्विन या मौर्गन की निश्चित की हुई सीध में ही बढ़ती चली जायगी।

(च) विकास एक सीधी दिशा में नहीं होता। विकासवाद पर जो आक्षेप किये जाते हैं, वे मुख्यतया इसी कारण किये जाते हैं क्योंकि विकासवादी विकास की एक सीधी दिशा मानते हैं, यह समझते हैं कि 'वहु-देवतावाद' के वाद ही 'एक-देवतावाद' आयेगा, 'यूथ-विवाह' के वाद ही 'एक-पत्नी-विवाह' आयेगा। इस आक्षेप के महत्व को समझ कर ही अब कई विकासवादियो ने अपनी विचार-धारा में परिवर्तन करना शुरू कर दिया है। ये नवीन विचारक यह कहने की जगह कि विकास एक 'सीधी दिशा में'—'एक-दैशिक'—(Unilinear evolution) चलता है, यह कहने लगे हैं कि विकास 'अनुवृत्त की दिशा में' (Parabolic evolution) चलता है। उनका कथन है कि कोई भी सस्था या सगठन पहले शुरु होता है, फिर इससे लोग असतुष्ट होकर इससे उल्टे सगठन वनाने लगते हैं, उससे भी असन्तुष्ट होकर फिर प्रारभ के सगठन की तरफ मुडते हैं, परन्तु इस प्रारभ के सगठन की तरफ मुडते हुए इस वात का ध्यान रखते हैं कि इसका रूप पहले से भिन्न हो, पहले से उच्च-स्तर का हो। उदाहरणार्थ, पहले विवाह में 'सकरता' (Promiscuity) थी। उससे असन्तोष हुआ, तो होते-होते 'एक-विवाही-प्रथा' (Monogamy) तक हम पहुँचे, परन्तु अव फिर स्त्री-पुरुष का सवध ढीला करने की दलीलें दी जा रही हैं, लडके-लडकियो के अलग-अलग रहने में दोष दिखलाये जा रहे हैं, इन का पारस्परिक-सपर्क वढ़ाने का प्रयत्न हो रहा है। यद्यपि यह अवस्था पहले की-सी 'यूथ-विवाही'-अवस्था से भिन्न है, तो भी उसके आस-पास जरूर पहुँचती है। इसी प्रकार विकासवादियो के आदि-समाज में लोग नगे फिरा करते थे, अब उससे उल्टी अवस्था में हम पहुँचे हैं जिसमें कपडे से आदमी लदा रहता है। परन्तु इस अवस्था की भी प्रतिक्रिया चल रही है और स्वास्थ्य के लिए नगे रहने के लिए तरह-तरह की युक्तियाँ दी जा रही हैं। प्राचीनकाल में सम्पत्ति पर किसी का प्रभुत्व नहीं था। जो-कुछ था सव का था, किसी एक का नहीं था। इसकी प्रतिक्रिया के रूप में निजी-सम्पत्ति के विचार ने जन्म लिया। आज हमारे समाज में निजी-सम्पत्ति का विचार जड पकडे हुए है। परन्तु आज हमारे देखते-देखते इस विचार के प्रति भी प्रतिक्रिया उत्पन्न हो रही है और आज का मानव प्राचीनकाल के वन्य-मानव की तरह समाजवादी वनता चला जा रहा है। भेद इतना है कि पहले का मानव सोच-समझ कर समाजवादी नहीं वना था, आज का मानव सोच-समझ कर समाज को समाजवादी वनाने पर तुला हुआ है। इस प्रकार हमने देखा कि विकास की प्रथम अवस्था में मनुष्य जिस प्रकार के जीवन से चला था, वीच में उससे उल्टी गगा वही, परन्तु अव फिर हर दिशा में पहले की-सी अवस्था आती चली जा रही है।

विकासवादी-मानवशास्त्रियों के आलोचकों का कहना है कि जव विकास-वादी स्वय कहने लगे हैं कि सस्कृति का विकास एक दिशा में नहीं जाता, तो फिर

सस्कृति की उत्पत्ति आदि पर विकासवादी दृष्टि-कोण से विचार करना कहाँ तक सगत है ?

९. प्रसारवाद या ऐतिहासिकवाद
(Diffusionism or Historical school)

'सस्कृति' के विकास तथा प्रसार के सवंध में 'विकासवादी-सास्कृतिक-मानवशास्त्र' के पडितों के कथनो का वर्णन हम कर चुके। इनके अतिरिक्त दूसरे विद्वान् हैं, जो 'सस्कृति' की समस्या को विकासवाद से हल करने के स्थान में 'प्रसारवाद' से हल करते हैं। 'प्रसारवाद' क्या है ?

विकासवाद का कहना तो यह था कि धर्म, भाषा, परिवार, समाज तथा सस्कृति की बातें जिन्हें हम सस्कृति के 'विशिष्ट-गुण' (Traits) कह आये हैं, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के उत्पन्न होने पर, मनुष्य उनका 'आविष्कार' (Invention) कर लेता है। परिवार एक खास प्रकार की परिस्थिति में मनुष्य का 'आविष्कार' है, राजा का होना भी एक खास प्रकार की परिस्थिति में मनुष्य का 'आविष्कार' है। ये 'आविष्कार' ही सस्कृति के 'विशिष्ट-गुण' है, इन 'विशिष्ट-गुणों' के समूह से ही 'सस्कृति-सकुल' (Culture complex) बनते हैं--जब भिन्न-भिन्न स्थानों की परिस्थिति एक-सी होती है, तब उन सब जगह 'स्वतत्र आविष्कार' होते हैं, जो दूसरे स्थानों के आविष्कारों के समान होते हैं। विकासवादियों की इस विचार-धारा में इस बात को सामने नहीं रखा गया कि सस्कृति का लेन-देन भी होता है, एक जगह की सस्कृति दूसरी जगह पहुँचती है। विकासवाद की विचार-धारा में मनुष्य की परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप आविष्कार कर सकने की शक्ति पर जोर दिया गया है। प्रसारवादी इस बात को नहीं मानते। उनका कहना है कि मनुष्य का मस्तिष्क आविष्कार जरूर करता है, परन्तु हर जगह स्वतत्र रूप से एक-से आविष्कार होते रहते हैं—यह बात नहीं है। जब दो जातियाँ एक-दूसरे के आस-पास रहती हो, तब क्या हरएक जाति स्वतत्र आविष्कार करेगी या जिसने आविष्कार कर लिया है उससे दूसरी जाति उन बातो को सीख जायगी ? प्रसारवादियों का कहना है कि ससार का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जातियाँ एक-दूसरे से सस्कृति की बातें सीखती हैं। इसीलिए प्रसारवाद को ऐतिहासिकवाद भी कहा जाता है। जब इतिहास इस बात की पुष्टि करता है कि जातियाँ एक-दूसरे से विचारो को उधार लेती हैं, उनसे ग्रहण करती हैं, तब यह कैसे माना जाय कि जातियों की सस्कृति स्वतत्र रूप से उत्पन्न होती है, और स्वतत्र रूप से विकसित होती है।

प्रसारवाद को ब्रिटिश, जर्मन तथा अमरीकन लेखकों ने भिन्न-भिन्न तौर-से प्रकट किया है, इसलिए हम इन तीनों का अलग-अलग वर्णन करेंगे।

(क) ब्रिटिश-प्रसारवादी या ईजिप्शियन स्कूल (British or Pan-Egyptian School)—प्रसारवादी सिद्धान्त की एक शाखा ब्रिटिश मानव-शास्त्रियों की है। इनमें इलियट स्मिथ (Elliot Smith) तथा

पैरी (Perry) मुख्य हैं। इलियट स्मिथ का कहना था कि संस्कृति के प्रसार में सबसे बड़ा कारण सांस्कृतिक-तत्वों का दूसरों से उधार लेना है। इलियट एक वनस्पति-शास्त्र का पंडित था और कैरो में कुछ देर तक काम करता रहा था। कैरो को देख कर उसने यह स्थापना की कि संसार की सबसे प्रथम संस्कृति का जन्म ईजिप्ट में हुआ और यहीं से संस्कृति का वृक्ष शाखा-प्रशाखाओं के रूप में संसार भर में फैला। इलियट स्मिथ का कहना था कि मनुष्य का मस्तिष्क स्वभाव से आविष्कारों के लिए उपजाऊ नहीं है, इसलिए किन्हीं खास परिस्थितियों में ही संस्कृति के वे तत्व, जिनसे परिवार, भाषा, शासन, धर्म आदि बनते हैं, उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार के तत्व बार-बार नहीं पैदा होते। इस प्रकार की परिस्थिति जिसमें संस्कृति के वे तत्व जन्म ले सकते, केवल प्राचीन ईजिप्ट में मौजूद थी, और किसी दूसरी जगह मौजूद नहीं थी। ऐसी हालत में ईजिप्ट ही सभ्यता का आदि स्रोत था, और यहां ही ऐतिहासिक-काल में मानव की प्रथम संस्कृति ने जन्म लिया था। यहीं से संस्कृति का संसार के अन्य प्रदेशों में प्रसार हुआ। इलियट के ईजिप्ट को आदि-संस्कृति का स्रोत सिद्ध करने के कारण ही इस सिद्धान्त को 'संस्कृति का मिस्रीवाद' (Pan-Egyptian theory of Culture) भी कहा जाता है। इलियट का कहना था कि ज्यों-ज्यों संस्कृति अपने केन्द्र से चल कर दूर-दूर पहुँचती है, त्यों-त्यों इसमें हल्कापन आता जाता है। ईजिप्ट के स्रोत से फूट कर आज संस्कृति संसार के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में उस रूप में नहीं रही जिसमें यह आदि-काल में थी। इसका कारण यही है कि यह अन्य क्षेत्रों में फैलती-फैलती हल्की हो गई है, मध्यम पड़ गई है, इसका कहीं-कहीं रूप ही बदल गया है। ईसा से ४,००० वर्ष पहले ईजिप्ट की नील नदी की घाटी में एक संस्कृति फूल-फल रही थी जिस में धर्म था, सामाजिक-संगठन था, परिवार की संस्था मौजूद थी, मृतक का यथा-विधि संस्कार किया जाता था, ये लोग मकान बना कर रहते थे, कपड़े पहनते थे, इनमें कला थी, इनके पास उपकरण थे, सभ्यता तथा संस्कृति की सब बातें इनके पास थीं। जिस समय ईजिप्ट अपनी संस्कृति के शिखर पर पहुँचा हुआ था, ईसा से ४,००० वर्ष पहले, उस समय संसार के अन्य स्थानों में मानव बन्दर की तरह अपना जीवन बिता रहा था, नंगा फिरता था, जंगल में मारा-मारा फल-फूल से अपना पेट भरता था। यह विचार है इलियट स्मिथ का।

श्रीयुत् लोइ (Lowie) ने इलियट स्मिथ के इस ईजिप्ट-प्रेम पर चुटकी लेते हुए कहा है कि अगर ये हजरत ईजिप्ट में कुछ दिन न काट कर यूफ्रेटीज नदी के किनारे अपने दिन काटते, तो ईजिप्ट को संस्कृति का आदि-स्रोत कहने के स्थान में बेबीलोन को संसार की सब संस्कृतियों का मूल-स्थान घोषित करते। असल में, जैसा हम पिछले एक अध्याय में देख आये हैं, विद्वानों ने भिन्न-भिन्न स्थानों को सभ्यता का आदि-स्रोत सिद्ध करने का प्रयत्न किया भी है। कोई इस स्रोत को युरोप में ढूंढ़ता है, कोई एशिया में ढूंढता है, कोई भारत में ढूंढ़ता है। इन सब की तरह इलियट स्मिथ ने ईजिप्ट में संस्कृति के इस स्रोत को ढूंढने का यत्न किया है

परन्तु किसी भी स्थान के विषय में निश्चय से यह कहना सकना कि यही संसार की सभ्यता का आदि-स्रोत है, कठिन है।

लोई ने इलियट के कथन को काटने के लिए और भी युक्तियाँ दी हैं। उनका कहना है कि जब दो संस्कृतियों का मेल होता है, तब यह कहना कि उच्च-संस्कृति निम्न-स्तर की संस्कृति को अपनी देन देगी और उससे कुछ नहीं लेगी, ग़लत है। इलियट के कथनानुसार तो ईजिप्ट ने ही सब को दिया, परन्तु अगर यह मान भी लिया जाय कि ईजिप्ट के सम्पर्क में आकर अन्य संस्कृतियों ने उससे लिया, तो भी यह मानना पड़ेगा कि ईजिप्ट ने भी उन संस्कृतियों से कुछ लिया होगा। देने के साथ लेना सदा चला करता है। युरोप के लोग घोड़ा तथा गाड़ी अमरीकन इण्डियनों के यहाँ लेकर गये, परन्तु मक्का, आलू और तरह-तरह की वनस्पतियाँ उनके यहाँ से लेकर भी आये। चीनी-सभ्यता ने मलयन सभ्यता को दिया, परन्तु साथ ही उनसे लिया। इसलिए ईजिप्ट से अगर अन्य संस्कृतियों का संपर्क हुआ होगा, तो दोनों में लेना-देना हुआ होगा, यह नहीं कि वे तो नंगे फिरते थे, पास कुछ था ही नहीं, और ईजिप्शियन लोग ही संस्कृति का ठेका लिये बैठे थे। लोई का कहना है कि यह कहना कि ईजिप्ट के सिवाय अन्य सब बन्दर के-से थे, एक अहमकपने की बात के सिवाय और कुछ नहीं।

इसके अतिरिक्त लोई का कहना है कि एस्किमो-प्रजाति के लोग बर्फ़ानी जगहों में घर बना कर रहते हैं, उनके घर बर्फ़ के बने होते हैं, वहाँ बर्फ़ पिघलती ही नहीं, इसलिए वहाँ बर्फ़ के घर बना सकना संभव भी है, ये घर उन्होंने ईजिप्ट वालों से कब सीखे? ईजिप्ट में तो बर्फ़ के घर बनते ही नहीं थे। लोई का कहना है कि इलियट तथा पैरी ईजिप्ट को जरूरत से ज्यादा तूल देते हैं। यह कहना कि मनुष्य का दिमाग़ नवीन आविष्कारों के लिए उपयुक्त नहीं है, ग़लत है। एस्किमो लोग अपने उपजाऊ दिमाग़ से ही तो बर्फ़ के मकान बनाते हैं, ईजिप्ट वालों से सीख कर नहीं।

(ख) जर्मन-प्रसारवादी या कलटरक्रीज़ (संस्कृति-चक्र)-वादी (German or Kulturkriese Diffusionists)—१९१० से कुछ जर्मन-लेखकों ने प्रसारवाद का अपने ही नये ढंग से प्रतिपादन करना शुरू किया। इनमें प्रमुख व्यक्ति ग्रेबनर (Graebner), अँकरमैन (Ankermann) आदि हैं। इनका सिद्धान्त 'प्रसारवाद' तथा 'विकासवाद' का सम्मिश्रण है। जैसे विकासवादी कहते हैं कि भिन्न-भिन्न स्थानों में स्वतन्त्र रूप से सांस्कृतिक-तत्व प्रकट होते हैं, वैसे ये जर्मन लेखक भी कहते हैं कि भिन्न-भिन्न स्थानों में स्वतंत्र रूप से भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ उत्पन्न होती हैं। इलियट स्मिथ का कहना तो यह था कि ईजिप्ट में स्वतंत्र रूप से संस्कृति उत्पन्न हुई और वहीं से इसका संसार के कोने-कोने में प्रसार हुआ। कल्टरक्रीज़ के मानने वाले जर्मन लेखकों का कहना है कि विकासवादियों का यह कहना तो ठीक है कि भिन्न-भिन्न स्थानों में स्वतन्त्र रूप से संस्कृतियाँ उत्पन्न हुईं, परन्तु इसके साथ यह भी मानना पड़ेगा कि वे संस्कृतियाँ वहाँ पैदा होकर संसारभर

में फैल गई,उनका प्रसार हुआ । इलियट स्मिथ सिर्फ ईजिप्ट से सस्कृति का विकास मानता है, जर्मन लेखक एक स्थान से ही नहीं, भिन्न-भिन्न स्थानों से, जहाँ भिन्न-भिन्न सस्कृतियाँ उत्पन्न हुईं, सस्कृति का प्रसार मानते हैं । इस सिद्धान्त में कुछ बात विकासवादियों की और कुछ बात प्रसारवादियो की मिली-जुली है । इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वालों का कहना है कि इस प्रकार के सस्कृति के चक्र होते हैं । पहले किसी एक स्थान से सस्कृति का चक्र चला, वह फैला, उसका प्रसार हुआ, उसके बाद किसी दूसरे स्थान से किसी दूसरी सस्कृति का चक्र उठा, वह चला, फैला और उसका प्रसार हुआ । इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानो से उठे भिन्न-भिन्न सस्कृतियो के चक्र ससार में फैलते रहते हैं । यही कारण है कि आज जो सस्कृतियाँ हमें दिखलाई देती है, उनमें भिन्न-भिन्न सस्कृतियो की तहें दिखलाई पडती हैं। ग्रेबनर आदि सस्कृतियो का अध्ययन इसी दृष्टि से करते हैं। एक सस्कृति को लेकर उसकी भिन्न-भिन्न तहों को खोलते हैं । ये तहें भिन्न-भिन्न कालो में भिन्न-भिन्न सस्कृतियों के भिन्न-भिन्न सास्कृतिक-केन्द्रों से बनी थीं। इस अध्ययन में सस्कृतियो की तहो पर तहें खुलती चली जाती हैं । सस्कृतियो की इन्हीं तहो का पता लगाना मानव-शास्त्री का काम है। यह भाव 'कलटरक्रीज़'-शब्द में आ जाता है। 'कलटर' का जर्मन भाषा में अर्थ है 'कलचर' अर्थात् 'सस्कृति', और 'क्रीज़' का अर्थ है 'सरकल' अर्थात् 'चक्र'। सस्कृतियों के चक्रो को 'कलटर-क्रीज़' कहते हैं ।

इस सिद्धान्त के अनुसार सस्कृति के चक्रो और प्रत्येक सस्कृति की तहो को उघाडने का काम इतिहास का है और इसलिए इस सिद्धान्त को 'कलटर-क्रीज़' के अतिरिक्त 'कलटर-हिस्टोरीश' (Kulturhistorische)—अर्थात् 'सास्कृतिक-इतिहासवाद' भी कहते हैं। ग्रैबनर का कथन है कि जहाँ सस्कृति का इतिहास मिल जाय, वहाँ तो सस्कृति के चक्रो का पता लगाना सहज हो ही जाता है, परन्तु जहाँ इतिहास की साक्षी न मिले, यह न पता चले कि अमुक सस्कृति का ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर अमुक स्थान में प्रसार हुआ, वहाँ दोनों सस्कृतियो के 'विशिष्ट-गुणों' (Traits) की समानता के आधार पर प्रसार का निर्णय किया जा सकता है। परन्तु इन 'विशिष्ट-गुणो' की केवल समानता ही प्रसार के निर्णय में कारण नहीं हो सकती। समानता देखने में दो बातों को ध्यान में रखना होगा। पहली बात तो 'रूप' (Form) की समानता है, दूसरी 'सख्या' (Number या Quantity) की समानता है । उदाहरणार्थ, अगर कहा जाय कि नक्षत्र की राशियों का एक सस्कृति से दूसरी सस्कृति में प्रसार हुआ है, तो यह सिद्ध करना होगा कि राशियों का 'रूप', उनका 'नाम' दोनों सस्कृतियों में एक-सा है, साथ ही यह भी देखना होगा कि इन राशियों की 'सख्या' भी दोनों सस्कृतियो में समान है। सिर्फ नक्षत्र की राशि अर्थात् सिर्फ उसके रूप की सस्कृतियों में विद्यमानता से प्रसार का निर्णय नहीं किया जा सकता।

इस सिद्धान्त के आलोचकों का कथन है कि इस सिद्धान्त द्वारा किन्हीं खास-खास क्षेत्रो में सस्कृति के प्रसार की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया

जाता है, परन्तु यह कार्य विकासवाद या अन्य सिद्धान्तो द्वारा इससे अच्छा हो जाता है, फिर इस सिद्धान्त की क्या आवश्यकता है। जैसा हम अभी देखेंगे, अमरीकन मानवशास्त्रियो ने जिस प्रकार सस्कृति के प्रसार के प्रश्न को सुलझाने का प्रयत्न किया है, वह जर्मन विद्वानों के प्रयत्न से कहीं बेहतर है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त के समर्थक हर किसी 'विशिष्ट-गुण' (Traits) तथा 'संस्कृति-संकुल' (Culture complexes) को लेकर उसका प्रसार दिखाने लगते हैं—ऐसे 'गुणों' तथा 'सकुलों' का प्रसार जिनका प्रसार हुआ भी है या नहीं, इसमें सन्देह है। होना तो यह चाहिए कि पहले यह सिद्ध किया जाय कि अमुक 'गुण' अथवा अमुक 'सकुल' किसी सस्कृति का प्रधान गुण था, प्रधान सकुल था। जो प्रधान वस्तु होगी, उसी का तो प्रसार होगा, हर किसी गुण या सकुल का तो प्रसार नहीं होने लगेगा, यह तो नहीं होगा कि प्रधान गुणो और सकुलो का प्रसार तो न हो, गौण-गुणों का होने लगे। इस सिद्धान्त के लोग इन गुणो तथा सकुलो में प्रधान-गौण की विवेचना न करके सिर्फ हर सस्कृति-चक्र के गुणो की समानता देख कर उसका प्रसार सिद्ध करने के लिए दौड़ पड़ते हैं। इसी कमी को देखकर ग्रैबनर ने यह कहना शुरू किया कि केवल समानता का होना प्रसार सिद्ध करने के लिए काफी नहीं है, 'समानता' को ध्यान में रखते हुए 'रूप' तथा 'सख्या' को भी ध्यान में रखना चाहिए।

(ग) अमरीकन-प्रसारवादी अथवा सास्कृतिक-क्षेत्र-वादी (American or Culture area Diffusionists)—अमरीकन मानव-शास्त्री फ्रेजर बोआस (Frazer Boas) तथा उनके पीछे चलते हुए क्लार्क विस्सलर (Clark Wissler) का कथन है कि एक ही क्षेत्र से संस्कृति ससार भर में फैली—यह एक बहुत बडा दावा है। इतना बडा दावा सिद्ध करने से पहले हमें ससार भर को एक-ही-सी संस्कृति के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में बाँट लेना चाहिए। एक क्षेत्र को दूसरे क्षेत्र से जुदा करते हुए हमें यह देख लेना चाहिए कि जिस क्षेत्र को हम एक सस्कृति का क्षेत्र निर्धारित करने लगे हैं, उसमें एक-से उपकरण इस्तेमाल होते हैं, एक-सी कला, एक-सी भाषा, एक-सा धर्म, एक-सी शासन-व्यवस्था पायी जाती है या नही। इस प्रकार सस्कृति के एक क्षेत्र का पता लगा कर उसके भिन्न-भिन्न हिस्सों में सस्कृति के प्रसार पर विचार किया जा सकता है। विस्सलर ने अमरीका तथा आफ्रीका के सास्कृतिक-क्षेत्र की दृष्टि से भिन्न-भिन्न क्षेत्र निश्चित किये हैं। उदाहरणार्थ, उत्तरी अमरीका के भी उत्तर-भाग से लेकर आर्कटिक किनारे तथा उसके आस-पास के प्रदेश को 'एस्किमो-संस्कृति-क्षेत्र' (Eskimo Culture area) का नाम दिया गया है। इस सस्कृति का क्षेत्र निर्धारण करने के लिए यह देखा गया है कि इन प्रदेशो में जो प्रजातियाँ बसती हैं, वे नस्ल की दृष्टि से भले ही भिन्न-भिन्न हों, परन्तु उनके शिकार खेलने के उपकरण एक-से हैं, कपडे एक-से हैं, जिस वस्तु के शिकार के लिए वे उत्सुक रहते हैं, वह एक-सी है, उनकी धार्मिक-भावनाएँ एक-सी हैं। इसी प्रकार एक दूसरा सास्कृतिक-क्षेत्र निर्धारित किया

गया है, जिसका नाम 'प्रशान्त उत्तर-पश्चिम तट' (Pacific North-West Coast Culture area) है। इस क्षेत्र में सब जगह एक-सी वशानुगत जाति व्यवस्था पायी जाती है, एक-से मार्केट के केन्द्रप ये जाते हैं, रुपये-सिक्के का प्रयोग पाया जाता है, एक-से मकानो की रचना पायी जाती है। अमरीका में इस प्रकार इन विद्वानो ने सस्कृति के कई क्षेत्र निश्चित किये हैं, जो एक-दूसरे से सास्कृतिक-विशिष्ट-गुणो तथा सस्कृति-सकुलों के कारण अलग-अलग हैं। अमरीका की तरह विस्सलर आदि विद्वानों ने आफ्रीका का भी सास्कृतिक-क्षेत्रो में वर्गीकरण किया है। उदाहरणार्थ, मैडीटरेनियन सास्कृतिक-क्षेत्र, ईजिप्शियन सास्कृतिक क्षेत्र, गिनी-सूडान सास्कृतिक-क्षेत्र, एबीसीनियन सास्कृतिक-क्षेत्र, कोगो सास्कृतिक क्षेत्र—ये सब सास्कृतिक-क्षेत्र इन-इन क्षेत्रों के सास्कृतिक-तत्वों की अभिन्नता वे आधार पर किये गये हैं। इनमें से एक-एक क्षेत्र में सस्कृति का किसी अपने हे केन्द्र से प्रसार हुआ है। सस्कृति के क्षेत्र मे कोई ऐसा केन्द्र-स्थान ढूंढा जा सकता है जिसे उस 'सस्कृति का केन्द्र' (Culture centre) कहा जा सके। सस्कृति वे इस क्षेत्र में प्रसार होते-होते जब सस्कृति प्रान्त-भाग में पहुँच जाती है, वह भाग जहाँ यह क्षेत्र दूसरे क्षेत्रों के साथ मिलता है, वहाँ इस सस्कृति में हल्कापन आ जात है। सस्कृति के इस प्रान्त भाग को विस्सलर ने 'प्रान्तीय-सस्कृति' (Margina culture) का नाम दिया है। इन सब बातो पर हम 'सास्कृतिक-मानवशास्त्र के गुणों' पर लिखते हुए प्रकाश डाल आये हैं।

इस सिद्धान्त के आलोचकों का कहना है कि जर्मन प्रसारवादियों की तरह यह सिद्धान्त भी 'सास्कृतिक-विशिष्ट-गुणों' (Culture traits) तथा 'सस्कृति सकुलों' (Culture complexes) के तुलनात्मक महत्व पर उतना बल नहीं देत जितना इसे देना चाहिए। उदाहरणार्थ, एस्किमो प्रजाति के लोग बर्फ का घ बना कर रहते हैं—यह उनकी सस्कृति का 'विशिष्ट-गुण' (Trait) है सील नामक एक जानवर का शिकार करते हैं—यह उनकी सस्कृति का एक औ 'विशिष्ट-गुण' है। क्या हम यह समझें कि जहाँ-जहाँ बर्फ के मकान बने पाए जायेंगे, वहाँ-वहाँ एस्किमो-सस्कृति का प्रसार हुआ, क्या हम यह समझे कि जहाँ-जह सील का शिकार होता है, वहाँ-वहाँ एस्किमो-सस्कृति का प्रसार हुआ है। असल बात यह है कि इन दोनो मे से सील का शिकार एस्किमो-सस्कृति का अभिन्न अ है, बर्फ का मकान बनाना उतना अभिन्न अग नहीं है। यह हो सकता है कि किस प्रदेश में बर्फ के मकान बनते हों और वहाँ एस्किमो-सस्कृति का प्रसार न हुअ हो, परन्तु यह नहीं हो सकता कि कहीं सील का शिकार होता हो और वहाँ एस्किम सस्कृति न फैली हो। इस दृष्टि से प्रत्येक सस्कृति के 'विशिष्ट-गुणों' में भ 'प्रधानता-गौणता' (Characterization) का पता लगाना आवश्यक है, इ प्रकार की सूची बन जाना आवश्यक है जिससे यह पता चले कि सस्कृति के निर्धा रण करने में किस गुण का कितना महत्व है। यह सब काम अमरीकन-प्रसारवाद नहीं करते, यही इस सिद्धान्त का दोष है।

१०. सस्करणवाद (Acculturation)

हमारी मुख्य समस्या है कि सस्कृति कैसे उपजती है, कैसे वढ़ती है, कैसे फैलती है। इस सवध में हम 'विकासवादी' तथा 'प्रसारवादी' दृष्टि-कोणो को देख चुके। एक तीसरा दृष्टि-कोण है जिसे 'संस्करणवाद' का नाम दिया जाता है। यह 'सस्करणवाद' क्या है ?

जव एक सस्कृति के कुछ 'विशिष्ट-गुण' (Traits) तथा 'सस्कृति-सकुल' (Culture complexes) दूसरी सस्कृति में प्रसारित हो जाते हैं, तव हम इसे 'सस्कृति-प्रसार' (Culture diffussion) कहते हैं, जव ये 'गुण' तथा 'सकुल' दूसरी सस्कृति को इतना प्रभावित कर देते हैं कि ये इस दूसरी सस्कृति को खत्म-सा करके अपना स्थान वना लेते हैं, तव हम इसे 'पर-सस्कृति-ग्रहण' या थोडे में 'सस्करण' (Acculturation) कहते हैं। 'प्रसारवाद' (Diffussionism) तथा 'सस्करणवाद' (Acculturation) में कोई मौलिक भेद नहीं है, मात्रा का भेद है। प्रत्येक प्रसार में सस्करण निहित है और प्रत्येक सस्करण में प्रसार निहित है। भेद इतना ही है कि 'प्रसार' पर विचार करते हुए हम सस्कृति के कुछ ही 'विशिष्ट-गुणों' (Traits) तथा 'सकुलों' (Complexes) पर विचार करते हैं, परन्तु 'सस्करण' पर विचार करते हुए कुछ ही नहीं, परन्तु सभी 'गुणो' तथा 'सकुलो' पर विचार करते हैं। प्रसार में एक सस्कृति के कुछ 'गुण' तथा 'सकुल' दूसरी सस्कृति में फैलते हैं, सस्करण में सभी 'गुण' तथा 'सकुल' दूसरी सस्कृति पर हावी हो जाते हैं। जव एक सस्कृति के सभी 'गुण' तथा 'सकुल' दूसरी सस्कृति पर आक्रमण करके उनका स्थान ग्रहण कर लेते हैं, तव इसे 'संस्कृति-सस्करण' (Acculturation) कहा जाता है।

हरस्कोविट्स (Herskovits) का कहना है कि जव एक वच्चा अपनी ही सस्कृति में पलता हुआ उस अपनी सस्कृति को अपने जीवन में ढाल कर उसे आत्मसात् करता है, तव इस प्रक्रिया को 'सस्कृति का आत्मसात्-करण' (Enculturation) कहा जा सकता है, जव कोई सस्कृति दूसरी संस्कृति के कुछ 'विशिष्ट-गुणो' तथा 'सकुलो' को अपने भीतर आत्मसात् करती है, तव इसे 'सस्कृति का पर-करण' (Transculturation) कहा जा सकता है, जव कोई सस्कृति अपनी स्वतत्र सत्ता को छोड़ कर दूसरी सस्कृति में अपने को विलीन कर देती है, तव इस प्रक्रिया को 'सस्कृति-सस्करण' (Acculturation) कहा जा सकता है। 'सस्कृति-सस्करण' में एक सस्कृति अपना स्वतत्र व्यक्तित्व खो देती है, दूसरी सस्कृति के साथ इसका 'सात्मीकरण' (Assimilation) हो जाता है, परन्तु कभी-कभी जिस सस्कृति ने अपने स्वतत्र-व्यक्तित्व को खो दिया होता है, समय वीतने पर उसमें प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, और वह अपने स्वतत्र-व्यक्तित्व को पुन प्राप्त करने के लिए जोर मारती है। इसे 'प्रतिक्रिया-सस्करण' (Contra-acculturation) कहा जाता है। उदाहरणार्थ, छोटा नागपुर

में सदियो की आत्म-विस्मृति तथा आत्म-विलयन के वाद झारखड-सस्कृति के लोग जाग उठे है और अपनी स्वतत्र-सत्ता की माँग कर रहे है। यह 'प्रतिक्रिया-सस्करण' का उदाहरण है।

'सस्कृति-सस्करण' दो तरह का हो सकता है—'ऐच्छिक-सस्करण' (Voluntary acculturation) तथा 'स्वाभाविक-सस्करण' (Spontaneous acculturation)। 'ऐच्छिक-सस्करण' तो तव होता है जव कोई सस्कृति जान-वूझ कर दूसरी सस्कृति के किन्हीं तत्वों को ग्रहण करती है। 'स्वाभाविक-सस्करण' तव होता है जव सोच-समझ कर नहीं, अपने-आप किसी सस्कृति के तत्व दूसरी में आ घुसते हैं। उदाहरणार्थ, जापानियो ने १८६८ से प्रयत्नपूर्वक, अपनी इच्छा से युरोपियन-सस्कृति के गुणो को जापानी-सस्कृति में आरोपने का प्रयत्न किया। १८७१ में अपनी इच्छा से सामन्तवाद को समाप्त कर दिया। इच्छापूर्वक किये गये प्रयत्न अधिकतर शासन-व्यवस्था द्वारा, कानून वना कर किये जाते हैं। ये सव 'ऐच्छिक-सस्करण' के उदाहरण हैं। भारत तथा चीन का सपर्क पुराना है। यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ लोगों का सदियो से आना-जाना रहा। इस आने-जाने से इनके सपर्क के परिणामस्वरूप दोनो ने एक-दूसरे से कुछ लिया और एक-दूसरे को कुछ दिया। ये 'स्वाभाविक-सस्करण' के उदाहरण हैं।

सस्करण की दिशा सदा एक तरफ को चलती है। जव प्रधान-सस्कृति का, ऐसी सस्कृति का जिसका रौव-दाव वना हुआ है, किसी गौण सस्कृति से सपर्क होता है, तव प्रधान सस्कृति गौण-सस्कृति को दवा लेती है। यही कारण है कि जब जगली तथा असभ्य जातियों का सभ्य-जातियो के साथ सपर्क होता है, तव असभ्य-जातियों की सस्कृति खतरे में पड जाती है। कभी-कभी अविकसित जातियो की सस्कृति इस सपर्क से इतने खतरे में पड जाती है कि उसके वचने के ही कोई आसार नहीं रहते। प्रो० हट्टन का कहना है कि अगर 'सस्कृति-सस्करण' (Acculturation) सीमा से परे चला गया, तो यह सभावना है कि ससार में सव सस्कृतियों का लोप होकर जो सस्कृति सव से प्रधान होगी, वही वच रहे, अन्य लुप्त हो जाँय। प्रो० हट्टन का यह भय ठीक नहीं है, क्योकि इतिहास इस वात की साक्षी नहीं देता कि कोई सस्कृति सदा के लिए लुप्त हो जाती है। यह ठीक है कि प्रवल सस्कृति के सामने निर्वल सस्कृति अपने को मिटा देती है, परन्तु कुछ काल के वाद इस निर्वल सस्कृति में ही प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है, और यह अपने लुप्त होते हुए सास्कृतिक-तत्वो को फिर-से समेटने का प्रयत्न करने लगती है। हम प्राय देखते हैं कि जव दो सस्कृतियों का सपर्क होता है, और इस सपर्क में एक सस्कृति नष्ट होने की स्थिति में आ रही होती है, तव इसी अवस्था से अपने को नष्ट होने से वचाने की प्रतिक्रिया इसमें उत्पन्न हो जाती है। इस प्रक्रिया को सास्कृतिक-मानवशास्त्रियों ने 'पुनर्जागरण' (Revivals) का नाम दिया है। भारत में जव पाश्चात्य-सस्कृति ने सारे देश को मोह-सा लिया था, पाश्चात्य-सस्कृति की चमक-दमक में यहाँ की जनता मानो जैसे नदी के प्रवाह में वहने लगी

थी, तव इस देश में अपनी सस्कृति की रक्षा के लिए उद्योग प्रारंभ हो गये। ऋषि दयानन्द जैसे समाज-सुधारकों ने युरोप के पीछे भागी जा रही जनता को वरवस अपनी संस्कृति की तरफ खींचा और यहाँ की सस्कृति को युरोप की संस्कृति मे विलीन होने से वचा लिया।

इस प्रकार हमने देखा कि 'सस्कृति' के सवध में---उसकी उत्पत्ति, उसके विस्तार, प्रसार आदि के सवध में सास्कृतिक-मानवशास्त्रियो के क्या-क्या विचार हैं, और किस प्रकार ये विचार आज के मानवशास्त्र को प्रभावित कर रहे हैं।

१६

'अन्तः सांस्कृतिक सम्बन्ध' अर्थात् 'एकीकरण'

(INTER-CULTURAL RELATION OR INTEGRATION)

पिछले अध्याय में 'सस्कृति' के सबध में हमने 'विकासवाद' (Evolutionism) तथा 'प्रसारवाद' (Diffusionism) का वर्णन किया। इन दोनों वादों का मुख्य उद्देश्य 'सस्कृति' की उत्पत्ति तथा उसके विस्तार के सबध में विचार करना है। विकासवादियो का कहना है कि परिस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में मानव-समाज नये-नये आविष्कार करता रहता है। जिस सस्कृति में जो आविष्कार होता है, वह उस सस्कृति का 'विशिष्ट-गुण' (Culture trait) कहलाता है। इस प्रकार एक नहीं, अनेक स्थानों में सस्कृति के 'विशिष्ट-गुण' उत्पन्न होते हैं, और भिन्न-भिन्न स्थानो में सस्कृति 'समानान्तर रूप' (Parallel) में प्रकट होती है। इसके विपरीत प्रसारवादियो का कहना है कि सास्कृतिक-आविष्कार एक-दो स्थानो में, केन्द्रों में प्रकट होते हैं, बाकी दूसरी जगहों पर सस्कृति के इन केन्द्रों से इन सास्कृतिक-आविष्कारों का प्रसार होता है।

१ 'अन्त सास्कृतिक सम्बन्ध' या 'एकीकरण' क्या है?
(What is Inter-Cultural Relation or Integration?)

परन्तु कई मानव-शास्त्रियों ने कहना शुरू किया कि सस्कृति की उत्पत्ति तथा उसके प्रसार के अलावा सब से बडा प्रश्न यह भी तो है कि यह सस्कृति जो उत्पन्न हुई, जो फैली, उसका आन्तरिक स्वरूप क्या है? बिडने (Bidney) ने कहा है कि कृषि, व्यवसाय, सामाजिक-सगठन तथा मानसिक-विकास के साधनो का परिणाम 'सस्कृति' है। कृषि से जो-कुछ पैदा होता है, वह 'कृषि-निर्मित' (Agrofacts) है, व्यवसाय से जो-कुछ बनता है, वह 'व्यवसाय-निर्मित' (Artifacts) है, सामाजिक-सगठन से जो-कुछ सगठित होता है, वह 'समाज-निर्मित' (Sociofacts) है, भाषा-धर्म-कला आदि मानसिक-तत्वों से जो-कुछ रचा जाता है, वह 'मनो-निर्मित' (Mentifacts) है। यही 'कृषि-निर्मित', 'व्यवसाय-निर्मित', 'समाज-निर्मित' तथा 'मनो-निर्मित' जो-कुछ है, वह सस्कृति है। परन्तु क्या इतना-कुछ जान लेना सस्कृति के आन्तरिक स्वरूप को जानने के लिए पर्याप्त है? इन बातों के ज्ञान से हमें कृषि, व्यवसाय, समाज, भाषा, धर्म, कला आदि के बाह्य-तत्वों का तो ज्ञान हो जाता है, परन्तु यह ज्ञान तो नहीं होता कि सस्कृति के ये तत्व समाज के अन्तर में बैठे हुए क्या काम करते हैं। उदाहरणार्थ,

किसी संस्कृति में घोडे की नाल पायी जाती है। 'विकासवादी' इस नाल को देख कर यह बतलाने का प्रयत्न करेगा कि अमुक युग में, अमुक काल में नाल का आविष्कार हुआ। क्या यह 'पूर्व-पाषाण-युग' में प्रकट हुई या 'नव-पाषाण-युग' में। 'प्रसारवादी' इस नाल को देख कर यह बतलाने का प्रयत्न करेगा कि किस संस्कृति में यह पहले प्रकट हुई, और फिर कहाँ-कहा इसका प्रसार हुआ, कहाँ-कहाँ फैली। इस प्रकार के विवेचन से हमें क्या पता चलता है? इन विवेचनो से हमें इन तत्वो का, संस्कृति के 'विशिष्ट-गुणों' (Culture traits) तथा 'संकुलों' (Complexes) का ऐतिहासिक ज्ञान हो जाता है, परन्तु इन 'विशिष्ट-गुणों' या संस्कृति के इन तत्वों का 'कार्य' क्या है—इसका ज्ञान नहीं होता। 'विकासवाद' तथा 'प्रसारवाद' को एक तरफ रख कर मानव-शास्त्रियो का एक दल ऐसा उठ खड़ा हुआ, जिसने इस बात पर जोर देना शुरू किया कि संस्कृति के तत्वों, गुणों के विषय में ज्ञान प्राप्त करना हमारे लिए इतना आवश्यक नहीं है, जितना संस्कृति के इन तत्वों के 'कार्य' के विषय में ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। जिस संस्कृति में नाल का आविष्कार हुआ, उसमें नाल का 'कार्य' (Function) क्या था, इसका इसी संस्कृति के अन्य तत्वों से सबंध क्या था? संस्कृति के ये तत्व बिना आपसी किसी संबंध के किसी संस्कृति में पडे नहीं रहते। संस्कृति में अनेक तत्व होते हैं, उन तत्वों का अपना-अपना 'कार्य' होता है, और यह 'कार्य' इस तरह का होता है कि इन सांस्कृतिक-तत्वों के पारस्परिक-संपर्क से संस्कृति के तत्व दूध व पानी की तरह घुल-मिल जाते हैं, उनका 'एकीकरण' (Integration) हो जाता है। जैसे चीटियाँ अनाज के दानों का ढेर इकट्ठा करती हैं, इस ढेर में दाने-ही-दाने होते हैं, परन्तु हर दाना दूसरे दाने से अलग दीखता है—संस्कृति का स्वरूप इस ढेर की तरह का नहीं है। एक तरफ चीटियाँ दानों का ढेर इकट्ठा करती हैं, दूसरी तरफ मधु-मक्खियाँ फूलों से शहद इकट्ठा करती हैं। मधु-मक्खियों का इकट्ठा किया हुआ शहद एक-रस होता है, उसमें अलग-अलग फूल का रस नहीं दीखता। क्यों नहीं दीखता? इसलिए नहीं दीखता क्योंकि हर-एक फूल का रस दूसरे रस में घुल-मिल जाता है। संस्कृति का भी यही हाल है। संस्कृति के भिन्न-भिन्न तत्व किसी संस्कृति में अलग-अलग नहीं पड़े रहते। प्रत्येक 'सांस्कृतिक-विशिष्ट-गुण' का अन्य गुणो के साथ शहद की बून्द की तरह मिल जाने का-सा संबंध होता है। मानव-शास्त्रियो का यह जो दल खड़ा हुआ, उसका कहना था कि संस्कृति कोई 'सांस्कृतिक-गुणों' (Culture traits) के असंबद्ध समूह का नाम नहीं है। 'विकासवादी' तथा 'प्रसारवादी' तो इन गुणो के आधार पर सिर्फ संस्कृति के विशिष्ट-गुणो के इतिहास, उनके विकास, उनके प्रसार पर ही मगज-पच्ची करते रहते हैं, असली चीज इनके विकास, प्रसार आदि की खोज करना नहीं, असली चीज तो संस्कृतियो में इनके 'कार्य' (Function) की खोज करना है, और जिस प्रकार ये सांस्कृतिक-तत्व संस्कृति के अन्य तत्वो के साथ 'सांस्कृतिक-संबंध' (Culture relation) में इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि अपनी संस्कृति

में इनका स्थान चींटियो के इकट्ठे किये हुए अनाज के ढेर में दानो के समान न होकर मधु-मक्खियो के छत्ते में शहद की बूंदो के समान है——इस सब की खोज करना है। इस दृष्टि से विचार करने वाले मानवशास्त्रियो की दृष्टि 'एकीकरण' (Integration) की दृष्टि कहाती है। इन मानव-शास्त्रियो ने सास्कृतिक-तत्वो का अध्ययन 'विकासवाद' तथा 'प्रसारवाद' की नज़र से न करके सास्कृतिक-तत्वों के 'एकीकरण' की नज़र से किया है। इनकी खोज के मुख्य क्षेत्र दो हैं—एक तो सास्कृतिक-तत्वो के 'कार्य' (Function) की खोज, और दूसरा इन तत्वो के अन्य तत्वो के साथ 'अत सास्कृतिक-सबध' (Inter-Cultural relation) की खोज, ऐसे सबध की खोज जिस सबध के कारण ये सास्कृतिक-तत्व उस सस्कृति के अभिन्न अग बने हुए हैं, उन अगो के साथ एक बने हुए हैं। इस प्रकार 'एकीकरण-वादियों' (Integrationists) ने अपने अध्ययन के विषय को अत्यन्त सीमित कर लिया। सारे इतिहास की खोज करने के स्थान में उन्होने अपने को सीमा में बाँध लिया। दूसरे शब्दों मे हम कह सकते हैं कि 'एकीकरणवादियों' ने 'विकास-वादियों' तथा 'प्रसारवादियो' की तरह सस्कृति के विस्तार में जाने के स्थान में सास्कृतिक-तत्वो की गहराई में जाने का मार्ग अपनाया। 'एकीकरण' की विचार-धारा को लेकर जो वाद चले उनमे 'कार्यवाद' (Functionalism), 'सास्कृतिक प्रतिमान' (Pattern of culture), 'विषयवाद' (Themes of culture) तथा 'सास्कृतिक जीवन का तरीका' (Style of life)——ये मुख्य है। हम इनका थोडा-थोडा वर्णन करेंगे।

२ मैलिनोवस्की का कार्यवाद
(Functionalism of Malinowski)

जैसा हमने अभी कहा, कुछ मानव-शास्त्रियो ने यह प्रश्न खडा किया कि सस्कृति के 'विशिष्ट-गुणो' के बाह्य-स्वरूप को जानना, उनके इतिहास तथा प्रसार पर दिमाग़ लडाते जाना मानव-शास्त्र के अध्ययन के लिये पर्याप्त नहीं है, हमे इन तत्वों के आन्तरिक स्वरूप को जानना होगा। ये तत्व अथवा गुण आपस मे अपनी सस्कृति मे किस प्रकार नग मे मोती की तरह जडे हुए, शरीर मे अगों की तरह शरीर के अभिन्न अग तथा कपडे मे ताने-बाने की तरह उसमें एक हो रहे है ? इन तत्वों के सस्कृति में 'एकीकरण' को जानने का तरीका इन तत्वों के सस्कृति मे 'कार्य' (Function) को जानना है। इस दृष्टि से सास्कृतिक-तत्वो के 'कार्य' को जानने पर जोर देने वाले मानव-शास्त्रियो ने अपने को 'कार्यवादी' (Functionalists) कहा। इन 'कार्यवादी' मानव-शास्त्रियो में दो का नाम मुख्य है—मैलिनोवस्की (Malinowski) तथा रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe Brown)। इन दोनो की जो विचार-धारा है, उस पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है।

(क) मैलिनोवस्की के विचार—मैलिनोवस्की का कहना है कि मनुष्य ससार की जद्दोजहद मे अपनी शारीरिक तथा मानसिक रक्षा चाहता है, वह चाहता है कि जीवन-सग्राम में उसका शारीरिक तथा मानसिक अस्तित्व

बना रहे, जीवन-सग्राम के थपेडे उसकी इन दोनो सत्ताओं को नष्ट न कर दें। इस उद्देश्य से वह जिन साधनों को अपनाता है, उन्हीं को 'सस्कृति' कहा जाता है। इस 'सस्कृति' द्वारा वह अपने शारीरिक तथा मानसिक अस्तित्व को बनाये रखता है, और यथाशक्ति अपने मानसिक-जीवन को भी उच्च-स्तर पर लाने का प्रयत्न करता है। इस 'संस्कृति' के, जो उसके शारीरिक तथा मानसिक जीवन की रक्षा करते है, अनेक पहलू है। एक पहलू आर्थिक है, दूसरा सामाजिक है, तीसरा मानसिक है जिसके द्वारा वह भाषा, धर्म, कला आदि का आश्रय लेता है, इसी प्रकार जीवन के अनेक पहलू है। इनमें से हर-एक पहलू की जड मनुष्य की आवश्यकताओं, मनुष्य की एषणाओ, मनुष्य की जरूरियात में गडी हुई है। हमारी आवश्यकताओं, इच्छाओं, एषणाओं, जरूरियात से ही तो हम आर्थिक क्षेत्र में कोई धधा पकडते है, इन्हीं की पूर्ति के लिए सामाजिक-व्यवहार करते ह, मानसिक-क्षेत्र में किसी भाषा का, किसी धर्म का, किसी कला का प्रयोग करते है। हमारी ये आवश्यकताएँ सब एक-दूसरे से सम्बद्ध है, अलग-अलग नहीं है, इसलिए अलग-अलग नहीं है क्योकि इन सब का उद्भव-स्थान एक ही है। इन सब का उद्भव-स्थान, वह स्थान जहाँ से ये आर्थिक, सामाजिक, मानसिक एषणाएँ पैदा होती है, मनुष्य और मनुष्य की इच्छाएँ—यही तो है। क्योकि मनुष्य इन सब इच्छाओं का स्रोत है, इसलिए ये सब इच्छाएँ अन्त सबध से बँधी हुई है, एक-दूसरे से जुडी हुई है। प्रत्येक इच्छा सस्कृति के साथ इतनी ओत-प्रोत है कि इसे अन्य इच्छाओ से जुदा नहीं किया जा सकता। अगर आर्थिक इच्छा को पूरा करने के लिए हम डाक्टरी पेशा करने लगते है, तो हमारा सारा सामाजिक-व्यवहार भी डाक्टरी के रग में रग जाता है, हमारा मानसिक-क्षेत्र इसी ढंग में ढल जाता है। हमारे सास्कृतिक-जीवन में हमारे जीवन का कोई पहलू दूसरे पहलुओं से स्वतत्र होकर नहीं रहता, दूसरे पहलुओं में कपडे के ताने-बाने की तरह रच-मिच जाता है। इस दृष्टि से मैलिनोवस्की का कहना है कि सस्कृति में 'अवशेष' (Survival) नाम की कोई वस्तु नहीं है। हम सस्कृति के सबध में विकासवादी दृष्टि-कोण पर लिखते हुए लिख आये है कि विकासवादी कहते है कि उन्नत संस्कृतियो में अवनत सस्कृतियों के 'अवशेष' सिद्ध करते है कि किसी समय यह उन्नत सस्कृति निम्न-सस्कृति के रूप में थी, तभी ये उस अवस्था के बचे-खुचे 'अवशेष' अब इस सस्कृति में रह गये है। इस बात को मैलिनोवस्की नहीं मानता। उसका कहना है कि 'अवशेष' (Survival) नाम की कोई चीज संस्कृति में नहीं हो सकती। 'अवशेष' का मतलब है सस्कृति का वह तत्व जो अब कुछ काम नहीं दे रहा, जो 'कार्यहीन' (Functionless) हो गया है। मैलिनोवस्की का कहना है कि सस्कृति का हर-एक तत्व किसी-न-किसी 'कार्य' (Function) को करने के लिए प्रकट होता है, ऐसी हालत में सस्कृति के किसी तत्व के विषय में यह कहना कि वह किसी काम का नहीं, सस्कृति के आधारभूत कारण को भुला देना है। सस्कृति का आधारभूत कारण ही यह है कि सस्कृति का प्रत्येक तत्व किसी-न-किसी काम को

गुण' किसी सस्कृति में आते हैं, उन गुणों पर भी इन 'प्रतिमानो' का प्रभाव पडता है, और वे 'गुण' अपने को इन 'प्रतिमानों' के अनुरूप ढालने लगते हैं। किसी सस्कृति की मुख्य वस्तु उसके 'विशिष्ट-गुण' या 'सकुल' नहीं हैं, उसकी मुख्य वस्तु उसके 'प्रतिमान' हैं, उसके 'आदर्श' हैं, उसके 'लक्ष्य' हैं। उदाहरणार्थ भारतीय सस्कृति का 'प्रतिमान' मोक्ष था, बधनों से छूटना था, परमार्थ की तरफ जाना था। यद्यपि भारतीय-सस्कृति में अर्थोपार्जन किया जाता था, सम्पत्ति का सग्रह भी किया जाता था, तो भी क्योकि 'मोक्ष' इस सस्कृति का 'प्रतिमान' था, इसलिए राजा-महाराजा भी वृद्धावस्था आने पर अपने-आप राज-काज का काम सन्तान के ऊपर छोड कर त्यागी और वीतराग हो जाते थे, इस सस्कृति में अर्थोपार्जन का काम भी मोक्ष के रग में रगा हुआ था।

भिन्न-भिन्न 'प्रतिमानो' के मिलने से, रूथ वैनिडिक्ट के कथनानुसार, एक ऐसा विशाल-प्रतिमान बन जाता है, जो किसी सस्कृति के जीवन का एकमात्र स्रोत होता है। इस विशाल प्रतिमान को, उस प्रतिमान को जिसमें सस्कृति के अन्य सब छोटे-छोटे 'प्रतिमान' (Patterns) एकीभूत हो जाते हैं 'समाकृति' (Configuration) कहते हैं। 'समाकृति' इसे इसलिए कहते हैं क्योकि भिन्न-भिन्न प्रतिमानो की आकृतियां इस विशाल आकृति में समाहित हो जाती हैं, ओत-प्रोत हो जाती हैं, 'एकीभूत' (Integrated) हो जाती हैं। 'प्रतिमान' अनेक होते हैं, 'समाकृति' एक होती है। तने में शाखाओं की तरह 'समाकृति' में 'प्रतिमान' जुडे होते हैं। भिन्न-भिन्न 'प्रतिमानो' (Patterns) से सस्कृति की जो 'समाकृति' (Configuration) बनती है, वह सस्कृति में चल रही सब तरह की विचार-धाराओ का समन्वय होती है। आज भारत की सब तरह की विचार-धाराओं का समन्वय 'समाजवाद' में हो रहा है, इसलिए 'समाजवाद' में हमारे भिन्न-भिन्न प्रतिमानों की 'समाकृति' (Configuration) प्रकट हो रही है, और 'समाजवाद' हमारी सस्कृति की 'समाकृति' है। भारत में भिन्न-भिन्न विचार-धाराएँ चल रही हैं, वे आपस में टकराती भी हैं, परन्तु फिर भी उनमें समाजवादी विचार-धारा का ही बोलवाला क्यो हो रहा है? यह इसलिए हो रहा है, क्योंकि सब प्रकार की विचार-धाराओं की अपेक्षा प्रबलता, वेग, प्रवाह इसी विचार-धारा में है। किसी सस्कृति में जिस विचार-धारा की प्रबलता हो, जिसकी तरफ प्रवाह हो, जिसकी तरफ सब का झुकाव हो, वही विचार-धारा अन्य विचार-धाराओं की अपेक्षा सस्कृति के ऊपर हावी हो जाती है। सस्कृति में विचार-धारा के इस प्रवाह से, इस वेग से ही सस्कृति की 'समाकृति' (Configuration) बनती है। रूथ वैनिडिक्ट ने इस प्रवाह को, इस झुकाव को सस्कृति की 'आत्मा' (Genius) का नाम दिया है। सस्कृति की 'समाकृति' (Configuration) सस्कृति की इस 'आत्मा' (Genius) से ही बनती है। 'सस्कृति' की आत्मा उस सस्कृति का रुख, उसका वेग, उसकी दिशा है, इस आत्मा, रुख, वेग का परिणाम 'समाकृति' है। सस्कृति की इस 'आत्मा' का निरूपण करते हुए वैनिडिक्ट ने इसे दो हिस्सो

में बाँटा है। उसका कहना है कि संस्कृति की आत्मा जो संस्कृति के हर प्रतिमान को जीवन प्रदान करती है, या तो 'अपोलोनियन' (Apollonian) हो सकती है, या 'डायोनीशियन' (Dionysian) हो सकती है। इन दोनों शब्दो का क्या अर्थ है? 'अपोलोनियन'-शब्द 'अपोलो' (Apollo) से बना है। ग्रीस में सूर्य के लिए 'अपोलो' शब्द का प्रयोग होता था। 'अपोलोनियन'-संस्कृति का रूथ बेनिडिक्ट के शब्दों में अभिप्राय ऐसी संस्कृति से है जिसमें शान्त-गुण प्रधान हो, जो सतोगुणी संस्कृति हो। 'डायोनीशियन'-शब्द 'डायोनीसियस' (Dionysius) से बना है, जो ग्रीस में अशान्ति, लडाई-झगडे का प्रतिनिधि है। 'डायोनीशियन'-संस्कृति का रूथ बेनिडिक्ट के शब्दो में अभिप्राय ऐसी संस्कृति से है जिसमें अशान्ति प्रधान हो, जो रजोगुणी संस्कृति हो। 'अपोलोनियन'-संस्कृति के हर अंग-प्रत्यंग में, हर प्रतिमान में शान्ति मुख्य होगी, 'डायोनीशियन'-संस्कृति के हर अंग-प्रत्यंग में, हर प्रतिमान में अशान्ति मुख्य होगी। 'अपोलोनियन'-संस्कृति के अंग-प्रत्यंग का, इस संस्कृति के सब प्रतिमानों का 'एकीकरण' (Integration) शान्ति द्वारा होगा, इसमें रोना-धोना होगा तो उसमें भी शान्त-गुण की प्रधानता होगी, 'डायोनीशियन'-संस्कृति के अंग-प्रत्यंग का, इस संस्कृति के सब प्रतिमानों का 'एकीकरण' (Integration) अशान्ति द्वारा होगा, इसमें देवता के सामने पूजा होगी तो वह भी ढोल-ढमक्कल से, शोर-शराबे से, खून बहाने से होगी। रूथ बेनिडिक्ट का कथन है कि संसार की सब संस्कृतियो को इन दो भागों में बाँटा जा सकता है—कोई संस्कृति 'अपोलोनियन' होगी, कोई 'डायोनीशियन' होगी। बेनिडिक्ट ने अपनी पुस्तक "Patterns of culture" में तीन संस्कृतियो के अध्ययन से अपने मत की पुष्टि की है। ये तीन संस्कृतियाँ हैं—डोबू (Dobu), क्वाकीउटल (Kwakiutl) तथा प्यूब्लोज (Pueblos) जिनमें एकोमा, जूनी तथा होपी लोग आ जाते हैं।

शान्ति-प्रिय 'अपोलोनियन' प्रजातियो का उदाहरण देते हुए रूथ बेनिडिक्ट प्युब्लो (Pueblo) जाति का उदाहरण देती हुई लिखती है कि इस जाति के लोग आतंक, भय आदि की परिस्थितियों को अपनी संस्कृति में नहीं उत्पन्न होने देते। संसार भर में मृत्यु की एक ऐसी घटना है जिसके सिलसिले में आतंक और भय जुडा ही रहता है, परन्तु ऑस्ट्रेलिया में कई ऐसी जातियाँ हैं, जिनमें मृत-व्यक्ति के निकट के संबंधी उसकी खोपडी पर टूट पड़ते हैं और उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं ताकि वह व्यक्ति उन्हें किसी प्रकार का दु ख न दे सके। वे मुर्दे के घुटने भी तोड डालते हैं ताकि वह उनका पीछा न कर सके। कहीं-कहीं मृत व्यक्ति का घर जला दिया जाता है। इन सब बातों को हम निरर्थक समझते हैं, परन्तु अगर समझा जाय कि जातियाँ दो प्रकार की होती हैं—'अपोलोनियन' तथा 'डायोनीशियन'—तो इन जातियो का सारा व्यवहार समझ में आ जाता है। प्यूब्लो जाति की संस्कृति के सब तत्व 'अपोलोनियन'-भावना से ओत-प्रोत रहते हैं। जिस प्रकार शान्ति-प्रिय जातियाँ अपने सब व्यवहारों को शान्ति के सूत्र में बाँधे रहती हैं,

उसी प्रकार अशान्ति-प्रिय 'डायोनीशियन'-सस्कृति की प्रजातियाँ अपने सस्कृति के सव तत्वो को लडाई-झगडे, दगे-खून-खरावी में ओत-प्रोत रखती हैं। अगर वे देवता की आराधना करती हैं, तो उसके सामने वकरे को वलि चढाती हैं, खून वहाती हैं। अगर उनके यहाँ कोई मर जाता है, तो इतना ही नहीं कि उसके सगे-सवधी रोते-चिल्लाते हैं, परन्तु जिनका मृत-व्यक्ति से कोई सवध नहीं, वे भी चिल्ला-चिल्ला कर आस्मान फाड देते हैं। हमें अपने देश में इस वात का आये-दिन अनुभव होता रहता है। जव किसी के घर मौत हो जाती है, तव घर की औरतें दिनो तक एक घेरा बना कर छाती पीटती हैं, कई औरतें तो इस कला में इतनी दक्ष होती हैं कि उन्होंने छाती पीटने और रोने-धोने को एक कला-सा वना लिया है। रूथ वेनिडिक्ट का कहना है कि शान्ति-प्रिय 'अपोलोनियन'-सस्कृतियो में सस्कृति के सव तत्व शान्ति की भावना को लेकर सस्कृति को 'एकीकृत' (Integrated) वनाये रखते हैं, अशान्ति-प्रिय 'डायोनीशियन'-सस्कृतियो में सस्कृति के सव तत्व अशान्ति की भावना को लेकर सस्कृति को 'एकीकृत' (Integrated) बनाये रखते हैं। हर हालत में सस्कृति में होता 'एकीकरण' (Integration) है—कहीं शान्ति द्वारा, कहीं अशान्ति द्वारा।

४ ओपलर के 'सास्कृतिक-विषय'
(Theory of Themes of Opler)

रूथ वैनिडिक्ट ने सस्कृति की आत्मा को दो भागों में वाँटा—शान्त-भावना तथा अशान्त-भावना। कई लेखकों का कहना है कि इस प्रकार सस्कृति की आत्मा को केवल दो भागो में वाँट देना सस्कृति की बहुत सकुचित व्याख्या है। सस्कृति की आत्मा दो नहीं, अनेक रूपों में अपने को प्रकट कर सकती है, इसलिए रूथ वैनिडिक्ट के विचार की दिशा तो ठीक है, परन्तु उस विचार को उसका दो तक सीमित कर देना ठीक नहीं प्रतीत होता।

इस विचार के समर्थक ओपलर (Opler) हैं। उनका कहना है कि किसी सस्कृति के प्रेरक कारण केवल दो नहीं हैं, जैसा रुथ वैनिडिक्ट कहती हैं। सस्कृति के प्रेरक-कारण जो मनुष्य के व्यवहार को प्रभावित करते हैं, जिनकी वजह से मनुष्य का व्यवहार किसी खास प्रकार का होता है, कई हो सकते हैं। सस्कृति के इन्हीं प्रेरक-कारणों को ओपलर ने 'सास्कृतिक-विषय' (Culture themes)—यह नाम दिया है। वैनिडिक्ट के विचार के अनुसार किसी सस्कृति के अनुसधान करने वाला विद्यार्थी सिर्फ दो प्रेरक-कारणों की तलाश करेगा, परन्तु ओपलर के अनुसार वह इन दो से वँधा नहीं रहेगा, उसे जो भी प्रेरक-कारण सस्कृति का नियमन करता हुआ, उसमें प्राण सचार करता हुआ दीखेगा, उसी को वह उस सस्कृति की 'आत्मा' (Genius) कह कर पुकारेगा। वैसे तो वैनिडिक्ट के 'प्रतिमान' (Patterns) ओपलर के 'विषय' (Themes) हैं, परन्तु वैनिडिक्ट का क्षेत्र सीमित है, ओपलर का क्षेत्र किसी सीमा में वधा हुआ नहीं है। दोनों विचारो में 'एकीकरण' (Integration) की भावना तो है ही, क्योंकि इसी

'एकीकरण' की भावना से किसी सस्कृति में स्थिरता रह सकती है। उदाहरणार्थ, शान्त तथा अशान्त प्रेरक-कारणो के अतिरिक्त सस्कृति का प्रेरक-कारण त्यागवाद भी हो सकता है, भोगवाद भी हो सकता है। भारत की सस्कृति का प्रेरक-कारण त्यागवाद रहा है, युरोप की सस्कृति का प्रेरक-कारण भोगवाद है। इसलिए इन प्रेरक-कारणों को दो या चार कह देना ठीक नहीं है। ये तो हर संस्कृति का अध्ययन करते हुए देखना चाहिये कि इसका प्रेरक-कारण कौन-सा है।

५ रेडफील्ड का 'जीवन का ढंग'
(Style of Life of Redfield)

किसी सस्कृति को कहां से प्रेरणा मिलती है, उसकी प्रेरणा का स्रोत कौन-सी विचार-धारा है, जो उस सस्कृति के एक-एक विचार को अनुप्राणित करती रहती है, इस विषय में रूथ बैनिडिक्ट तथा ओपलर के विचारों का हमने उल्लेख किया। इसी दिशा में सोचने वाले एक विद्वान् रेडफील्ड है, परन्तु उनका कहना है कि किसी सस्कृति को प्रेरणा सास्कृतिक विचारो से नहीं मिलती, परन्तु उस सस्कृति का जो सारे-का-सारा 'जीवन का ढग'—'जीवन का तरीका' (Style of life) होता है, उससे सस्कृति प्रभावित होती रहती है। प्रत्येक सस्कृति का अपना-अपना रहने-सहने का ढग है, तरीका है। हिन्दुस्तानी लोग सादे रग-ढग से रहते हैं, अग्रेज टीप-टाप से, वने-ठने ढग से रहते हैं। ये जीवन के ढग सारी-की-सारी सस्कृति को प्रभावित करते हैं। उदाहरणार्थ, आजीविका का प्रश्न है। एक सस्कृति का जीवन का ढग तो यह है कि अगर हम ईमानदारी का, सच्चा जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, तो हमें ऐसे ही पेशों से आजीविका का उपार्जन करना चाहिए जो मनुष्य को सचाई के साथ रहने दे सकें। दूसरी सस्कृति का जीवन का ढग यह है कि आजीविकोपार्जन एक चीज है, ईमानदारी और सचाई दूसरी चीज है। हमें इन दोनों को मिलाना नहीं चाहिए। एक वकील ऐसी सस्कृति में पला हो सकता है कि वह झूठे मुकदमे की पैरवी ही न करे, दूसरा वकील ऐसी सस्कृति में पला हो सकता है जिसमें वह यह कहे कि मै तो वकील हूँ, मेरा काम तो जो फीस देगा उसकी कानूनी पैरवी कर देना है, चाहे मुकदमा सच्चा हो, चाहे झूठा। सचाई-झूठ का निर्णय करना मेरा काम नहीं, जज का काम है। इन दोनों का व्यवहार जीवन के उस तरीके से निर्धारित होगा जिसमें ये पले होंगे। जीवन का ढग, जीवन का तरीका एक ऐसी चीज है जिसके अन्दर 'अच्छा क्या है—बुरा क्या है'—इस सब का फैसला मौजूद रहता है। यह फैसला जिस सस्कृति के हम अग हैं उसमें एकीभूत होता है, उसमें ओत-प्रोत होता है, इसलिए हम कितना ही चाहें अपनी सस्कृति के इस फैसले के प्रतिकूल चल ही नहीं सकते। हमारी संस्कृति में जो तरीके, जो ढंग, जो व्यवहार प्रचलित हो चुके हैं, उन में हमारे पूर्वजो के इस वात के फैसले भरे हुए हैं कि कौन-सी वात ठीक है, कौन-सी गलत है। जिस तरीके को पूर्वजों ने सही समझा, उसी को तो उन्होंने चलाया। इसलिए रेडफील्ड का कहना है कि हमारी सस्कृति में प्रचलित जीवन के तरीके, जीवन के

ढग, जीवन के व्यवहार जो हमारे अग बन चुके होते है, हममें एकीभूत हो चुके होते है, वे अस्थिर नहीं होते, स्थिर होते है, और वे सस्कृति को प्रभावित करते रहते है।

६ एकीकरण के विचार की समीक्षा (Theory of Integration Examined)

ऊपर जो विचार दिये गये है उन सब का आधारभूत विचार 'अत सास्कृतिक-सबध' (Inter-cultural relation) या 'एकीकरण' (Integration) का विचार है। जब किसी सस्कृति का हम अध्ययन करते है तब हमें यह देखना होता है कि उस सस्कृति के सब तत्वो, उस सस्कृति के 'विशिष्ट-गुणो' तथा 'सकुलों' का आपस में सम्बन्ध कपडे में ताने-बाने का-सा, शरीर में प्रत्येक अग का-सा, वृक्ष के तने में उससे जुडी टहनियो का-सा, शहद में अपने को विलीन कर देने वाले हर फूल के रस का-सा है, या नहीं ? सस्कृति बनती ही तब है जब उसके निर्माण करने वाला प्रत्येक तत्व सपूर्ण सस्कृति में अपना विलीनीकरण कर देता है, अपने को विलीन करके उसमें एक हो जाता है। इसी को हम 'एकीकरण' (Integration) की प्रक्रिया कहते है। मैलिनोवस्की ने अपने सिद्धान्त 'कार्यवाद' (Functionalism) के प्रतिपादन में, रूथ बैनिडिक्ट ने अपने सिद्धान्त 'प्रतिमानवाद' (Theory of Culture Patterns) में, ओपलर ने अपने सिद्धान्त 'विषयवाद' (Themes) में, रेडफील्ड ने अपने सिद्धान्त 'जीवन के ढग' (Style of Life) में इसी एकीकरण की बात को मुख्य रखा है।

परन्तु क्या यह ठीक है कि सस्कृति भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक तत्वो के 'एकीकरण' का नाम है ? अनेक सस्कृतियां है जिनमें 'एकीकरण' की प्रक्रिया होती ही नहीं। सैलिगमैन (Saligman) का कहना है कि इतिहास का अध्ययन इस बात को पुष्ट करता है कि ससार में हर व्यक्ति दूसरे से भिन्न स्वभाव का है, इसलिए किसी सस्कृति में उसके भिन्न-भिन्न तत्वो का 'एकीकरण' हो ही नहीं सकता, कम-से-कम सस्कृति के लिए इसके भिन्न-भिन्न तत्वों का 'एकीकरण' आवश्यक नहीं है। जेकब्स तथा स्टर्न (Jacobs and Stern) का कथन है कि किसी सस्कृति में उसके भिन्न-भिन्न 'विशिष्ट-गुण' (Traits) तथा 'सकुल' (Complexes) न तो एक-दूसरे से बिल्कुल अलग, असबद्ध, बिना जुडे पड़े रह सकते है और न वे अपने को बिल्कुल ही दूसरे गुणो में विलीन कर के अपनी सत्ता मिटा कर 'एकीकृत्' (Integrated) हो सकते है। इसका कारण यह है कि भिन्न-भिन्न सस्कृतियों में सदा नये-नये 'आविष्कार' (Inventions) होते रहते है। ये आविष्कार जब पैदा होते है, तब इन्हें 'विशिष्ट-गुण' (Culture trait) कहा जा सकता है। इन आविष्कारों का 'प्रसार' (Diffusion) भी होता रहता है। इस प्रकार सस्कृति में हर समय नये-नये आविष्कार होते रहते है और दूसरी सस्कृतियों में फलते रहते है। इनका काम पुराने आविष्कारों, पुराने सांकृस्तिक-तत्वों का स्थान लेना होता है। कभी गैस हमारी सस्कृति का एक तत्व

था, फिर विजली आयी, अब अणु-शक्ति आयेगी। जो नया तत्व आता है, वह पुराने तत्व का स्थान लेने के लिये सघर्ष खडा कर देता है। जब हमारी सस्कृति की यह हालत है, तब उसमें 'एकीकरण' (Integration) हो ही कैसे सकता है ? हमारी सस्कृति तो आगे-आगे वढती चली जा रही है। जो पुराना तत्व है, वह टूट रहा है, नया तत्व उसका स्थान ले रहा है। इस गतिशीलता में, इस हर समय के पुर्नानर्माण में स्थिरता कहाँ आ सकती है। 'एकीकरण' तो संस्कृति में 'स्थिरता' लाने वाला तत्व है, सस्कृति तो कहीं स्थिर नजर ही नहीं आती, उसमें तो हर समय जोड-तोड़ हो रहा है। हमने नवीन आविष्कारो तथा उनके प्रसार के सवंध में जो-कुछ कहा वह भौतिक-आविष्कारों तक ही सीमित नहीं है। आज की दुनियां में हर क्षेत्र में नये विचार आते जा रहे हैं। विवाह के सवंध में, स्त्री-पुरुष के यौन-सवध में, भाषा की रचना, धर्म-कर्म, कला—सव क्षेत्रो में संस्कृति के पुराने तत्व ढह रहे हैं, नये उनका स्थान ले रहे हैं। सस्कृति का सारा-का-सारा क्षेत्र चलायमान है, चारों तरफ एकीकरण के स्थान में, 'सगठन' (Integration) का स्थान 'असगठन' (Disintegration) ले रहा है, एकीकरण तथा समीकरण का स्थान अनेकीकरण तथा असमीकरण ले रहा है। पुरानी सस्कृतियों में क्योंकि सदियो तक कोई उन्नति नहीं होती, कोई परिवर्तन नहीं होता, इसलिए उनमें काफी देर तक 'एकीकरण' चल सकता है, परन्तु ज्यों-ज्यों सस्कृति आगे वढती है, ज्यों-ज्यो उसका विकास होता है, उसमें 'एकीकरण' समाप्त होता जाता है, इसलिए समाप्त होता जाता है, क्योंकि 'एकीकरण' से तो स्थिरता आ जाती है, विकास तो परिवर्तन और अस्थिरता का नाम है, स्थिरता का नाम नहीं है।

१७

आदि-कालीन अर्थ-व्यवस्था

(PRIMITIVE ECONOMICS)

'अर्थ-व्यवस्था' की व्याख्या

'अर्थ-व्यवस्था' (Economic organisation) का क्या अर्थ है? 'अर्थ-व्यवस्था' की परिभाषाएँ निम्न प्रकार से की जाती हैं —

रूथ बुनजेल की व्याख्या[1]—"अर्थ-व्यवस्था का अर्थ है—घर-बार का प्रबन्ध। यह हमारे सम्पूर्ण व्यवहार का वह सगठित रूप है जिसका काम हमारे भौतिक-शरीर को नष्ट होने से बचाये रखना है।"

जेकब्स तथा स्टर्न की व्याख्या[2]—"अर्थ-व्यवस्था सबधी वर्गीकरण का केन्द्रीय विचार यह है कि इसमें 'अल्प-बचत' की अर्थ-व्यवस्था की 'दीर्घ-बचत' की अर्थ-व्यवस्थाओं के साथ तुलना की जाती है।"

मजूमदार तथा मदन की व्याख्या[3]—"मानवीय-सबधों तथा मानवीय उद्योग को इस प्रकार सगठित तथा नियमित करना जिससे जीवन की दिन-प्रतिदिन की आवश्यकताओं को कम-से-कम परिश्रम से पूरा किया जाय 'अर्थ-व्यवस्था' कहाता है। दूसरे शब्दों में, आर्थिक-व्यवस्था हमारा वह सगठित प्रयत्न है, जिसके द्वारा हम अपने परिमित साधनों की सहायता से ज्यादा-से-ज्यादा इच्छाओं की पूर्ति की चेष्टा करते हैं।"

अर्थ-व्यवस्थाओं की ऊपर जो व्याख्याएँ दी गई हैं, उनके आधार में क्या बातें हैं? एक बात तो यह है कि उस व्यवस्था को सगठित रूप में होना चाहिए,

---

1 "Economics, literally 'household management', is the total organisation of behaviour with reference to the problems of physical survival" —*Ruth Bunzel*

2 "Central feature of economic classification is that it contrasts economic systems which produce small surpluses with those that achieve large surpluses" —*Jacobs and Stern*

3 "It consists of the ordering and organisation of human relations and human effort in order to procure as many of the necessities of day-to-day life as possible with the expenditure of minimum effort It is the attempt to secure the maximum satisfaction possible through adapting limited means to unlimited ends (needs) in an organised manner" —*Majumdar and Madan*

भले ही वह कितना प्रारंभिक सगठन हो। दूसरी यह कि उससे हमारी आवश्यकताएँ पूर्ण होनी चाहिएँ—खासकर भोजन-सबधी आवश्यकता जो जीवन की आधार-भूत आवश्यकता है।

इस प्रकार के आर्थिक-सगठन अविकसित भी हो सकते हैं, विकसित भी। अविकसित आर्थिक-सगठनो में 'कमाना-खाना' (Production-consumption)—ये दो बातें ही होती हैं क्योंकि इनमें 'बचत' नहीं होती। जब 'बचत' होने लगती है, तब सगठन विकसित होने लगता है, और तब इस बचत का लेने-देने या विनिमय के जरिये दूसरो में भी वितरण होने लगता है, इसलिए विकसित आर्थिक-व्यवस्थाओं को 'कमाने-खाने तथा वितरण' (Production-consumption-distribution) की व्यवस्था कहा जाता है।

ऊपर जो-कुछ कहा गया है उस सब को आधार बनाकर भिन्न-भिन्न लेखको ने अशिक्षित आदिवासियो के भिन्न-भिन्न वर्गीकरण किये हैं। थर्नवाल्ड (Thurnwald), एडम स्मिथ (Adam Smith), हिल्डब्रैंड (Hildebrand) आदि ने अपने-अपने ढग से अशिक्षित आदिवासियों के वर्गीकरण किये हैं, परन्तु हम यहाँ जेकब्स तथा स्टर्न के वर्गीकरण को आधार मान कर लिखेंगे। इन वर्गीकरणो में कोई आधारभूत भेद नहीं है, इसलिए किसी के वर्गीकरण को भी लेकर विचार किया जा सकता है।

अर्थ-व्यवस्था के चार आधार तथा वर्गीकरण

'अर्थ-व्यवस्था' का उद्देश्य क्या है? मनुष्य चारो तरफ से प्रकृति से घिरा हुआ है। कहीं उसे खाने को मिलता है, कहीं नहीं मिलता। जब उसे खाने को नहीं मिलता तब वह जीवित भी नहीं रह सकता। मनुष्य की सब से मुख्य समस्या तो जीवित रहना है। प्रकृति में पायी जाने वाली वस्तुओं को वह किस प्रकार प्राप्त करे ताकि उसका भौतिक-शरीर बना रहे—यह अर्थ-व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य है। कभी मनुष्य जगलों में फिर कर फल-मूल चुगता-खोदता है, कभी शिकार करता है, कभी पशु पालता है, कभी खेती करता है, कभी व्यापार करता है—ये सब क्या हैं? ये सब भौतिक-शरीर को बनाये रखने के लिए भिन्न-भिन्न अर्थ-व्यवस्थाएँ हैं जिनको मनुष्य ने समय-समय पर खोज निकाला। कभी जीवित रहने के लिए जगलो में से फल चुग लाना ही मनुष्य की अर्थ-व्यवस्था थी, कभी पशु पाल कर उनका दूध पीना और कुछ न मिले तो इन जानवरो को खा जाना उसकी अर्थ-व्यवस्था थी, कभी खेती कर के पेट भरना उसकी अर्थ-व्यवस्था थी।

जगल में जो जातियाँ पायी जाती हैं, उन्हें जगली कहने के स्थान में अगर हम 'अशिक्षित' (Non-literates) कहें, तो ठीक रहेगा क्योंकि 'जगली' शब्द का अर्थ कुछ घृणित-सा हो गया है। इन 'अशिक्षित' जातियों की अर्थ-व्यवस्था का आधार चार बातें कही जा सकती हैं। इनकी अर्थ-व्यवस्था का पहला आधार तो फल-

मूल, शिकार, खेती, व्यापार—ये सब-कुछ हैं। हम प्रकृति के जिन भौतिक-पदार्थों से घिरे हुए हैं उन पदार्थों को प्राप्त करने के लिये हम क्या करते हैं? फल-मूल से हमारा पेट भर सकता है, इन्हें पाने के लिए हम जगलो में घूमते हैं, शिकार पकड कर उसे खाने से हमारी क्षुधा निवृत्त हो सकती है, उसे पकडने के लिए हम शिकार करते हैं, खेती कर के हम अनाज पैदा करते हैं, व्यापार कर के जो चीज़ हमारे पास नहीं उसे ले आते हैं। ये सब हमारी अशिक्षित-जातियो की अर्थ-व्यवस्था के 'भौतिक' (Material) आधार हैं। इनकी अर्थ-व्यवस्था का दूसरा आधार 'सामाजिक' अथवा 'समाजशास्त्रीय' (Sociological) है। अगर हम जगल में घूम कर फल-मूल एकत्रित करते हैं, तो हमारी अर्थ-व्यवस्था के आधार पर बनी सामाजिक-व्यवस्था अधिक जटिल नहीं हो सकती, अगर खेती करते हैं तब पुरुष बाहर का काम-काज करेंगे, स्त्रियाँ घर का काम-काज देखेंगी, जिन लोगों के पास बडे खेत होगे वे धनी और जिनके पास छोटे होगे वे निर्धन कहायेंगे, अगर हमारी अर्थ-व्यवस्था का भौतिक-आधार व्यापार है, आजकल का युग है, तो हमारा अर्थ-व्यवस्था के आधार पर बना सामाजिक रूप मालिक-मज़दूर का बन जायगा। अशिक्षित जातियों की अर्थ-व्यवस्था का तीसरा आधार 'मनोवैज्ञानिक' (Psychological) है। जो लोग फल-मूल एकत्रित करते या शिकारी जीवन व्यतीत करते हैं उनकी अर्थ-व्यवस्था का मनोवैज्ञानिक-आधार खाना-पीना और सब-कुछ भूल जाना—इसके सिवाय दूसरा क्या हो सकता है? ज्यों-ज्यों अर्थ-व्यवस्था जटिल होती जाती है, त्यो-त्यों भौतिक-पदार्थों को पाने के लिए सामाजिक-व्यवस्था भी जटिल होती जाती है, और इसके साथ अर्थ-व्यवस्था के आधार में काम कर रहा मनोवैज्ञानिक-आधार भी बदल जाता है। विषम अर्थ-व्यवस्था में उतना बेलागपन नहीं रह सकता जितना सरल आर्थिक-व्यवस्था में रहता है। सरल आर्थिक-व्यवस्था में चिन्ता को वह स्थान नहीं जो स्थान विषम आर्थिक-व्यवस्था में यह ले लेती है। आज के युग में सब तरह के भौतिक-पदार्थ मनुष्य के पाँवो पर लोटते हैं, परन्तु इतना सब-कुछ पाकर भी मनुष्य चिंताओ से घिरा रहता है। 'भौतिक', 'सामाजिक' तथा 'मनोवैज्ञानिक'—ये तीन तत्व तो मनुष्य की आर्थिक-व्यवस्था को बनाते ही हैं, इनके अतिरिक्त एक चौथा तत्व भी है जिसे 'ऐतिहासिक' (Historical) कहा जा सकता है। फल-मूल एकत्रित करने वाली जातियाँ कभी-कभी आजकल की युरोपियन जातियों से घिर गई हैं, इसका प्रभाव इन जगली जातियो के जीवन पर पड गया है, और उनकी अर्थ-व्यवस्था इन युरोपियन जातियों की अर्थ-व्यवस्था से प्रभावित हो गई है। कभी-कभी अशिक्षित जातियों की अर्थ-व्यवस्था दूसरी अशिक्षित जातियों की अर्थ-व्यवस्था से प्रभावित हो जाती है और जगल में फल-मूल चुगने वालों में कुछ बातें अपनी और कुछ बातें दूसरों की आ जाती हैं।

हम इस अध्याय में अशिक्षित जातियो की भिन्न-भिन्न अर्थ-व्यवस्थाओं के भौतिक-तत्वों—शिकार, खेती आदि—का वर्णन करेंगे, और साथ-साथ जहाँ

ज़रूरत होगी वहाँ उनकी अर्थ-व्यवस्था के 'भौतिक-तत्वों' के साथ-साथ 'सामाजिक', 'मनोवैज्ञानिक' तथा 'ऐतिहासिक' तत्वों पर भी प्रकाश डालेंगे। 'सामाजिक-तत्व' में समाज का संगठन आ जाता है—समाज का कैसा रूप है, समूह प्रधान है या व्यक्ति प्रधान है, 'मनोवैज्ञानिक-तत्व' में बचत का विचार आ जाता है—समाज के लोग 'कमाया-खाया' के सिद्धान्त पर चलते हैं या कुछ बचा कर भी रखते हैं, उस बचे हुए से वणिज-व्यापार करते तथा अपनी दूसरी इच्छाओं को पूर्ण करते हैं, 'ऐतिहासिक-तत्व' में अर्थ-व्यवस्था का रूप आ जाता है—जिस अर्थ-व्यवस्था पर हम विचार कर रहे हैं क्या वह रूप शुद्ध है या मिश्रित है। हम भिन्न-भिन्न अर्थ-व्यवस्थाओ पर विचार करते हुए इन सब पहलुओं पर भी प्रकाश डालते जायेंगे।

नीचे अशिक्षित जातियो की जो अर्थ-व्यवस्थाएँ दी गई हैं, उनमें एक समानता है और एक भेद है। उनका सामान्य-तत्व तो यह है कि इन आर्थिक-तत्वो से ही मनुष्य का जीवन बना रह सकता है। चाहे फल-मूल एकत्रित करने की अर्थ-व्यवस्था हो, चाहे कृषि करने की, चाहे व्यापार करने की—इन सब का उद्देश्य एक है, इन सब में सामान्य-तत्व मनुष्य को जीवित रखना है। इनमें एक-दूसरे से भिन्नता का आधार 'अतिरिक्त-वस्तु' या 'बचत' (Surplus) का तत्व है। अशिक्षित जातियो की इन अर्थ-व्यवस्थाओ में कई जातियां तो 'कमाया-खाया' के सिद्धान्त तक अपने को सन्तुष्ट रखती हैं, कुछ बचा कर नहीं रखतीं, कुछ जातियां जो-कुछ कमाती हैं उसमें से कुछ 'अतिरिक्त' रख कर, 'बचत' के तौर पर जमा कर लेती हैं। किसी जाति में बचत कम, किसी में ज्यादा होती है, और इन जातियों में एक-दूसरे से भेद करने का 'भेदक-तत्व' यही 'बचत' का तत्व है। जो बचत करना जानते ही नहीं, उनमें 'सम्पत्ति' का, 'दायभाग' का, 'उत्तराधिकार' का, 'धन' का, 'मूल्य' का विचार उत्पन्न ही नहीं होता, उनके सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार भी दूसरों से भिन्न होते हैं। अशिक्षित-जातियो की मुख्य-मुख्य अर्थ-व्यवस्थाएँ निम्न पायी जाती हैं —

(१) फल-मूल एकत्रित करने वाली सरल अर्थ-व्यवस्था
(२) फल-मूल एकत्रित करने वाली विकसित अर्थ-व्यवस्था
(३) कृषि-सबंधी सरल अर्थ-व्यवस्था
(४) कृषि एव पशु-पालन सम्बन्धी विकसित अर्थ-व्यवस्था
(५) भिन्न-भिन्न अर्थ-व्यवस्थाओ का सम्मिश्रण।

१ फल-मूल एकत्रित करने वाली सरल अर्थ-व्यवस्था (Simple Food-gathering Economies)

इस श्रेणी में वे अर्थ-व्यवस्थाएँ आती हैं जिनमें जातियां शिकारी जीवन व्यतीत करती हैं, जगल से फल-मूल इकट्ठा कर लाती हैं, और इतना जमा कर के नहीं रख छोडतीं जिसका वे विनिमय कर सकें। इनकी अर्थ-व्यवस्था में 'बचत'

को वह स्थान नहीं है जिस 'बचत' से चीजों का अदला-बदला किया जा सके। जंगल में फल काफी है, जरूरत पड़े तो शिकार किया जा सकता है, फिर कल के लिए बचा रखने में क्या धरा है? इस प्रकार के लोग हैं—तस्मानियन, ऑस्ट्रेलियन, सेलेबीज के टोएला, फिलिपाइन्स तथा मलय प्रायद्वीप के पिग्मी, अंडमान टापू के रहने वाले, सीलोन के वेड्डा, ऐनुस, साईबीरिया की कुछ जातियां, आफ्रीका के बुशमैन, दक्षिणी-चाइल और अर्जेन्टाइना के अमेरिकन-इंडियन तथा उत्तरी अमरीका के इंडियन। भारत में कोचीन के कादर, हैदराबाद के चेंचु, मध्य-प्रदेश के बैगा, उड़ीसा के जौंग तथा बिहार के खैरिया और बिरहोर भी इस वर्ग में गिने जाते हैं। इन लोगों की अर्थ-व्यवस्था का रूप जंगल से शिकार कर लाना, मछली पकड़ लाना, फल चुग लाना या कंद-मूल निकाल लाना है। यद्यपि इन में से सब की अर्थ-व्यवस्था एक-सी नहीं है, उनमें कुछ-न-कुछ भेद रहता है, तो भी इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था की मुख्य-मुख्य बातें निम्न हैं —

(१) जन-संख्या का रूप—इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था में जन-संख्या बहुत कम रहती है। कैलीफोर्निया के कुछ हिस्सों को छोड़ कर बाकी सब जगह इस अर्थ-व्यवस्था में जन-संख्या अधिक नहीं पायी जाती।

(२) समूह का रूप—इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था में जन-संख्या के थोड़े होने के साथ-साथ आर्थिक-उद्देश्य से इनका जो समूह बनता है वह भी छोटा होता है, अनुपात से इनके आर्थिक-समूह में ४० या ज्यादा-से-ज्यादा ७० या ८० व्यक्ति होते हैं, अगर कहीं अधिक व्यक्ति इकट्ठे भी होते हैं, तो कुछ देर के लिए, सामयिक तौर पर।

(३) भिन्न-भिन्न वस्तुओं के एकत्रण की व्यवस्था—भिन्न-भिन्न वस्तुओं को इकट्ठा करने के लिए इस अर्थ-व्यवस्था में गुट या टुकड़ियां बना दी जाती हैं। लड़के तथा बूढ़े पुरुषों की टुकड़ियां शिकार तथा मछली पकड़ने का काम करती हैं, और बाकी चीजें लड़कों के साथ बूढ़ी स्त्रियां बटोर लाती हैं। ये लोग एक जगह टिक कर नहीं रहते, जहां खाने और पेट भरने की व्यवस्था सुविधाजनक होती दीखती है, वहीं चले जाते हैं।

(४) साझेदारी—शिकार, मछली, फल-मूल को जो लोग इकट्ठा करके लाते हैं उनका सब साझीदारी में उपभोग करते हैं। अगर किसी ने व्यक्ति रूप से कोई चीज पैदा कर ली होती है, तो उसे उसका वैयक्तिक उपभोग कर लेने दिया जाता है, परन्तु मुख्य तौर पर इनकी आर्थिक-व्यवस्था का आधार वैयक्तिक न होकर साझेदारी है।

(५) श्रम-विभाग—इस आर्थिक-व्यवस्था में श्रम-विभाग का नियम काम नहीं करता। अगर इस व्यवस्था में श्रम-विभाग का कोई चिह्न है, तो वह लिंग-भेद के रूप में दिखाई देता है। स्त्री तथा पुरुष के कार्य में थोड़ा-बहुत भेद कहा जा सकता है, अन्यथा विशेषीकरण की प्रक्रिया पर आश्रित श्रम-विभाग इस आर्थिक-व्यवस्था में नहीं पाया जाता।

(६) वचत—जैसा हम पहले कह आये है, इस आर्थिक-व्यवस्था में 'वचत' का कोई स्थान नहीं है। कमाओ और खाओ का सिद्धान्त इस व्यवस्था का आधारभूत सिद्धान्त है। इसीलिए इस व्यवस्था में मुद्रा, वणिज, व्यापार, बाज़ार कुछ नहीं होता। व्यापार का आधार 'विनिमय' हुआ करता है। इस व्यवस्था में 'विनिमय' ही नहीं होता। एक चीज़ देकर दूसरी लेने का इस व्यवस्था में रिवाज़ नहीं। अगर किसी को कोई चीज़ दी जाती है, तो वापस लेने, या किसी चीज़ के वदले में देने के लिए नहीं दी जाती, यह दे ही दी जाती है, उपहार के तौर पर दे दी जाती है, इसलिए दे दी जाती है क्योंकि दूसरे को इसकी ज़रूरत है।

(७) सम्मिलित-स्वामित्व—आदिम-जातियो का जीवनस्यल मछली पकडने के तालाव, शिकार के जगल, फलो तथा कन्द-मूलो के वन-उपवन होते है। ये सव स्थान किसी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति न होकर समूह की सम्पत्ति माने जाते है, इन पर सव का 'सम्मिलित-स्वामित्व' होता है। आजकल जिस साम्यवाद का हम नारा लगाते है, आदिम-जातियों में और खास कर फल-मूल एकत्रित करके आजीविका का निर्वाह करने वाली अर्थ-व्यवस्था में यह पहले से मौजूद है। इन जातियों में ये स्थान किसी व्यक्ति या उसके पुत्र-पौत्र की सम्पत्ति नहीं माने जाते, सव के एक-समान माने जाते है, और इनका सव के हित के लिए जैसा चाहें वैसा प्रयोग किया जा सकता है।

(८) समता का भाव—इस अर्थ-व्यवस्था में क्योंकि वैयक्तिक-स्वामित्व का भाव नहीं होता, सामाजिक-स्वामित्व का भाव होता है, इसलिए इसमें विषमता की भावना भी नहीं होती।

२ फल-मूल एकत्रित करने वाली विकसित अर्थ-व्यवस्था (Advanced Food-gathering Economies)

इस श्रेणी में वे अर्थ-व्यवस्थाएँ आ जाती है जिनमें जातियाँ शिकारी जीवन व्यतीत करती है, जगल से फल-मूल इकट्ठा कर लाती है, और थोडी-वहुत 'वचत' इस दृष्टि से कर लेती है कि उस 'वचत' से दूसरे लोगो के साथ चीज़ों का अदला-वदला किया जा सके। इस श्रेणी में आने वाले सिर्फ कुछ लोग आज के युग में वचे है, जो उत्तर-पश्चिम कैलीफोर्निया से अलास्का के ट्लिंगिट्स स्थान तक निवास करते है। इनकी सख्या कुछ लाख के भीतर ही है। इनकी अर्थ-व्यवस्था की मुख्य-मुख्य वातें निम्न है —

(१) जन-सख्या का रूप—सरल आर्थिक-व्यवस्था वाले क्षेत्रों से इस आर्थिक-व्यवस्था के क्षेत्रो की जन-सख्या कई गुणा ज्यादा होती है।

(२) समूह का रूप—इस अर्थ-व्यवस्था में जैसे जन-सख्या कुछ अधिक होती हे, वैसे इसमें समूह का निर्माण भी अधिक जन-सख्या से होता है। प्रत्येक ग्राम में ४०–५० के लगभग व्यक्ति होते है, परन्तु क्योंकि इस व्यवस्था में 'वचत' हुए पदार्थो का विनिमय होता है, इसलिए इनमें वाज़ार भी लगते है और ऐसे वाज़ार वाले गाँवों की जनसख्या १,५००–२,००० तक पहुँच जाती है।

(३) भिन्न-भिन्न वस्तुओं के एकत्रण की व्यवस्था—भिन्न-भिन्न वस्तुओं को इकट्ठा करने के लिए इस व्यवस्था में पुरुषों तथा स्त्रियो की मडलियाँ वना दी जाती हैं। पुरुषो की मडली शिकार तथा मछली पकडने का काम करती है और स्त्रियों की मडली किसी दूसरे आर्थिक कार्य में लगी रहती है। इन खास-खास कार्यों के अतिरिक्त कोई-कोई व्यक्ति जहाँ-कहीं से भी कोई खाने की चीज ढूंढ लाता है, परन्तु ज्यादातर यह व्यवस्था की जाती है कि अमुक जगल से शिकार पकडना है, अमुक जगह से फल बटोर लाने हैं, अमुक तालाव से मछलियाँ पकडनी हैं। कौन व्यक्ति किस मडली में काम करेगा—यह निश्चय करना इस अर्थ-व्यवस्था में मुखिया-पुरुष या मुखिया-स्त्री का काम है, इससे पहली सरल अर्थ-व्यवस्था में मडली के व्यक्ति चुनने का काम जन-तत्र के आधार पर सारे-के-सारे समूह का होता था। मुखिया वश-परपरा से वनता है। यह सारा-का-सारा समूह भोजन की खोज में जगह-से-जगह भटकता नहीं फिरता। ये लोग एक जगह स्थिर होकर रह जाते हैं, और इनमें से कुछ भोजन की तलाश में इधर-उधर भी जाते हैं, फिर भी साल भर गाँव एक जगह टिका रहता है।

(४) विषम-विभाग—इस अर्थ-व्यवस्था में जो-कुछ भौतिक-पदार्थ सगृहीत होते हैं, वे सव में समान नहीं वँट जाते, वश-परपरा से चले आ रहे मुखिया को इस सग्रह का वडा भाग मिलता है, मुखिया से जो बच रहता है, वह दूसरो में वँट जाता है। वस्तुओं को इकट्ठा करने के लिए मुखिया ने जो मडली वनाई होती है, उसका वडा भाग तो मुखिया ले जाता है, परन्तु व्यक्ति स्वतत्र रूप से, विना मडली का हिस्सा वने जगल, नदी, तालाव से जो-कुछ ले आते हैं, वह उनकी निजी सम्पत्ति मानी जाती है, यद्यपि इसमे से भी कुछ भाग वे मुखिया को जरूर दे देते हैं।

(५) श्रम-विभाग—पहली अर्थ-व्यवस्था मे तो स्त्री-पुरुष के अतिरिक्त श्रम का कोई भेद ही नही होता, परन्तु इस दूसरी फल-मूल एकत्रित करने वाली विकसित अर्थ-व्यवस्था में कुछ थोडा-बहुत विशेषीकरण प्रारभ हो जाता है। इस व्यवस्था में कुछ व्यक्ति गुलाम के तौर पर काम करने लगते हैं, इनका काम चाकरी करना है, कुछ पत्थर घडना, नाव या टोकरी बनाना आदि कार्यों में निपुणता प्राप्त कर लेते हैं। आदि-गाँवों का अध्ययन करने से पता चला कि कभी-कभी इस अर्थ-व्यवस्था के गाँव-के-गाँव किसी एक बात में विशेषता प्राप्त कर लेते हैं। कोई गाँव मछली पकडने में सिद्ध-हस्त हो जाता है, कोई पक्षियो के परों को जमा करने में निपुणता प्राप्त कर लेता है, कोई समुद्र से घोंघे इकट्ठा करने मे विशेषता प्राप्त कर लेता है। इस अर्थ-व्यवस्था मे श्रम-विभाग का अर्थ-शास्त्र का नियम पहले-पहल जन्म लेता है।

(६) बचत—इस अर्थ-व्यवस्था में 'बचत' का नियम काम करने लगता है। पहले-पहल तो लोग अपने लिए ही एक दिन की जगह दो दिन का सामान जगलो से ढो लाते हैं, परन्तु धीरे-धीरे वे ज्यादा भी लाने लगते हैं।

आराम करना मनुष्य का स्वभाव है, इसलिए एक दिन काम से छुट्टी लेंगे—यह सोच कर ज्यादा ले आते हैं। फिर यही तो नहीं कि जो-कुछ उन्हें मिल गया, उसी से उनकी इच्छाएँ पूरी हो गई। कई चीजें ऐसी भी होती हैं जो उनके पास नहीं, दूसरों के पास होती हैं। 'वचत' द्वारा वे दूसरो के साथ अपनी चीजों को अदल-वदल लेते हैं। इससे वाजार भी धीरे-धीरे वनने लगते हैं, दरिया-समुद्र के रास्ते से लोग अपने सामान को दूसरी जगह ले जाकर अदला-वदला करने लगते हैं।

(७) वैयक्तिक स्वामित्व—हम पहले कह आये हैं कि इस अर्थ-व्यवस्था में वंश-परपरा द्वारा पुरुष-मुखिया तथा स्त्री-मुखिया का पद उत्पन्न हो जाता है। इन मुखियाओं का उन स्थानो पर स्वामित्व माना जाता है, जहां से खाने के पदार्थ प्राप्त होते हैं। इनके पास गुलाम होते हैं जो इनकी चाकरी करते हैं, इनके पास जगल और तालाब होते हैं जहां फल-मूल और मछलियां पायी जाती हैं, इनका स्वामित्व और प्रभुत्व उन क्षेत्रों पर स्वीकार किया जाता है जहां शिकार के जानवर पाये जाते हैं। इन क्षेत्रों का दूसरे लोग लाभ उठाना चाहें तो इनके स्वामी की आज्ञा प्राप्त किये विना इनका उपयोग नहीं किया जा सकता। इस अर्थ-व्यवस्था में 'सम्मिलित-स्वामित्व' का विचार नहीं रहता, उसका स्थान 'वैयक्तिक-स्वामित्व' ले लेता है।

(८) 'वर्ग' के विचार की उत्पत्ति—क्योंकि इस अर्थ-व्यवस्था में 'वैयक्तिक-स्वामित्व' का भाव उत्पन्न हो जाता है इसलिए इसमें दो वर्ग वन जाते हैं, 'उत्तम-वर्ग' तथा 'अधम-वर्ग'। यह भेद-भाव शुरू-शुरू में तो सम्पत्ति को अपने वाहु-वल से प्राप्त करने के कारण 'कर्म' के आधार पर वनता है, परन्तु आगे चल कर वंश-परपरा, अर्थात् 'जन्म' के आधार पर यह भेद चलता चला जाता है।

(९) उत्तम-वर्ग का रूप—अभी सम्पत्ति ने धन का, मुद्रा का रूप नहीं धारण किया होता। इस अर्थ-व्यवस्था में सम्पत्ति उन पदार्थों के रूप में होती है, जिन्हें लोग जगलों, नदियों, पहाडों से इकट्ठा कर लाते हैं। जो सपन्न हो जाते हैं, उनकी सन्तान भी वंश-परपरा के रूप में इस सम्पत्ति की मालिक मानी जाती है। ये सपन्न व्यक्ति 'उत्तम-वर्ग' के लोग कहे जाते हैं। इनका नदी, नालो, जगलों पर अधिकार होता है। जात-विरादरी तथा गांव के सव लोग जो-कुछ लाते हैं, उसका कुछ-न-कुछ अंश इन्हें अवश्य भेंट के रूप में देते हैं—यह इनका 'दत्तांश' कहाता है। विना मेहनत की इस कमाई से इनकी सम्पत्ति वढती जाती है। इनके पास गुलाम भी होते हैं, वे भी जो-कुछ मेहनत करते हैं, उसका फल इन उत्तम-वर्ग के लोगों को ही मिलता है। ये लोग दूसरे लोगो के लिए कायदे-कानून वनाते हैं, और जो इनके वनाये कानूनों को तोडते हैं, उनसे जुर्माना वसूल किया जाता है। धीरे-धीरे ये अपने दायरे को वढाते जाते हैं, ये और इनके साथी आस-पास के या दूर-दूर के गांवो पर हमला वोलने लगते हैं, उन्हें लूटते और अपनी सम्पत्ति को वढाते हैं। इस प्रकार वह सम्पत्ति जो किसी समय सव की साझी थी, अव जब कि उसमें 'वैयक्तिक-स्वामित्व' का भाव आकर वैठ गया, मनुष्य की लालसा

को जागृत कर देती है, और इस लालसा को पूरा करने के लिए, सम्पत्ति को जमा करने के लिए इस अर्थ-व्यवस्था में उत्तम-वर्ग के लोगो द्वारा लुटेरेपन की शुरूआत हो जाती है।

३ कृषि-सम्बन्धी सरल अर्थ-व्यवस्था (Simple Agricultural Economies)

जैसा हम पहले कह आये है, अर्थ-व्यवस्था के वर्गीकरण का आधार 'बचत' (Surplus) का विचार है। पहले तो मनुष्य को अपने भौतिक-शरीर की रक्षा के लिए खाने-पीने की वस्तुएँ चाहियें, उससे बच रहे तो वह उनका अन्य पदार्थो से विनिमय करने लगता है। यह 'बचत' जगल के फल-कन्द के एकत्रण में भी हो सकती है, कृषि में भी हो सकती है, परन्तु कृषि में इस प्रकार की बचत की गुञ्जाइश ज्यादा हो जाती है। कृषि-सबधी अर्थ-व्यवस्था को फल-फूल की अर्थ-व्यवस्था की तरह दो भागों में बाँटा जा सकता है—सरल तथा विकसित। कृषि-सबधी सरल अर्थ-व्यवस्था में जब बहुत साधारण उपकरणों से काम लिया जाता है, अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के बाद बहुत थोडा बच रहता है, कृषि-सबधी विकसित अर्थ-व्यवस्था मे जब विकसित उपकरणो से काम लिया जाता है, बहुत अधिक बच रहता है। अशिक्षित जातियो में ये दोनो प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाएँ पायी जाती है, इसलिए इन दोनो की विशेष-विशेष बातों को जानना हमारे लिये आवश्यक है। पहले हम कृषि-सबध सरल अर्थ-व्यवस्था की चर्चा करेंगे।

यह अर्थ-व्यवस्था, पौलीनेशिया, मैलेनेशिया तथा माइक्रोनेशिया में पायी जाती है। उत्तरी-अमरीका के मिसूरी, एरीज़ोना, न्यू मक्सिको तथा ब्राजील में भी यह अर्थ-व्यवस्था है। यूरेशिया तथा आफ्रीका में कृषि-सबधी इस प्रकार की सरल अर्थ-व्यवस्था नहीं पायी जाती क्योंकि वहाँ बहुत पहले से कृषि की जाती रही है, और होते-होते अब वहाँ कृषि की विकसित अवस्था आ गई है। भारत मे हैदराबाद के कोया लोग कृषि-सबधी सरल अर्थ-व्यवस्था के उदाहरण है। कोया के अतिरिक्त बैगा, मरिया, कमार तथा पहाडी-रैड्डी भी कृषि-सबधी सरल अर्थ-व्यवस्था के स्तर पर है। भारत के कमार, रेड्डी तथा बैगा जन-जातियो के विषय में कहा गया है कि वे इस समय तक 'नव-पाषाण-युग' की कृषि-व्यवस्था से ऊपर नहीं उठे। कमार लोग तो अबतक हल से खेत जोतने के स्थान में कुल्हाडे से हल जोतते है। इन लोगों के खेती करने का ढग निराला है। ये खेती का स्थान बदलते रहते है, इस ढग को 'कृषि-स्थान-परिवर्तन' (Shifting cultivation) कहते है। पहले ये जगल साफ कर देते है, फिर बचे-खुचे झाड-झखाड में आग लगा देते है। इसके बाद राख में बीज छिडक देते है। एक-दो साल खेती अच्छी होती है, बाद को वह स्थान खेती के लिए बेकार हो जाता है, ये लोग भी खेती का स्थान बदल देते है। इस प्रकार का ढग कई आदिवासियों में पाया जाता है। इसे 'झूम', 'बेवार', 'दाहिया' आदि भिन्न-भिन्न नाम दिये जाते है। ये लोग खेती करते है, परन्तु इतना पैदा नहीं कर सकते जिससे 'बचत' कर सकें। पाश्चात्य-लेखको का

कहना है कि कोलम्बस से पहले प्राय सर्वत्र इसी प्रकार की अर्थ-व्यवस्था थी। इस अर्थ-व्यवस्था की मुख्य-मुख्य बातें निम्न हैं —

(१) जन-सख्या का रूप—इस अर्थ-व्यवस्था की जातियों की जन-सख्या फल-मूल एकत्रित करने वाली विकसित अर्थ-व्यवस्था की जातियों की जन-सख्या के समान ही होती है, अधिक नहीं होती।

(२) समूह का रूप—जन-सख्या की तरह ही इस अर्थ-व्यवस्था में जन-सख्या का समूह होता है। यह समूह बहुत बडा नहीं होता, ७०-८०-१०० तक का एक समूह एक जगह पाया जाता है।

(३) कृषि-सबधी व्यवस्था—जैसे फल-मूल एकत्रित करने वाली सरल अर्थ-व्यवस्था में जो टोलियाँ या मडलियाँ बनाई जाती हैं, उनका आधार जन-तंत्र प्रणाली है, सब से सलाह-मशविरा करके टोली बनाई जाती है, वैसे इस कृषि-सबधी सरल अर्थ-व्यवस्था में सब की सलाह से ही जन-तांत्रिक प्रणाली पर टोलियाँ बनाई जाती हैं, जिनका काम फल-मूल एकत्र करने वाली अर्थ-व्यवस्था के अनुसार ही जगल की उपज इकट्ठा करना है। परन्तु इस अर्थ-व्यवस्था में क्योंकि कृषि का भी स्थान है इसलिए इन लोगों में से कुछ स्वतत्र रूप से सब्जी-तरकारी तथा फलो के बाग़-बग़ीचे भी लगाते हैं। इन सब्जी-तरकारी की खेतियाँ तथा फलों के बग़ीचो के लगाने में कभी-कभी समूह के अन्य लोग भी सहयोग देते हैं, और कभी-कभी सारा-का-सारा समुदाय इस प्रकार के कृषि-सबधी बाग़-बग़ीचे लगाता है।

(४) सम तथा विषम विभाग—इस अर्थ-व्यवस्था में बाग-बग़ीचे की उपज उसी की मानी जाती है जो इनको लगाता है, अगर समुदाय को इसकी जरूरत पडती है, तो समुदाय भी इसका लाभ उठा सकता है। प्राय जो व्यक्ति कुछ पैदा करता है वही उसे रखता है, समाज व्यक्ति की पैदावार को उससे नहीं लेता। इस दृष्टिकोण से इस व्यवस्था में सम्पत्ति को निजी कहा जा सकता है, परन्तु निजी होने के साथ-साथ वह समुदाय की भी हो सकती है। इसी कारण इस व्यवस्था में सम्पत्ति का सम तथा विषम दोनों तरह का विभाग है।

(५) श्रम-विभाग—हम पहले लिख आये हैं कि फल-मूल एकत्रित करने वाली सरल आर्थिक-व्यवस्था में श्रम करने वालों के केवल दो वर्ग पाये जाते हैं—स्त्री तथा पुरुष। कृषि-सबधी सरल आर्थिक-व्यवस्था में यह भेद स्त्री तथा पुरुष के रूप में न होकर भिन्न-भिन्न कारीगरो का रूप धारण कर लेता है। लोग जगह-जगह फिरना छोड कर कृषि करने के लिए एक जगह रहना सीख जाते हैं, साल भर एक ही जगह रहते हैं, इसलिए खेती तो खेती के दिनों में करते हैं, बाकी दिनो में दूसरी तरह के काम करते हैं। टोकरी बनाना, कपडा बुनना, बर्तन बनाना आदि अनेक काम हैं जो फुर्सत के समय वे करने लगते हैं, और जो लोग इन कामों को करना शुरू करते हैं, उनमें से अनेक इन कामों में कुशल हो जाने के कारण इन्हीं को अपना धन्धा चुन लेते हैं। इस प्रकार श्रम-विभाग प्रारभ हो जाता है, और भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न कामो में कुशल होने लगते हैं।

(६) बचत—क्योंकि श्रम-विभाग प्रारभ हो चुका होता है, और बहुत-से व्यक्ति भिन्न-भिन्न कामो में लग जाते हैं, कोई कपडा बुनता है, कोई बर्तन बनाता है, इसलिए हर-एक वस्तु बहुतायत में पैदा होने और बनने लगती है। जब चीजो की बहुतायत हो जाती है, तो उनकी 'बचत' अपने-आप होती है। बचत की इन चीजो को या तो उपहार रूप में एक-दूसरे को दिया जाता है, या एक समुदाय दूसरे समुदाय के साथ इन चीजों का अदला-बदला कर लेता है। अभी मुद्रा के रूप में धन उत्पन्न नहीं हुआ होता, 'विनिमय' के रूप में वस्तुओ का आदान-प्रदान होता है, वस्तुओं को बेंचने के लिए बाजार भी अभी नहीं बने होते।

(७) सम्मिलित तथा वैयक्तिक स्वामित्व—शिकार, मछली, बाग़-बग़ीचे आदि विशेष-विशेष महत्व के स्थान तो समुदाय की सम्मिलित सम्पत्ति माने जाते हैं, परन्तु समुदाय ने उपज के लिए बाग-बग़ीचे लगाने के लिए जनतान्त्रिक रूप से, सब की सहमति से जो स्थान व्यक्तियों को दिये होते हैं, उनकी उपज व्यक्तियो को मिलती है। क्योकि बाग़-बगीचे लगाने के लिए इस प्रकार के खेत समूह द्वारा व्यक्तियों को वश-परपरा के आधार पर दे दिये जाते हैं, जो खेत बाप को दिया, वही बेटे को दे दिया जाता है, इसलिए इस अर्थ-व्यवस्था में वैयक्तिक-स्वामित्व का भाव उत्पन्न हो जाता है, परन्तु व्यक्ति को भू-स्वामित्व समाज द्वारा मिलता है, इसलिए अभी शुद्ध वैयक्तिक-स्वामित्व का भाव नहीं उत्पन्न हुआ होता।

(८) समता का भाव—आर्थिक-दृष्टि से इस व्यवस्था में व्यक्ति-व्यक्ति की सम्पत्ति में बहुत अधिक भेद नहीं होता, इसलिए प्राय सब में समता पायी जाती है—सामाजिक-समता तथा आर्थिक-समता, न स्थिति के अनुसार ऊँच-नीच, न धन के अनुसार सम्पन्न-असम्पन्न।

(९) 'वर्ग' का रूप—वश-परपरा से भी कुछ चलता है, तो समूह की स्वीकृति से ही चलता है, इसलिए वश के राजा-जमींदार-मुखिया इस अर्थ-व्यवस्था में नहीं पाये जाते। कोई किसी को कर या दत्ताश नहीं देता। लुटेरपना भी इस अर्थ-व्यवस्था में नहीं उत्पन्न होता क्योंकि अभी धन-सम्पत्ति को वह महत्त्व नहीं मिला होता जो विकसित अर्थ-व्यवस्था में मिल जाता है। लोगों के पास जो-कुछ होता है उसीसे वे सन्तोष कर लेते हैं। युद्ध तो तब शुरू होते हैं जब धन-सम्पत्ति को महत्व आवश्यकता से अधिक मिलने लगता है। इस व्यवस्था के लोग सन्तोषी जीव होते हैं। लडाई-झगडे बिल्कुल नहीं होते—ऐसी बात नहीं है, थोडे-बहुत होते हैं, परन्तु उनका कारण उनकी लालसा न होकर आपस के झगडे, बदले की भावना आदि होते हैं। अर्थ-व्यवस्था का यह 'मनोवैज्ञानिक' आधार है।

४ कृषि-सम्बन्धी विकसित अर्थ-व्यवस्था
(Advanced Agricultural Economies)

ससार की जितनी अर्थ-व्यवस्थाएँ हैं उनमें सबसे ज्यादा सख्या कृषि-सबधी विकसित अर्थ-व्यवस्था के लोगों की है। पहले तीन प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाएँ जहाँ-तहाँ बिखरी पायी जाती हैं, परन्तु उनकी सख्या इतनी अधिक नहीं है।

पहले कभी ये अर्थ-व्यवस्थाएँ दुनियां में थीं—इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि कहीं-कहीं ये अब भी पायी जाती हैं, परन्तु वर्तमान-युग की उन्नत जातियो के सम्पर्क में आकर ये व्यवस्थाएँ या तो नष्टप्राय हो गई हैं, या इनका रूप बदल गया है। ऊपर जिन अर्थ-व्यवस्थाओ का हम वर्णन कर आये हैं उन पर 'ऐतिहासिक' आधार की दृष्टि से ही विचार किया जा सकता है, वर्तमान-युग में तो अशिक्षित जातियो की ९५ फी सदी अर्थ-व्यवस्थाएँ कृषि-सबधी विकसित-अर्थ-व्यवस्थाएँ हैं। जरूरी नहीं कि इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था कृषि-सबंधी सरल अर्थ-व्यवस्था का ही परिणाम हो। सीधे फल-मूल एकत्रण करने वाली अर्थ-व्यवस्था से युरोपियन या अन्य सभ्य-जातियों के सपर्क में आने के कारण कई जातियाँ एकदम विकसित कृषि-संबंधी अर्थ-व्यवस्था को अपना लेती हैं, कहीं-कहीं इनका सरल से विकसित कृषि में भी विकास होता है। इस अर्थ-व्यवस्था में 'बचत' (Surplus) बहुत अधिक होने लगती है, इसलिए अन्य अर्थ-व्यवस्थाओ में जो जटिलता नहीं पायी जाती वह जटिलता इस व्यवस्था में आ जाती है। 'बचत' को खपाने के लिए बाजार, मार्केट, भिन्न-भिन्न पदार्थों की उत्पत्ति—सब-कुछ उठ खड़ा होता है। इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था आफ्रीका में बुशमेन को छोड कर वहाँ की अन्य सब जातियो में पायी जाती है, पोलीनेशिया-माइक्रोनेशिया में, मैलेनेशिया, मलाया के द्वीपों में, अमरीका में, और अन्य भी अनेक स्थानों पर पायी जाती है। भारत में गोंड लोग, मैसूर के टोडा आदि सब इस अर्थ-व्यवस्था के उदाहरण हैं। इस अर्थ-व्यवस्था की मुख्य-मुख्य बातें निम्न हैं :—

(१) जन-सख्या का रूप—इस अर्थ-व्यवस्था के जो लोग सिर्फ पशु-पालन से निर्वाह करते हैं, खेती को उसका आधार नहीं बनाते, या जो जगलो में ही रहते हैं, उन्हें छोड कर, इस अर्थ-व्यवस्था में जन-सख्या घनी हो जाती है, छितरी नहीं रहती।

(२) समूह का रूप—विकसित कृषि-व्यवस्था में गाँव तो होते ही हैं, परन्तु साथ-साथ कस्बे और शहर भी उठ खडे होते हैं। इनमें रहने वालो की सख्या हजारों तक पहुँच जाती है।

(३) उत्पादन-सम्बन्धी व्यवस्था—इस अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन का काम कैदियों और गुलामो से लिया जाने लगता है। वैसे तो सब-कोई अपनी-अपनी खेती-बाडी करते हैं, परन्तु क्योंकि अब वश-परपरा से राजा-महाराजा-जमींदार बनने लगते हैं, इसलिए वे स्वय काम करने के स्थान में दूसरों से काम लेने लगते हैं। बाजार में जिस चीज की ज्यादा खपत होती है, उसकी पैदावार बढाई जाती है। बेगार में अनेक गुलामो और कैदियो से काम लिया जा सकता है, इसलिए जिस चीज के दाम उठ सकते हैं, वह सब-कुछ पैदा किया जाता है। इस अर्थ-व्यवस्था में भिन्न-भिन्न पेशों के विशेषज्ञ पैदा हो जाते हैं, इसलिए वे भी अपने-अपने कौशल को दिखलाते हैं, उनकी बनाई भिन्न-भिन्न वस्तुएँ बाजार में बिकने के लिए आने

लगती हैं। कभी-कभी गाँव-के-गाँव एक-एक कला में निपुण हो जाते हैं, और वे सब काम करने के स्थान में एक ही चीज़ को पैदा करते हैं।

(४) विषम-विभाग—वस्तुओं का वितरण सम न होकर विषम हो जाता है। राजा-महाराजा-ज़मींदार भूमि के स्वामी हो चुके होते हैं, उनके पास पशु-धन तथा क़ैदी-ग़ुलाम होते हैं। इनसे उनकी सम्पत्ति दूसरों से बहुत अधिक बढ़ जाती है। वे दूसरों से कर तथा दत्ताश भी लेने लगते हैं। इस प्रकार के विषम-विभाग के कारण इस व्यवस्था में समाज में विषमता बहुत बढ़ जाती है।

(५) श्रम-विभाग—उपभोग्य-पदार्थों की उत्पत्ति जिन स्थानों से हो सकती है, उन पर सब का स्वामित्व न रह कर कुछ-एक का स्वामित्व हो जाता है, इससे कुछ लोग उन वस्तुओं के संबंध में विशेष जानकारी हासिल कर लेते हैं, विशेष कुशलता प्राप्त कर लेते हैं, वे सब-कुछ बनाना छोड़ कर इन विशेष वस्तुओं का ही निर्माण करने लगते हैं, इसलिए इस अर्थ-व्यवस्था में विशेषीकरण की प्रक्रिया तेज़ी से काम करने लगती है और श्रम-विभाग स्पष्ट रूप धारण कर लेता है। इस अर्थ-व्यवस्था में कई जातें बन जाती हैं, जो एक ख़ास प्रकार के काम में ही दक्ष होती हैं।

(६) बचत—इस अर्थ-व्यवस्था में क्योंकि कुछ-एक व्यक्ति ही उत्पादन-केन्द्रों के मालिक बन जाते हैं, इसलिए ये उत्पादन-केन्द्र समूह के काम में न आकर जिन व्यक्तियों का इन पर स्वामित्व होता है, उन्हीं के काम आते हैं। उनके लिए ये बचत-ही-बचत हैं। बड़े-बड़े खेत, जानवरों के रेवड़-के-रेवड़, चाकरी के लिए क़ैदी और ग़ुलाम—इन सब से जो उत्पादन का कार्य होता है, वह सब इनके मालिकों की सम्पत्ति गिनी जाती है।

(७) वैयक्तिक-स्वामित्व—इस अर्थ-व्यवस्था में वैयक्तिक स्वामित्व को मुख्य स्थान मिल जाता है। सारा सामाजिक-संगठन वैयक्तिक-स्वामित्व को आधार बना कर खड़ा किया जाता है। सम्पत्ति, जायदाद, धन, मूल्य, क्रय-विक्रय आदि के विचार भी समाज में जन्म ले लेते हैं।

(८) विषमता का भाव—जब किसी के पास थोड़ा, किसी के पास अधिक होगा, तब समाज में समता का भाव तो रह ही नहीं सकता। इस समाज में विषमता का भाव जड़ पकड़ लेता है।

(९) उत्तम-वर्ग का रूप—इस समाज में राजा-महाराजा-ज़मींदार-मुखिया—ये सब वर्ग उत्पन्न हो जाते हैं। ये लोग ग़रीब लोगों से ख़ूब काम लेते हैं। इनके पास सिपाही और पुलिस भी रहती है, धन-सम्पत्ति से ये दूसरों को रोटी-कपड़ा देकर उनसे अपने लिए काम कराते हैं। इन लोगों को दूसरों को लूटने के लिए भी ये काम में लाते हैं, दूसरों पर हमला बोल कर, उनसे युद्ध कर के उनकी सम्पत्ति को लूट कर ये दिनोंदिन अधिकाधिक सम्पत्तिशाली तथा धनवान हो जाते हैं। सिपाही दूसरों को लूट कर इन्हें पैसा देते हैं, पुलिस वाले इनके लिए

दूसरों से कर तथा दत्ताश वसूल करते हैं। इसके बदले इन्हें रोटी-कपडा तथा कुछ पैसा मिल जाता है।

५ भिन्न-भिन्न अर्थ-व्यवस्थाओ का एक-दूसरे पर प्रभाव या सम्मिश्रण

हमने चार प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाओं का वर्णन किया, परन्तु न तो इसका यह मतलब है कि इनका क्रमश एक-दूसरे से विकास होता है, न इसका यह मतलब है कि सब कालों में सब जगह एक-सी ही आर्थिक-व्यवस्था पायी जाती है, और न इसका यह मतलब है कि एक व्यवस्था से दूसरी में जाते हुए बीच के रास्ते लाजमी तौर से तय करने पडते हैं। यह हो सकता है कि किसी जगली जाति में सिर्फ पहली अर्थ-व्यवस्था हो, दूसरी और तीसरी आये विना, अन्य किसी विकसित समुदाय के सपर्क में आने के कारण, इसमें एकदम कृषि-सवधी विकसित अर्थ-व्यवस्था का समावेश हो जाय। यह भी हो सकता है कि एक ही काल में पृथ्वी के एक भाग में ये जातियाँ सिर्फ फल-मूल एकत्रित कर रही हो, और दूसरे किसी भाग में विकसित रूप की कृषि-सवधी अर्थ-व्यवस्था में से गुजर रही हों। इनके चारों तरफ की अर्थ-व्यवस्था कैसी है, कैसी अर्थ-व्यवस्था से ये घिरे हुए हैं—इस वात पर इनकी अर्थ-व्यवस्था निर्भर करती है। १६वीं शताब्दी में युरोप में पखों का शौक वढा। उस समय जब फ्रासीसी लोग पक्षियों के पखो का व्यापार वडे जोर-शोर से कर रहे थे, तव कनाडा के एलगोनकिन-इडियन लोगो की आर्थिक-व्यवस्था में एकदम परिवर्तन आ गया। वे लोग अपना सब धधा छोड कर इन व्यापारियों को पंख इकट्ठे कर देने में लग गये। युरोपियन लोगों के इन जातियों के साथ सपर्क स्थापित करने से पहले इनकी अर्थ-व्यवस्था में समूह की प्रधानता थी, जगल और खेत व्यक्ति के न होकर समूह के हुआ करते थे, परन्तु जब फ्रेंच व्यापारी पखों की तलाश में इनके प्रदेशो में पहुँचे तव धीरे-धीरे इन प्रदेशों पर समुदाय के प्रभुत्व को जगह व्यक्ति के प्रभुत्व ने स्थान लेना शुरू कर दिया। हर-एक, व्यक्ति रूप से, पखों को बेचने का फायदा उठाना चाहता था। फ्रेंच लोगों के सपर्क से इनकी आर्थिक-व्यवस्था में ही परिवर्तन नहीं आया, अन्य काम-काज छोड़ कर ये पख इकट्ठा करने में ही नहीं लग गये, इनकी सामाजिक-व्यवस्था में भी परिवर्तन आ गया, समूह के स्वामित्व के स्थान पर व्यक्ति के स्वामित्व का भाव इनमें जाग गया। युरोपियन लोगों के सपर्क से इन लोगों में युरोपियन अर्थ-व्यवस्था तथा उस अर्थ-व्यवस्था पर आश्रित सामाजिक-व्यवस्था की वातें आने लगीं। प्रशान्त महासागर के उत्तर-पश्चिमी तट के इडियन जो पहले फल-मूल एकत्रित करने की अर्थ-व्यवस्था में पले थे, जब युरोपियनों के सपर्क में आये, उन्हें उन्होंने पख वेचे, तव उनके पास रुपया-पैसा-धन इकट्ठा हो गया, वे सम्पत्तिशाली हो गये। इन्हें, युरोपियनों से, पख वेच कर लोहे के अस्त्र-शस्त्र भी प्राप्त हुए। इन अस्त्र-शस्त्रो को पाकर इन जातियों के मुखियाओं ने एकदम लुटेरो का रूप धारण कर लिया। त्सिमशियन तथा हैडा जाति के लोगो ने दूसरी जातियो पर आक्रमण कर उन्हें

लूटना शुरू किया, उनकी धन-सम्पत्ति छीनना तथा उन्हें वन्दी वना कर उनसे गुलाम-गीरी कराना शुरू किया। जव तक इनके पास धन नहीं था तव तक ये कुछ नहीं करते थे, पैसा होते ही और अधिक पैसे की लालसा ने इन्हें ऐसा घेरा कि लूट-मार, उत्पात मचाना इनका काम हो गया।

जो अशिक्षित जातियां खेती करती हैं, पशु पालती हैं, उनमें भी युरोपियनो के सपर्क का प्रभाव एकदम उनकी अर्थ-व्यवस्था को वदल डालता है। युरोपियन व्यापारियों को किसी क्षेत्र में से पख चाहिएँ, किसी क्षेत्र में से रवर चाहिए, किसी क्षेत्र में से नारियल चाहिए। युरोपियन लोगों की इन मांगो को पूरा करने के लिए इन अशिक्षित जातियों की भी अर्थ-व्यवस्था उसी के अनुसार वदलती रहती है। इस समय तो स्थिति यह है कि पाश्चात्य-देशो की सर्व-व्यापी अर्थ-व्यवस्था की छाया इन सब जातियों की अर्थ-व्यवस्था पर हावी हो रही है, और उस अर्थ-व्यवस्था को कायम रखने के लिए ये सब अशिक्षित जातियां अपना खून-पसीना बहा रही हैं। पिछली शताब्दी में ये जातियां गुलामो के तौर पर और अव मज़-दूरों के तौर पर पाश्चात्य अर्थ-व्यवस्था को सहारा देने के लिए जी रही हैं, इनकी अपनी अर्थ-व्यवस्थाएँ तो दिनोंदिन क्षीण होती जा रही हैं।

६. अशिक्षित आदिवासियो में समुदाय का रूप
(Idea of Community among Non-literates)

हम इस अध्याय में अशिक्षित-जातियों की अर्थ-व्यवस्था के 'भौतिक' (Material) आधार पर बहुत-कुछ लिख आये हैं। इनकी अर्थ-व्यवस्था का भौतिक-आधार जगल में फल-मूल एकत्रित करना, शिकार करना, मछलियां पकड़ना, फलों के लिए बाग-वगीचे लगाना, दूध के लिए पशु पालना तथा सरल एव विकसित कृषि करना है। इन भौतिक-पदार्थों से ये लोग जीवन-रक्षा का प्रयत्न करते हैं। जैसा हम पहले कह आये हैं, अर्थ-व्यवस्था का आधार 'सामाजिक' अथवा 'समाजशास्त्रीय' (Sociological) भी है। हम जिस प्रकार के भौतिक-पदार्थों का सग्रह करते हैं, उस सग्रह के लिए एक खास प्रकार के सामाजिक-सगठन को भी वनाते हैं। इस सगठन का नाम ही 'समुदाय' (Community) है। अशिक्षित-जातियों में उनके सगठन का मुख्य उद्देश्य आर्थिक होता है। किस प्रकार के सगठन से उनकी आर्थिक समस्या ठीक तरह से हल होगी—इस वात को दृष्टि में रख कर उनका 'सगठन', उनका 'समुदाय' वनता है। फल-मूल एकत्रित करने वाली सरल आर्थिक-व्यवस्था का सामाजिक-सगठन, इनका 'समुदाय' एक खास तरह का होता है, इनकी विकसित आर्थिक-व्यवस्था का 'समुदाय' दूसरी तरह का होता है। इसी प्रकार कृषि-प्रधान आर्थिक-सगठन में अन्य सगठनो से भेद होता है। अशिक्षित जातियों के इन सगठनो, इन आर्थिक-समुदायों का क्या रूप होता है—इस सबध में कुछ प्रकाश डाल देना उचित है।

(१) फल-मूल एकत्रित करने वाली सरल आर्थिक-व्यवस्था में 'समुदाय' का रूप—जो लोग वहुत प्रारभिक अर्थ-व्यवस्था में होते हैं, जगल से फल-मूल

इकट्ठा करके पेट का निर्वाह करने वाले, उनका 'समुदाय' कैसा होता है ? उनका 'समुदाय' ऐसे व्यक्तियों का एक समूह होता है जो किसी निश्चित भू-भाग में रहते हैं, और बाप-दादाओ से जो उपकरण उनके घरानों में चले आ रहे होते हैं, उनके द्वारा, उस भू-भाग में प्राप्त होने वाले आजीविका के स्रोतो से जीवन-निर्वाह के साधन ढूंढ निकालते हैं। इस 'समुदाय' के सदस्य उत्पादन तथा वितरण में एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं, और इन सब की सामाजिक तथा सास्कृतिक परंपरा एव भाषा एक होती है, इनकी शासन-पद्धति भी बाप-दादाओ के समय से एक-सी चली आती है। ये 'समुदाय' क्योंकि भोजन की तलाश में जंगलो में फिरा करते हैं, इसलिए 'समुदाय' के भीतर छोटी-छोटी टुकडियाँ, मडलियाँ बन जाती है, जो फलों की मौसम में अपने समुदाय के भौगोलिक क्षेत्र में चक्कर काटा करती हैं।

(२) फल-मूल एकत्रित करने वाली विकसित आर्थिक-व्यवस्था में 'समुदाय' का रूप—जो लोग जंगल में फल-मूल तो एकत्रित करते फिरते हैं, परन्तु उनकी आर्थिक-व्यवस्था पहली व्यवस्था से अधिक विकसित हो चुकी होती है, उनके 'समुदाय' का रूप कैसा होता है ? इनके 'समुदाय' में छोटे-छोटे गांव खडे हो जाते हैं, इन गाँवों में कुछ-एक बडे गाँव होते हैं, जिनमें हाट-बाजार लगने लगता है। आर्थिक-दृष्टि से ये गांव आत्म-निर्भर होते हैं, राजनैतिक-दृष्टि से ये लोग अपना शासन स्वय करते हैं। यद्यपि ये गांव अपनी आजीविका तथा शासन-व्यवस्था के लिए किसी बाह्य-सूत्र पर निर्भर नहीं करते, सास्कृतिक-दृष्टि से भी इनमें सब लोग एक-समान सोचते-विचारते और करते-धरते हैं, तो भी इस प्रकार के छोटे-से समूह को 'जन-जाति' (Tribe) या 'कौम' (Nation) का नाम नहीं दिया जा सकता। हाँ, कभी-कभी ये समुदाय बड़ा रूप धारण कर लेते हैं, एक 'समुदाय' की जगह कई 'समुदाय' उठ खडे होते हैं। आर्थिक-दृष्टि से वे एक दूसरे की सहायता करते हैं, सैनिक-दृष्टि से वे आपस में गुंथ-से जाते हैं, राजनैतिक-दृष्टि से वे शत्रु का मुकाबिला करने के लिए तत्पर रहते हैं। ऐसी हालत में इन बडे-बड़े समुदायो को 'जन-जाति' (Tribe) या 'कौम' (Nation) का नाम दिया जा सकता है। जहाँ-जहाँ युरोपियन लोगो से चारो तरफ से घिर जाने पर इनमें आत्म-रक्षा की भावना के कारण युरोपियनों से भिड जाने की भावना पैदा हो गई है, वहाँ-वहाँ इन्होंने 'जन-जाति' या 'कौम' का रूप धारण कर लिया है।

(३) कृषि-सबधी सरल आर्थिक-व्यवस्था म 'समुदाय' का रूप—जो लोग कृषि-सबधी सरल जीवन व्यतीत करते हैं, बाग़-बग़ीचे लगाकर उनकी उपज से गुजर करते हैं, उनके 'समुदाय' का रूप कैसा होता है ? इनके 'समुदाय' में भी छोटे-छोटे गांव होते हैं, ये गांव आत्म-निर्भर होते हैं, परन्तु कृषि-संबधी आर्थिक-व्यवस्था के कारण इनमें उपज की 'बचत' (Surplus) होने लगती है। इस 'बचत' के कारण इस प्रकार के समुदायों में वस्तुओ का 'विनिमय' (Barter), उनका 'आदान-प्रदान' होने लगता है। फल-मूल एकत्र करने वाली सम्पन्न तथा विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में वस्तुओ की इतनी 'बचत' नहीं होती जितनी इस

व्यवस्था में होती है, इसलिए इस व्यवस्था में बाजार बनने लगते हैं, और प्रत्येक गॉव साथ के दूसरे गॉवों के समुदाय के साथ आर्थिक गठ-बधन में कसा जाने लगता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न गॉवो के अनेक समुदायो का एक-दूसरे से बँधा हुआ समूह उत्पन्न हो जाता है, जिसकी भूमि, भाषा तथा सस्कृति एक सूत्र में ओत-प्रोत होती है। इस प्रकार के 'समुदाय' को 'जन-जाति' (Tribe) अथवा 'कौम' (Nation) कहते हैं। इस प्रकार के 'समुदाय' का हम ऊपर भी वर्णन कर आये हैं। उस तथा इस—दोनो प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाओ में समुदाय 'जन-जाति' अथवा 'कौम' का रूप धारण कर जाता है। न्यू मैक्सिको की जूनी तथा एकोमा जन-जातियों का 'समुदाय' इसी तरह का है।

(४) कृषि-सवधी विकसित अर्थ-व्यवस्था में 'समुदाय' का रूप—जो लोग कृषि-सबधी विकसित आर्थिक-व्यवस्था में से गुज़र रहे होते हैं, उनके 'समुदाय' का रूप कैसा होता है ? इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था में एक गॉव ही इतना बढ़ा-चढा तथा विकसित हो सकता है कि उसमें रहने वाले आर्थिक-सगठन की दृष्टि से आत्म-निर्भर हों। ऐसा भी हो सकता है कि इस आर्थिक-व्यवस्था में अनेक गॉव मिल कर एक-दूसरे की 'बचत' का आदान-प्रदान करके अपनी आर्थिक-समस्या का समाधान करते हो। यह समाज ऊपर के सरल समाज से अधिक विकसित होता है, सब गॉवों की मिलकर एक भूमि, एक भाषा, एक सस्कृति तथा आर्थिक दृष्टि से वे एक-दूसरे पर निर्भर होते हुए भी इन सब की मिली हुई इकाई आत्म-निर्भर होती है, इन्हें अपने साथ के गॉवो के सिवाय और किसी का मुँह नहीं ताकना पडता। यह विस्तृत समुदाय 'जन-जाति' (Tribe) या 'कौम' (Nation) का रूप धारण कर लेता है।

ऊपर हमने अशिक्षित-जातियों के 'समुदायो' के जो भिन्न-भिन्न रूप देखे, उनके आधार मे केन्द्रीय बाते ये कही जा सकती है—ये 'समुदाय' आर्थिक-दृष्टि से आत्म-निर्भर होते हुए भी आपस मे आर्थिक-दृष्टि से एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं, अर्थात् हर-एक परिवार तो आत्म-निर्भर नहीं होता, दूसरे परिवारो के सहयोग पर निर्भर होता है, परन्तु समूह आत्म-निर्भर होता है, उसे अपने 'समुदाय' के अतिरिक्त किसी दूसरे 'समुदाय' पर निर्भर नहीं रहना होता। इस आर्थिक आत्म-निर्भरता के अतिरिक्त इस 'समुदाय' के सदस्यो की अपनी एक जमीन, एक भाषा और एक सस्कृति होती है।

हम पुस्तक के प्रारभ मे दर्शा आये है कि मनुष्य के चिह्न हमें 'प्राति-नूतन-युग' (Pleistocene period) से ही मिलने शुरू होते है। इस युग मे चार बार वर्फ पडी तथा पिघली इसलिए इसे 'हिम-युग' (Glacial or Great Ice Age) भी कहा जाता है। इस युग का मनुष्य पत्थर के उपकरणों का प्रयोग करता था इसलिए इसे 'पाषाण-युग' (Stone age) भी कहा जाता है। 'पाषाण-युग' के दो भाग किये जाते हैं—'आदि-पाषाण-युग' (Paleolithic age) तथा 'नव-पाषाण-युग' (Neolithic age)। हमने ऊपर जिन चार

'समुदायों' का वर्णन किया है, वे 'नव-पाषाण-युग' और उसके वाद के 'समुदायों' के रूप है। इससे पहले 'आदि-पाषाण-युग' के मनुष्य के 'समुदायों' का क्या रूप था—यह नहीं कहा जा सकता। 'नव-पाषाण-युग' के समुदायों के रूप आज भी जीवित अशिक्षित-जातियो में मिलते हैं, अत उन्हीं के आधार पर इस युग तथा इसके वाद के युग के 'समुदायों' का चित्र हमने खींचा है।

७ अशिक्षित आदिवासियो में सम्पत्ति का रूप (Idea of Property among Non-literates)

'सम्पत्ति' के दो रूप पाये जाते हैं—'वैयक्तिक-सम्पत्ति' तथा 'सामूहिक-सम्पत्ति'। कई लेखको का कहना है कि अशिक्षित-समुदायों में हर तरह की सम्पत्ति 'समुदाय' की होती है, 'व्यक्ति' की कोई चीज नहीं होती। कुछ अश में यह वात ठीक भी है, ग़लत भी है। इसमें तो सन्देह नहीं कि अशिक्षित समुदायो में साझी अर्थात् 'सामुदायिक-सम्पत्ति' होती है, परन्तु यह ठीक नहीं कि उनमें 'वैयक्तिक-सम्पत्ति' किसी प्रकार की होती ही नहीं। फल-मूल एकत्र करने वाले सरल 'समुदायों' में भी अपना भाला, अपना तीर-कमान तो होता ही है, हाँ, उत्पादन के जो स्रोत हैं, जहाँ से उन्हें आजीविका के पदार्थ मिलते हैं—पेड, जगल, नदी, तालाव—ये सव आज तो व्यक्ति की सम्पत्ति वने हुए हैं, परन्तु आदि-काल में ये सव के साझे थे, समुदाय की सम्पत्ति थे। ज्यों-ज्यो मनुष्य विकसित होता गया, जगल-नदी-तालाव से ढूंढ कर भोजन लाने के स्थान में पशु रख कर या खेती करके भोजन का उत्पादन करने लगा, त्यों-त्यों 'सामूहिक-सम्पत्ति' से 'वैयक्तिक-सम्पत्ति' के विचार ने जन्म लिया। जो स्थान उत्पादन के केन्द्र थे, उत्पादन के स्रोत थे, उन पर समुदाय की जगह समर्थ व्यक्तियों ने कब्जा कर लिया। क्योंकि यह प्रक्रिया 'नव-पाषाण-युग' में प्रारभ हुई, 'पूर्व-पाषाण-युग' में ऐसा नहीं था, इसलिए यह कहना असगत न होगा कि सम्पत्ति पर 'सामुदायिक-स्वामित्व' 'पूर्व-पाषाण-युग' में था, सम्पत्ति पर 'वैयक्तिक-स्वामित्व' का प्रारभ 'नव-पाषाण-युग' में हुआ। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि यद्यपि छोटी-मोटी निजी वस्तुओं पर तो विकास की प्रारभिक अवस्था में व्यक्ति का स्वामित्व था, परन्तु उत्पादन के केन्द्रो और उत्पादन के स्रोतों पर उस समय समुदाय का स्वामित्व था, सम्पत्ति पर व्यक्ति का अधिकार पीछे का विचार है, शुरू का नहीं।

(१) फल-मूल एकत्रित करने वाले सरल आर्थिक-समुदायों में सम्पत्ति का रूप—जो लोग वहुत प्रारभिक अर्थ-व्यवस्था में होते हैं, जगल से फल-मूल इकट्ठा करके पेट का निवाह करने वाले समुदाय, उनमें 'सम्पत्ति' का क्या रूप होता है? इनके पास अपनी 'वचत' (Surplus) तो कुछ होती नहीं। व्यक्तियो के पहनने की वस्तुएँ, उपकरण आदि तो अपने निजी होते हैं, परन्तु उत्पादक-केन्द्र किसी व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं होते। ऐसे जगल जहाँ शिकार मिलता है, ऐसे क्षेत्र जहाँ जगली फल-मूल प्राप्त होते हैं, ऐसे तालाव-नदी-नाले जहाँ मछलियाँ पकडी जा सकती हैं—ये सव उत्पादक-केन्द्र हैं, और समुदाय की साझी सम्पत्ति

है। एस्किमो जाति के लोग 'सील'-नामक जानवर का भाले से शिकार करते हैं। इस जानवर के रोयें काम में आते हैं। इसके शिकार से 'एस्किमो' की आजीविका चलती है। ये 'सील' जिन-जिन क्षेत्रों में पाये जाते हैं, उन्हें भिन्न-भिन्न पारिवारिक समूहो में बॉट दिया जाता है। ग्रीष्म ऋतु में एस्किमो लोग हरिणो का शिकार करते हैं। सर्दी तथा गर्मी में एस्किमो परिवार कहीं भी रह सकते हैं, परन्तु जिन दिनो मे 'सील' या 'हरिण' का शिकार मिलता है, उन दिनो में भिन्न-भिन्न परिवार अपने-अपने क्षेत्रों में जाकर शिकार करते है। ये क्षेत्र परिवारो के समुदायों की तो निजी सम्पत्ति हैं, एक समुदाय दूसरे समुदाय के क्षेत्र में नहीं जा सकता, परन्तु परिवारों के समुदायो में इनके विषय मे कोई भेद-भाव नहीं होता। सीलोन के वेड्डा लोगो में शिकारगाहो को भिन्न-भिन्न परिवारो में बॉट दिया जाता है। यह बाँट भी समुदाय की तरफ से होती है। इस बॉट को देख कर कई लोग कहने लगते हैं कि यह तो परिवार की वैयक्तिक-सम्पत्ति हो गई, परन्तु ऐसी बात नहीं है। यह बॉट समुदाय की तरफ से हटायी भी जा सकती है। समुदाय का अधिकार है कि जब चाहे उस परिवार से इस क्षेत्र को लेकर किसी और को दे दे, या इसी परिवार को फिर से दे दे। कभी-कभी २०—३० वर्ष बीतने पर भी वेड्डा लोग एक परिवार से उसे दी हुई शिकारगाह वापस नहीं लेते, परन्तु जब तक समुदाय को इस शिकार-गाह को वापस लेकर किसी दूसरे परिवार को देने का अधिकार है, तब तक यहॖ मानना पडेगा कि इन लोगो मे 'सामूहिक-स्वामित्व' की भावना ही विद्यमान है। उत्तरी ऑस्ट्रेलिया में कहीं-कहीं किन्हीं परिवारो को शिकारगाह दे दी जाती है। यह भी 'वैयक्तिक-स्वामित्व' का उदाहरण नहीं है। इन परिवारो को जो शिकारगाह दी जाती है, उसका अभिप्राय यही होता है कि वे लोग 'समुदाय' के लिए शिकार करें और समुदाय की आर्थिक-आवश्यकता को पूरा करें।

(२) फल-मूल एकत्रित करने वाले विकसित आर्थिक-समुदायो मे सम्पत्ति का रूप—जो लोग जगल में फल-मूल तो एकत्रित करते फिरते हैं, परन्तु उनकी आर्थिक-व्यवस्था पहली आर्थिक-व्यवस्था से अधिक विकसित हो चुकी होती है, उनमें 'सम्पत्ति' का क्या रूप होता है ? 'सम्पत्ति' कैसे पैदा होती है ? 'सम्पत्ति' पैदा होती है 'बचत' से। जब तक समाज कमाने-खाने तक सीमित रहता है तब तक 'बचत' भी नहीं होती, 'बचत' नहीं होती तो 'सम्पत्ति' भी नहीं बनती। ज्यों-ज्यो 'बचत' होने लगती है, त्यों-त्यों 'सम्पत्ति' भी बनने लगती है। फल-मूल एकत्र करने वाले विकसित आर्थिक-समुदाय में व्यक्ति की कुछ-कुछ 'बचत' होने लगती है, इसलिए 'वैयक्तिक-सम्पत्ति' का भी प्रारभिक रूप इस समुदाय मे दीखने लगता है। इस अर्थ-व्यवस्था मे वश-परपरा द्वारा पुरुष-मुखिया तथा स्त्री-मुखिया का पद उत्पन्न हो जाता है। इन मुखियाओ का उन स्थानों पर स्वामित्व माना जाता है, जहाँ से खाने के पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इनके पास गुलाम होते हैं, जो इनकी चाकरी करते हैं, इनके पास जगल और तालाब होते हैं जहाँ फल-मूल-कन्द और मछलियाँ पायी जाती है। गुलाम लोग अपना खून-पसीना बहा कर इनकी

निजी-सम्पत्ति को पैदा करते हैं। ओरेगोन तथा वाशिंगटन के अनेक प्रदेशो में अशिक्षित-जातियों की सबसे बढिया निजी-सम्पत्ति ग़ुलाम माने जाते थे जिनसे ये लोग मनचाहा काम लेते थे। यह समझना ग़लत है कि गोरी जातियों ने ही ग़ुलाम रखने शुरू किये। ये जातियाँ आपस में भी एक-दूसरे को ग़ुलाम की तरह रखती थीं। क्वाकीउटल, हैडा, त्सिमशियन तथा ट्लिगिट जातियो की अर्थ-व्यवस्था में उक्त प्रकार की निजी-सम्पत्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

(३) कृषि-सवधी सरल आर्थिक समुदायो में सम्पत्ति का रूप—जो लोग कृषि-सवधी सरल जीवन व्यतीत करते हैं, बाग-बगीचे लगाकर उनकी उपज से गुजर करते हैं, उनमें 'सम्पत्ति' का क्या रूप होता है? इन लोगो की 'बचत' का मुख्य साधन खेत होते हैं। ये खेत 'व्यक्ति' की सम्पत्ति न होकर 'समुदाय' की सम्पत्ति होते हैं, और इसलिए इनमें 'सामूहिक-सम्पत्ति' का विचार ही प्रधान होता है। इन खेतो को 'समुदाय' की तरफ से भिन्न-भिन्न परिवारों को अपना भरण-पोषण करने के लिए बाँट दिया गया होता है, इससे कई लोग कहने लगते हैं कि इस प्रकार के समुदायों में 'वैयक्तिक-सम्पत्ति' का विचार जन्म ले चुका होता है, परन्तु ऐसी बात नहीं है। 'समुदाय' को इस व्यवस्था में यह अधिकार होता है कि वह इन खेतों को जिनको वे दिये गये हैं, उनसे लेकर किसी दूसरे को दे दे। इस दृष्टि से यही कहना सगत प्रतीत होता है कि इस प्रकार के कृषि-सवधी सरल समुदायो में सम्पत्ति पर अधिकार व्यक्ति का न होकर समुदाय का होता है। इस व्यवस्था में भी लोग शिकार खेलते और मछली पकड़ते हैं। शिकार के स्थल तथा मछली पकडने के नदी-तालाब तो स्पष्ट रूप से इस व्यवस्था में 'समुदाय' की सम्पत्ति माने जाते हैं। हम यह पहले ही कह आये हैं कि फल-मूल एकत्रित करने तथा कृषि-सवधी व्यवस्था में विकास की कोई क्रमिक-शृंखला नहीं है। ऐसा नहीं है कि पहले फल-मूल एकत्रित करने की सरल व्यवस्था समाज में उत्पन्न होगी, फिर विकसित व्यवस्था होगी, उसके बाद कृषि-सवधी सरल व्यवस्था और उसके बाद कृषि-सवधी विकसित व्यवस्था होगी। ये चार प्रकार की व्यवस्थाएँ समाज में पायी जाती हैं—इससे अधिक मानव-शास्त्री कुछ नहीं कहते। इसीलिए तो फल-मूल एकत्रित करने वाली विकसित व्यवस्था में तो 'निजी-सम्पत्ति' का विचार पाया जाता है, परन्तु कृषि-सवधी सरल व्यवस्था में 'निजी-सम्पत्ति' की जगह 'सामुदायिक-सम्पत्ति' का विचार मिलता है।

(४) कृषि-सवधी विकसित आर्थिक-समुदायो में सपत्ति का रूप—जो लोग कृषि-सवधी विकसित आर्थिक-व्यवस्था में से गुजर रहे होते हैं, उनमें 'सम्पत्ति' का क्या रूप होता है? इस प्रकार के समुदाय के लोग या पशु-पालन करते हैं, या खेती करते हैं। उत्पादन के जिन साधनों का ये प्रयोग करते हैं, उनसे इनकी पैदावार ज्यादा होती है, इसलिए 'बचत' भी ज्यादा होती है। ज्यादा 'बचत' को देख कर समर्थ और चालाक लोग ज्यादा बचत के इन उत्पादक-केन्द्रो पर स्वत्व जमा लेते हैं, और इस सामुदायिक-व्यवस्था में सम्पत्ति का अधिकांश

भाग इने-गिने व्यक्तियों के हाथ में आ जाता है। इनके पास गुलाम होते हैं, खेती की जमीनें होती हैं, दूध देने वाले जानवर होते हैं, मछली पकड़ने की ताल-तलइय्याँ होती हैं। इस व्यवस्था में 'सामुदायिक-स्वामित्व' का स्थान 'वैयक्तिक-स्वामित्व' का विचार ले लेता है।

८. अशिक्षित आदिवासियो में श्रम-विभाग का रूप (Division of labour among Non-literates)

किसी भी अर्थ-व्यवस्था का श्रम-विभाग एक आवश्यक अग है। 'श्रम' उत्पादन का साधन है। हर-एक व्यक्ति हर तरह का श्रम नहीं कर सकता, कोई व्यक्ति कुछ करता है, कोई कुछ। श्रम-विभाग के दो रूप दिखाई देते हैं—एक तो स्त्री-पुरुष के रूप मे श्रम-विभाग, जिसे 'लिंग-भेद पर आश्रित श्रम-विभाग' (Sexual Division of Labour) कहा जा सकता है, दूसरा 'विशेषीकरण पर आश्रित श्रम-विभाग' (Specialization of Labour) कहा जा सकता है। ये दोनो प्रकार के श्रम-विभाग आदिवासियो में पाये जाते हैं।

(१) लिंग-भेद पर आश्रित श्रम-विभाग—प्रत्येक समाज में कुछ काम पुरुषों के और कुछ स्त्रियों के सुपुर्द होते हैं। निम्न-स्तर के आदिवासियो में शिकार का पीछा करना, मछली पकड़ना आदि काम पुरुषो के और जगल से फल-मूल बटोरना, लकड़ी लाना, पानी ढोना, रसोई करना, बच्चों की देख-भाल तथा इसी तरह के छोटे-छोटे काम स्त्रियों के सुपुर्द किये जाते हैं।

पुरुषों तथा स्त्रियो में काम का विभाजन आदि-समाज में किस आधार पर किया जाता है—इस सबध में भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ हैं।

पहली कल्पना यह है कि क्योंकि पुरुष स्त्री से ज्यादा ताकत वाला होता है, इसलिए शिकार आदि ताकत वाले काम पुरुषो को दिये जाते हैं, जिन कामों में ताकत की कम जरूरत पड़ती है, वे स्त्रियो को दिये जाते हैं। परन्तु यह बात ठीक नहीं क्योंकि यह तो ठीक है कि पुरुष स्त्री से ज्यादा ताकतवर है, किन्तु शिकार आदि कामो में ताकत की इतनी जरूरत नहीं पड़ती, जितनी अनुभव और चतुराई की जरूरत पड़ती है। अगर स्त्रियों को भी शिकार करने का अनुभव हो जाय, और शिकार पकड़ने की कला का उन्हें ज्ञान करा दिया जाय, तो यह असभव नहीं कि वे भी पुरुषो की तरह शिकार मे अपनी चातुरी दिखला सकें।

दूसरी कल्पना यह है कि स्त्रियो को मासिक-धर्म होता है—यह आदि-जातियो के लिए एक विचित्र-सी घटना थी, इसे वे जादू की बात समझते थे, उनका ख्याल था कि स्त्री में जादू द्वारा दूसरों को नुकसान पहुँचाने की आन्तरिक-शक्ति होती है, इसलिए समुदाय को लाभ पहुँचाने वाले हर काम से वे स्त्री को अलग रखने का प्रयत्न करते थे और इसीलिए उन्होने पुरुषो के अलग और स्त्रियो के अलग काम निर्धारित कर दिये थे। यह कल्पना भी कुछ ठीक नहीं जँचती। ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि आदि-

वासियो का लिंग-भेद पर आश्रित पुरुष तथा स्त्री का अलग-अलग कार्य-क्षेत्र स्त्री को नुकसान पहुँचाने वाली जादू की काल्पनिक शक्ति के कारण था।

तीसरी कल्पना यह है कि क्योंकि 'नव-पाषाण-युग' के समय से कृषि तथा पशु-पालन की आर्थिक-व्यवस्थाओ में पुरुष खेती करते और पशु पालते चले आ रहे थे इसलिए आगे की विकसिक व्यवस्थाओं में भी पुरुषों तथा स्त्रियो का कार्य-क्षेत्र अलग-अलग ही चलता चला गया, उत्पादन के वडे-वडे कार्य पुरुष के तथा छोटे-मोटे कार्य स्त्री के जिम्मे रहे। यह कल्पना भी ठीक नहीं जँचती क्योंकि जव काम ही छोटे-से थे, केवल जगल में जाकर फल-मूल चुग लाना ही एक काम था, तव भी तो स्त्री-पुरुष के रूप में श्रम-विभाग था। तव ऐसा क्यों था, तव तो सभी काम मामूली-से थे, वडे-वड़े कामों की तो तव अभी जरूरत ही नहीं हुई थी।

इस सबध में एक चौथी कल्पना है जो अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है। जो आदि-समाज जितने निम्न-स्तर का होगा, उसमें एक भावना सब से प्रवल वनी रहेगी। वह भावना यह होगी कि जव सवके भरण-पोषण का भार 'समुदाय' पर है, तव हर व्यक्ति को 'समुदाय' के लिए कुछ-न-कुछ उत्पादक-श्रम अवश्य करना चाहिए। स्त्रियाँ सन्तान उत्पन्न करती हैं, इसलिए उनके लिए तो प्रकृति द्वारा उनका श्रम निश्चित कर दिया गया। अगर वे सन्तान उत्पन्न न करें, तो बुढ़ापे में पुरुष तथा स्त्री को खाना लाकर देने वाले कहाँ से आयें। स्त्री का सन्तान उत्पन्न करना एक तरह से उत्पादन के एक ऐसे पहलू को छू देना है, जिससे 'सामाजिक-अर्थ-व्यवस्था' के समाज में उससे यह कोई नहीं पूछ सकता कि तुम कौन-सा श्रम करती हो? वह तो ऐसा उत्पादक-श्रम करती है जिसे कोई पुरुष कर ही नहीं सकता। आदिवासियो में प्रथा के तौर पर यह भी माना जाता है कि स्त्री को वच्चे को अपने साथ लेकर ही कहीं जाना चाहिए, नहीं तो वच्चा असुरक्षित हो जाता है। जव स्त्री के लिए वच्चे को साथ रखना जरूरी है, साथ ही वह सन्तान उत्पन्न करके उत्पादक-श्रम करने की अपने समाज की मांग को पूरा कर देती है, तव अगर उससे शिकार आदि का सख्त काम नहीं लिया जाता, तो कोई आश्चर्य नहीं। पुरुष के ऊपर कोई भारी जिम्मेदारी नहीं, उसके लिए वच्चे को साथ रखना भी जरूरी नहीं, वह स्त्री की अपेक्षा चलने-फिरने में अधिक स्वतत्र है, इसलिए भोजन जमा करने के काम आदि-समाज में स्त्रियो के सुपुर्द न होकर पुरुषों के सुपुर्द होते हैं।

(२) विशेषीकरण पर आश्रित श्रम-विभाग—स्त्री तथा पुरुष के लिंग-भेद पर आश्रित श्रम-विभाग तो आदि-काल से चला आया है, परन्तु इसके अलावा एक-दूसरे प्रकार का श्रम-विभाग है जो अपने-अपने धधे में विशेष योग्यता प्राप्त कर लेने के कारण पैदा होता है। इस प्रकार का श्रम-विभाग उन चारों प्रकार की आर्थिक-व्यवस्थाओ में पाया जाता है जिनका वर्णन हम इस अध्याय में करते आये हैं। इन चारों प्रकार की आर्थिक-व्यवस्थाओं में श्रम-विभाग किस प्रकार काम करता है, इसका सक्षिप्त परिचय हम नीचे दे रहे हैं।

(1) फल-मूल एकत्रित करने वाली सरल आर्थिक-व्यवस्था में श्रम-विभाग—इस व्यवस्था में किसी व्यक्ति के किसी विशेष श्रम में निपुणता प्राप्त करने का मौका ही नहीं पैदा होता। ज्यों ही वालक युवा होता है, एकदम उसे अपने समुदाय के उत्पादन के मुख्य-स्रोत से भोजन निकालने में जुट जाना पडता है। इन लोगो के पास फुर्सत ही कहाँ होती है कि वैठ कर किसी विशेष उद्योग-धधे में निपुणता हासिल करें। किसी धधे में विशेष योग्यता हासिल करना तो इन लोगों के लिए फालतू वात के वरावर है, यह एक प्रकार का विलास है, जो इस आर्थिक-व्यवस्था में सभव नहीं है। हाँ, लगडे, लूले, वूढे वैठे-वैठे किसी काम में योग्यता प्राप्त करने की सोच सकते हैं, क्योंकि उन्हें जगल में फल-मूल इकट्ठा करने के लिए नहीं जाना होता। 'विशेषीकरण' की प्रक्रिया द्वारा श्रम-विभाग का सिद्धान्त फल-मूल एकत्र करने वाली सरल आर्थिक-व्यवस्था में नहीं पाया जाता। इसका विकास आगे की अर्थ-व्यवस्थाओ में होता है।

(11) फल-मूल एकत्रित करने वाली विकसित आर्थिक-व्यवस्था मे श्रम-विभाग—इस विकसित व्यवस्था में कुछ लोग समृद्ध हो जाते हैं, वे गुलामो से काम लेने लगते है, वे उन स्थानों के मालिक वन जाते हैं जो भोग्य-पदार्थो के स्रोत होते हैं, जगल, नदी, तालाव के उत्पादक-स्थल उनकी सम्पत्ति होते हैं। ऐसी अर्थ-व्यवस्था में इन समृद्ध तथा सम्पन्न लोगों के नाते-रिश्तेदार या काम-काजी लोग भिन्न-भिन्न कामो में विशेष योग्यता प्राप्त करने के लिए समय निकाल सकते हैं, उन्हें जीवन-सग्राम में हर समय लगा जो नहीं रहना पडता। ये लोग नौकाएँ वनाते हैं, मालिक के लिए लडाइयाँ लडते हैं, जगल से फल-मूल वटोर लाने के स्थान में किसी अन्य काम में विशेष योग्यता प्राप्त कर लेते हैं, भोजन तो इन्हें विना विशेष प्रयत्न के मिल जाता है। इस प्रकार के लोगो का पुरुष-समुदाय तो ये सव काम करता है, इनकी स्त्रियाँ फुर्सत के कारण टोकरियाँ वनाना, कपडा वुनना तथा इसी प्रकार के काम-धधे मे अपना समय विताती हैं। इस अर्थ-व्यवस्था में पुरुष तथा स्त्री के तौर पर श्रम-विभाग नहीं होता, अपितु काम-धधे के आधार पर, किसी काम में विशेष योग्यता प्राप्त करने अर्थात् 'विशेषीकरण' के आधार पर श्रम-विभाग होता है। यह ध्यान रखने की वात है कि आदिवासियो की अर्थ-व्यवस्था में श्रम-विभाग का सिद्धान्त तभी काम करने लगता है जव उत्पादक-पदार्थो की उनके यहाँ 'वचत' (Surplus) होने लगती है। जव तक 'वचत' नहीं होती, तव तक तो समुदाय के सव लोग—स्त्री-पुरुष-वाल-वृद्ध, निपुण-अनिपुण—आजीविका प्राप्त करने के मुख्य साधनो में ही लगे रहते हैं। जव इन्हें 'वचत' होने लगती है, तव ये वचे सामान को दूसरे समुदायों के साथ अदल-वदल लेते हैं।

(111) कृषि-सवधी सरल आर्थिक-व्यवस्था मे श्रम-विभाग—इस आर्थिक-व्यवस्था में 'वचत' (Surplus) का रूप वढने लगा, 'वचत' के कारण व्यापार

भी शुरू हुआ, किसी प्रकार की मुद्रा भी वनी और इन सब के साथ-साथ अन्य आर्थिक वातें पैदा होने लगीं। जहाँ वचत होगी, वहाँ व्यापार होगा, जहाँ व्यापार होगा वहाँ श्रम-विभाग भी शुरू हो जायगा। ओशियाना के लोगों की कृषि-व्यवस्था में जव वहाँ के लोग एक जगह घर वनाकर रहने लगे, उन्हें पास ही मछलियों का असीम भंडार मिलने लगा, तो काफी लोग अपनी अतिरिक्त-शक्ति को कारीगरी में विशेष योग्यता सम्पादन करने के लिए लगाने लगे, उनमें से कई लोग पत्थर की मूर्तियों को गढ़ कर मूर्ति-निर्माण कला के पडित हो गये। इस अर्थ-व्यवस्था में वर्तन वनाने की कला में कई लोग निष्णात हो गये और स्त्रियाँ अन्य धधों से स्वतत्र होकर कातने तथा वुनने में कुशल होने लगीं।

(iv) कृषि-सवधी विकसित आर्थिक-व्यवस्था मे श्रम-विभाग—जव ग़ुलामो से खेती कराने के कारण उन्हें सिर्फ खाना-कपडा देकर खेती मुफ्त में कराई जाने लगी, खेती के सुघड उपकरणों द्वारा खेती होने लगी, तव 'विशेषीकरण' की प्रक्रिया ने और अधिक ज़ोर पकडा। 'विशेषीकरण' का अर्थ ही है 'श्रम-विभाग'। जव 'विशेषीकरण' होगा तव श्रम का इस प्रकार का बँटवारा स्वय हो जायगा जिससे जो लोग किसी कला में दक्ष हैं वे उसी काम को करें, किसी दूसरे को न करें। इस व्यवस्था में 'विशेषीकरण' की प्रक्रिया मुफ्त काम करने वाले दासों तथा नये आविष्कृत हुए उपकरणों के कारण वढने लगी। दास खेती करते थे, नवीन उपकरणों से उपज अधिक होती थी, वाकी लोग दूसरे काम-धधों में लग कर उनमें विशेष योग्यता प्राप्त करते थे। ये लोग अपने मालिकों के लिए सव तरह का माल वनाते थे, मालिक लोग हाट-वाज़ार में ले जाकर उसे वेचते थे। युरोप तथा अमरीका में ऐसे गाँव उठ खडे हुए जो कोई खास वस्तु ही वनाते थे, उनका श्रम उसी वस्तु के निर्माण में ही लगता था, जो-कुछ वनाते थे अपने काम में ले आते थे, और जो 'वचत' (Surplus) होती थी, उसे अन्य समुदायो को देकर उनकी 'वचत' से अपनी 'वचत' का 'विनिमय' कर लेते थे। जो लोग वर्तन वनाते थे, वे फल पैदा करने वालो के साथ वर्तन देकर फल का विनिमय कर लेते थे। छोटे-छोटे गाँव एक कला में ही दक्षता प्राप्त करते थे, वडे-वडे गाँव ४–५ कलाओ को अपना लेते थे। इन गाँवो में जो लोग एक धधा करते थे, वह वश-परपरा द्वारा चलता चला जाता था और इस प्रकार भिन्न-भिन्न धधों और पेशो के कारण जातियाँ वन जाती थीं। 'जातियाँ' क्या हैं? आर्थिक-दृष्टि से 'विशेषीकरण' की प्रक्रिया जव वश-परपरा का रूप धारण कर लेती है, तव उसी को हम 'जाति-प्रथा' कह देते हैं। 'श्रम-विभाग' अथवा 'विशेषीकरण' का स्पष्ट रूप से प्रारभ तव से हुआ समझना चाहिए जव से मानव-समाज ने पशु-पालन तथा कृषि को अपनाया। ये दोनो आर्थिक-व्यवस्थाएँ 'नव-पाषाण-युग' (Neolithic period) से प्रारभ हुई, इसलिए 'नव-पाषाण-युग' को ही 'श्रम-विभाग' अथवा 'विशेषीकरण' का जनक कहा जा सकता है।

९ अशिक्षित आदिवासियो में मुद्रा अथवा धन का रूप (Conception of Money among Non-literates)

'धन' किसे कहते है ? आदिवासियों में 'धन' का क्या रूप है ? हम समझते है कि जिस सिक्के या नोट आदि का हम लोग व्यवहार करते है, वह 'धन' है। यह बात नहीं है। 'धन' उस वस्तु को कहते है जो सिक्के, नोट या किसी भी ऐसे रूप में हो जिसके विनिमय में हम उसके वरावर दूसरी कोई भी चीज ले सकें। सामाजिक-व्यवहार के माध्यम इस धन में इतनी विनिमयशीलता होनी चाहिए कि झट-से इसे हम दूसरी वस्तु में बदल सकें, इसके आसानी से हिस्से कर सकें, इसे आसानी से ला-ले जा सकें, इसे जल्दी नष्ट होने से वचा सकें। जरूरी नहीं कि ऐसी वस्तु सिक्का या नोट ही हो, इन लक्षणो को पूरा करने वाली दूसरी कोई भी वस्तु इस प्रकार के माध्यम का काम कर सकती है, और उसे हम 'धन' कह सकते है। उत्तरी प्रशान्त महासागर के तटवर्ती प्रदेशो में समुद्री घोंघो के खोल या मनकों का 'मुद्रा' या 'धन' के रूप में उसी तरह व्यवहार होता था जैसे हम लोग रुपए-पैसे या नोट का व्यवहार करते है। इन घोंघों को वडी मेहनत से समुद्र-तटो से इकट्ठा किया जाता था। गुलाम खरीदने या अन्य किसी वस्तु को मोल लेने के लिए इनका उपयोग होता था। अपने देश में ३०-४० वर्ष पहले कौडियों का प्रयोग धन के रूप में होता था।

हम यहाँ 'वस्तु-विनिमय' (Barter) की वात नहीं कर रहे, 'मुद्रा' (Coin) की वात कर रहे है। 'वस्तु-विनिमय' तो तभी से शुरू हो गया था जव से समाज मे 'बचत' (Surplus) होने लगी थी। धन का विचार तो उस समय भी था जव वस्तुओं का वस्तुओ से आदान-प्रदान होता था, 'विनिमय' होता था, परन्तु आदान-प्रदान के वाद धन का दूसरा रूप तव प्रकट हुआ जव 'मुद्रा' का प्रयोग होने लगा। 'मुद्रा' के प्रयोग में घोंघे, कौडी, बहु-मूल्य दाँत—इन सभी का इस्तेमाल होता रहा है। जिस अर्थ-व्यवस्था में 'वचत' (Surplus) थी ही नहीं, उसमें तो न 'विनिमय' हो सकता था, न 'मुद्रा' का प्रयोग हो सकता था। 'विनिमय' तथा 'मुद्रा'—दोनों 'बचत' के युग की उपज है। इनमें से पहले 'विनिमय' और वाद को जब 'बचत' ज्यादा होने लगी, कृषि के विकसित होने से जव ज्यादा वस्तुओं का अदल-वदल होने लगा, तब 'मुद्रा' का आविष्कार हुआ। नोट-हुडी आदि तो आजकल की अत्यन्त विकसित औद्योगिक-युग की उपज है।

१० आदिवासियो मे धन का मूल्य (Value of Money among Non-literates)

जैसा हमने कहा, धन वस्तुओ के आदान-प्रदान का, उनके विनिमय का माध्यम है। यह माध्यम किसी-न-किसी रूप में आदिवासी-काल में भी था, आदिवासियो की अशिक्षित जातियो मे आज भी मौजूद है, शिक्षित जातियों में भी है। परन्तु 'धन' का मूल्य क्या है—इस सबध में आदिवासियों और आज के मानव में जमीन-आस्मान का भेद है।

(१) 'धन का मूल्य'—इसका अर्थ—'धन' के मूल्य से हमारा अभिप्राय क्या है ? जैसा हम वार-वार कह आये हैं, 'धन' केवल हमारी 'वचत' का ही दूसरा नाम है। आज जिस चीज की हमें जरूरत है, उसकी कल भी जरूरत पड़ेगी। आज अगर हमारे पास वह चीज जरूरत से ज्यादा है, तो हम उसे वचा कर क्यों न रखें, जब जरूरत पड़ेगी तब उसका इस्तेमाल कर लेंगे। इस वस्तु को इसी रूप में जब तक रखा जा सकता है, ठीक है, परन्तु जब यह वस्तु इसी रूप में न रखी जा सके, तब इसे किसी ऐसे रूप में रखने का उपाय ढूंढना चाहिए ताकि जब हम चाहें इसे फिर इसी रूप में या जिस किसी चीज की हमें जरूरत हो, उस रूप में, आसानी से वदल सकें। इसी समस्या को हल करते-करते 'धन' उत्पन्न हुआ, 'मुद्रा' का आविष्कार हुआ। फल-मूल, अनाज कब तक पड़े रह सकते हैं ? ये हमारी 'वचत' हैं, इसलिए 'धन' हैं, परन्तु इन्हें देर तक नहीं रखा जा सकता। देर तक रखने में ये सड़ जाते हैं, फिर काम के नहीं रहते, तब न इस 'वचत' को काम में लाया जा सकता है, न इससे आदान-प्रदान हो सकता है। इस 'वचत' को किसी देरपा, स्थिर, जो वस्तु जल्दी गल-सड़ जाने वाली न हो, उसके रूप में वदला गया। कौड़ी, घोंघा, रुपया, पैसा—इनमें वदला गया। उनसे जब तक आदान-प्रदान हो सकता है, तब तक घोंघे का खोल, कौड़ी, मनके, रुपए, पैसे, नोट—सभी धन हैं, परन्तु आज कौड़ी का मूल्य नहीं, उससे आदान-प्रदान नहीं हो सकता, पहले कभी हो सकता था। जब इससे आदान-प्रदान हो सकता था तब यह धन था, आज इससे आदान-प्रदान नहीं हो सकता, आज यह धन नहीं रहा। हजार का नोट कभी बैंक में ले जाने से उसके सौ-सौ के दस नोट मिल जाते थे, आज उसी नोट को कोई रद्दी के भाव भी लेने को तय्यार नहीं। धन रुपए-पैसे का नाम नहीं, 'धन' में मूल्य तब उत्पन्न होता है जब वह आदान-प्रदान के माध्यम का काम कर सके, जब वह माध्यम का काम करना छोड़ देता है, तब धन का मूल्य नहीं रहता, सोना भी मट्टी हो जाता है।

(२) धन के उपयोग—धन के दो उपयोग हैं। एक तो इससे 'वर्तमान' में रोटी-कपड़ा मिलता है, हमारी आज की आवश्यकताएँ पूर्ण होती हैं, दूसरा इससे हमारा 'भविष्यत्' का रोटी-कपड़ा सुरक्षित हो जाता है, भविष्यत् की आवश्यकताएँ पूर्ण होती हैं। हम आज की जरूरतों को ही पूरा नहीं करना चाहते, कल-परसों की और उस समय की जब हम काम करने के लिए असमर्थ हो जायेंगे, तब की जरूरतों के लिए भी प्रवन्ध कर लेना चाहते हैं। यही कारण है कि हम धन पैदा करके उसे जोड़ रखना भी चाहते हैं। 'वर्तमान की आवश्यकताओं को पूर्ण करना' तथा 'भविष्य के लिए सुरक्षा का प्रवन्ध करना'—इन दो कारणों से मनुष्य धन को पैदा करता और जोड़ कर रखता है। धन जोड़ लेने के वाद वह निश्चिन्तता अनुभव करता है, वह यह महसूस करता है कि अब वह किसी भी विपत्ति का सामना कर सकता है, जब विपत्ति आयेगी तब वह धन के प्रयोग से खाना-कपड़ा चाहेगा तो धन को उसमें तब्दील कर सकेगा, और-कुछ चाहेगा तो उसमें

तिलकन में से गुज़र कर अपने सगे-सबंधियो के खेत बोने के लिए अपना घर छोड कर चल देते है ? असल में, धन का मूल्य जो हमने मान रखा है, वह सब-किसी का नहीं है। कोई किसी वस्तु को पाकर अपने सामर्थ्य को देख कर सन्तुष्ट हो जाते हैं और फिर उस वस्तु को नष्ट कर देने में कोई असगत बात नहीं देखते, कोई धन की अपेक्षा स्त्री को ज्यादा मूल्यवान् समझते है, कोई रिश्तेदारी के सबधो को धन् से ऊपर का स्थान देते हैं। सामोअन जन-जाति के लोग प्रकृति का आनन्द लूटते हैं, मौज-बहार से जीवन व्यतीत करते हैं, परन्तु जोड रखने की और सम्पत्ति बनाने की उनकी आदत नहीं। जब सम्पत्ति को कोई जोडता नहीं, तब हर-एक को अपने लायक तो मिल ही जाता है। सामोअन जन-जाति में थोडे-से प्रयत्न से हर युवक इतना कमा लेता है जिसमें वह सगे-सबधी-मित्रों की दावतें कर सके और अपना शादी-व्याह कर सके। उनके समाज में सम्पत्ति जोडने का भाव ही नहीं है। हमारे समाज में तो धन-सम्पत्ति के साथ ताकत भी जुडी हुई है। जो धनवान् है, वह शक्तिशाली भी है, क्योंकि इस युग में धन ही शक्ति है। परन्तु जूनी जन-जाति में 'धन' तथा 'शक्ति' को एक-दूसरे से अलग कर दिया गया है। जूनी लोगो में धन कमाया जाता है, परन्तु इसलिए कमाया जाता है क्योंकि इससे भौतिक सुख खरीदे जा सकते है। इन लोगों में धन से दूसरो पर प्रभुत्व नहीं प्राप्त होता। दूसरों पर 'प्रभुत्व' का अर्थ जूनी लोगों में उस आध्यात्मिक शक्ति से है जिसके प्राप्त कर लेने से मनुष्य में दूसरों को नष्ट करने की शक्ति पैदा हो जाती है। इस प्रकार की शक्ति से वह व्यक्ति भी डरता है जिसे ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाती है, क्योंकि जिसे दूसरों को नष्ट करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है, उससे उसके सगे-सबधी भी दूर रहना चाहते हैं। जैसे हमारे समाज में सब शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं, वैसे जूनी-समाज में सब शक्ति से दूर रहना चाहते हैं। आदिवासियों में धन का उद्देश्य भौतिक-पदार्थों का सग्रह करना नहीं है, ज़र-ज़मीन को जमा कर लेना नहीं है, बहुत-सा रुपया जोड लेना नहीं है। वे लोग धन को किसी विशेष उद्देश्य से जोडते हैं, प्रतिष्ठा पाने के लिए, दूसरों की आँखों में उठने के लिए, और जब उन्हें दूसरों की नज़रों में प्रतिष्ठा मिल जाती है, तब वे धन को लात मार कर परे फेंक देते हैं। ब्रिटिश कोलम्बिया में क्वाकिउटल नाम की एक जन-जाति है। इसमें सम्पत्ति-त्याग नाम की एक प्रथा है जिसे वे लोग 'पौटलैच' कहते हैं। 'पौटलैच'-शब्द का इनकी भाषा में अर्थ है—'दे देना'। 'पौटलैच' एक प्रकार का सस्कार है, जिसमें अपने प्रतिद्वन्द्वी को सम्पत्ति दे दी जाती है। इस देने का अभिप्राय यह देखनाहोता है कि कालान्तर में जिसे सम्पत्ति-दान दिया गया है वह इससे ज्यादा सम्पत्ति लौटाता है या नहीं। अगर वह लौटा देता है, तो देने वाला उससे भी ज्यादा दे डालता है। इस प्रकार देने और लौटाने, फिर से और लौटाने का मुका-बिला चलता है। इस मुकाबिले में जो आगे नहीं लौटा सकता, व हार जाता है, और देने वाले की प्रतिष्ठा, उसका मान, उसकी इज्ज़त कायम हो जाती है। 'पौटलैच' का सस्कार लेने का नहीं, देने का सस्कार है जिससे क्वाकिउटल जन-

जाति के लोग धन को ठुकरा कर उस चीज को प्राप्त करते हैं, जिसके लिए धन पैदा हुआ है। आदिवासियो का धन तथा संपत्ति के सबंध में यह विचार आज के मनुष्य को जो धन-सपत्ति के लिए सब-कुछ कुर्बान कर देता है, सबक सिखाता है।

इस प्रकरण में धन-सपत्ति के सबंध में वैदिक-आर्यो की दृष्टि को भुलाया नहीं जा सकता। वैदिक-सस्कृति में गौएँ, बैल, घोडे, पुत्र, पौत्र, धन-धान्य सब की कामना की गई है, परन्तु इस सस्कृति की विशेषता यह है कि इसमें जीवन को आर्थिक दृष्टिकोण से ही नहीं देखा गया। वैदिक-सस्कृति में चार आश्रम हैं। बालक २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करता है, उसके बाद २५ वर्ष तक गृहस्थ का जीवन व्यतीत करता है, गृहस्थ के बाद वह स्वयं घर-बार छोड देता है, सुख-सम्पत्ति को लात मार देता है, दुनियाँ के वैभव से अपने-आप अलग हो जाता है। यह अवस्था जीवन का आधा भाग है। अगर सौ वरस तक मनुष्य ने जीना हो, तो ५० वर्ष ससार भोगने के बाद ५० वरस दुनियाँ से अलग रहने में व्यतीत करने होते हैं। इन ५० बरसो को 'वानप्रस्थ' तथा 'सन्यास' का नाम दिया गया है। 'वानप्रस्थ' का अर्थ ही है—घर से वन में चले जाना, 'सन्यास' का अर्थ ही है—सब-कुछ अपने-आप छोड देना। वैदिक सस्कृति की आर्थिक-व्यवस्था में धन का वह मूल्य नहीं, जो मूल्य धन को आज दुनियाँ भर में मिला हुआ है। आश्रम-व्यवस्था के अतिरिक्त इस सस्कृति में वर्ण-व्यवस्था का भी बडा महत्त्व है। ब्रह्मचर्य, वान-प्रस्थ तथा सन्यास—ये तीन आश्रम छोडने-ही-छोड़ने के आश्रम हैं, केवल 'गृहस्थ-आश्रम' ससार के सुख भोगने का आश्रम है, परन्तु वैदिक-आर्यों ने इस 'गृहस्थ' को भी चार वर्णों में बांट दिया था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। इन चारों में सिर्फ वैश्य-वर्ण ऐसा है जिसका काम धन कमाना है, बाकी तीन वर्ण धन कमाने के स्थान में और कामों के लिए हैं। वैश्य से भी वैदिक-सस्कृति यह चाहती है कि वह धन कमाये और अन्य आश्रमों तथा वर्णों की पालना करे, उस धन को अपने तक सीमित न रखे। यह विचार कभी क्रियारूप में पाया जाता था या न था—इसमें सन्देह प्रकट किया जाता है, परन्तु जैसा हम ऊपर अन्य कई जन-जातियों का वर्णन कर आये हैं, अगर उनमें आजकल से भिन्न अर्थ-व्यवस्था थी, अगर उनमें धन का मूल्य आज से भिन्न रूप में आंका जाता था, तो कोई आश्चर्य नहीं कि भारत में भी जिस आश्रम तथा वर्ण-व्यवस्था का जगह-जगह वर्णन पाया जाता है, वह क्रियात्मक रूप में मौजूद हो।

११. आदिवासियो में व्यापार तथा हाट-बाज़ार
(Trade and Markets among Non-literates)

जिस समाज में इतनी उपज हो जाती है कि 'बचत' (Surplus) होने लगे, उसमें व्यापार शुरू हो जाता है। व्यापार के लिए हाट-बाज़ार बनने लगते हैं। फल-मूल एकत्र करने वाले आदिवासियो की सरल आर्थिक-व्यवस्था में 'बचत' ही नहीं होती, 'बचत' नहीं तो व्यापार उनमें कहाँ से चलेगा, इसलिये उनमें हाट-बाज़ार भी नहीं होते। सीलोन के वेड्डा आदिवासियों में प्रत्यक्ष-व्यापार तो नहीं

होता, ऐसा व्यापार जिसमें व्यापारी ग्राहक को सौदा दे, परन्तु मौन-व्यापार होता है। वैड्डा-शिकारी किसी भी लोहार के दरवाजे पर मास का पैकेट रख जायेंगे और आशा करेंगे कि अगले दिन लोहार के दरवाजे पर उन्हें उतने ही मूल्य के वाण के नोक रखे मिलें। लोहार भी उतने नोक वनाकर रख देता है और वे किसी समय आकर उन्हें ले जाते हैं। एस्किमो तथा उत्तरी कनाडा के साथ लगे इडियन भी मौन-व्यापार करते हैं। इनका व्यापार का एक निश्चित स्थान होता है। अपना सामान ये लोग वहाँ रख जाते हैं, दूसरे समुदाय के लोग अपना सामान इसके स्थान में रख कर उसे उठा ले जाते हैं। इस प्रकार एक-दूसरे को विना देखे, विना जाने इन लोगों का व्यापार चलता है। व्यापार विल्कुल न होना या मौन-व्यापार होना तो आज के युग में बहुत कम दिखाई देता है, इस समय जो जीवित आदिवासी लोग हैं, उनकी अर्थ-व्यवस्था काफी विकसित हालत में है, और उनमें वस्तुओ का क्रय-विक्रय चला करता है, इसके लिए वडे-वडे समृद्ध गॉवो में व्यापार के लिए बाज़ार भी वने हुए हैं। कोलम्विया नदी की घाटी में जो गॉव हैं उनमें २०-२५ गॉवो के समुदाय में कोई एक वडा गॉव मार्केट के रूप में चुन कर वहाँ के आदिवासियों ने उसे व्यापार का केन्द्र चुन लिया है। इसी तरह की प्रक्रिया अन्य स्थानो में पायी जाती है। व्यापार के इन केन्द्रों में समुद्री-घोघों को मुद्रा के रूप में गुलाम तथा अन्य सब प्रकार की वस्तुओं को खरीदने के काम में लाया जाता रहा है। मुद्रा के अतिरिक्त वस्तु-विनिमय के आधार पर भी इन केन्द्रों में ख़रीद-फरोख्त होती रही है। उत्तर-पश्चिमी प्रशान्त समुद्र तट पर व्यापार के जो केन्द्र वने हुए थे वहाँ पत्नी बनाने के लिए भी स्त्रियों को ख़रीदा जा सकता था।

कृषि-सबधी सरल आर्थिक-व्यवस्था के गॉवों में जहाँ 'बचत' के पदार्थो की कमी रहती है, वहाँ हाट तथा बाज़ार भी प्रारभिक-अवस्था के ही होते हे, असली मायने के बाज़ार तो कृषि-सबधी विकसित आर्थिक-व्यवस्था में ही पाये जाते हैं। जहाँ खेती-वाडी ज्यादा होती है, पशु-पालन भी ऊँचे पाये का होता हे, वहाँ बडे-बडे बाज़ार लगने लगते हैं, दूर-दूर के गॉवों के लोग वहाँ अपना माल-असबाब बेचने के लिए लाते हैं। वर्तन, फल, कपडा, टोकरी—जो-कुछ भी आस-पास के गॉवों में बनता है, वह सब ले-लेकर व्यापारी लोग दूसरे-तीसरे दिन यहाँ इकट्ठे होते हैं, और खूब बिक्री होती है। व्यापार के इस केन्द्र में जिस सरदार का प्रभुत्व होता है, वह सब व्यापारियो पर कर लगाता है। व्यापारी लोग भी अपना माल-मत्ता लाते हुए साथ में सशस्त्र पहरेदार लाते हैं। आदिवासियो में व्यापार तथा हाट-बाज़ार की यह आर्थिक व्यवस्था है।

१८

आदिकालीन आविष्कार

(PRIMITIVE INVENTIONS)

पशु तया मनुष्य—दोनों को अपना जीवन कायम रखना है। सर्दी हो तो सर्दी से बचने का उपाय होना चाहिए, गर्मी हो तो गर्मी से बचने का उपाय होना चाहिए। जो सर्दी-गर्मी का मुकाबिला नहीं कर सकता, वह जी भी नहीं सकता, या वह अधिक सर्दी से मर जायगा, या अधिक गर्मी से मर जायगा। पशु तया मनुष्य दोनों प्रारंभिक-अवस्था में सर्दी-गर्मी से बचने के लिए गुफाओं में रहते थे। भोजन के बिना भी पशु तया मनुष्य दोनो नहीं रह सकते, इसलिए भोजन की तलाश में भी पशु तया मनुष्य दोनो प्रारंभिक-अवस्था में जंगलों में फिरा करते थे, शिकार के पीछे भागते थे, फल-मूल मिल जाता तो उस पर निर्वाह करते थे। शुरू-शुरू में तो मनुष्य पशुओं की तरह ही अपने जीवन की समस्या को हल करता था, पेड़ पर रहता या गुफा में जा छिपता था, फल-मूल चुग कर या शिकार को मार कर पेट भरता था, परन्तु एक ऐसा समय आया जब मनुष्य ने पशु के रास्ते से आजीविका की समस्या को हल करने के स्थान में अपना नया मार्ग ग्रहण किया। यह नया मार्ग उसने क्यों और कैसे ग्रहण किया?

प्रकृति ने मनुष्य को पशुओं से एक भिन्नता दी है, और वह भिन्नता है उसके हाय। पशु हाथों से काम नहीं ले सकता, मनुष्य हाथों से काम ले सकता है। जिस दिन मानव-समाज के प्रथम मनुष्य ने पहले-पहल अपने हाथ से काम लिया उस दिन आज की विशाल सभ्यता का सूत्रपात हो गया। हाथ से काम लेने के बाद हाथ के सहायक के तौर पर ही ससार के सब उपकरणों की रचना हुई। एक तरह से सब उपकरण हाथ के ही विस्तार हैं, दूसरे शब्दों में उपकरण हमारे हाथ हैं। इन उपकरणों का 'आविष्कार' कैसे हुआ? उपकरणो का आविष्कार समझने के लिए हमें 'आविष्कार' (Inventions) तया 'खोज' (Discovery)—इन दो शब्दों के अर्थ को समझना होगा।

१ 'आविष्कार' तथा 'खोज' में भेद

(Invention and Discovery)

(क) आविष्कार की व्याख्या—"आविष्कार ऐसे नवीन तथा उपयोगी यांत्रिक उपकरण, वस्तु अथवा विधि का नाम है जिसे हम पहले नहीं जानते और अगर जानते हैं तो इस द्वारा पूर्व-ज्ञात उपकरण, वस्तु अथवा विधि में कोई

ऐसी विशेषता उत्पन्न कर दी जाती है जिससे काम पहले से बेहतर होने लगता है।"[1]

'आविष्कार' के आधार में एक मनोवृत्ति काम कर रही है, जिससे मानवीय सभ्यता आगे-आगे बढ़ती चली जाती है। हमारा अपने चारों तरफ की परिस्थिति से जो सबंध है, उसमें हम परिवर्तन कर सकते हैं, यह जरूरी नहीं कि यह सबंध वैसे-का-वैसा बना रहे। पशु का तो अपनी परिस्थिति से सबंध वैसे-का-वैसा बना रहता है, परन्तु मनुष्य इसमें परिवर्तन कर सकता है, परिवर्तन भी ऐसा जो भले के लिए हो, जिससे हमारे काम पहले से सुगम होते चले जांय। मनुष्य की इस मनोवृत्ति के कारण वह अपनी परिस्थिति से कभी सन्तुष्ट नहीं रहा। जो-कुछ उसने पा लिया उससे आगे चलने का सदा प्रयत्न करता रहा। इस प्रकार अबतक चल रही विधियों से सन्तुष्ट न होकर प्रयत्नपूर्वक नई-नई विधियों का पता लगाना—इस मनोवृत्ति से मनुष्य नई-नई बातों का 'आविष्कार' (Invention) करता रहा है।

(ख) 'खोज' की व्याख्या—मनुष्य का जिन विधियों से काम चल रहा है, उनसे वह सन्तुष्ट नहीं रहता—यह मनोवृत्ति मनुष्य को आगे-आगे नई-नई बातों और नये-नये तरीकों के पता लगाने की तरफ धकेलती है। जब वह प्रयत्नपूर्वक नई विधियों का पता लगा लेता है, तब उसे 'आविष्कार' कहते हैं। जब अचानक उसके सामने अपने-आप किसी काम की कोई नई विधि या नई चीज आ खडी होती है, तब उसे 'खोज' (Discovery) कहते हैं। हम काम कर रहे हैं, काम करते-करते एकदम मालूम हुआ कि काम करने का अमुक तरीका बडा सहज है, तरीका निकाला नहीं परन्तु निकल आया—यह 'खोज' है, परन्तु अगर काम करने के सहल तरीके की तलाश में हम कोई सहल तरीका निकालें, वह अपने-आप न निकल पडे, तो वह 'आविष्कार' है।

मनुष्य ने अपनी सभ्यता का निर्माण 'आविष्कार' तथा 'खोज'—इन दोनों के सहयोग से किया है। हम जी-जान लगाकर किसी समस्या को हल करते हैं, या परिस्थितियां ही ऐसी उत्पन्न हो जाती हैं कि समस्या हल हो जाती है। पहला तरीका 'आविष्कार' का है, दूसरा 'खोज' का है। हमारी सभ्यता का कोई अंश 'आविष्कार' का परिणाम है, कोई अंश 'खोज' का—इन दोनों के आधार में अब तक चल रही काम करने की विधियों से हमारा असन्तोष काम कर रहा होता है, और 'आविष्कार' तथा 'खोज'—ये दोनों मिलकर सभ्यता की गाडी को आगे-आगे चलाते चले जाते हैं।

---

1 "An invention is recognised to be any new or useful mechanical contrivance or article, method, discovery, composition of matter or system, not previously known or used, or any improvement in any known machine, art, method or system"
—*Encyclopedia Americana*

२ अशिक्षित-समाज में यांत्रिक आविष्कार (Mechanical Inventions among Non-literates)

यह ठीक है कि 'आविष्कार' तथा 'खोज'—इन नामो से आदिकालीन समाज में कोई विशेष विद्या प्रचलित नहीं थी, परन्तु अनेक यांत्रिक नियमो का अपने उपकरणों में वे प्रयोग करते थे। उदाहरणार्थ, हम यहाँ कुछ यात्रिक-नियमों का वर्णन करेंगे जिनका उस काल के उपकरणों में प्रयोग किया जाता था। इन नियमो के ज्ञान के विना वे लोग उन उपकरणों का प्रयोग नहीं कर सकते थे, जिनका प्रयोग वे करते थे। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि इन नियमों का वे अपने ढग से आविष्कार कर चुके थे। हम पहले इन नियमों की चर्चा करेंगे, फिर इन नियमों को आधार वना कर अशिक्षित-समाजों ने जो 'आविष्कार' (Inventions) किये—पत्थर के उपकरण, आग जलाना, भोजन वनाना, कपड़ा वुनना आदि-आदि—उनका वर्णन करेंगे। जिन नियमों की हम चर्चा कर रहे हैं, उन्हें हमने 'आविष्कार' नहीं कहा, सिर्फ 'नियम' कहा है, इन तया इसी तरह के नियमो के आधार पर जो उपकरण अशिक्षित-समाज ने वनाये, उन्हें हमने 'आविष्कार' का नाम दिया है। यह भेद हमने इसलिए किया है, क्योंकि नियमो को नियम के रूप में अशिक्षित-समाज नहीं जानता, उन्हें तो वह क्रिया रूप में जानता है; इन नियमो को नियमो के रूप में तो हम लोग—शिक्षित-समाज के लोग—जानते हैं। अशिक्षित-समाज इन नियमो को न जानता हुआ भी इन्हीं को आधार वना कर अपने आविष्कार करता रहा है, और उन आविष्कारों से ही मानव की सभ्यता का विकास हुआ है।

(क) लीवर का यात्रिक नियम (Principle of lever)—यात्रिक-नियमों में सवसे महत्वपूर्ण नियम लीवर का नियम है। जव कोई चीज़ वहुत भारी होती है, तव उठाने के लिए उसके नीचे एक डंडा लगाकर उसे हिलाया जाता है। यह डडा लीवर कहलाता है। इसके तीन भाग होते हैं। डडे के वीच का एक भाग तो वह है जिस पर वस्तु का सारा वोझ आ पडता है, जो वस्तु को उठाने के लिए 'आधार' (Fulcrum) का काम करता है, दूसरा भाग वह जो ज़मीन में गड कर सारी वस्तु के बोझ को अपने ऊपर ले लेता है, तीसरा भाग वह जो हमारे हाथ में होता है, जिसे अपने हाथ से हिला कर हम भारी वस्तु को हिला लेते हैं। आदि-काल के समाज में जहाँ-जहाँ भी भारी वस्तुओ को डडे से हिलाया जाता था, इसी लीवर के सिद्धान्त के अनुसार ही तो हिलाया जाता था। वे इसे 'लीवर का सिद्धान्त' नहीं कहते थे, इस सिद्धान्त को कोई दूसरा नाम भी नहीं देते थे, परन्तु इस सिद्धान्त को विना कोई नाम दिये इससे काम जरूर लेते थे। वड़े-वडे पत्थरो को विना किसी यान्त्रिक सहायता के नहीं उठाया जा सकता। अशिक्षित जगली जातियों में जानवरो को पकडने के लिए एक वड़ा गढा खोदा जाता है, जिस पर एक वल्ली पूरे गढ़े को ढँकती है, और दूसरी के द्वारा गढ़े का इतना ही भाग ढका जाता है जिससे जानवर नीचे गिर जाय और वल्ली फिर ऊपर अपने स्थान पर

चली आये। यह प्रक्रिया बिना लीवर का सिद्धान्त जाने काम में नहीं लाई जा सकती। किश्ती को चप्पू द्वारा चलाने में भी लीवर का नियम ही काम करता है।

(ख) बटने का यान्त्रिक नियम (Principle of torsion)—अगर किसी धागे, तार या पतली चीज़ को बटा जायगा, तो वह ताकत लगाकर अपने पूर्व-रूप में आने का प्रयत्न करेगी—यह बटने का सिद्धान्त है। धागे को बटें तो छोड़ते ही वह ताकत लगाकर अपने पहले रूप में आ जाता है। बटते हुए जहाँ-जहां बट पड़ता है, वहाँ-वहाँ ताकत केन्द्रित हो जाती है। उदाहरणार्थ, तागे को बटने से तागे के हर भाग पर बट पड़ता जाता है, और वहां का तागा मज़बूत होता जाता है, वहाँ मानो ताकत केन्द्रित होती जाती है। इस प्रकार तागे के एक-एक बिन्दु पर ताकत केन्द्रित होती जाती है। गन्ने को बट कर, मरोड़ कर जब रस निकाला जाता है, तब बटने का नियम ही काम में आता है। गन्ने की एक-एक पोर में से तब तक रस नहीं निकलेगा जब तक एक-एक पोर पर ताकत न लगे। एक-एक पोर पर ताकत कैसे लगे? यह बटने और मरोड़ने के नियम से लग जाती है। समोआ जाति के लोग बटने के नियम का प्रयोग करके पेड़ों की छाल का रस निकालते हैं, इस छाल को मरोड़ कर उसमें से रस निकाल लेते हैं। कभी-कभी ये लोग एक छाल के बहुत-से टुकड़ों को बांध कर ऊपर पेड़ से लटका देते हैं, और नीचे एक डंडे से बांध देते हैं। डंडे को पकड़ कर उसे मरोड़ते हैं और छाल में से रस निकल आता है। इस प्रकार छाल के साथ डंडे को बांधना बटने के नियम तथा लीवर के नियम—इन दोनों का सम्मिश्रण कर देना है।

(ग) प्रतिरोध-शक्ति का यांत्रिक नियम (Principle of resistance)—कठोर वस्तु पर कोई चीज़ ज़ोर से फेंकी जाय तो वह उसका प्रतिरोध करती है—यह एक यांत्रिक नियम है। पत्थर पर चोट देने से वह उसका प्रतिरोध करता है। यह नियम आदिवासियों की गदा आदि उपकरणों में काम करता हुआ दिखलाई देता है। शरीर पर भी वे ऐसे उपकरणों का प्रयोग करते हैं, जिनसे उन पर अगर कोई आक्रमण करे तो शरीर की रक्षा हो सके।

(घ) पुली का यान्त्रिक नियम (Principle of pulleys)—जब किसी चीज़ को नीचे से उठाना होता या दूर से खींचना होता है, तब लीवर का नियम ही पुली का रूप धारण कर जाता है। कुएँ से पानी खींचने के लिए ऊपर चर्ख़ी लगाई जाती है, डोल कूए में डाल कर उसमें पानी भरा जाता है, और हाथ से रस्सी खींची जाती है। यह चर्ख़ी एक तरह की 'पुली' है जिसके द्वारा वज़न को उठाया जाता है। एस्किमो जाति के लोग यान्त्रिक उपकरणों का प्रयोग करने में बहुत कुशल हैं। वे समुद्र के किनारे पुली लगाकर पानी के जानवर को पुली की रस्सी के सहारे समुद्र से बाहर खींच लाते हैं।

(ङ) शक्ति-वर्द्धन का यान्त्रिक नियम (Principle of increase in force)—अगर कोई लम्बी वस्तु एक-समान होगी, तो ऊपर फेंकने से वह इतने ज़ोर से नहीं जायगी जितने ज़ोर और जितनी शक्ति से वह वस्तु जायगी,

जिसका अगला सिरा भारी और पिछला सिरा हल्का होगा। यह यात्रिक नियम आदिवासियो के अनेक यत्रो में काम करता दीखता है। उनके मारने के यत्र सव आगे से भारी और पीछे से हल्के होते हैं। आफ्रीका की अनेक जातियो के शस्त्रास्त्र, फेंक कर मारने के चाकू आदि इसी सिद्धान्त पर वने हुए हैं। अगर मारने की कोई छडी भी होती हैं, तो उसका मुट्ठ मोटा रखा जाता है, क्योंकि आगे के भारीपन से छडी का वेग वढ जाता है।

(च) केन्द्रापमारी शक्ति का नियम (Principle of centrifugal force)—जव कोई वस्तु आस्मान में गोल घूमती है, तो इसके गोलाई में घूमने का क्या कारण है? गोलाई में घूमते हुए उसमें दो प्रकार की शक्तियाँ काम कर रही होती हैं। एक शक्ति तो उसे हर क्षण केन्द्र की तरफ धकेल रही होती है, दूसरी केन्द्र से दूर धकेल रही होती है। केन्द्र की तरफ धकेलने वाली शक्ति को 'केन्द्रानुगामिनी-शक्ति' (Centripetal force) कहते हैं, केन्द्र से दूर ले जाने वाली शक्ति को 'केन्द्रापसारिणी-शक्ति'—केन्द्र से अपसार—दूर जाने वाली शक्ति (Centrifugal force) कहते हैं। इन दोनो के सम्मिश्रण से न तो वह वस्तु केन्द्र में ही आ सकती है, न दूर ही जा सकती है, दूर और केन्द्र के योग से वह गोलाई में घूमने लगती है। इस नियम को आदिवासियो के उस यन्त्र में हम देख सकते हैं, जिसे 'फेंकन' कहा जा सकता है, इसे हिन्दी में वरही भी कहते हैं। चमडे के एक टुकडे में ककड रख कर उस को दोनों ओर से रस्सी में वाँध कर जोर से गोलाई में घुमाया जाता है और फिर एकदम एक सिरा छोड दिया जाता है। हाथ से ककड को फेंकने से वह इतनी दूर नहीं जाता जितनी वरही से चला जाता है। इस प्रकार ककड का दूर जाना 'केन्द्रापसारिणी-शक्ति' के कारण होता है। ऑस्ट्रेलिया में फेंकने का एक अस्त्र होता है जिसे 'वूमरेंग' (Boomrang) कहते हैं। इसके कोनों पर मुडे हुए पख-से होते हैं जिनके कारण यदि यह अस्त्र अपने लक्ष्य को लगकर वहीं न अटक जाय तो इन पखों-के-से मुडावो के कारण ऊपर उठ कर वहीं लौट आता है, जहाँ से इसे फेंका गया होता है।

(छ) नोकीलेपन का नियम (Principle of sharpness of a point)—जव किसी लवी वस्तु की नोक को खूव वारीक कर लिया जाय और वह नोक उस लम्वी वस्तु की ठीक सीध में हो, तो उसकी मार वडी तेज होती है। यह नियम आदिवासियो के भाले में दिखलाई देता है। उनके भाले में लोहे का फलका नहीं होता, परन्तु वे सीधी लकडी लेते हैं, नोक को जलाकर तीखा कर लेते हैं, और तव शिकार खेलने के लिए उसका प्रयोग करते हैं। अगर भाले की सीध में उसकी नोक न हो, तो उसका असर ठीक नहीं होता। यह यान्त्रिक नियम नियम के नाम से भले ही जगली जातियो के लोगो को मालूम न हो, परन्तु इसका प्रयोग वे अपने हर भाले में करते दिखाई देते हैं।

(ज) लचकीलेपन का नियम (Principle of elasticity)—जो चीज सख्त नहीं होगी उसे अगर मोडा जाय, तो मोडने वाली वस्तु के हटाने

पर वह फिर सीधी हो जायगी—इस यांत्रिक-नियम का प्रयोग कर अशिक्षित जातियाँ जानवरों को पकडने के फन्दे लगाती हैं, जिनमें जानवर आसानी से फँस जाते हैं। लचकीले वृक्ष की एक टहनी के साथ वे रस्सी बाँध देते हैं। रस्सी के दूसरे सिरे में फंदा लगा कर पास ही एक खूँटे के साथ इस प्रकार बाँधते हैं, ताकि जानवर का सिर ज्यों ही फंदे में पडे, त्यों ही खूँटे से रस्सी की गाँठ खुल जाय और जानवर फंदे में फँस जाय। खूँटे से रस्सी के खुलते ही लचकीला पेड फिर सीधा हो जाता है और जानवर फंदे में फँसा रह जाता है। इसी नियम के आधार पर उन्होने ऐसे फँदे भी बनाये हैं कि जानवर का पाँव पडते ही खूँटे से रस्सा छूट जाता है, लचकदार पेड सीधा हो जाता है, और शिकार फंदे में फँसा मिलता है। धनुष का निर्माण भी इसी लचकीलेपन के नियम के आधार पर हुआ है। लचकीले बाँस के दोनो सिरों को ताँत से बाँध दिया जाता है। इस प्रकार बाँधने से दोनो सिरे क्योंकि लचक के कारण अपनी पहली स्थिति में आना चाहते हैं और ताँत बँधे होने के कारण आ नहीं सकते, इसलिए ताँत बिल्कुल सीधी अकड जाती है। फिर इस पर बाण चढा कर उसे फेंका जाता है, जो हाथ से फेंकने की अपेक्षा अधिक दूर और अधिक वेग से जाता है। गुलेल में भी वही नियम काम करता है जो बाण फेंकने में करता है। 'पूर्व-पाषाण-युग' (Paleolithic period) में धनुष-बाण का आविष्कार हो चुका था—यह उस काल के पत्थरो पर बने शिकारियो के रेखा-चित्रो से स्पष्ट होता है। जब लचकदार लकडी नहीं मिलती थी, तब लकडी की लचक को बढाने के लिए ऐसी वस्तुओ का प्रयोग किया जाता था जिनसे लकडी की लचक बढे और उससे धनुष का काम लिया जा सके। लकडी को पशुओ की आँतों से लपेट कर या ऐसे ही पदार्थ उस पर मल कर उसकी लचक को बढ़ाया जाता था। इन बातों में बडे ध्यान से हर बात का निरीक्षण करने की आवश्यकता है। निरीक्षण के साथ-साथ परीक्षण की भी आवश्यकता है। आदिकाल का मानव निरीक्षण तथा परीक्षण से भिन्न-भिन्न नियमो को प्रकृति में देख कर उनके आधार पर अपने उपकरण बनाता होगा—यह उन उपकरणों से स्पष्ट सिद्ध होता है जो हमें पृथिवी के गर्भ से प्राप्त होते हैं।

(झ) वायु के दबाव तथा चूसन का नियम (Principle of air pressure and suction)—वायु पर दबाव डाला जाय तो जहाँ से निकलने का रास्ता मिलेगा वहाँ से वह निकल जायगी और दबाव हटते ही खाली जगह में फिर से मानो चूसी चली आयगी—यह नियम आदि-काल की एशिया तथा आफ्रीका की जातियो की धौंकनियों में काम करता हुआ दिखाई देता है। धौंकनी का प्रयोग तो वे करते थे। जब तक उन्होंने वायु के दबाव तथा चूसन के नियम का आविष्कार नहीं कर लिया था, तब तक धौंकनी में इस नियम को बिना लगाये उन्होंने धौंकनी को कैसे बना लिया? इस नियम के आधार पर बुशमैन जमीन से पानी खेंच लेते हैं। जमीन में वे वहाँ तक छेद कर देते हैं जहाँ पानी है, फिर उसमें एक नलकी डाल देते हैं। इसके बाद नलकी के सिरे को मुंह में डाल

कर पानी खेंच लेते हैं। आफ्रीका तथा अमरीका के आदिवासी कमर दर्द दूर करने के लिए प्याला लगाते हैं। प्याला लगाने में भी वायु के दबाव का नियम ही काम करता है।

(ञ) वायु-निषेधक तथा जल-निषेधक उपकरणों का नियम (Principle of air and water-tight materials)—ऐसे उपकरण जिनमें वायु का प्रवेश न हो सके तथा ऐसे उपकरण जिनमें जल का प्रवेश न हो सके अनेक कामों में लाये जाते हैं। इस प्रकार के उपकरण आदिवासियों के यहां प्रयोग में लाये जाते हैं। वायु-निषेधक उपकरण की जरूरत होने पर पशुओं की आँतों तथा मूत्राशय का वे प्रयोग करते हैं। जल-निषेधक उपकरण के लिए पशुओं की खालें इस प्रकार सी ली जाती हैं कि उन्हें पानी में डाल दिया जाय, तो पानी का उनमें प्रवेश नहीं हो सकता।

(ट) विशिष्ट-भार का नियम (Principle of specific gravity)—समुद्र में मछली तथा अन्य जानवरों को पकडने के लिए विशिष्ट-भार के नियम के आधार पर कम विशिष्ट-भार की वस्तुओं को पानी में तैरा दिया जाता है। हलकी लकडी तथा चमडे के थैलों में हवा भर कर उन्हें पानी में तैरा कर उनके साथ मछली पकडने के जाल बांध दिये जाते हैं ताकि वे पानी में नीचे न बैठ जांय। जाल को दोनों तरफ से हलकी लकडी तथा चमडे के थैलों से बांध दिया जाता है, और उसके बीच का हिस्सा भारी वस्तु से नीचे पानी में लटका दिया जाता है, ताकि उसमें मछलियाँ तथा जानवर फँस जांय। किश्ती जो परिमाण में उतनी ही बडी लकड़ी की अपेक्षा जल में कम पैठती है—उसे वे लोग हल्का समझ कर उसमें काफी वजन की चीजें लाद लेते हैं। यह सब 'विशिष्ट-भार' के नियम का क्रियात्मक अनुभव है।

(ठ) रासायनिक नियम (Principle of chemical processes)—ऊपर जो यान्त्रिक नियम दिये गये हैं, उनके अलावा रासायनिक-नियम भी आदिवासियों के जीवन में कम काम करते नहीं दिखाई देते। खमीर उठाने के तरीके से वे परिचित हैं। शराब प्रायः सभी आदिवासियों में बनाई जाती है। विषों के विषय में आदिवासियों का ज्ञान आजकल के लोगों से कहीं अधिक है। भिन्न-भिन्न तरह की वृक्षों की छालों से वे लोग तरह-तरह के रंग बनाना जानते हैं। पत्थर से चूना बनाना, पीली मट्टी से रोगन बनाना, कच्चे लोहे से पक्का लोहा बनाना—यह सब-कुछ आदिवासियों में पाया जाता है।

(ड) उपकरणों के नियम का मिश्रण (Principle of compound implements)—आदि-मानव ने जो आविष्कार या खोजें कीं उनके आधार पर शुरू-शुरू में सरल उपकरण ही बनाये होंगे। पत्थर के गिरते समय दूसरी चीजों को जब मनुष्य ने टूटते देखा, तो उसे एकदम सूझा कि इस पत्थर से वह अखरोट-बादाम को तोड सकता है, पत्थर से जानवर को मार सकता है। यह सरल आविष्कार का सरल प्रयोग था, परन्तु कई सरल आविष्कारों के मेल से

कृषि की विकसित-व्यवस्था तो नहीं सीखी थी, परन्तु कुछ वनस्पति-पौधो की जानकारी उसे हो गई थी और खाने-पकाने के लिए वह सब्जी-तरकारी लगाने लग गया था।

पाषाण-छेदन के बाद एक तीसरा आविष्कार हुआ। कूँडी के आकार की वस्तु तो बन गई परन्तु वह खुरदरी थी, केवल बारीक टकोरों से ही तो उसमें गढा किया गया था। इस खुरदरेपन को रेता से घिसा गया, पीसा गया, इस पर मानो पालिश की गयी। इस प्रकार पाषाण-व्यवसाय में इस आविष्कार ने पत्थर की कूँडी को काम लायक बना दिया। इसमें पानी रखा जा सकता था उस समय का मसाला कूटा-पीसा जा सकता था, इससे और बीसियों काम लिये जा सकते थे।

पत्थर के व्यवसाय के सबध में पाषाण-युग का अन्तिम आविष्कार पत्थर को किसी सख्त चीज से लेकर रेता-पानी डाल कर लगातार घिसने से उसको चीरना था। इस प्रकार चीरने से पत्थर के जो टुकडे किये जाते थे, वे ज्यादा साफ होते थे।

(ख) फल-मूल, आखेट तथा मछली का प्रयोग (Food-gathering, Hunting and Fishing)—पाषाण-व्यवसाय जिस समय चल रहा था उस समय मनुष्य की आजीविका का साधन जगल से फल-मूल एकत्रित कर लाना, शिकार तथा मछली पकड लाना था। उस समय जगल-के-जगल खाली पडे थे, जन-सख्या इतनी नहीं बढी थी, जीवन-सघर्ष का रूप इतना ही था कि जगल में गये और जितना चाहा ले आये। वे किस प्रकार पशुओं का शिकार करते थे, किस प्रकार मछलियों और पक्षियों को जाल में फँसाते थे—इसका वर्णन तो हम आगे करेंगे, यहाँ हमारे कथन का इतना ही तात्पर्य है कि जब मनुष्य ने आग का प्रयोग नहीं सीखा था, तब यह तो आविष्कार उसने कर लिया था कि फल-मूल खाकर, जानवरों के मास तथा मछली पर निर्वाह किया जा सकता है। मनुष्य का यह आविष्कार पशुओं से कोई निराला नहीं था, क्योंकि पशु भी इस क्षेत्र में इन बातो को स्वभाव से जानता है। एक दृष्टि से यह आविष्कार नहीं था, यह मनुष्य का प्रकृति की तरफ से सहज-ज्ञान था, ऐसा ज्ञान जो मनुष्य तथा पशु—दोनो में समान रूप से पाया जाता है।

(ग) कृषि (Agriculture)—कृषि को दो भागों में बाँटा जाता है—'सरल कृषि' (Simple agriculture) तथा 'विकसित-कृषि' (Advanced agriculture)। इसे आविष्कार कहा अवश्य जा सकता है। आखेट का प्रवर्तक पुरुष को और कृषि का प्रवर्तक स्त्री को माना जाता है। पुरुष तो शिकार पकडने या फल-मूल एकत्रित करने जगल में चला जाता था, स्त्री घर का काम-काज करती थी, घर का पानी भी इधर-उधर फेंक देती थी। जहाँ पानी गिरता था, वहाँ कोई पौधा-वनस्पति उग आता था। इन सब बातों की तरफ पुरुष का ध्यान नहीं जाता था, स्त्री घर के आस-पास की परिस्थिति से ज्यादा परिचित रहती

थी। शुरू-शुरू में आसपास की वनस्पतियो की तरफ स्त्री का ध्यान गया, उसने आदि-काल की सरल कृषि-व्यवस्था का सूत्रपात कर दिया। यही कारण है कि ऑस्ट्रेलियन स्त्रियाँ कन्द-मूल की, पूर्वी-आफ्रीकन स्त्रियाँ केले की, पूर्वी अमरीका की स्त्रियाँ गेहूँ की खेती करने लगीं। कृषि-युग का प्रथम-चरण घरेलू वनस्पतियो, भाजी-तरकारियों और बगिया लगाने का समय था, उसके बाद विकसित कृषि का आविष्कार हुआ और स्त्रियों के साथ पुरुष भी खेती में भाग लेने लगे। कृषि को विकसित होते-होते हजारो साल लगे। पहले-पहले भूमि खोदने के लिए पत्थर के उपकरणो का प्रयोग किया जाता था, फिर इनके स्थान पर कुदाली, फावडे और हल का आविष्कार हुआ। इन सब की चर्चा हम 'भोजन प्राप्त करने के साधनों पर विचार करते हुए करेंगे। आजकल जिस प्रकार के हल का प्रयोग किया जाता है, उसका आविष्कार कास्य-युग में हुआ।

(घ) पशुपालन (Domestication of animals)—आखेट तथा कृषि के साथ-साथ इन कार्यों के लिए उपयोगी पशुओं को भी मनुष्य ने पालना सीखा। शिकार में कुत्ता बडा सहायक है। पहले तो वह स्वय ही शिकार को पकडता है, अगर स्वय नहीं पकड सकता तो शिकारी के तीर से बिंधे जानवर को हाथ से नहीं जाने देता, उसका पीछा करता है। लका के वेड्डा लोग कुत्ते से हरिणों का शिकार करते हैं। कुत्ता शिकार को सूँघ कर उसका पता भी देता है। कुत्ते से अन्य भी काम लिये जाने लगे। एस्किमो लोग बर्फ पर बिना पहियों के फिसलने वाली गाडी में कुत्तों को जोतते हैं। कुत्तों के बाद सूअर को पालने के अवशेष उपलब्ध हुए हैं। चीन के 'नव-पाषाण-युग' के अवशेषों में सूअर के चिह्न पाये गये हैं। सूअर आस-पास का गन्द साफ कर देता है और खाने के काम भी आता है। कई लोग सूअर के मास को वर्जित भी मानते हैं—शायद इसलिए क्योंकि इसका काम गन्द खाना है। कुत्ते से प्राय सूअर का शिकार किया जाता था, इसलिए शायद कुत्ते के बाद मनुष्य का सूअर को पालने की तरफ ध्यान गया। ये दोनों जानवर तो शिकार से सबध रखते हैं, इनके बाद दूध देने वाले जानवरो की तरफ मनुष्य का ध्यान गया और उसने भेड़-बकरी पालना शुरू किया। बकरी की अपेक्षा भेड का महत्व अशिक्षित जातियों में अधिक रहा है क्योंकि बकरी से तो उनकी खाने-पीने की वह समस्या हल होती थी जो अन्य जानवरों से भी हल हो सकती थी, परन्तु भेड से ऊन मिलती थी, यह समस्या बकरी से हल नहीं हो सकती थी। 'नव-पाषाण-युग' में युरोप में भेड का बहुत महत्त्व दीखता है। तुर्किस्तान में भी भेड को विशेष महत्त्व दिया जाता था और उसे पालने का प्रयत्न किया जाता था। भेड के साथ-साथ बकरी, भैंस, गाय को भी दूध आदि के लिए पाला जाता था। इन जानवरों के बाद उन जानवरो की बारी आयी जो आवागमन के साधनथे—ऊँट, घोडा, गदहा—इन सब को पालतू बनाया गया। बैबीलोनिया में ईसा से २३०० वर्ष और ईजिप्ट में २८०० वर्ष पूर्व घोडे का प्रयोग प्रारंभ हो गया था।

यह नहीं कहा जा सकता कि कृषि के वाद पशु-पालन का युग आया या पशु-पालन के वाद कृषि का युग आया। दोनों विचारो के सवध में विद्वानो में भिन्न-भिन्न मत है। ऐसे लोग पाये जाते है, जो आज तक पशु-पालन कर रहे हैं, खेती उन्होंने जानी ही नहीं, ऐसे भी पाये जाते हैं जिनमें पशु-पालन का युग विना आये वे सीधे खेती करने लगे है। इस वात की चर्चा हम पहले भी इस पुस्तक में कर आये है।

(ड) अग्नि-निर्माण (Fire-making)—जिस दिन मनुष्य ने आग की खोज की वह दिन मनुष्य के विकास में वडा भाग्यशाली दिन था। पशु आग का प्रयोग करना नहीं जानते, मनुष्य ने अपने सघर्षमय जीवन में सर्दी-पानी से बचने के लिए, खाना पकाने के लिए न-जाने कैसे और किस दिन आग को खोज निकाला। आग के अवशेष 'मध्यकालीन पाषाण-युग' (Middle Paleolithic period) के मौस्ट्रियन काल की गुफाओं में पाये जाते हैं। इसका मह अभिप्राय है कि इन गुफाओं में रहने वाला मनुष्य इस आग को या तो कहीं वाहर से लाया होगा, या उसने आग को कृत्रिम साधनो से वहीं प्रदीप्त किया होगा। जिस किसी तरह भी आग वहाँ पहुँची हो, यह तो स्पष्ट है कि 'मध्यकालीन-पाषाण-युग' के मौस्ट्रियन-सस्कृति के मानव को आग का ज्ञान था। शुरु-शुरू में तो मनुष्य ने आग वनाने का आविष्कार अपने-आप नहीं कर लिया होगा। जंगलो में आग अपने-आप लगा करती है, परन्तु आग ऐसी भयानक वस्तु है कि उसके पास जाने के स्थान में आदिकाल का मानव आग से डरकर भागता होगा, इसके पास नहीं जाता होगा। फिर मनुष्य ने आग के महत्व को कैसे जाना और आग जलाने का आविष्कार कैसे किया ? अटकल लडाने वालों का कहना है कि मनुष्य मास तो खाया ही करता था, पहले वह कच्चा मास खाता था। जव जगल में कभी आग लग जाती, तो कई जानवर भी मर जाते थे। उन भुने हुए जानवरो को उस काल का मनुष्य उठा लाता था, उन्हें खाता था तो स्वादिष्ट तथा सुपच लगते थे, इससे उसे यह ख्याल हुआ कि आग मास भूनने के लिए उपयोगी वस्तु है। इस प्रकार प्रकृति में उसे जहाँ आग मिल जाती, वह उसे उठा लाता और उसे सभाल कर रखता था, आग को बुझने नहीं देता था, उसमें सदा लकडी छोडता रहता था। आग सर्दी से भी उसकी रक्षा करती थी। आजतक ऐसी जन-जातियाँ है जिनके यहाँ आग जलाने के स्थान में आग को सभाल कर रखा जाता है, उसे बुझने नहीं दिया जाता। पारसियों में सैकडो सालो से एक जगह आग सुरक्षित रखी जाती है। वैदिक आर्यो में पाँच प्रकार की अग्नियो को सुरक्षित रखने की प्रथा थी जिनमें से एक गार्हपत्य तथा एक वैश्वानर अग्नि थी। गार्हपत्य सभवत वह अग्नि थी जिसे प्रत्येक गृहस्थ अपने यहाँ सुरक्षित रखता था, वैश्वानर सम्भवत वह अग्नि थी जो सव के लिए साझी थी, जो चाहता वहाँ से थोडी-सी आग अपने काम के लिए ले जा सकता था। कई ऐसी जातियाँ पायी जाती है जो जव एक स्थान से दूसरे स्थान को जाती है, तो आग साथ ले जाती है। यह तो हुआ प्रकृति से आग

लेकर काम चलाना, परन्तु मनुष्य तो चिर-काल से अपने-आप आग बनाता है। मनुष्य ने अपने-आप आग बनाना कब से सीखा? आग को प्रकृति से लेकर सुरक्षित रखने के बाद मनुष्य ने स्वय अपने-आप आग जलाना कब सीखा, कैसे सीखा—इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अपने-आप आग जलाने का मनुष्य के पास आधारभूत नियम सदा से एक ही रहा है। वह एक नियम है—'रगड़' (Friction)। आग 'रगड़' से पैदा होती है, परन्तु 'रगड़' पहले-पहल कैसे शुरू की गई? 'रगड़' से आग पैदा करने के आजतक अशिक्षित जातियों में दो साधन वर्ते जाते हैं। इनमें से एक साधन तो एक लकड़ी को दूसरी लकडी के ऊपर रख कर बरमे की तरह बहुत जोर से हाथ से घुमाने का तरीका है। जहाँ लकड़ी घुमाई जाती है, वहाँ कोई ऐसी चीज़ रख दी जाती है जिसमें आग आसानी से लग सके। इस तरीके को 'बरमे का तरीका' (Drilling method) कहा जा सकता है। एस्किमो तथा उत्तरी साइबीरियन लोग लकड़ी को नीचे रखी चौडी लकडी पर वेग से हाथ से घुमाने के स्थान में हाथ की लकड़ी में बरमे में लपेटी रस्सी की तरह एक रस्सी लपेट कर उसे बरमे की तरह चक्कर देकर, उसे तेज़ घुमा कर आग पैदा कर लेते हैं। प्राचीन आर्यों में दो अरणियो को लेकर उन्हें आपस में घिसने से आग जलाई जाती थी। अब भी उस यज्ञ को पवित्र समझा जाता है जिसमें अरणियो द्वारा यज्ञ की आग को प्रदीप्त किया जाता है। दूसरा तरीका पत्थर को पत्थर पर मार कर आग जलाने का तरीका है। इसे 'प्रहार का तरीका' (Strike-a-light) कहा जा सकता है। यह तरीका लकडी से काम में नहीं लाया जा सकता, पत्थर या लोहे के छड से काम में लाया जा सकता है। आदि-काल के मनुष्य ने शुरू-शुरू में आग का आविष्कार किस तरीके से किया, उस सबंध में ये सब अटकलें हैं, इनके संबध में निश्चयपूर्वक यह कह सकना सभव नहीं है कि इस प्रकार ही आग का आविष्कार हुआ।

ऊपर के दोनो तरीकों को मिला कर १९वीं शताब्दी में यह आविष्कार किया गया कि यदि हाथ की बडी लकडी की जगह छोटी-सी खप्पच से काम लिया जाय और उस पर गन्धक तथा पोटासियम क्लोरेट चढा दिया जाय, साथ ही दूसरी चपटी लकड़ी पर सलफ्यूरिक एसिड चढा दिया जाय, तो खप्पच को चपटी लकडी पर प्रहार करने से एकदम आग पैदा हो जायगी। इसके बाद फासफोरस का इस काम में प्रयोग होने लगा और १८४४ में जॉन एडवर्ड लण्डस्ट्रोम ने स्वीडन में आजकल प्रयुक्त होने वाली दीयासलाई का कारखाना भी खोल दिया जिससे हर-एक व्यक्ति के लिए अपनी जेब में आग उत्पन्न करने का साधन ले जा सकना सभव हो सका।

(च) भोजन-पाक (Cooking of food)—आग का सब से बड़ा काम भोजन को पकाना था और भोजन को पकाना ही रहा है। भोजन पकाने के साथ-साथ मनुष्य आग सेंक भी लेता है, परन्तु हर घर में प्रातःकाल भोजन पकाने के लिए आग जलाई जाती है। जब से आग का आविष्कार हुआ है, तब से गृह-

पत्नी के लिए भोजन बनाने में बहुत सुविधा हो गई है। परन्तु भोजन बनाने के लिए सिर्फ आग से ही तो काम नहीं चलता। पाक-क्रिया के लिए बर्तनो की आवश्यकता है, और बर्तन भी ऐसे जिन्हें आग पर रखा जाय तो भोजन के पकने के साथ-साथ वे स्वय न पक जाँय, स्वय उनका कुछ न बिगडे, परन्तु जिस चीज़ को पकाना है, वह पक जाय। ऐसे बर्तन तो धातु के ही हो सकते थे, इसलिए शुरू-शुरू में यद्यपि आग का आविष्कार हो गया था, तो भी भोजन के बनने की ठीक-ठीक व्यवस्था नहीं हो सकी थी। उस समय भोजन को भून लिया जाता था। भूनने के उन लोगो ने अनेक उपाय निकाल रखे थे। एक गढ़ा खोद कर पत्थर को लाल-गर्म कर के वे उसमें डाल देते थे। इन सख्त गर्म पत्थरों को पत्तो तथा टहनियो से वे ढक देते थे, उनके ऊपर उस भोजन को रख देते थे, जिसे वे उबालना या पकाना चाहते थे। इस भोजन पर फिर पत्ते की तह चढा देते थे। भोजन के ऊपर-नीचे पत्तो की तहें इसलिए चढा दी जाती थीं जिससे बर्तन में मट्टी न जाने पाये और पत्तो से निकली भाप से भोजन उबल या भुन जाय। इसके बाद इस गढे को वे मट्टी से भर देते थे। ऊपर से मट्टी पर पानी डाल देते थे। यह पानी जब नीचे नितरता था तब गर्मी से एकदम भाप बन जाता था और भोजन को एक-दो घटों में पका देता था। क्योकि इस प्रकार भोजन सीधे आग के सपर्क में न आकर भाप में पकता था इसलिए उसे बार-बार इस आशय से खोल कर देखने की आवश्यकता नहीं होती थी कि कहीं जल तो नहीं गया। एक तरह का वह आजकल का कुकर था। भोजन पकाने के ये सब प्रकार आज की अशिक्षित जातियों में पाये जाते हैं। आस्ट्रेलिया में आग के ऊपर मास रख कर भूना जाता है, मछलियो और पक्षियो को गढे में रख कर पकाया जाता है। पौलीनेशिया, न्यूज़ीलैण्ड में भी गढ़े में रख कर मांस को ऊपर की प्रक्रिया से खाने के लिए तैयार किया जाता है। ओशियाना में भी मट्टी की भट्ठी का प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त, अन्य अनेक जातियो ने खाने के नानाविध उपायों का आविष्कार किया था। मेरीकोपा जाति के लोग आटा पीसते, शिलुक लोग आटे में दूध मिलाते, पूर्वी आफ्रीका के लोग भोजन में नमक मिलाते थे। न्यूगाइना में समुद्र के पानी से नमक निकालने का आविष्कार किया गया था।

इसमें सन्देह नहीं कि भोजन को पानी में उबालने की प्रक्रिया का आविष्कार ऊपर के आविष्कारो के बहुत काल बाद हुआ। प्रकृति में उबलता हुआ पानी कहीं दीखता नहीं, अगर कहीं दीख भी जाय तो मनुष्य को यह कैसे पता लगा कि भोजन को पानी में उबाल कर भोजन स्वादिष्ट बन जायगा ? इसके अतिरिक्त उबालने के लिए धातु के बर्तनो की आवश्यकता थी, अभी धातु का ही आविष्कार नहीं हुआ था, तो बर्तन कहां से आते। हाँ, इस समय एक प्रक्रिया हुई होगी। ज्वालामुखी पर्वतो से निकले हुए पदार्थ जब आस-पास के पानी में जा पडे होंगे, तो पानी उबलने लगा होगा। उसे देख कर मनुष्य ने अपनी पत्थर की कूंडी में छोटे-छोटे पत्थर गर्म करके डाले होंगे। उसकी कूंडी का पानी भी उबलने लगा होगा।

इसमें कोई भोजन का कण रह गया, सो वह भी उबल कर स्वादिष्ट बन गया होगा। परन्तु ये सब 'होगा'-'होगा' की बातें हैं, ठीक-से नहीं कहा जा सकता कि शुरू-शुरू में मनुष्य ने पानी में उबाल कर भोजन बनाना कैसे सीखा, परन्तु जब भी सीखा तब उसने भोजन के क्षेत्र में एक महान आविष्कार को किया, यह ठीक है।

(छ) भोजन प्राप्त करने के साधन (Devices for obtaining food)—भोजन बनाने के पहले भोजन प्राप्त करने के साधनों का आविष्कार जरूरी था। अशिक्षित-मानव ने भोजन प्राप्त करने के अनेक साधनो का आविष्कार या उनकी खोज कर ली थी। जगल के फल-मूल के अलावा आदि-मानव मास-भक्षी भी था। वह अपने शिकार को पकडने के लिए तरह-तरह के प्रपच रचता था। जिस जानवर को पकडना हो, पहले उसके आने-जाने का रास्ता देख लिया जाता था। प्राय. जगली पशु अपने निश्चित मार्ग से आते-जाते हैं। उनके रास्ते में एक गढा खोद कर उसे टहनियो से ढक दिया जाता था। प्राय गढे में एक ऐसी नोकीली लकडी गाड दी जाती थी जिससे पशु के गढ़े में गिरते ही लकडी शूल की तरह उसके पेट में गड़ जाय। अब भी भेडिये को पकडने के लिए बल्लियों को पास-पास गोलाई में गाड कर दो घेरे बनाये जाते हैं। एक घेरा बाहर का होता है, एक अन्दर का। बाहर के घेरे में एक दरवाजा-सा लगा होता है जिसे धक्का देकर जानवर अन्दर तो जा सकता है, परन्तु क्योंकि वह अन्दर ही खुलता है, बाहर नहीं, इसलिए जानवर अन्दर जाकर उसमें से बाहर नहीं निकल सकता। बल्लियों के अन्दर और बाहर के घेरे में सिर्फ इतना फासला होता है जिसमें भेडिया फँस-सा जाता है, उस फासले में वह पीछे की तरफ मुड नहीं सकता। क्योंकि वह मुड़ नहीं सकता इसलिए भेड़िये के इस घेरे में आ फँसने पर उसे अन्दर जाकर मार दिया जाता है, फिर उसका मास पका कर खा लिया जाता है। कुछ इसी सिद्धान्त पर मछली पकडने का फदा बनाया जाता है। एक लम्बी-सी जालीदार टोकरी बनाई जाती है जिसके अन्दर एक दूसरी लम्बी परन्तु छोटी टोकरी उल्टे मुँह से बैठा दी जाती है। बडी जालीदार टोकरी के मुंह से छोटी टोकरी का मुंह उल्टा होता है। फिर इसे मछलियों के दरिया में डाल दिया जाता है। बडी जालीदार टोकरी के मुंह से मछलियां अन्दर चली जाती हैं, फिर छोटी जाली में पहुँच जाती हैं और क्योंकि छोटी जाली का मुंह बडी जाली से उल्टा होता है, इसलिए वे छोटी जाली में जाकर वहां फँस जाती हैं, बाहर नहीं निकल सकतीं। जानवरों को पकड़ने के लिए अशिक्षित जातियों ने और भी तरह-तरह के तरीके निकाल रखे हैं। शिकार को घेर-घार कर वे ऐसी जगह ले आते हैं जहां ऊँची जगह होती है, या तो शिकार वहां से छलाग मार कर नीचे गिर कर स्वयं मर जाता है, और अगर बचने के लिए पीछे को लौटता है, तो शिकारियों के भाले से उसे बींध दिया जाता है। कभी-कभी शिकार को खेद कर नदी में घुसने के लिए विवशकर दिया जाता है, जहां तरते हुए उसे बाणो से मार दिया जाता है। पक्षियो

को फँसाने के लिए जाल बनाये जाते हैं। एस्किमो जाति के लोग 'सील' नामक जानवर का शिकार करते हैं। वे किसी मरे 'सील' की चमडी पहन कर उसकी नकल करते हैं, उसकी-सी आवाज़ निकालते हैं, और इस प्रकार 'सीलों' को धोखा देकर उनका शिकार करते हैं। किसी-किसी जाति के लोग हरिण की चमडी पहन कर हरिणों को धोखा देकर उनका शिकार खेलते हैं। रामायण में मारीच के हरिण का रूप धारण करने की कथा आती है। वह हरिण का भेष धारण करके आया था और श्री रामचन्द्र जी उसके पीछे उसे हरिण समझ कर ही उसे पकडने के लिए भागे थे।

जिन लोगो में कृषि का अभी अधिक विकास नहीं हुआ होता, वे जगल से वृक्षो की जडें खोद लाते हैं, उन्हीं को खाते हैं। खोदने के लिए एक लकडी को लेकर उसे नोकीला बना लेते हैं। जो इससे आगे बढते हैं, वे खोदने की लकडी के साथ कोई नोकीला पत्थर बाँध लेते हैं या लकडी की जड में छेद कर उसमें पत्थर की नोक जड देते हैं। इससे खोदने में उन्हें सुविधा होती है। किसी-किसी जाति में खेती के लिए भी यह नोकीले पत्थर की छडी ही काम में आती है। वे ज़मीन को इस नोकीली छडी से एक फीट की गहराई तक गाड कर मट्टी के ढेलों को उचेल देते हैं, फिर इन ढेलों को उनकी औरतें तोड कर उनकी नरम मट्टी बना देती हैं। इसमें ये लोग सब्ज़ी-तरकारी बीज देते हैं। यह नोकीली छडी ही आगे जाकर कुछ विकसित होने पर कुदाली (Hoe) का रूप धारण कर गई। नोकीली लकडी से जब ज़मीन खोदी जाती है, तब लकडी को ज़मीन मे गाड कर मट्टी आगे की तरफ धकेली जाती है, कुदाली से खोदने पर ज़मीन मट्टी पीछे की तरफ धकेली जाती है। हल का विकास कुदाली से न होकर खोदने की नोकीली लकडी से हुआ है, क्योंकि हल में मट्टी आगे की तरफ धकेल कर खोदी जाती है, फावडे का विकास कुदाली से हुआ है, क्योंकि कुदाली तथा फावडा—इन दोनों में मट्टी पीछे की तरफ धकेली जाती है। कुदाली की नोक को चौडा कर देने से फावडा बन गया होगा। इन सब उपकरणों से आदि-मानव जगल से पेडो की जडें निकालता था, सब्ज़ी-तरकारी बोता, हल चलाता तथा खेती करता था और इन साधनों से जो-कुछ प्राप्त करता था उससे अपना पेट भरता था।

(ज) सुरक्षा (Shelter)—सुरक्षा का सबसे बडा माध्यम मकान है। आदि-मानव मकान बनाना तो नहीं जानता था, परन्तु ज़मीन में खोद कर गुफा ज़रूर बना सकता था। शुरू-शुरू में मनुष्य गुफा में ही रहा करता था। ज़मीन पर भी रहने की व्यवस्था उसने की थी, और ज़मीन पर रहने का पहला प्रकार तो वृक्षों की टहनियों को इस प्रकार गाड लेना था जिससे हवा की रोक-टोक हो सके। इसके बाद तम्बू के-से ढाँचे भी खडे किये जाने लगे। एक तरीका तो साधारण-सा था जिसमें दो बल्लियाँ ऊपर से साथ जोड दी जाती थीं और उन पर चमडा सुखा कर इस प्रकार फैला दिया जाता था जिससे वर्षा-पानी-धूप से रक्षा हो सके। बडा तम्बू बनाने के लिए इस प्रकार की बल्लियों की दो कैंचियाँ बनाकर आमने-

ामने गाड दी जाती थीं और उनके ऊपर दोनो को मिलाने के लिए एक लम्बी ल्ली वाँध दी जाती थी। इस सारे पर चमडे की खालें फैला दी जाती थीं और वू तैयार हो जाता था। इडियन लोग भैस की खाल का तवू वना लेते थे।

मट्टी के घर भी वनाये जाते थे। मट्टी की ईंटें पाथ कर उन्हें धूप में सुखा ऱ्या जाता था। मडन तथा हिदत्सा लोग मट्टी के मकान वना लेते थे। पत्थर के र भी पीछे वनने लगे। एस्किमो लोग वरफ से घर वनाते है। वरफ के वडे-डे टुकड़ो को लेकर इस प्रकार जमाते है, जिससे मकान तैयार हो जाता है और समें वडे आराम से विश्राम किया जा सकता है।

(झ) वस्त्र (Clothing)—हम पहले देख आये है कि 'पूर्व-पाषाण-ग' (Paleolithic period) में चार वार हिम-पात हुआ इसलिए इसे हतपात-युग' भी कहा जाता है। इन हिम-पातो के वीच के समय को 'अन्त -मपात-काल' कहा जाता है। इस समय में मौसम गर्म हो जाती थी और मनुष्य ना वस्त्र के रह सकता था। परन्तु हिम-काल में शरीर के ढके वगैर रह सकना ामुमकिन था। ऋतु की भयकरता से वचने के लिए शुरू-शुरू में जानवरों की मडी को सुखा कर उससे वदन को ढकने का काम लिया गया होगा। 'पूर्व-पाषाण-ग' के अवशेषों में अनेक पत्थर पाये जाते है जिनसे खालो को खुरचने का काम ऱ्या जाता होगा। शुरू-शुरू में तो उन पशुओं की खालो को वदन ढकने के काम लाया गया होगा जो आसानी से धूप में सूख जाती है, वाद को हिरण, शेर, चीते ी खालों को भी खुरच कर और सुखा कर उपयोग में लाया गया होगा। वदन ो पत्तों से वन्दर भी ढकते है ताकि सर्दी-गर्मी से वे वच सकें, मनुष्य ने भी शरीर ी रक्षा के लिए पत्तों, खालों आदि का प्रयोग किया होगा। पेड़ों की छालो को तार कर उनसे शरीर ढकने का काम अव भी पौलीनेशिया, मैलेनेशिया, दक्षिणी शिया तथा दक्षिणी अमरीका में लिया जाता है। पहले वृक्ष की खुरदरी छाल ो उतार कर कूटा जाता है, कूटने से मुलायम होने पर उनकी लम्बी-लम्बी ट्टियाँ वनाई जाती है जिन्हें चौडाई में छोटा होने के कारण आफ्रीका में तो सी र पहन लिया जाता है और पौलीनेशिया में तो छाल की पट्टियाँ ही लम्वी तथा ौडी वनाई जाती हैं जो शरीर को आसानी से ढक लेती है। छाल के वस्त्रो को ोग भिन्न-भिन्न रगो से रग लेते हैं, जिससे पहनने पर ये सुन्दर लगने लगते है।

कई लोगो का कहना है कि वस्त्र धारण करना मनुष्य की प्रारभिक आवश्य-ता नहीं है। शुरू में मनुष्य शरीर को सजाने के लिए, अलकार के तौर पर ारीर को लपेट लेता था, इस अलकार से वस्त्र पहनने का आविष्कार हुआ। रन्तु यह वात ठीक नहीं जँचती। शरीर को सर्दी-गर्मी-वर्षा से वचाना तथा उसे ाजाना—ये दोनों अलग-अलग इच्छाएँ है, और इन दोनो को तृप्त करने के लिए स्त्र तथा अलकार—इन दोनों का अलग-अलग ही आविष्कार हुआ होगा, इनमें ा एक को दूसरे का परिणाम वताना सगत नहीं प्रतीत होता। वन्दरो में भी शरीर ो पत्तों से ढकने तथा किसी सुन्दर फूल को देख कर उसे तोड लेने की दो अलग-

अलग इच्छाएँ दीख पडती है, इन दोनों का एक-दूसरे से कोई सबध नहीं दीखता। कई लोगों का कहना है कि शुरू-शुरू मे जननेन्द्रियो को ढकने के लिए वस्त्रो का आविष्कार किया गया था। अशिक्षित जातियो में शरीर नगा रहने पर भी जननेन्द्रियो को पुरुष तथा स्त्री पत्तो से या किसी अन्य वस्तु से ढके रहते हैं। मनुष्य की इसी स्वाभाविक लज्जा का विकास वस्त्रो में हुआ। परन्तु यह भी युक्ति-सगत प्रतीत नहीं होता। कई जातियाँ तो बिल्कुल नगी रहती हैं, उनमें लज्जा कहाँ गई ? फिर सिर्फ एक अग को ढकने की इच्छा से सारे शरीर को ढकने की प्रवृत्ति का जाग उठना भी समझ नहीं आता। युक्ति-सगत यही प्रतीत होता है कि शरीर रक्षा के उद्देश्य से मनुष्य ने शरीर को ढकने के वस्त्रो का आविष्कार किया।

(ञ) अलकार (Ornaments)—शरीर को 'अलकृत' करने के लिए अशिक्षित जातियों मे भिन्न-भिन्न प्रकार के साधनो तथा विधियो का प्रयोग किया जाता है। कई शरीर को रग लेते हैं, कई उसे गुदवा देते हैं। काले रग की जातियों में शरीर को गुदवायें तो गोदना दिखाई नहीं देता, इसलिए वे शरीर पर भिन्न-भिन्न प्रकार के दाग़ बना लेते हैं। कई दाँतों को रेती से घिस कर नोकदार बना लेते हैं, कई किसी दाँत को तोड ही डालते हैं, कई दाँत में खोल कर के उसमें कुछ चीज भरवा लेते हैं। कान, नाक, गाल तथा होठ को छेद करके उसमें छल्ला डालने की भी कई जातियो में प्रथा है। कई बच्चे के सिर को दबा कर उसे चपटा कर डालते हैं। नीग्रो लोग बच्चे की नाक को दबा-दबा कर चपटा कर डालते हैं, चीनी लोगों में लडकियों के पाँवों को छोटा बनाने के लिए उन्हे बचपन में ही लोहे के जूते पहना दिये जाते थे। वे समझते थे कि इससे उसकी सुन्दरता बढ जायगी। शरीर को सजाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के अलकारो का आविष्कार आदि-काल से मानव-समाज करता चला आ रहा है।

(ट) आक्रमण से रक्षा (Protection against attack)—हम देख चुके हैं कि मनुष्य के काम करने के उपकरण एक प्रकार से हाथ की शक्ति को बढाने के आविष्कार हैं। कुदाली के सिरे को पकड कर उतना काम नहीं लिया जा सकता जितना उसमें हत्था लगा कर उससे काम लिया जा सकता है। यही बात अन्य उपकरणों के विषय में कही जा सकती है। हाथ से जब किसी शस्त्र द्वारा मनुष्य किसी दूसरे पर आक्रमण करेगा, तो उस पर भी कोई आक्रमण कर सकता है। आदि-काल का मानव देखता भी था कि उस पर उसके शत्रु आक्रमण करते थे। दूसरे से आक्रमण की रक्षा के लिए उसने ढाल का आविष्कार किया। ऑस्ट्रेलिया तथा नील नदी के ऊपर के भाग में इस प्रकार की ढालो का अशिक्षित जातियों मे प्रयोग पाया जाता है। ये ढालें छोटी, साधारण-सी तथा बडे आकार की भी होती हैं। भाले तथा तीर के आक्रमण को रोकने के लिए बडी तथा मजबूत ढालो की आवश्यकता होती है और इस प्रकार की मजबूत तथा बडे आकार की ढालों का भी इन जातियों में प्रयोग पाया जाता है। शरीर को आक्रमण से बचाने के लिए

ये लोग मोटे चमड़े की खाल या लकडी तथा हड्डियो का कवच-सा बना लेते हैं, शरीर को आक्रमण से सुरक्षित रखने के लिए लकडी का शिरस्त्राण प्रयोग में लाया जाता है। ये सब आविष्कार उन्नत होते-होते आजकल के शस्त्रास्त्रो का रूप धारण कर गये हैं, किन्तु इनकी शुरुआत आदि-काल के मनुष्य ने ही की थी।

(ठ) औषध तथा विष प्रयोग (Medicine and poison)—अशिक्षित जातियो ने जीव-जन्तु तथा वनस्पति के विषो तथा इनके द्वारा काम में आने वाली औषधियों को भी खोज निकाला था। सांप के विष का प्रयोग किया जाता था। विषों को बाणों के अग्रभाग में लगा कर उन्हें युद्ध के काम में लाया जाता था। वनस्पतियो का विष तालाब में घोल कर डाल देने से मछलियाँ मर जाती थीं। विष का प्रयोग अपराध-परीक्षा में भी किया जाता था। जो निरपराध हो, उस पर विष का प्रयोग कुछ असर नहीं कर सकता—यह विश्वास था। शिवजी अपने कंठ में विष को उतार ले गये, परन्तु उन पर उसका कोई असर नहीं हुआ। विषो को औषधि के तौर पर भी बरता जाता था। औषध का क्षेत्र विष तक ही सीमित नहीं था। भिन्न-भिन्न प्रकार की औषधों तथा उपचार के उपायों का आदि-मानव ने आविष्कार कर लिया था। औषध के तौर पर मालिश का उपयोग अशिक्षित जातियाँ समझती हैं। ईस्टर आईलैंड तथा समोआ में मालिश का आम प्रचार है। कब्ज होने पर वैंकोवर द्वीप के इंडियन पेट पर मालिश करते हैं, क्रो-इंडियन पेट में दर्द होने पर मालिश से उसे दूर कर देते हैं। जादू आदि द्वारा रोग के उपचार में भी मालिश का प्रयोग किया जाता है, गर्भ-पात के लिए तो इसका इन लोगों में बहुत अधिक प्रचार है। सिर दर्द दूर करने के लिए ये लोग सिर पर पट्टी बांधते हैं—यह भी मालिश का ही एक रूप है। मालिश के अलावा रोग दूर करने में पसीना लाने के महत्त्व को भी ये जानते हैं। उत्तरी अमरीका में गढा खोद कर उसे गर्म करके रोगी को उसमें बैठा दिया जाता था। खूब पसीना आने के बाद रोगी को ठंडे पानी में बैठाया जाता था। जल-चिकित्सा की विधि भी यही है, इसमें भी पसीना लाने के बाद ठंडे पानी का स्नान कराया जाता है। ऑस्ट्रेलिया में रुग्ण-अंग पर भाप छोडी जाती है और शरीर के बाकी हिस्से को ढक दिया जाता है। कई रोगो में शरीर में चाकू लगा कर रुधिर निकाल दिया जाता है। व्रण का रुधिर मुख से चूस कर फेंक दिया जाता है। शिरा-छेदन तथा कटोरी का प्रयोग भी कई जातियो में पाया जाता है। रुधिर बन्द करने के लिए कोयला पीस कर छिड़का जाता है। फोडों पर पुलटिस बांधी जाती है। सांप काटे पर चाकू से जगह काट कर ऊपर की तरफ बांध दिया जाता है ताकि विष शरीर के ऊपरी भाग में न चढने पाये। फोडों को दागा भी जाता है, सिर तथा पीठ के दर्द को ठीक करने के लिए भी दागने की विधि काम में लायी जाती है। कई रोगों में उल्टी करायी जाती है, कई रोगों में नली से अनीमा दिया जाता है। हड्डी टूट जाने पर उसे जोडने के लिए भी उपाय किये जाते हैं।

(ड) मादक पदार्थ (Intoxicants and narcotics)—आफ्रीका, दक्षिणी अमरीका, पोलीनेशिया, दक्षिण-पूर्व एशिया में भिन्न-भिन्न पदार्थों से मादक-द्रव्यो का निर्माण तथा उनका सेवन काफी प्रचलित है। इस कार्य के लिए अनाज, कन्द-मूल, फल, दूध आदि सभी पदार्थों का प्रयोग किया जाता है। उत्तर-पूर्व एशिया के कई प्रदेशों में फूई को खाया जाता है जिससे मादकता उत्पन्न होती है। दक्षिणी-अमरीका में पान, कोको तथा अन्य कई प्रदेशो में भांग, अफीम एव तम्बाकू का खाने, चबाने, धूंए के तौर पर पीने में इस्तेमाल किया जाता है। कई जगह नस्वार भी ली जाती है।

(ढ) टोकरी-निर्माण (Basketry)—टोकरी बनाने का तरीका मकान बनाने के तरीके का ही एक रूप है। मोटी-मोटी छडो के साथ-साथ पतली छडें रख कर उन्हें ताने-वाने की तरह बुन दिया जाता है। छडो से दीवार बनाते हुए भी मोटी छड और पतली छडों का इसी तरह का जाल बना कर उसे मट्टी से लीप दिया जाता है। इन छडो को बहुत नजदीक से बुनने से टोकरी बन जाती है। इसी प्रकार की चौडी पत्तियो को बुनने से चटाई बन जाती है। टोकरी और चटाई बनाने की विद्या का आविष्कार सभवत खेल-खेल में छडो और पत्तियो के नानाविध सम्मिश्रण द्वारा हुआ होगा।

(ण) कताई-बुनाई-सिलाई (Spinning, weaving and sewing)—टोकरी बनाने तथा चटाई बुनने का अगला कदम कताई-बुनाई कहा जा सकता है। दोनो में एक ही प्रकार के नियम काम करते दिखाई देते हैं। ताना-बाना और जगह-जगह जरूरत की गांठ लगाना—इसी सिद्धान्त से टोकरी, इसी से चटाई और इसी से बुनाई चलती है। भेडों के बाल या चमडे की पतली-पतली कतरनों से आदि-काल का मानव बुनाई करके कम्बल बना लेता था। इससे पहले कि पेड की छालो, भेड के बालों या जानवर की खाल की कतरनो से कम्बल बुना जाय, इस सामग्री को मजबूत बनाने के लिए कातने के आविष्कार का होना जरूरी था। शुरू-शुरू में तो किसी को हाथ से बट कर ऊन के धागे को मजबूत बनाने की सूझी होगी, साथ ही यह भी आविष्कार किसी ने किया होगा कि किस प्रकार ऊन के एक हिस्से को दूसरे से इस प्रकार जोडा जाय कि लम्बा तथा मजबूत सूत्र बनता चला जाय। अक्सर किसी चपटी चीज पर या जांघ पर सूत्र को रख कर उसे बटा जाता होगा, उसे मजबूत बनाया जाता होगा। इस प्रक्रिया को जिस किसी ने यन्त्र द्वारा चर्खे के रूप में परिणत किया उसने मानव-इतिहास में एक महान् आविष्कार को जन्म दिया। जिन असूलो से टोकरी तथा चटाई बनाई जाती थी, उन्हीं के आधार पर ताने-बाने के रूप में बुनाई की जाने लगी और धीरे-धीरे करघे का भी आविष्कार हो गया। हम पहले लिख आये हैं कि सुई का आविष्कार पहले हो चुका था। दो वस्तुओ को जोडने का काम तो पहले होता ही था, उसी सिद्धान्त को जब कपडे के दो टुकडों में व्यवहार में लाया जाने लगा, तब सिलाई शुरू हो गई। ये सब बातें अशिक्षित जातियों के जीवन में पायी जाती हैं। एशलुस्ले

जाति की स्त्रियाँ पेड के तन्तुओं के पतले तन्तु को साफ करके सुखा देती थीं और फिर उन्हें जांघ पर रख कर बट लेती थीं, इससे सूत्र बन जाता था। न्यू गाइना में कई पेडों की छाल को लम्बा उतार कर उसे बट कर रस्सी बना लेते थे। दक्षिणी अमरीका के इडियन तथा अन्य कई जातियों के लोगों ने रूई तथा ऊन का वस्त्र बुनने के लिए एक प्रकार के करघे का आविष्कार कर लिया था।

(त) भाण्ड-निर्माण (Pottery)—भाण्ड-निर्माण का आविष्कार 'नव-पाषाण-युग' (Neolithic period) में हुआ। युरोप तथा अमरीका—दोनो जगह यह आविष्कार स्वतत्र रूप में हुआ प्रतीत होता है। भाण्ड-निर्माण का आविष्कार कैसे हुआ? विद्वानों का कहना है कि जब गढा खोद कर उसमें गर्म पत्थर डाल कर भोजन बनाते थे, तब उसी गढे को भोजन पकाने के लिए बार-बार प्रयोग में लाते होगे। बार-बार प्रयोग में लाने से मट्टी पक जाती होगी। पकी लाल मट्टी को जो पहले कच्ची हालत में थी, देख कर यह विचार आना कि कच्ची मट्टी को पकाया जा सकता है, एक स्वाभाविक विचार था। इससे पहले कच्ची मट्टी के बरतन तो बनते ही थे। इन बरतनों को तदूर में पका कर पक्का बनाया जाने लगा। ये मट्टी के बरतन किस प्रकार बनने लगे? इस सबध में विद्वानो का कहना है कि टोकरी बनाते हुए उसे मट्टी से लीप दिया जाता था। लीपने के बाद जब मट्टी सूख जाती थी तो कभी-कभी टोकरी से अलग भी हो जाती थी। यह अलग हुई मट्टी टोकरी के ही आकार की थी, इससे कच्ची मट्टी के बरतन बनाने का विचार पहले-पहल प्रकट हुआ। टोकरी की लेपन टोकरी के ढाँचे की थी, वह ढाँचा तदूर म पकाने से पक्का हो गया—इससे बर्तन बनाने का आविष्कार हुआ। कच्ची मट्टी से पहले तो हाथ के जरिये मट्टी को ठोक-ठोक कर बर्तन बनाया जाता था, बाद को कुम्हार के चाक का आविष्कार हुआ जिससे चाक को घुमा कर बर्तन बनाये जाने लगे। ईजिप्ट में ईसा से ३००० वर्ष पहले मट्टी के बर्तन बनाने के यन्त्र का आविष्कार हो चुका था।

(थ) धातु-प्रयोग (Metallurgy)—धातुओं का दो रूपों में उपयोग किया जाता है—कच्ची धातु के रूप में और पक्की धातु के रूप में। कच्ची धातु उसे कहते हैं जब उसे शुद्ध नहीं किया गया होता, शुद्ध धातु उसे कहते हैं जब उसे शुद्ध कर दिया जाता है। 'पूर्व-पाषाण-युग' में तो पत्थर का ही उपयोग होता था, पत्थर को उपकरण के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है—इस बात की उस युग में खोज हुई थी, परन्तु पत्थर के अतिरिक्त अन्य धातुओ का भी उपकरण के तौर पर इस्तेमाल हो सकता है—इस बात की खोज 'नव-पाषाण-युग' में हुई। इस युग में भी पहले-पहल कच्ची धातुओं का प्रयोग हुआ, धातुओ का उस रूप में प्रयोग हुआ जिस रूप में वे प्रकृति में पायी जाती हैं। उसके बाद धातुओ के शोधन का आविष्कार हुआ। पहले तांबा, फिर काँसा और फिर लोहे का आविष्कार हुआ। धातु शोधन का कार्य ईसा से ४००० वर्ष पूर्व ईजिप्ट तथा बैबोलोन में होने लगा था। पत्थर को पीट कर उसकी भिन्न-भिन्न शक्लें नहीं बनाई जा

सकती थीं, परन्तु जब मनुष्य को तांबा मिला, तब उसने इसे पीट कर इसका भिन्न-भिन्न शक्लो में इस्तेमाल शुरू किया। तांबे और टिन को मिला कर कांसे का आविष्कार हुआ। कांसे में तांबे और टिन का भिन्न-भिन्न अनुपात मिलाया जाता है। मनुष्य को उपकरण बनाते हुए यह देखना होता है कि उस धातु का उपकरण बनाया जाय, जिसे ठोक-पीट कर मनचाही शक्ल दी जा सके, परन्तु जो उपकरण बनने के बाद मुलायम न बना रहे। जब से लोहे की खोज हुई, तब से इस प्रकार की धातु का पता लग गया जिसे गर्म करने पर नरम भी बनाया जा सकता था, परन्तु जो ठडा होने के बाद तांबे और कांसे से भी सख्त थी। इस युग के आने पर अधिकतर उपकरण बनाने में लोहे का ही प्रयोग होने लगा। धातु को शुद्ध करने के लिए ऑक्सीजन की पर्याप्त मात्रा की आवश्यकता होती है। यह तभी सभव हो सका जब धौंकनी का आविष्कार हो गया। इन धातुओ की खोज कैसे हुई—कुछ नहीं कहा जा सकता। इन सब आविष्कारों में धौंकनी का आविष्कार बहुत महत्वपूर्ण था क्योंकि बिना धौंकनी के आग में इतनी तेजी नहीं पैदा की जा सकती जिससे वह धातु को पिघला सके।

(द) यातायात (Transportation)—एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने में पैरो से ही लोग जाते हैं, परन्तु साथ ही ऐसे साधनों का भी आविष्कार करते हैं जिनसे पैरों के लिए भी तो जाना-आना सुगम हो सके। इसीलिए जूते का आविष्कार हुआ, इसीलिए लाठी का आविष्कार हुआ क्योंकि लाठी के सहारे जल्दी और ज्यादा आया-जाया जा सकता है, इसके सहारे भार भी उठाया जा सकता है। जहां बर्फ ज्यादा पडती है, वहां ऐसे जूतो का मनुष्य ने आविष्कार किया जिनसे बर्फ पर चला जा सके।

पहले लोग सिर पर माल ढोया करते थे, परन्तु सिर पर कितना ढोया जा सकता था। इसी तरह पीठ पर ढोते थे। सिर और पीठ पर अब भी माल ढोते हैं, परन्तु इसके बाद मनुष्य ने कन्धे के सहारे बहगी से माल ढोना शुरू किया। मकान पर चढने के लिए पहले गाँठदार बल्ली काम में ली जाती थी, फिर बाकायदा सीढी से काम लिया जाने लगा—यह भी एक प्रकार का नीचे से ऊपर को जाने का आविष्कार था। पानी में यातायात के लिए पहले एक बडे लक्कड का सहारा लेकर तैरते थे, फिर बेडे बनाने लगे, फिर धीरे-धीरे नौका का आविष्कार हुआ। नदियों पर पुल बंधे, झूलेदार पुल बंधे, रस्से को पकड कर नदी के आर-पार जाने के पुल बंधे। घोडे-गधे-ऊंट से सामान ढोने के पहले कुत्ते को साधारण-सी गाडी बना कर उसमें जोता जाता था, फिर घोडे-गधे आदि से भी माल ढोने का काम लिया जाने लगा। पहिये का जिसने निर्माण किया उसने तो ऐसा आविष्कार कर दिया जिसने यातायात के क्षेत्र में क्रान्ति का काम किया। इससे व्यापार को बहुत तरक्की मिली और दूर-दूर से व्यापारी लोग अपना माल लेकर बाजारों और मडियो में आने लगे। यातायात के साधनों का अर्थ-व्यवस्था पर बडा प्रभाव पडा।

१९
परिवार
(FAMILY)

१ परिवार का मानव-जीवन में प्राणिशास्त्रीय महत्व

मानव-शास्त्र की दृष्टि से 'परिवार' की सस्था पर विचार करने से पहले 'परिवार' की कुछ आधारभूत बातो पर विचार करना आवश्यक है। 'परिवार' का मानव-जीवन में क्या स्थान है, क्या महत्व है, क्यो 'परिवार' के बिना मनुष्य नहीं रहता ? 'परिवार' की इन आधारभूत बातों को, 'परिवार' के महत्व को समझने के लिये हमें 'परिवार' सम्बन्धी निम्न तीन बातो की तरफ ध्यान देना होगा

(क) अति-जीवन की आधारभूत शर्तें (Conditions of Survival)—मनुष्य अन्य प्राणियो की तरह ही एक प्राणिशास्त्रीय-जीव है। प्राण-धारण करने के लिए अन्य जीवो में जो आवश्यक शर्तें हैं, वे मनुष्य पर भी लागू होती हैं। प्राण-धारण के लिए आवश्यक शर्तें कौन-सी हैं ? साँस लेना, खाना-पीना, मल-त्याग, काम-भाव—ये सब बातें पशु तथा मनुष्य के प्राण-धारण के लिए, उसके जीवित रहने के लिए आवश्यक हैं। इन्हीं को मनोवैज्ञानिक 'सहज-स्वभाव (Instincts) कह देते हैं। 'सहज-स्वभाव' का काम भी तो प्राणी को मरने से बचाना है, उसे जीवित रखना है। साँस-लेना, खाना-पीना, मल-त्याग, काम-भाव—ये सब प्राणी के जीवन धारण के लिए, उसके 'अति-जीवन' (Survival) के लिए आवश्यक हैं, इसलिए प्राणी साँस लेता है, खाता-पीता है, मल त्याग करता है, काम-चेष्टा करता है। इन कामो को वह न करे, तो वह सृष्टि में जीता न बच रहे।

(ख) अति-जीवन में सन्तानोत्पत्ति तथा परिवार का स्थान (Reproduction and family as conditions of survival)—'अति-जीवन' के लिए आवश्यक शर्तें दो तरह की हैं। एक तो साँस लेना, खाना-पीना, मल-त्याग आदि—इन्हें मनुष्य इकला करता है, वैयक्तिक-रूप से करता है, दूसरी तरह की शर्तें हैं—'काम-भाव' जैसी, जिन्हें मनुष्य इकला नहीं कर सकता, दूसरे के सहयोग से करता है। 'काम-भाव' को तृप्त करने के लिए पुरुष को स्त्री की और स्त्री को पुरुष की जरूरत है, परन्तु 'काम-भाव' का परिणाम 'सन्तानोत्पत्ति' हो जाता है। जब तक 'काम-भाव' से सन्तान न हो, तब तक तो कोई बात नहीं, परन्तु जब 'काम-भाव' का परिणाम सन्तानोत्पत्ति हो जाता है तब स्त्री का पुरुष से यह पूछना स्वाभाविक है कि अब क्या हो, इस सन्तान का पालन कौन करे ?

आज का मानव प्रेम करने का तो वडा शौकीन है, परन्तु अपनी प्रेमिका को गर्भवती देख कर भाग खड़े होने के दॉव-पेंच खेलने लगता है, आदि-काल का मानव ऐसा नहीं था। उसके सामने जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ, तव उसने इस समस्या का हल करने के लिए 'परिवार' की सस्था को जन्म दिया। 'अति-जोवन' (Survi-val) के लिए जैसे सॉस लेना जरूरी है, खाना-पीना जरूरी है, वैसे काम-भाव भी जरूरी है। 'काम-भाव' का आवश्यक परिणाम अगर 'सन्तानोत्पत्ति' है, तो क्यो न उस जिम्मेदारी को निभाया जाय ? इस जिम्मेदारी को निभाने के लिए 'परिवार' की सस्था को जन्म दिया गया। पुरुष ने कहा—मैं जगल से फल-कन्द वटोर कर लाऊँगा, शिकार पकड़ूँगा, मछली मारूँगा, तू घर बैठ कर खाना बनाना, बच्चे को दूध पिलाना, मुझे भी खिलाना। स्त्री जव गर्भवती हो जाती थी तव उससे उतना काम नहीं हो सकता था, वच्चा होने पर महीनो वच्चा ही उसे कोई काम-काज नहीं करने देता था—इस सब से स्त्री-पुरुष का समझौता हो गया और पुरुष तथा स्त्री के काम का आपस में वटवारा हो गया। आज भी यह वटवारा लगभग वैसे-का-वैसा चलता चला आ रहा है, स्त्री घर का काम-काज देखती है, पुरुष बाहर का। जब स्त्री परिवार-नियोजन के पचडे में पड कर सन्तान उत्पन्न करना वद कर देगी, काम-वासना पूरी करेगी परन्तु बच्चे को उत्पन्न नहीं होने देगी, तब तो स्त्री-पुरुष का आदि-काल से चला आ रहा कार्य-क्षेत्र का विभाजन अपने-आप समाप्त हो जायगा, क्योंकि तव स्त्री को घर से बॉध रखने का कोई कारण नहीं रह जायगा, परन्तु जिस आदि-मानव के समाज की हम चर्चा कर रहे है, उसमें तो 'सन्तानोत्पत्ति' जीवन में बाधक होने के स्थान में साधक का काम करती थी। जितने हाथ होते सब कमाई के साधन थे, इसलिए उस समाज में स्त्री-पुरुष का अपने-आप अपने-अपने कार्य-क्षेत्र का वटवारा हो गया था।

स्त्री-पुरुष का जीवन की आधारभूत काम-वासना को तृप्त करने के लिए एक-दूसरे के साथ मिल कर रहने और इससे उत्पन्न होने वाली सन्तान की देख-रेख करने के लिए, एक-दूसरे के भोजन, खाने-पीने की चिंता से 'परिवार' का जन्म हुआ। इस दृष्टि से 'परिवार' मनुष्य की आधारभूत 'प्राणिशास्त्रीय-एषणा' (Biological urge) का क्रियात्मक रूप है। यह रूप आदि-काल के मानव से आज के युग के मानव तक लगातार वैसे-का-वैसा इस एषणा की पूर्ति के लिए चलता चला आ रहा है। 'प्राणीशास्त्र' की सब वातो का मूल 'अति-जीवन' (Survival) है, 'परिवार' का भी मूल 'अति-जीवन' ही है क्योंकि इसके बिना प्राणी इकला रह जाता है, और इकला रहने से सन्तान उत्पन्न न कर सकने के कारण वह तथा उसका वंश नष्ट हो जाता है।

(ग) व्यक्ति के 'अति-जीवन' के लिए परिवार का महत्व (Place of family in man's survival)—व्यक्ति जो-कुछ करता है, अपने स्वार्थ के लिए करता है, अपने जीने के लिए करता है, अपने को नष्ट होने से वचाने के लिए करता है। आधारभूत 'सहज-स्वभाव' (Instincts) भी उसे नष्ट होने से

बचाने के लिए ही है। 'अति-जीवन' (Survival) की इस खोज भाव को तृप्त करते-करते उसने 'परिवार' की सस्था को जन्म दे दिया। परन्तु मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए अगर इकला काम करे, दूसरों के सहयोग से काम न करे, तो उसका अपना स्वार्थ भी पूरा नहीं होता। अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए भी उसे दूसरों के साथ मिल कर काम करना होता है, दूसरों के स्वार्थ को भी सिद्ध करना होता है। 'परिवार' क्या है? 'परिवार' में मनुष्य अपने स्त्री-बच्चों का हित साधने में जुट जाता है, इसलिए स्त्री और बच्चे उसका भी हित साधते हैं। सिर्फ अपनी रक्षा से अपनी रक्षा नहीं होती, जब हम दूसरो की रक्षा भी करते हैं, तब दूसरे भी मिल कर हमारी रक्षा करते हैं। व्यक्ति तो चाहता ही है कि उसकी रक्षा हो, आत्म-रक्षा के लिए ही वह सांस लेता, खाता-पीता—सब-कुछ करता है, परन्तु आत्म-रक्षा में ही लगे रहने से आत्म-रक्षा इतनी नहीं हो पाती जितनी दूसरो की रक्षा करने से आत्म-रक्षा को बल मिलता है। 'परिवार' का इसी दृष्टि से महत्व है। 'परिवार' मनुष्य की आधारभूत 'अति-जीवन' की आकाक्षा को पूर्ण करता है। हम समाज में भी दूसरों का साथ इसलिए देते हैं ताकि दूसरे भी मौके पर हमारा साथ दें। परिवार तथा समाज की आधारभूत यह भावना सर्वत्र, सब तरह के मानव-समाज में पायी जाती है। उदाहरणार्थ, कोचीन की कदार जन-जाति का कोई व्यक्ति जब दूसरों के साथ मिल कर जगल में फल-कन्द चुगने के लिए जाता है, तब वह समूह की भोजन की आकाक्षा को पूर्ण करने में सहायता देता है, परन्तु दूसरों को सहायता देने के साथ वह अपनी सहायता भी कर रहा होता है।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि हमारे 'सहज-स्वभाव' (Instincts) दो तरह के हैं—वैयक्तिक तथा सामाजिक। वैयक्तिक सहज-स्वभाव हैं—खाना-पीना, मल-मूत्र त्याग आदि, सामाजिक सहज-स्वभाव हैं—काम-भाव आदि। वैयक्तिक सहज-स्वभाव का उद्देश्य 'अति-जीवन' (Survival) है, मनुष्य को नष्ट होने से बचाना है, सामाजिक सहज-स्वभाव का भी उद्देश्य 'अति-जीवन' है, उसे नष्ट होने से बचाना है। वैयक्तिक सहज-स्वभाव मनुष्य इकला कर सकता है, सामाजिक सहज-स्वभाव इकला नहीं कर सकता, इसके लिए उसे दूसरों का सहारा लेना पडता है, पुरुष को स्त्री का, स्त्री को पुरुष का, समाज में एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति का। पुरुष स्त्री का सहारा लेकर जब 'परिवार' का निर्माण करता है, या हम किन्हीं व्यक्तियो को मिलाकर जब एक सभा या समाज की रचना करते हैं, तब दूसरे के लिए काम करते हुए हम अपना भी काम कर रहे होते हैं, दूसरों की सहायता करते हुए अपनी सहायता का बीज बो रहे होते हैं, दूसरों की रक्षा में अपनी रक्षा का सूत्रपात कर रहे होते हैं। इसी कारण आदि-काल से 'परिवार' की प्रथा चली आ रही है, क्योंकि यद्यपि इसमें मनुष्य दूसरे के लिए काम करता है, परन्तु दूसरे के लिए करते हुए अपने लिए भी कर जाता है।

२ परिवार की परिभाषा

ऊपर हमने जो बातें लिखीं वे 'परिवार' की आधारभूत बात है। कुछ-कुछ उसी आशय को लेकर 'परिवार' की परिभाषाएँ की जाती है। 'परिवार' की दो-एक परिभाषाएँ हम नीचे दे रहे हैं —

[क] मैक ग्राइवर की व्याख्या—"परिवार उस समह का नाम है जिसमें स्त्री-पुरुष का यौन-सबध पर्याप्त निश्चित हो, और इनका साथ इतनी देर तक रहे जिससे सन्तान उत्पन्न हो जाय और उसका पालन-पोषण भी किया जाय।"

[ख] बरजेज तथा लॉक की व्याख्या—"परिवार व्यक्तियों के उस समह का नाम है जिसमें वे विवाह, रुधिर या दत्तक-सबध से बधे होकर, भिन्न-भिन्न नहीं, अपितु एक गृहस्थी का निर्माण करते है। इस गृहस्थी में वे एक-दूसरे पर पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन के रूप में प्रभाव डालते है और एक-दूसरे के साथ सबध स्थापित करते है। वे सब इस गृहस्थी में एक सामान्य सस्कृति को जन्म देते है और उस सस्कृति को बनाये रखते है।"

३ परिवार की उत्पत्ति
(Origins of Family)

परिवार की उत्पत्ति के सबध में मानव-शास्त्रियो ने बहुत दिमाग़ लडाया है। जैसा हम पहले 'सस्कृति-सवर्धन के भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों' के प्रकरण में 'विकासवाद' का वर्णन करते हुए लिख आये है, १९वीं शताब्दी में विचार के हर क्षेत्र पर 'विकासवाद' की छाप दिखाई देती थी। 'परिवार' पर भी 'विकासवाद' की दृष्टि से विचार किया गया—इसे 'ऐतिहासिक-दृष्टि' भी कहा जाता है। 'ऐतिहासिक' इसलिए क्योंकि किन-किन ऐतिहासिक-प्रक्रियाओं में से गुजरते-गुजरते 'परिवार' वर्तमान रूप में पहुँचा—इस क्रम पर इस दृष्टि में विचार किया जाता है।

'विकासवादी'—अर्थात् 'ऐतिहासिक' एव अन्य दृष्टियों से परिवार की उत्पत्ति के सबध में जो-जो मुख्य-मुख्य विचार है, वे निम्न है —

[क] "The family is a group defined by a sex-relationship precise and enduring to provide for the procreation and upbringing of children" —*MacIver*

[ख] "The family is a group of persons united by the ties of marriage, blood or adoption, constituting a single household, interacting and inter-communicating with each other in their respective social role of husband and wife father and mother, son and daughter, brother and sister and creating and maintaining a common culture"

—*Burgess and Locke*

(क) पितृसत्ताक परिवार का विचार (Patriarchal theory)
(ख) एकविवाही परिवार का विचार (Monogamous theory)
(ग) मिश्रित परिवार का विचार (Mixed family theory)
(घ) मातृसत्ताक परिवार का विचार (Matriarchal theory)
(ङ) विकासात्मक परिवार का विचार (Evolutionary theory)
(च) आर्थिक परिवार का विचार (Economic theory)

(क) पितृसत्ताक परिवार
(PATRIARCHAL FAMILY)

इस विचार के मानने वाले कहते हैं कि शुरू-शुरू में परिवार में पिता की प्रधानता थी। इस सिद्धान्त के पृष्ठ-पोषकों में हैनरी मेन (Henry Maine) मुख्य हैं। इन लोगों का कहना है कि प्राणी-जगत् में नर और मादा साथ-साथ ही नहीं रहते, नर मादा को अपने एकाधिकार में भी रखता है। मादा दूसरे के पास जाये, तो नर को 'ईर्ष्या' होती है। नर क्योंकि मादा से बलवान् होता है, अतः 'एकाधिकार' तथा 'ईर्ष्या'—इन दो भावनाओं के कारण वह मादा पर अपना स्वत्व जमा लेता है। नर के मादा पर स्वत्व जमाने को ही 'पितृ-सत्ताक-परिवार' कहा जाता है। इस प्रकार के परिवार में घर की अन्तिम जिम्मेवारी स्त्री की नहीं, पुरुष की होती है। सम्पत्ति पर अधिकार स्त्री का नहीं, पुरुष का होता है। वंश-परंपरा स्त्री के नाम से नहीं, पुरुष के नाम से चलती है। इस प्रकार के परिवार में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों से हीन होती है। इस सिद्धान्त को मानने वालों का कहना है कि आदि-मानव के समाज में पहले-पहल इसी प्रकार के परिवारों की उत्पत्ति हुई।

'पितृ-सत्ताक-परिवार' में स्त्री अपने ही रुधिर के लोगों में न रह कर अपने से भिन्न रुधिर के लोगों में जाकर रहने लगती है। स्त्री अपने माता-पिता का घर छोड कर, उस घर को छोड कर जिसमें उसी के रुधिर के लोग रहते हैं, पति के घर, अपने से भिन्न रुधिर वाले लोगों के घर जाकर रहती है। इस प्रकार के परिवार को 'सहयोगी-परिवार' (Conjugal family) भी कहा जाता है। इस प्रकार के परिवार में पिता का निवास-स्थान परिवार का केन्द्र हो जाता है, इसलिए स्थान की दृष्टि से यह परिवार 'पितृ-स्थानी' (Patrilocal) कहाता है। इसमें वंश-परंपरा पिता के नाम से चलती है, इसलिए इसे 'पितृ-वंशी' (Patrilineal) भी कहते हैं। क्योंकि इसमें पिता की प्रधानता होती है, इसलिए इसे 'पितृ-सत्ताक' (Patriarchal या Patripotestal) कहते हैं। हिन्दू-समाज में 'पितृ-सत्ताक-परिवार' ही पाये जाते हैं। संसार के अधिकांश भागों में भी इसी प्रकार के परिवार हैं। बृहदारण्यक-उपनिषद् (अध्याय ५, ब्राह्मण ५) में एक वंश-परंपरा दी गई है जिसमें सब वंश पिता के नाम से चले हैं। गोपवन का पुत्र, कौशिक का पुत्र, कौण्डिन्य का पुत्र, शाण्डिल्य का पुत्र—इस प्रकार ५०—

६० पिता के नाम से चले परिवारो का वहाँ वर्णन है। ससार की जिन सभ्यताओ में वश-परपरा किसी पुरुष से गिनी जाती है, वे 'पितृ-सत्ताक' हैं।

(ख) एक-विवाही या वैयक्तिक परिवार
(MONOGAMOUS OR INDIVIDUAL FAMILY)

अभी हमने 'पितृ-सत्ताक-परिवार' का जिक्र किया। इसी 'पितृ-सत्ताक-परिवार' के विचार को लेकर ही 'एक-विवाही-परिवार' के सिद्धान्त को मानने वालों का कहना है कि शुरू-शुरू के परिवार 'पितृ-सत्ताक' ही नहीं थे, 'एक-विवाही' भी थे। अर्थात्, जिन कारणो से आदि-मानव के समाज में परिवार में पिता की प्रधानता हुई, उन्हीं कारणो से एक पुरुष का एक स्त्री रखना भी लाजमी हुआ। इस सिद्धान्त के पृष्ठ-पोषकों में विकासवादी डार्विन के अनुयायी वेस्टरमार्क (Westermarck) का नाम मुख्य है। उनका कहना है कि ताकतवर होने के कारण पुरुष स्त्री पर स्वत्व ही नहीं जमा लेता, परन्तु 'एकाधिकार' तथा 'ईर्ष्या' की भावना के कारण कोई पुरुष अपनी स्त्री को दूसरे के पास जाने भी नहीं देता। इस भावना का परिणाम स्वत 'एक-विवाह' हो जाता है। वेस्टरमार्क का कहना है कि निम्न-स्तर के बन्दरो में भी 'एक-विवाह' की प्रथा ही है, इसलिए विकास की दृष्टि से वेस्टरमार्क के कथनानुसार 'एक-विवाही-परिवार' समाज में पीछे नहीं, शुरू में प्रारभ हुआ। 'एक-विवाही-परिवार' को 'वैयक्तिक-परिवार' भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें एक स्त्री तथा एक पुरुष तथा उनके बच्चो का ही परिवार होता है। वर्तमान युग के परिवार 'पितृ-सत्ताक' तथा 'एक-विवाही' हैं। प्रश्न यही है कि क्या आदि-काल से ही ये ऐसे चले आ रहे हैं, या ये विकास का परिणाम हैं, शुरू में ऐसे नहीं थे। वेस्टरमार्क तो इन्हें शुरू से ही ऐसा मानते हैं।

इस विचार को मानने वालों का कहना है कि आदि-काल का समाज फल-कन्द एकत्रित करने वाली सरल अर्थ-व्यवस्था का समाज था। उसमें एक पुरुष तथा एक स्त्री का नियम ही सभव हो सकता था। एक स्त्री के लिए अनेक पुरुष या एक पुरुष के लिए अनेक स्त्रियों की प्रथा आदिकालीन व्यवस्था नहीं हो सकती, यह अवस्था तो समाज में तब उत्पन्न होती है, जब किसी कारण से पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ कम हो जाँय, या स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष कम हो जाँय। क्योंकि कोई ऐसी युक्ति प्रतीत नहीं होती जिससे हम यह समझें कि आदि-कालीन समाज में पुरुष तथा स्त्रियाँ समान नहीं थीं, इसलिए यही मानना पडता है कि इनकी सख्या बराबर-बराबर थी, और इसलिए एक पुरुष के लिए एक स्त्री की ही सभावना थी, अनेक स्त्रियों की नहीं।

इसका यह मतलब नहीं है कि इस नियम में अपवाद नहीं होता था। अपवाद तो होता ही था, परन्तु अपवाद होना ही इस बात का प्रमाण था कि आदिकालीन समाज का वह युग, जिसे हम 'प्रातिनूतन-काल' (Pleistocene period) कहते आये हैं, 'एक-विवाही-युग' था।

(ग) मिश्रित परिवार
(MIXED FAMILY)

कई लोगो का विचार है कि शुरू-शुरू में स्त्री-पुरुष के सबध में साम्यवाद , जो जिससे चाहता संबध कर सकता था। इस प्रकार का स्त्री-पुरुष का सबध तरह का हो सकता है—एक तो 'सामयिक-सबंध' तथा दूसरा 'यूथ-विवाह'। दोनों सम्बन्ध क्या थे ?

(१) अनिश्चित-सम्बन्ध या नियोग से सन्तान (Temporary union) -अनिश्चित-सबध वहाँ होता था जहाँ विवाह की प्रथा नहीं थी, कोई पुरुष किसी स्त्री से सामयिक सबध स्थापित कर लेता था। महाभारत में श्वेतकेतु के सबध लिखा है कि एक दिन वह ऋषि अपनी माता के निकट बैठे थे, उनके पिता भी ीं पर थे कि एक ब्राह्मण आकर श्वेतकेतु की माता का हाथ पकड़ कर कहने गा—'युवति, तुम मेरे साथ चलो।' श्वेतकेतु को इससे बडा क्रोध आया, परन्तु नके पिता उद्दालक ने कहा—'बेटा, क्रोध मत करो, अत्यन्त प्राचीन-काल से यही लसिला चला आ रहा है, ससार में सभी वर्णों की स्त्रियाँ इस विषय में स्वाधीन सब मनुष्य अपने वर्ण की स्त्रियों के साथ गाय-बैल का-सा आचरण करते है, । जिससे चाहे विहार कर सकता हैं।'[1]

इस प्रकार के अनिश्चित-सबंध की जगह पुत्रोत्पत्ति के लिए सामयिक-बंध की कल्पना भी आदि-काल में थी। ऋषि वेदव्यास से नियोग द्वारा कुरु था पाडु उत्पन्न हुए थे।

परन्तु इन बातो के आधार पर यह कहना युक्ति-सगत नहीं है कि आदि-ाल के मानव का परिवार अनिश्चित संबंध का परिवार था। यह ठीक है कि ागे चलकर अनिश्चित संबंध तथा नियोग का विचार उत्पन्न हुआ, परन्तु इससे ह नहीं कहा जा सकता कि आदि-काल का परिवार भी ऐसाही था। उस समय । परिवार तो दो आदमियों के निश्चित संबध के बिना चल ही नहीं सकता था। ब पुरुष जगल में फल-कन्द चुगने या शिकार पकडने चला गया, तब घर में उसके ाज-सामान तथा बच्चे की देख-भाल करने वाला तो कोई चाहिये ही था। उस मय की आर्थिक-व्यवस्था 'एक-विवाही परिवार' के बिना चल ही नहीं सकती थी।

(२) यूथ-विवाही परिवार (Group marriage)—मिश्रित-परिवार ा दूसरा रूप 'यूथ-विवाही परिवार' कहलाता है। इस प्रकार के परिवार में समूह ी सब स्त्रियाँ समूह के सब पुरुषो से विवाहित समझी जाती है। इसका एक रूप ह भी है जिसमे एक परिवार के सब भाइयों का दूसरे परिवार की सब बहनो से

---

१ मा तात कोपं कार्षीस्त्वं एष धर्म सनातन
अनावृता हि सर्वेषा वर्णानामगना भुवि।
यथा गाव स्थितास्तावत्स्वे स्वे वर्णे तथा प्रजा।
महाभारत, आदिपर्व, १२३ अध्याय, १३-१४ श्लोक

विवाह समझा जाता है, उनमें कौन किस की स्त्री और कौन किसका पति है—यह भेद नहीं होता। परिवार का यह रूप 'बहु-भर्तृता' (Polyandry) तथा 'बहु-भार्यता' (Polygyny) का सम्मिश्रण है। 'बहु-भर्तृता' में एक स्त्री के अनेक पति होते है, 'बहु-भार्यता' में एक पुरुष की अनेक स्त्रियाँ होती है, 'यूथ-विवाह' में अनेक पुरुषों की अनेक स्त्रियाँ होती है। इस प्रकार के विवाहों की सत्ता थी—ऐसा श्री मार्गन (Morgan) का मत है, परन्तु अशिक्षित जातियो में इस प्रकार के विवाह पाये नही जाते। तो फिर इसका क्या प्रमाण है कि ऐसे विवाह कभी होते थे? विकासवादी मानवशास्त्रियो का कहना है कि ऐसी जातियाँ पायी जाती है जिनमें माता के अतिरिक्त सब मासियो को माता ही कहा जाता है, पिता के अतिरिक्त सब चाचो-तायो को पिता कहा जाता है। ऐसा क्यो होता है? ऐसा इसलिए होता है क्योकि किसी समय इनमें यूथ-विवाह की प्रथा थी, उस समय कौन किसका पिता और कौन किसकी माता है—यह तमीज नहीं हो सकती थी, तब से यह प्रथा चली आ रही है। परन्तु ऐसा क्यो माना जाय कि यह प्रथा तब से चली आ रही है? आज जो जीवित फल-मूल एकत्र करके आजीविका निर्वाह करने वाली जन-जातियाँ है, उनमें कहीं यूथ-विवाह की प्रथा नहीं पायी जाती, और न उस समय की आर्थिक-व्यवस्था के यह अनुरूप बैठती है, ऐसी हालत में 'यूथ-विवाह' का विचार एक कल्पनामात्र प्रतीत होता है।

(घ) मातृ-सत्ताक परिवार

(MATRIARCHAL FAMILY)

'मिश्रित-परिवार' के विचार की उपज 'मातृ-सत्ताक-परिवार' का विचार है। इस विचार के मानने वालो का कहना है कि जब शुरू-शुरू में विवाह नहीं था, अनेक स्त्रियाँ अनेक पुरुषो के साथ रहती थीं, सब का बिना भेद-भाव के आपस में सबध हो सकता था, तो एसी अवस्था में यह तो कहा जा सकता था कि किस स्त्री का कौन-सा बच्चा है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता था कि किस पुरुष का कौन-सा बच्चा है। बच्चे के साथ पिता का सबध न जोड सकने के कारण पिता की परिवार में कोई स्थिति नहीं कही जा सकती थी। 'यूथ-विवाह' में पिता का पता ही नहीं था, इसलिए पिता की कोई स्थिति ही नहीं थी, सिर्फ माता की स्थिति थी, उसी की मुख्यता थी, इसलिए इस विचार के मानने वालो के अनुसार आदि-समाज 'मातृ-सत्ताक' था। इस विचार के समर्थकों में ब्रिफाल्ट (Briffault) तथा टाइलर (Tylor) का नाम मुख्य है।

'मातृ-सत्ताक-परिवार' में माता की प्रधानता किस प्रकार रहती है? मानव-शास्त्रियों के अध्ययन में कई ऐसे परिवार सामने आये है जिनमें स्त्री, विवाह के बाद भी अपने माता-पिता, भाई-बहन के पास ही रहती है, उन लोगो के पास रहती है जिन के साथ उसका रुधिर का सबध है, अपना घर छोड कर पति के घर नहीं जाती, उन लोगो में नहीं जाती जिन लोगो के साथ उसका रुधिर का सबध नहीं होता। पति, पत्नी के घर आ जाता है, पत्नी के साथ रहता है, परन्तु

वच्चो पर माता का ही अधिकार होता है, उन लोगो का अधिकार होता है जिनका वच्चो की माँ से रुधिर का नाता होता है। लडकी अपने माँ-वाप के घर रहती है, उसके वच्चो की देख-भाल लडकी का भाई, लडकी के माता-पिता करते हैं। 'पितृसत्ताक-परिवार' में स्त्री अपने से भिन्न रुधिर के लोगो में चली जाती है, उस प्रकार के परिवार को हमने 'सहयोगी-परिवार' (Conjugal family) कहा था, परन्तु 'मातृसत्ताक-परिवार' में स्त्री अपने ही रुधिर के लोगों के बीच रहती है, इस प्रकार के परिवार को 'समान-रुधिर-परिवार' (Consanguineous family) कहा जाता है। इस प्रकार के परिवार में माता का निवास-स्थान परिवार का केन्द्र हो जाता है, इसलिए स्थान की दृष्टि से यह परिवार 'मातृ-स्थानी' (Matrilocal) कहाता है। इसमें वश-परपरा माता के नाम से चलती है, इस-लिए इसे 'मातृ-वशी' (Matrilineal) भी कहते हैं। क्योंकि इसमें माता की प्रधानता होती है, इसलिए इसे 'मातृ-सत्ताक' (Matriarchal या Matri-potestal) कहते हैं।

'मातृ-सत्ताक' परिवार क्योंकि अशिक्षित-जातियो में मिलते हैं, और ये आजकल के प्रचलित परिवारो से विल्कुल उल्टे हैं, इसलिए इनका मानव-शास्त्र में वहुत महत्त्व है। जैसे हम 'पितृ-सत्ताक-परिवारो' का वर्णन करते हुए उप-निषद् का एक उद्धरण दे आये है, जिसमें पिता के नाम पर चले वशो का परिगणन है, वैसे वृहदारण्यक उपनिषद् (अध्याय ६, व्राह्मण ६) में 'मातृ-सत्ताक-वशों' की भी सूची दी हुई है, जो अपने देश में प्राचीन-काल में 'मातृ-सत्ताक-परिवारों' की सत्ता को सिद्ध करती है। इस सूची में पौतिमाषीपुत्र, कात्यायनीपुत्र, गौतमी-पुत्र, भारद्वाजीपुत्र, पाराशरीपुत्र—इस प्रकार ५०–६० माता के नाम से चले परिवारो का नाम पाया जाता है। भारत में आज भी मातृ-सत्ताक-परिवार पाये जाते हैं। असम में खासी जन-जाति वसती है। इसमें विवाह के वाद लडका लडकी के माता-पिता के घर रहने के लिए चला जाता है। वहाँ रहता हुआ वह जो-कुछ कमाता है अपनी सास के हाथ में रख देता है। लडकी की माँ घर का सारा खर्च चलाती है। एक-दो वच्चे हो जाने के वाद अगर उनके आपसी संवध सन्तोषजनक होते हैं, तो वे अपना स्वतत्र घर वना कर वहाँ रहने लगते है। खासी लोगो में सम्पत्ति भी पिता से पुत्र को मिलने के वजाय माता से पुत्री को मिलती है, और उसमें भी सम्पत्ति का सबसे वडा भाग सब से छोटी लडकी को मिलता है। अगर किसी व्यक्ति का परिचय कराना हो, तो असम की खासी जाति में यह नहीं कहा जाता कि यह अमुक पुरुष का पुत्र या पौत्र है, यह कहा जाता है कि यह अमुक स्त्री का अनुवशज है। पति को सिर्फ 'यू शॉंग खा' कहा जाता है, जिसका अर्थ है—'वच्चे पैदा करने वाला'। इस जन-जाति में पति को पत्नी के परिवार का पूरी तरह से सदस्य भी नहीं माना जाता। परिवार के धार्मिक-कृत्यों में पति का कोई स्थान नहीं होता। क्योंकि माता से उत्तराधिकार के रूप में सब से छोटी लडकी को सम्पत्ति मिलती है इसलिए वही घर के सब धार्मिक-कृत्यो तथा विधि-

विवाह समझा जाता है, उनमें कौन किस की स्त्री और कौन किसका पति है—यह भेद नहीं होता। परिवार का यह रूप 'बहु-भर्तृता' (Polyandry) तथा 'बहु-भार्यता' (Polygyny) का सम्मिश्रण है। 'बहु-भर्तृता' में एक स्त्री के अनेक पति होते हैं, 'बहु-भार्यता' में एक पुरुष की अनेक स्त्रियाँ होती हैं, 'यूथ-विवाह' में अनेक पुरुषों की अनेक स्त्रियाँ होती हैं। इस प्रकार के विवाहों की सत्ता थी—ऐसा श्री मार्गन (Morgan) का मत है, परन्तु अशिक्षित जातियो में इस प्रकार के विवाह पाये नहीं जाते। तो फिर इसका क्या प्रमाण है कि ऐसे विवाह कभी होते थे? विकासवादी मानवशास्त्रियों का कहना है कि ऐसी जातियाँ पायी जाती हैं जिनमे माता के अतिरिक्त सब मासियो को माता ही कहा जाता है, पिता के अतिरिक्त सब चाचो-तायो को पिता कहा जाता है। ऐसा क्यो होता है? ऐसा इसलिए होता है क्योंकि किसी समय इनमें यूथ-विवाह की प्रथा थी, उस समय कौन किसका पिता और कौन किसकी माता है—यह तमीज नहीं हो सकती थी, तब से यह प्रथा चली आ रही है। परन्तु ऐसा क्यो माना जाय कि यह प्रथा तब से चली आ रही है? आज जो जीवित फल-मूल एकत्र करके आजीविका निर्वाह करने वाली जन-जातियाँ हैं, उनमें कही यूथ-विवाह की प्रथा नहीं पायी जाती, और न उस समय की आर्थिक-व्यवस्था के यह अनुरूप बैठती है, ऐसी हालत में 'यूथ-विवाह' का विचार एक कल्पनामात्र प्रतीत होता है।

(घ) मातृ-सत्ताक परिवार
(MATRIARCHAL FAMILY)

'मिश्रित-परिवार' के विचार की उपज 'मातृ-सत्ताक-परिवार' का विचार है। इस विचार के मानने वालो का कहना है कि जब शुरू-शुरू में विवाह नहीं था, अनेक स्त्रियाँ अनेक पुरुषो के साथ रहती थीं, सब का बिना भेद-भाव के आपस में सबध हो सकता था, तो एसी अवस्था में यह तो कहा जा सकता था कि किस स्त्री का कौन-सा बच्चा है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता था कि किस पुरुष का कौन-सा बच्चा है। बच्चे के साथ पिता का सबध न जोड सकने के कारण पिता की परिवार मे कोई स्थिति नहीं कही जा सकती थी। 'यूथ-विवाह' मे पिता का पता ही नही था, इसलिए पिता की कोई स्थिति ही नहीं थी, सिर्फ माता की स्थिति थी, उसी की मुख्यता थी, इसलिए इस विचार के मानने वालों के अनुसार आदि-समाज 'मातृ-सत्ताक' था। इस विचार के समर्थको मे ब्रिफाल्ट (Briffault) तथा टाइलर (Tylor) का नाम मुख्य है।

'मातृ-सत्ताक-परिवार' मे माता की प्रधानता किस प्रकार रहती है? मानव-शास्त्रियो के अध्ययन मे कई ऐसे परिवार सामने आये है जिनमें स्त्री, विवाह के बाद भी अपने माता-पिता, भाई-बहन के पास ही रहती है, उन लोगो के पास रहती है जिन के साथ उसका रुधिर का सबध है, अपना घर छोड कर पति के घर नहीं जाती, उन लोगों मे नहीं जाती जिन लोगों के साथ उसका रुधिर का सबध नहीं होता। पति, पत्नी के घर आ जाता है, पत्नी के साथ रहता है, परन्तु

च्चो पर माता का ही अधिकार होता है, उन लोगो का अधिकार होता है तनका बच्चों की माँ से रुधिर का नाता होता है। लडकी अपने माँ-बाप के घर हती है, उसके बच्चो की देख-भाल लडकी का भाई, लडकी के माता-पिता करते हैं। पतृसत्ताक-परिवार' में स्त्री अपने से भिन्न रुधिर के लोगों में चली जाती है, उस कार के परिवार को हमने 'सहयोगी-परिवार' (Conjugal family) कहा ।, परन्तु 'मातृसत्ताक-परिवार' में स्त्री अपने ही रुधिर के लोगो के बीच रहती , इस प्रकार के परिवार को 'समान-रुधिर-परिवार' (Consanguineous amily) कहा जाता है। इस प्रकार के परिवार में माता का निवास-स्थान रिवार का केन्द्र हो जाता है, इसलिए स्थान की दृष्टि से यह परिवार 'मातृ-स्थानी' Matrilocal) कहाता है। इसमें वंश-परंपरा माता के नाम मे चलती है, इस-लए इसे 'मातृ-वंशी' (Matrilineal) भी कहते हैं। क्योंकि इसमें माता की धानता होती है, इसलिए इसे 'मातृ-सत्ताक' (Matriarchal या Matri-otestal) कहते हैं।

'मातृ-सत्ताक' परिवार क्योंकि अशिक्षित-जातियो में मिलते हैं, और आजकल के प्रचलित परिवारो से बिल्कुल उल्टे हैं, इसलिए इनका मानव-शास्त्र बहुत महत्त्व है। जैसे हम 'पितृ-सत्ताक-परिवारो' का वर्णन करते हुए उप-षद् का एक उद्धरण दे आये हैं, जिसमें पिता के नाम पर चले वंशो का परिगणन , वैसे बृहदारण्यक उपनिषद् (अध्याय ६, ब्राह्मण ६) में 'मातृ-सत्ताक-वंशो' ी भी सूची दी हुई है, जो अपने देश में प्राचीन-काल में 'मातृ-सत्ताक-परिवारों' ी सत्ता को सिद्ध करती है। इस सूची में पौतिमाषीपुत्र, कात्यायनीपुत्र, गौतमी-त्र, भारद्वाजीपुत्र, पाराशरीपुत्र—इस प्रकार ५०–६० माता के नाम से चले रिवारों का नाम पाया जाता है। भारत में आज भी मातृ-सत्ताक-परिवार पाये ाते हैं। असम में खासी जन-जाति बसती है। इसमें विवाह के बाद लडका डकी के माता-पिता के घर रहने के लिए चला जाता है। वहाँ रहता हुआ ह जो-कुछ कमाता है अपनी सास के हाथ में रख देता है। लडकी की माँ घर ा सारा खर्च चलाती है। एक-दो बच्चे हो जाने के बाद अगर उनके आपसी संबंध न्तोपजनक होते हैं, तो वे अपना स्वतंत्र घर बना कर वहाँ रहने लगते हैं। खासी ोगो में सम्पत्ति भी पिता से पुत्र को मिलने के बजाय माता से पुत्री को मिलती है, ौर उसमें भी सम्पत्ति का सबसे बडा भाग सब से छोटी लडकी को मिलता है। गर किसी व्यक्ति का परिचय कराना हो, तो असम की खासी जाति में यह हीं कहा जाता कि यह अमुक पुरुष का पुत्र या पौत्र है, यह कहा जाता है कि यह मुक स्त्री का अनुवंशज है। पति को सिर्फ 'यू शॉग खा' कहा जाता है, जिसका र्थ है—'बच्चे पैदा करने वाला'। इस जन-जाति में पति को पत्नी के परिवार ा पूरी तरह से सदस्य भी नहीं माना जाता। परिवार के धार्मिक-कृत्यो में पति ा कोई स्थान नहीं होता। क्योंकि माता से उत्तराधिकार के रूप में सब से छोटी लडकी को सम्पत्ति मिलती है इसलिए वही घर के सब धार्मिक-कृत्यो तथा विधि-

विधानो की अधिकारिणी होती है। दूसरी लडकियो को भी माता की सम्पत्ति का कुछ हिस्सा मिलता है, परन्तु गहने, मकान आदि वहुमूल्य वस्तुएँ सव से छोटी लडकी को ही मिलते हैं। अन्य वहनो की सलाह के विना वह उन्हें वेच नहीं सकती। घर की मरम्मत आदि के लिए दूसरी वहनो को भी अपना-अपना हिस्सा देना पडता है। अगर सव से छोटी लडकी मर जाय या धर्म-परिवर्तन कर ले, तो उससे वडी लडकी उत्तराधिकार की अधिकारिणी हो जाती है। विवाह से पहले पुरुष अपनी सारी कमाई अपनी माता के हाथ मे रख देता है, और विवाह के वाद अपनी स्त्री के हाथ मे। अगर विवाह के वाद पुरुष मर जाय, तो उसकी सव जायदाद सव से छोटी लडकी को मिल जाती है। खासी की तरह असम में ब्रह्मपुत्रा नदी के दक्षिणी भाग मे एक दूसरी अशिक्षित जाति निवास करती है जिसका नाम गारो है। इसमे भी उत्तराधिकार पुत्र को न मिलकर पुत्री को मिलता है, परन्तु इस जाति में यह नियम है कि लडकी अपनी इच्छा से जहाँ चाहे वहाँ विवाह नहीं कर सकती, उसे अपनी वुआ के लडके से विवाह करना होता है। इस प्रकार इन दो परिवारो के मिलने से एक परिवार मे तो सम्पत्ति माता से लडकी को मिलती है, परन्तु दूसरे परिवार मे सम्पत्ति पर नियन्त्रण वुआ के लडके के हाथ मे आ जाता है। इस व्यवस्था में लडके ने मामा की लडकी से शादी की होती है और मामी की सम्पत्ति उसके पास आयी होती है, इसलिए अगर मामा मर जाय तो लडकी के अतिरिक्त अपनी मामी अर्थात सास से भी उसे शादी करनी पडती है। इन 'मातृ-सत्ताक-परिवारो' मे पुरुष का सामाजिक तथा वैधानिक कर्तव्य अपनी वहन के वच्चो की देख-रेख करना, उनकी परवरिश करना है। अपने वाल-वच्चो का मोह वहन के वच्चों की भलाई के मार्ग में इन लोगो के जीवन मे रुकावट नहीं वनता। असम के अतिरिक्त मलावार में भी कई जन-जातियो में 'मातृ-सत्ताक-परिवार' पाये जाते हैं। मलाबार की नायर जन-जाति इसका उदाहरण है। नायरो मे पति को सामाजिक-व्यवस्था में कोई स्थान नहीं, इस दृष्टि से इस जाति में परिवार में पिता का भी कुछ महत्व नहीं। दक्षिण की कादर, इरुला, पुलयन, होलेया, मदिगा, वेल्लेला जन-जातियों में भी माता की प्रधानता है।

'मातृ-सत्ताक-परिवार' तभी तक वना रह सकता है जब तक कोई समाज कृषि-सभ्यता तक नहीं पहुँचता। जव तक मनुष्य शिकार से या पशु-पालन से जीवन-निर्वाह करता है, तब तक तो यह सभव हो सकता है कि पति अपने घर को छोड कर पत्नी के घर आता-जाता रहे, परन्तु जब मनुष्य ने कृषि का आविष्कार किया तव पति के लिए पत्नी के घर आना-जाना कठिन हो गया। उस अवस्था में वह अपने कारोवार में, खेती-वाडी मे इतना व्यस्त रहता था कि अपने धधों से ही उसे फुर्सत नहीं मिलती थी। जमीन को साफ करना, मट्टी खोदना, वीज वोना, जानवरों से खेती की रक्षा करना, पकने पर काटना—ये सब इतने जजाल के काम थे, जिनके विना उसका जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता था, परन्तु जिनमें लग जाने पर उसके पास फुर्सत भी नहीं रहती थी। इसलिए 'कृषि-सभ्यता'

से पहले अगर 'मातृ-सत्ताक' तथा 'पितृ-सत्ताक' दोनों प्रकार के परिवार रहे भी होंगे, तो भी कृषि के आविष्कार के बाद तो 'मातृ-सत्ताक-परिवार' भी 'पितृ-सत्ताक' ही बन गया होगा। उस हालत में पत्नी को अपने रुधिर के परिवार को छोडना पडा होगा, इसलिए छोडना पडा होगा कि पति को पत्नी के परिवार में जाने की फुर्सत ही बहुत कम रही होगी। इस प्रकार जहाँ-जहाँ 'मातृ-सत्ताक-परिवार' रहा होगा, वह आर्थिक-कारणों से 'पितृ-सत्ताक' में बदल गया होगा।

(ड) विकासात्मक परिवार
(EVOLUTIONARY FAMILY)

मॉर्गन (Morgan) महोदय ने उक्त सब सिद्धान्तों से भिन्न सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि विकास की प्रक्रिया में से गुजरती हुई 'परिवार' की संस्था पाँच क्रमों में से गुज़री है। ये पाँच क्रम निम्न हैं —

(१) समान-रुधिर-परिवार (Consanguineous family)—यह शुरू-शुरू की अवस्था है जिसमें अपने समुदाय के भीतर ही विवाह-संबंध होता था, एक रुधिर वालों में, बाहर का रुधिर समुदाय में प्रवेश नहीं पा सकता था। इसमें एक ही गोत्र के लोग विवाह करते थे, भाई-बहन, भतीजे-भतीजी का संबंध होता था, इनमें आपस में भेद नहीं था। इस प्रकार के परिवार में जिन लोगों का आपस में रुधिर का संबंध होता है उनकी पारिवारिक-संगठन में प्रधानता होती है, उनका पारिवारिक-संगठन में मुख्य स्थान होता है, जिनका रुधिर का संबंध नहीं होता, उनका इस प्रकार के परिवार में गौण स्थान होता है, यहां तक कि पति का भी पारिवारिक-संगठन में कोई स्थान नहीं होता। खासी जाति का उदाहरण हम अभी दे आये हैं। इससे उल्टी व्यवस्था 'सहयोगी-परिवार' (Conjugal family) में होती है, ऐसे परिवार जैसे आजकल हम लोगों के हैं। 'सहयोगी-परिवार' में पति-पत्नी तथा पुत्र—इन तीन का स्थान मुख्य माना जाता है, इन से रुधिर का संबंध रखने वाले अन्य सगे-संबंधियों का स्थान गौण माना जाता है। संसार में अधिकतर समान-रुधिर वालों का विवाह-संबंध निषिद्ध माना जाता है।

(२) यूथ-परिवार, मिश्रित परिवार या समूह-परिवार (Punaluant family)—मॉर्गन के अनुसार परिवार के विकास की यह दूसरी अवस्था है जिसमें समान-रुधिर वालों में तो विवाह बन्द हो गया, परन्तु एक परिवार के सब भाइयों का विवाह दूसरे परिवार की सब बहनों के साथ होना शुरू हो गया। ये भाई सब सगे भाई हों यह जरूरी नहीं—ये सगे भाई या रिश्ते के भाई हो सकते हैं, बहनें भी सगी ही हों यह जरूरी नहीं—ये सगी या रिश्ते की बहनें हो सकती हैं। इस विवाह में एक परिवार के सब भाइयों का दूसरे परिवार की सब बहनों के साथ विवाह हो जाने के बाद किसी विशेष भाई की कोई स्त्री नहीं होती थी, सब भाइयों के लिए सब बहनें और सब बहनों के लिए सब भाई पत्नी तथा पति समझे जाते थे। इस प्रकार का कोई परिवार था भी या नहीं था, इसमें सन्देह है, परन्तु कई

जन-जातियो में चाचा-ताया, चाची-तायी शब्दो का न होना, इनके स्थान में चाचा-ताया तथा चाची-तायी के लिए भी पिता या माता---इन शब्दों का ही होना इन लोगो की दृष्टि में सिद्ध करता है कि इस प्रकार की प्रथा कई जन-जातियो में थी। इसके उत्तर में कहा जाता है कि भाषा के आधार पर यह परिणाम निकालना सगत नहीं, भाषा की यह कमी किसी और कारण से भी हो सकती है, परन्तु जब जीवित जन-जातियो में कहीं इस प्रकार के 'यूथ-विवाह' नहीं मिलते, तो आदि-काल के इस प्रकार के पारिवारिक-समूहो का होना बहुत सन्देहास्पद है।

(३) सिन्डेस्मियन-परिवार (Syndasmian family)---मॉर्गन के अनुसार परिवार के विकास की यह तीसरी अवस्था है। इसमें 'यूथ-विवाह' होना, अर्थात् अनेक भाइयों का अनेक बहनो से एक-साथ विवाह होना तो बन्द हो गया, एक पुरुष एक स्त्री से विवाह करने लगा, परन्तु परिवार में जितनी भी स्त्रिया थीं, उनमे से किसी से भी उसका सबध हो सकता था, यह जरूरी नहीं था कि जिस स्त्री से उसका विवाह हुआ है, उसी से वह यौन-सबध करे, अन्य किसी से न करे।

(४) पितृ-सत्ताक-परिवार (Patriarchal family)---परिवार के विकास मे चौथी अवस्था वह है जिसमे पुरुष का सबध तो विवाहिता पत्नी से ही होता था, परन्तु विवाह वह अनेक स्त्रियो से कर सकता था। इस परिवार म हर एक स्त्री दूसरी से पृथक् रहती थी और परिवार में पुरुष की ही प्रधानता रहती थी। इस पारिवारिक-रचना में भी स्त्री की स्थिति पहली अवस्थाओ की तरह निम्न-स्तर की ही रहती है।

(५) एकविवाही-परिवार (Monogamous family)---परिवार के विकास की पाँचवीं अवस्था वह है जिसमे पुरुष अनेक विवाह करने के स्थान मे सिर्फ एक स्त्री से विवाह कर सकता है, स्त्री भी सिर्फ एक पुरुष से विवाह कर सकती है। इस प्रकार की पारिवारिक रचना मे स्त्री की स्थिति ऊँची होने लगती है। वर्तमान-युग के परिवार इसी अवस्था में से गुजर रहे है।

मॉर्गन का उक्त सिद्धान्त विकासवाद पर आश्रित है, इसलिए इसे 'ऐतिहासिक-वाद' (Historical theory) भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त के मानने वालो का कथन है कि ऐतिहासिक दृष्टि से 'परिवार' की सस्था इन पॉच क्रमों मे से गुजरती हुई विकसित हुई है। मॉर्गन का कथन बहुत-कुछ कल्पना पर आश्रित है। इस कल्पना का विकासवाद की ही दृष्टि से वेस्टरमार्क (Wester-marck) ने खडन किया है। उनका कथन है कि प्रकृति में पशु-पक्षी तक मे 'एक-विवाही-परिवार' पाये जाते है, इसलिए शुरू-शुरू मे 'एक-विवाही' के अतिरिक्त परिवार का दूसरा कोई रूप हो ही नही सकता! ब्रिफाल्ट (Briffault) भी विकासवाद का ही सहारा लेता है, परन्तु वह वेस्टरमार्क का खडन करता हुआ कहता है कि आदि-समाज मे माता की प्रधानता थी, इसलिए 'मातृ-सत्ताक-परिवार' से आदि-मानव चला।

आजकल के मानव-शास्त्री 'परिवार' की उत्पत्ति तथा विकास के प्रश्न को अधिक महत्व नहीं देते। वे इतने मात्र से सन्तुष्ट हो जाते हैं कि किसी भी अशिक्षित समाज में ऐसा रूप नहीं दिखाई देता जिसमें परिवार की किसी-न-किसी रूप में सत्ता न विद्यमान हो। ऑस्ट्रेलिया की अशिक्षित जातियाँ अत्यन्त प्राचीन काल की मानी जाती हैं। अब अडामान टापू की जातियो को इन से भी पुराना माना जाने लगा है। इन तक में परिवार की किसी-न-किसी रूप में सत्ता मौजूद है। भारत में कदार, पनियन, मालपन्तरम, चेंचू, विरहोर बहुत पुरानी जन-जातियाँ हैं—इनमें भी 'परिवार' की सत्ता पायी जाती है। 'परिवार' का आधार मनुष्य की 'मौलिक-एषणाएँ' (Drives, urges) हैं, 'स्वाभाविक-प्रवृत्तियाँ' (Instincts) हैं, 'अति-जीवन' (Survival) की आकाक्षा है, इसलिए जब से मनुष्य का मनुष्य से सपर्क हुआ, जब से मनुष्य ने सस्कृति को जन्म दिया, तब से 'परिवार' की यह सस्था चली आ रही है। परिवार की सस्था भिन्न-भिन्न आर्थिक-व्यवस्थाओ में से गुज़री, कभी मनुष्य आखेटक जीवन व्यतीत करता था, कभी कृषि करने लगा, कभी पशु पालने लगा, आजकल कारखाने चलाने लगा है—इन सब के कारण 'परिवार' के सगठन, इसकी रचना में भेद आता रहा है और आज भी आ रहा है, परन्तु 'परिवार' सदा था और सदा भिन्न-भिन्न रूपो में बना रहेगा।

(च) आर्थिक-परिवार
(ECONOMIC FAMILY)

परिवार की उत्पत्ति के विषय में लिटन (Linton) का विचार यह है कि परिवार पुरुष तथा स्त्री की आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति का एक क्रियात्मक साधन है। यह समझना कि विकास की एक सीधी रेखा में परिवार की सस्था का विकास हुआ, ग़लत है। डार्विन, मार्गन तथा अन्य विकासवादी तो यही कहते हैं कि अनिश्चित अवस्था से विकास निश्चित अवस्था की तरफ जा रहा है, विविधता से एकता की तरफ जा रहा है—इसी कारण स्त्री-पुरुष के अनिश्चित वैवाहिक सबध के विकसित होते-होते निश्चित सबध पैदा हुए। लिटन इस बात को नहीं मानता। मानव जातियो के इतिहास में सब जगह सामाजिक-सगठनो का एक-सा विकास नहीं हुआ, न परिवार का सब जगह एक-सा विकास हुआ है। सामाजिक-सस्थाएँ मनुष्य की अन्तर्निहित इच्छाओ, आकाक्षाओ, एषणाओं को पूरा करने के प्रति किये गये प्रयत्नो का परिणाम हैं। परिवार भी मनुष्य की किसी इच्छा को पूरा करने का मानव-समाज के प्रयत्न का परिणाम है। वह कौन-सी मनुष्य की इच्छा है जिसे परिवार की सस्था पूरा करती है? वह इच्छा है—'आर्थिक'। बच्चा असहाय होता है, स्त्री बच्चे की देख-रेख में सहायता चाहती है, रक्षा चाहती है। इन दोनो असहाय प्राणियो के जीवन का प्रश्न, इनकी आर्थिक-समस्या कैसे हल हो? आर्थिक-समस्या का यही अर्थ नहीं है कि जब पैसा दीखने लगे तभी उसे आर्थिक परिभाषा का रूप दिया जा सके। आदि-काल का मानव जब

फल-मूल एकत्रित करने के लिए जगल जाता था, तब भी वह आर्थिक-समस्या को लेकर ही घर से निकलता था। अपनी, अपनी स्त्री, अपने बच्चे की आर्थिक समस्या को हल करने के लिए परिवार की सस्था को जन्म मिला। इस सस्था में कहीं माता को प्रधान माना गया, कहीं पिता को प्रधान माना गया, कहीं एक ढग से यह सस्था बनी, कहीं दूसरे ढग से, सब जगह इस सस्था का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ, एक-साथ भी हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं, परन्तु विकास वादियों के कहने के अनुसार किसी एक निश्चित रेखा में—'एक-दिशा-विकास' (Unilinear evolution) नहीं हुआ।

४ परिवार के प्रकार
(Forms of the Family)

'परिवार' के अनेक प्रकार हैं जिनमें से बहुतो का वर्णन तो हम ऊपर कर आये हैं, परन्तु इन तथा इनके अतिरिक्त 'परिवार' के अन्य रूपो को एक जगह दे देने से विषय अधिक स्पष्ट हो जायगा, इसलिए हम यहाँ 'परिवार' के प्रकारो की सक्षिप्त सूची दे रहे हैं —

(क) मातृ-सत्ताक तथा पितृ-सत्ताक परिवार (Matriarchal and Patriarchal family)—यह भेद 'परिवार' में माता या पिता की प्रधानता की दृष्टि से किया जाता है। मातृ-प्रधान परिवार 'मातृ-सत्ताक' तथा पितृ प्रधान परिवार 'पितृ-सत्ताक' कहाते हैं। इन दोनो के दृष्टान्त हम ऊपर दे आये हैं।

(ख) मातृ-वशी तथा पितृ-वशी परिवार (Matrilineal and Patrilineal family)—यह भेद परिवार में माता से या पिता से वश-परपरा चलने की दृष्टि से किया जाता है। मातृ-प्रधान परिवार में माता के तथा पितृ प्रधान परिवार में पिता के नाम से वश-परपरा चलती है।

(ग) मातृ-स्थानी तथा पितृ-स्थानी परिवार (Matrilocal and Patrilocal family)—यह भेद माता के घर या पिता के घर रहने की दृष्टि से किया गया है। मातृ-प्रधान परिवार में माता के तथा पितृ-प्रधान परिवार में पिता के घर बच्चे रहते हैं।

(घ) मातृ-नामी तथा पितृ-नामी परिवार (Matronymic and Patronymic family)—जो परिवार मातृ-प्रधान हैं, वे मातृ-नामी और जो पितृ-प्रधान हैं, वे पितृ-नामी कहाते हैं क्योंकि उन्हीं से परिवार का नाम चलता है।

मातृ-सत्ताक, मातृ-वशी, मातृ-स्थानी तथा मातृ-नामी एव पितृ-सत्ताक, पितृ-वशी, पितृ-स्थानी तथा पितृ-नामी एक ही तरह के दो वर्गीकरणों के नाम हैं।

(ङ) समान-रुधिर तथा सहयोगी परिवार (Consanguineous and Conjugal family)—जिस परिवार में एक ही रुधिर के व्यक्ति शादी कर सकते हैं, वे 'समान-रुधिर', तथा जिसमें एक ही रुधिर के नहीं, अपितु भिन्न रुधिर के व्यक्ति पति-पत्नी बनते हैं, वे 'सहयोगी' परिवार कहाते हैं। 'समान-रुधिर-

परिवार' में रुधिर की समानता पर बल दिया जाता है, विवाह-बन्धन पर नहीं, सहयोगी-परिवार' में विवाह-बन्धन पर बल दिया जाता है, रुधिर की समानता पर हीं। यही कारण है कि 'समान-रुधिर परिवार' सुप्रजनन-शास्त्र की दृष्टि से उचित न होने पर भी परिवार की स्थिरता को बनाये रखते है, 'सहयोगी-परिवार' सुप्रजनन-शास्त्र की दृष्टि से उचित होने पर भी परिवार की स्थिरता को नहीं रख पाते। एक खून का व्यक्ति परिवार छोड कर कहाँ जायगा, भिन्न रुधिर का व्यक्ति तो परिवार छोड कर कहीं भी शादी कर सकता है।

(च) सयुक्त तथा मूल परिवार (Joint and Immediate or Nuclear family)—जिस परिवार में एक ही वश के सब भाई मिल कर रहते है, सब की आमदनी बड़े को दे दी जाती है, वही सब का कर्ता-धर्ता होता है, वह 'सयुक्त' तथा जिसमें पति-पत्नी तथा सन्तान—बस इतने ही जन होते है, वह 'मूल-परिवार' कहाता है।

(छ) सयुक्त तथा विस्तृत परिवार (Joint and Extended family)—'सयुक्त-परिवार' में एक ही वश के सब भाई एक बड़े के नीचे एक-साथ रहते है, परन्तु आज की आर्थिक-व्यवस्था में ऐसा सभव नहीं रहा। ऐसी हालत में एक ही वश के भाई-भतीजे अपना-अपना काम-धधा अलग-अलग करते है, एक-साथ भी नहीं रहते, परन्तु एक पूर्वज की सन्तान होने के कारण वे एक दूसरे के साथ सामाजिक-सबध में बधे रहते है। इसे 'विस्तृत-परिवार' कहा जाता है। इस 'विस्तृत-परिवार' में चाचा-ताया, चाची-तायी, उनके लडके-लड़कियाँ—ये सब आ जाते है। एक तरह से जब 'सयुक्त-परिवार' बहुत फैल जाता है, त उसे 'विस्तृत-परिवार' कह दिया जाता है।

(ज) बहु-भर्तृता का परिवार (Polyandrous family)—जि परिवार में एक पत्नी के अनेक पति होते है, वह 'बहु-भर्तृता' का परिवार कह जाता है। देहरादून के जौनसार इलाके में खासा जन-जाति के इस प्रकार परिवार है। इस प्रकार के परिवारो का वर्णन हम 'विवाह'-प्रकरण में करेंगे।

(झ) बहु-भार्यता का परिवार (Polygynous family)—जि परिवार में एक पति की अनेक पत्नियाँ हो, वह 'बहु-भार्यता' का परिवार कह जाता है। इस प्रकार का परिवार मुसलमानों में अधिक पाया जाता ह। हिन्दुअ में भी ऐसे परिवार है, परन्तु अब नये कानून बनने के कारण यह प्रथा अवैधानि हो गई है। इसकी भी चर्चा हम विवाह प्रकरण में करेंगे।

(ञ) एक-विवाही परिवार (Monogamous family)—एक पुरु तथा एक स्त्री—इस प्रकार का परिवार एक-विवाही कहलाता है। आज स मानव-समाज इसी की तरफ बढ रहा है, यद्यपि अनेक मानव-शास्त्रियो का कहन है कि आदि-काल से यही परिवार चला आ रहा है। इस प्रकार के विवाह की चच भी विवाह के प्रकरण में की जायगी।

५ परिवार की विशेषताएँ
(Characteristics of the family)

हमने देखा कि 'परिवार' की उत्पत्ति कैसे हुई, उसके मुख्य-मुख्य प्रकार क्या हैं ? अब अगला प्रश्न यह है कि 'परिवार' की क्या-क्या विशेषताएँ हैं, उसके क्या-क्या गुण हैं, जिनके कारण 'परिवार' एक सगठन, एक सस्था के रूप में समाज में आदि-काल से बना हुआ है। 'परिवार' की निम्न विशेषताएँ हैं —

(क) सार्वभौमिकता (Universality)—रैडक्लिफ ब्राउन (Radcliffe Brown) का कथन है कि 'परिवार' एक सार्व-भौम सस्था है। हर देश-काल में यह किसी-न-किसी रूप मे पाया जाता है, यहाँ तक कि पशुओ तक में प्राथमिक रूप मे 'परिवार' मिलता है। अन्य जितने भी सामाजिक-सगठन हैं, उनमें इस प्रकार की सार्वभौमिकता नहीं मिलती। 'विवाह' की सार्वभौमिकता के विषय में 'मॉर्गन' (Morgan) ने सन्देह प्रकट किया है। मॉर्गन के कथनानुसार 'परिवार' का विकास उस काल से हुआ है जब 'परिवार' का अस्तित्व नहीं था, जिस समय विवाह का भी कोई बन्धन ही नहीं था, 'सकरता' (Promiscuity) थी। 'सकरता' का विचार विकासवादी विचार है, और क्योकि विकास में अनेकता से एकता, अनिश्चितता से निश्चितता की तरफ गति मानी जाती है, इसलिए परिवार के क्षेत्र मे भी विकास की दृष्टि से अनिश्चित अर्थात् 'सकर' अवस्था से निश्चित अवस्था का विकास हुआ—यह माना जाता है। मॉर्गन के इस कथन का जेकब्स तथा स्टर्न (Jacobs and Stern) एव अन्य लेखको ने खडन किया है। इन लोगो का कहना है कि जहाँ-जहाँ मॉर्गन परिवार में अनिश्चितता या सकरता को दर्शाता है, वहाँ-वहाँ अनिश्चितता नहीं है। असल मे, आदि-काल में उत्सवों के समय, आनन्दोल्लास के समय उच्छृखलता का व्यवहार किया जाता था, स्त्रियो को अदल-बदल लिया जाता था, अतिथियो को अपनी स्त्रिया भेंट भी कर दी जाती थीं, परन्तु यह सब-कुछ तो आज भी सभ्य-समाज के कई लोग कर डालते हैं। अशिक्षित जातियो में इस प्रकार के व्यवहार को देख कर यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें 'परिवार' की सस्था नहीं है, इतना ही कहा जा सकता है कि 'परिवार' की सस्था होते हुए भी जीवन का रस लेने की उनकी कामना किसी से कम नहीं है। असल में, जैसा हम पहले कह आये हैं, मानव के 'अति-जीवन' (Survival) के लिए 'परिवार' का होना आवश्यक था। 'परिवार' न होता तो बच्चा कैसे बचता, स्त्री को कौन सभालता, पुरुष को भी अपने सघर्ष में कौन सहारा देता। क्योकि मनुष्य के जीवन के लिए 'परिवार' आवश्यक था, इसलिए मनुष्य की सामाजिकता की भावना का प्रथम आविष्कार 'परिवार' हुआ, और इसीलिए जहाँ-जहाँ मनुष्य हैं, वहाँ-वहाँ 'परिवार' पाया जाता है, 'परिवार' सार्वभौमिक सस्था है।

(ख) भावात्मक आधार (Emotional basis)—परिवार का सगठन जहाँ सार्वभौम है, वहाँ इसका आधार मनुष्य के उद्वेगो पर है। प्रेम, स्नेह,

वात्सल्य—ये मानसिक उद्वेग है जिनसे परिवार बधा हुआ है। ये मनुष्य-मनुष्य को एक-दूसरे के साथ जोडने वाले मानसिक तत्व है, ये ही परिवार में पति-पत्नी-सन्तान को भी बांधे रखते है। परिवार को छोड कर अन्य सगठन विचार पर आश्रित होते है, यह सगठन भाव पर आश्रित है। जब कोई कम्पनी बनती है, तब उसके सदस्यो को बांधने वाला लेन-देन का आर्थिक विचार होता है, वे सदस्य एक-दूसरे पर प्राण नहीं न्योछावर कर देते, पति-पत्नी तो एक-दूसरे पर प्राण तक वार देते है, सन्तान के लिए माता-पिता दोनो अपने को स्वाहा कर देते है। 'परिवार' में ही ऐसी भावना पायी जाती है, अन्य किसी सगठन में नहीं। यह भावना इतनी प्रबल है कि पशु तथा मनुष्य दोनो सन्तान के लिए अपने को मिटा देते है, चाहे वह आज का मानव हो, चाहे आदि-काल का।

(ग) निर्माणात्मक तथा शिक्षणात्मक प्रभाव (Formative and educative influence)—परिवार का व्यक्ति के चरित्र-निर्माण तथा उसकी शिक्षा में बडा हाथ है। पुरुष, स्त्री तथा बच्चा—इन तीनो के व्यक्तित्व के निर्माण में परिवार का बडा हाथ है। सिर्फ बच्चे के चरित्र का ही निर्माण परिवार में नहीं होता, माता-पिता के चरित्र पर भी परिवार का प्रभाव पडता है। माँ-बाप बच्चे को बनाते है, बच्चा माँ-बाप को बनाता है। सब का एक-दूसरे के निर्माण पर प्रभाव पडता है। समाज ने अब तक जिस सस्कृति का विकास किया होता है, वह वश-परपरा से चली आ रही सस्कृति बच्चे को कौन देता है? स्कूल-कालेज तो आज खुले है, जब शिक्षा-सस्थाएं नहीं थीं, तब कौन बच्चे को समाज की सस्कृति की दीक्षा देता था? 'परिवार' के अतिरिक्त और कोई सस्था उस समय यह काम नहीं करती थी।

(घ) सीमित आकार (Limited size)—अन्य सामाजिक-सगठनो के आकार बहुत बडे होते है, 'परिवार' का आकार अन्य सभी सामाजिक-सगठनो से छोटा है। छोटे सगठन में जो-कुछ सीखा जा सकता है, वह बडे सगठन में नहीं सीखा जा सकता। माता, पिता और सन्तान—इन तीन का छोटा-सा सगठन 'परिवार' की बडी भारी विशेषता है। अन्य सगठन बढने की तरफ जा रहे है, परिवार का सगठन आज तो पारिवारिक-नियोजन के कारण पहले से घटने की तरफ जा रहा है। अगर यह सगठन बढना भी चाहे तो सीमा का कभी उल्लघन नहीं कर सकता।

(ङ) सामाजिक ढाँचे में केन्द्रीय-स्थिति (Nuclear position in social structure)—हमारे सपूर्ण सामाजिक-सगठन में परिवार का स्थान केन्द्रीय-स्थान है। शुरू-शुरू में तो हर बात का केन्द्र परिवार ही होता था क्योंकि व्यक्ति से जब परिवार बनने लगा, तब पहले-पहल परिवार ही तो बना। परिवार छोटा समाज है, समाज बडा परिवार है, परिवार में जो बातें छोटे पैमाने पर है, समाज में वही बातें बडे पैमाने पर है, इसलिए समाज के वृत्त का केन्द्र-बिन्दु परिवार ही है। परिवार के केन्द्र से समाज विकसित होना शुरू होता है, और

विकसित होता-होता यह बिन्दु जिन वृत्तो को वनाता है, वही वृत्त समाज तथा राष्ट्र कहाते हैं।

(च) सदस्यो का उत्तरदायित्व (Responsibility of members)—अन्य सामाजिक-सगठनो में सगठन के प्रति सदस्यो का उत्तरदायित्व सीमित होता है, 'परिवार' में परिवार के हर सदस्य का उत्तरदायित्व असीमित होता है। कोई क्रिकेट क्लव का सदस्य है, तो क्रिकेट के मामलो में ही तो उसका उस सगठन के प्रति उत्तरदायित्व है, अन्य मामलो में तो नहीं, परन्तु अगर कोई 'परिवार' का सदस्य है, तो उसका उत्तरदायित्व असीमित है। उसे जगल से शिकार लाना है, फल-कन्द चुगना है, या आजकल के जमाने मे क्रिकेट भी खेलना है, तो यह सव भी परिवार को ध्यान में रख कर, यह नहीं कि परिवार में वच्चा वीमार पडा हो और वह शिकार लाने, फल चुगने या अन्य इसी प्रकार का काम करने चल पडे, या आजकल का युवक क्रिकेट खेलने निकल पडे। परिवार के सदस्य को अपना हर काम परिवार को दृष्टि में रख कर करना होता है, उसकी जिम्मेवारी असीमित होती है, साथ ही यह जिम्मेवारी जन्मभर पीछा नहीं छोडती।

(छ) सामाजिक-नियत्रण (Social control)—परिवार मनुष्य पर सामाजिक-नियन्त्रण का सवसे वडा साधन है। परिवार का नियन्त्रण वडा चौमुखा होता है। मनुष्य परिवार के नियन्त्रण से निकलना चाहे, तो उसे वडी कठिनाई होती है। अन्य सामाजिक-सगठनो मे ऐसी वात नहीं है। जव चाहो सगठन का सदस्य वन जाओ, जव चाहो अलग हो जाओ, परन्तु परिवार एक ऐसा सामाजिक-सगठन है जिसमें आकर मनुष्य मानो जकड जाता है। किस चीज से जकड जाता है? सामाजिक-प्रथाओ से, रीति-रिवाजो से, कानूनो से, विधि-विधानो से। जिस प्रकार मनुष्य विशाल समाज में सामाजिक-वन्धनो से जकडा हुआ है, उनसे इधर-उधर नहीं हो सकता, उसी प्रकार वह परिवार-रूपी छोटे समाज में भी समाज के विधि-विधान से बधा हुआ है, उसमें नियन्त्रित है। समाज अपने नियन्त्रण का पाठ परिवार की पाठशाला में पढ़ाना शुरू कर देता है।

(ज) परिवार की अस्थाई तथा स्थाई प्रकृति (Temporary and permanent nature of family)—परिवार के सबध में हमने ऊपर जो विशेषताएँ लिखी हैं उनसे यह प्रतीत होता है कि परिवार एक स्थायी सामाजिक-सगठन है, परन्तु ऐसी वात नहीं है। परिवार पति-पत्नी के मिलने से बनता है। अगर इनमें से कोई एक मर जाय या इन दोनो का सबध-विच्छेद हो जाय, तो परिवार अपने-आप टूट जाता है। इस दृष्टि से परिवार अस्थायी सामाजिक-सगठन है। परन्तु इस दृष्टि से अस्थायी होता हुआ भी परिवार एक स्थायी-सगठन है। स्थायी किस तरह से? स्थायी इस तरह से क्योकि एक सामाजिक-सगठन के रूप में परिवार एक स्थायी वस्तु है। 'परिवार' टूटेगा भी तो कोई एक विशेष परिवार टूटेगा, सव परिवार तो नहीं टूट जायेंगे—सस्था के रूप में, सामाजिक-सगठन के रूप में परिवार स्थायी है और वना रहेगा, उसके प्रकार, उसके

रूप भले ही वदलते रहें। परिवार आदि-काल के पाषाण-युगीय मानव के समय भी ा, आज भी है।

(छ) परिवार एक प्रक्रिया है (Family is a process)—हमने भी कहा कि परिवार अस्थिर भी है, स्थिर भी है। जो चीज़ स्थिर भी हो, स्थिर भी हो, उसका रूप 'प्रक्रिया' (Process) का हो जाता है। परिवार की क्रिया में गुजरता हुआ मनुष्य बचपन से बुढापे तक कई मंजिलों में से निकलता है। उदाहरणार्थ, भारत के परिवार में बालक के विकास के तीन-चार क्रम पाये ाते हैं। पहली अवस्था तो वह है जिसमें बालक को तैयार किया जाता है, इस ात के लिए तैयार किया जाता है कि बडा होकर अपने बाप-दादाओ के अनुकूल रिवार की आधारशिला रखे। यह 'निर्माणावस्था' (Formative stage) है। अपने देश में प्रत्येक द्विज का 'उपनयन'-संस्कार किया जाता है। 'उपनयन' या है? यह उसकी समाज की संचित विद्या सीखने की तैयारी है। इसके ाद जब वह पढना-लिखना खत्म कर लेता है, तब उसके विवाह की तैयारी का मय आता है। यह 'विवाहावस्था' (Nuptial stage) है। अपने गाँवो ें तो यह 'विवाहावस्था' बहुत जल्दी मना ली जाती है, छोटे-छोटे बच्चो के ववाह रचे जाते हैं। अशिक्षित-जातियो में 'विवाहावस्था' को जल्दी मनाने की रिपाटी नहीं है। वे लोग पाश्चात्य-देशो की तरह 'विवाहावस्था' से पहले 'आदि-ववाहावस्था' (Pre-nuptial stage) मनाते हैं। भारत की अनक अशिक्षित ातियो में 'आदि-विवाहावस्था' में युवक को विवाहित जीवन के लिए तैयार किया जाता है, उसे बाकायदा शिक्षा दी जाती है। आदिवासियो ने लडको के ा लडके-लडकियो के मिलने-जुलने के ऐसे स्थान बना रखे होते हैं जहाँ विवाह-ादी से पहले उन्हें मिलने-जुलने, आपस में एक-दूसरे को जानने-पहचानने की ूरी आजादी होती है। इस आजादी में यौन-ज्ञान भी उन्हें हो जाता है, इसे बुरा नहीं समझा जाता है। नागाओ में इस प्रकार की प्रथा है। मध्य-प्रदेश की ुरिया गोंड जन-जाति में भी इस प्रथा को प्रोत्साहित किया जाता है। इस काल में लडके-लडकियो के स्वतत्र रूप से मिलने-जुलने का परिणाम उनमें प्रेम उत्पन्न ो जाना स्वाभाविक है। जिनमें इस प्रकार का प्रेम हो जाता है, उनकी शादी कर दी जाती है। जिन लोगो में माता-पिता वर-वधू की तलाश करते हैं, उनमें 'आदि-विवाहावस्था' की प्रक्रिया नहीं हो पाती। इसके बाद विवाहोपरान्त-अवस्था' (Post-nuptial stage) आती है, जब विवाहित त्री-पुरुष के बाल-बच्चे होने लगते हैं। ये बच्चे जब बडे होते हैं, तो वे भी इसी क्रिया में से गुजरते हैं। अपने यहाँ इसे 'आश्रम'-व्यवस्था कहा जाता था—ह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा सन्यासाश्रम। इस प्रकार यद्यपि रिवार न स्थिर संस्था है, न अस्थिर संस्था है, तथापि यह एक प्रक्रिया है जिसमें से यक्ति को जन्म से लेकर मरण तक गुजरना पडता है।

६ परिवार के कार्य
(Functions of the family)

परिवार को विशेषताएँ हम देख चुके। अब हमें यह देखना है कि समाज की रचना में परिवार का कार्य क्या है, किस उद्देश्य की यह आदि-काल से पूर्ति करता आ रहा है। परिवार के निम्न कार्य कहे जा सकते हैं —

(क) प्राणि-शास्त्रीय काय (Biological functions)—परिवार की रचना में सब से मुख्य कार्य प्राणि-शास्त्रीय कार्य है। प्राणि-शास्त्रीय कार्य क्या है? प्राणि-शास्त्रीय कार्य हैं—(i) स्त्री-पुरुष का यौन-सबध, (ii) सन्तान की उत्पत्ति, (iii) असहाय तथा पीड़ित अवस्था में एक-दूसरे की सहायता—बुड्ढा होने पर उसकी सेवा और रोगी होने पर दवा-दारू का प्रबध, (iv) भोजन की व्यवस्था, और (v) किसी जगह पर घर बना कर रहने का प्रबध ताकि प्राकृतिक उत्पातो से बचा जा सके और सुख-शान्ति से जीवन बिताया जा सके। आज के और आदि-काल के मानव के जीवन में परिवार के ये मुख्य प्राणि-शास्त्रीय कार्य हैं और रहे हैं।

(ख) मनोवैज्ञानिक कार्य (Psychological functions)—परिवार में केवल शरीर की देख-रेख नहीं होती, परिवार का काम मनुष्य का मानसिक विकास करना भी है। ससार में हम 'विश्व-प्रेम' की दृष्टि से चलेंगे या 'विश्व-सहार' की दृष्टि से—इसका सूत्रपात घर के वातावरण में ही हो जाता है। परिवार का यह काम है कि व्यक्ति के मानसिक विकास को वह दिशा दे जिससे समाज में वह शुद्ध सामाजिक दृष्टिकोण को लेकर चल सके। जिस परिवार में कलह होगा उसमें पला व्यक्ति ससार में भी कलह फैलायेगा, जिस परिवार में सुख और शान्ति होगी उसमें पला व्यक्ति विश्व भर में शान्ति का स्रोत बहायेगा। समाज की धारणाओ को व्यक्ति के मन में कूट-कूट कर डाल देना परिवार का काम है। जो परिवार अपने बच्चों में सामाजिक धारणाओं को नहीं डाल सकते, उनके बच्चे सदा समाज-विरोधी कार्य करते रहते हैं। ऐसी स्थिति न आज ठीक है, न आदि-काल में ठीक थी।

(ग) आर्थिक-कार्य (Economic functions)—जिस समय मनुष्य ने इस धरती तल पर जीवन-यात्रा प्रारभ की और परिवार की सस्था का निर्माण किया, उस समय यह सस्था मनुष्य के आर्थिक-कार्यो का भी केन्द्र थी। पुरुष तथा स्त्री अपनी-अपनी सुविधानुसार गृहस्थी की गाडी को एक-दूसरे की आर्थिक-सहायता करते हुए धकेलते थे। कृषि-युग तथा पशु-पालन के युग में भी कुछ काम पुरुष और कुछ स्त्री करती थी। जब से औद्योगिक-युग के कारण कल-कारखाने खुले, नवीन-सभ्यता का उदय हुआ, तब से परिवार आर्थिक-केन्द्र नहीं रहा, इसलिए नहीं रहा क्योंकि उद्योग-धधे घर से बाहर जाने लगे। फिर भी, इस युग में भी पुरुष बाहर से कमा कर लाता है, स्त्री घर का काम-काज करती है, और आर्थिक-समस्या को दोनो मिल कर हल करते हैं।

(घ) सामाजिक-कार्य (Social functions)—परिवार अनेक सामाजिक-कार्यों को करता है। उदाहरणार्थ, (i) व्यक्ति अपने घराने की मान-मर्यादा, प्रतिष्ठा के विरुद्ध आचरण न करे, जैसी घराने की 'स्थिति' हो वैसा, उसके अनुरूप ही व्यक्ति 'कार्य' करे—यह बात व्यक्ति परिवार से ही सीखता है। परिवार व्यक्ति को एक ऐसी 'स्थिति' प्रदान करता है, जिसने व्यक्ति को उस 'स्थिति' के अनुकूल ही 'कार्य' करना पडता है। अगर कोई व्यक्ति ऐसा नहीं करता, तो उसे सकट का सामना करना पडता है, परिवार के दूसरे सदस्य उसे अपने परिवार से निकाल कर बाहर कर देते हैं, बिरादरी से च्युत कर देते हैं। आज का मानव तो पारिवारिक तथा सामाजिक बन्धनों की पर्वाह नहीं करता, क्योंकि आज की आर्थिक-व्यवस्था मे उसका परिवार के बिना निर्वाह हो जाता है, परन्तु आदि-कालीन आर्थिक-व्यवस्था में व्यक्ति के लिए परिवार का सामाजिक पहलू ही नहीं था, आर्थिक-पहलू भी था, परिवार ही उसकी आजीविका का साधन था, इसलिए उस समय मानव-परिवार जो चाहता व्यक्ति वही करता था। (ii) परिवार का दूसरा काम 'समाजीकरण' है। बच्चे को परिवार की परिपाटी में दीक्षित करना ही नहीं, अपितु समाज के योग्य बनाना भी परिवार का ही काम है। जो बच्चे समाज में नहीं पले, जिन्हें जगली जानवर उठा ले गये, वे 'समाजीकरण' की प्रक्रिया से वचित रहे, उन्हें आदमियो का-सा खाना-पीना, पहनना, बोलना-चालना भी न आया। (iii) परिवार का काम बच्चे को समाज के वर्तमान चालू व्यवहार में दीक्षित करना ही नहीं, अपितु तीसरा काम यह है कि भूतकालीन पीढी-दर-पीढी तथा परपरा मे चली आ रही मानव-सभ्यता में बच्चे को दीक्षित करके उसे आगे धारावाहिक रूप में प्रवाहित करने का उपक्रम कर देना भी उसका काम है। अगर प्रत्येक मानव को मानव-सभ्यता की प्रत्येक प्रक्रिया अपने जीवन में दोहरानी पडे, और परिवार के माध्यम से मनुष्य का लाखो-करोडों सालों का सचित ज्ञान आगे-आगे न बहता चले, तो मनुष्य आज भी पत्थर पर पत्थर मार कर आग निकाला करे। परिवार क्या करता है? परिवार आजतक के करोडो सालों के मानव-समाज के अनुभव को कुछ ही सालो में बच्चे को सिखा देता है।

(ङ) सास्कृतिक कार्य (Cultural funcions)—समाज का जीवन उस समाज की सस्कृति पर टिका रहता है। समाज के रीति-रिवाज, उसकी परपराएँ, सामाजिक-विरासत, कैसे एक-दूसरे के साथ बर्तें, जीवन के प्रति क्या दृष्टि-कोण हो—यह सब-कुछ सास्कृतिक धरोहर है जो प्रत्येक परिवार में बच्चों को दे दी जाती है। देश के त्यौहार, देश के वीर, देश के कथानक—गर्ज यह कि देश का जो-कुछ भी अपनापन है, वह परिवार द्वारा देश के बच्चो को मानो जन्म-घुट्टी में पिला दिया जाता है। परिवार यह काम आदि-काल मे करता आया है। परिवार यह काम न करे, तो मानवशास्त्री अशिक्षित जातियो में जाकर उनकी सस्कृति के विषय में कुछ भी पता न लगा सकें। इसीलिए जो मानव-शास्त्री अशिक्षित जातियो की सस्कृति के विषय में कुछ भी जानना चाहते हैं,

२०

आदिवासियों में विवाह

(MARRIAGE IN PRIMITIVE SOCIETY)

१ विवाह की परिभाषा

हम पिछले अध्याय में 'परिवार' पर लिख आये है, परन्तु 'परिवार' का आधार 'विवाह' है। 'विवाह' की व्याख्या निम्न प्रकार की गई है :—

[क] नोट्स एण्ड क्वरीज़ ऑन एन्थ्रोपौलोजी की व्याख्या—"पु तथा स्त्री का ऐसा सबध जिससे इन दोनो सहयोगियो की इस सबध द्वारा उत्‍ सन्तान वैध मानी जाय विवाह कहाता है।"

[ख] जेकब्स तथा स्टर्न की व्याख्या—"विवाह एक अथवा अनेक प तथा पत्नी के सामाजिक सबध का नाम है, विवाह उस सस्कार का भी नाम जिसके द्वारा पति-पत्नी आपस में सामाजिक-सबध में बँध जाते है।"

२ विवाह का प्राणि-शास्त्रीय दृष्टिकोण

स्त्री तथा पुरुष दोनो में 'काम-भाव' है, इससे इन्कार नहीं किया सकता। 'काम-भाव' से प्रेरित होकर वे यौन-सबध भी करते हैं। पशु-प भी ऐसा करते है, आदि-काल का मानव भी ऐसा करता था। यौन-सबध के परिणाम हो सकते है। एक परिणाम तो यह है कि 'यौन-सबध' तो हो, परन्तु सबध के होने पर भी सन्तान न हो। दूसरा परिणाम यह है कि 'यौन-संबध' और सन्तान भी हो जाय। इसका अर्थ यह हुआ कि 'यौन-सबध' एक चीज 'सन्तानोत्पत्ति' दूसरी चीज है। 'यौन-सबध' का परिणाम 'सन्तानोत्पत्ति' भी सकता है, नहीं भी हो सकता। हां, इसमें सन्देह नहीं कि 'सन्तानोत्पा विना 'यौन-सबध' के नहीं हो सकती। आदि-मानव ने जब पहले-पहल 'यौ सबध' किया, तो शुरू-शुरू में तो कोई समस्या नहीं पैदा हुई, परन्तु उसने दे कि 'यौन-सबध' के ८–९ महीने वाद स्त्री के बच्चा पैदा हो जाता है। अ

[क] "Marriage is defined as a union between a man anc woman such that children borne by the woman are recogni as the legitimate offspring of both partners"—*Notes and Quer on Anthropology*

[ख] "Marriage is a term for social relationship of husba and wife or of plural mates, also used for the ceremony uniting marital partners"—*Jacobs and Stern*

'यौन-सबध' हो जाता, और 'सन्तानोत्पत्ति' न होती, तब तो आदि-मानव के सम्मुख कोई समस्या न उठती, परन्तु जब उसने देखा कि 'यौन-सबध' का परिणाम 'सन्तानोत्पत्ति' है, तब उसके सम्मुख एक समस्या उठ खडी हुई। वह समस्या क्या थी? जिस पुरुष ने किसी स्त्री से 'यौन-सबध' किया है उसके पेट में बच्चा आ गया है। ९–१० महीने तक स्त्री को यह जिम्मेदारी निभानी है। बच्चा होने के बाद उसे दूध पिलाना, उसकी परवरिश करना है। मनुष्य का बच्चा तो इतना असमर्थ होता है कि उसे सालों रक्षा की आवश्यकता होती है। क्या यह सब जिम्मेदारी माता की है? माता की है तो क्या माता बच्चा पैदा होने पर उसे छोड कर अपना रास्ता नापे, अपनी रोटी-पानी की चिन्ता करे, या बच्चे की देख-रेख करे? आदि-मानव के समाज के लिए यह बडी भारी चिन्ता का विषय था। 'काम-भाव' के वेग से 'सन्तानोत्पत्ति' तो हो गई, परन्तु 'सन्तानोत्पत्ति' के बाद आगे का काम कैसे चले? यह समस्या आदि-मानव के सामने ही खडी हुई—यह बात नहीं। आज भी जो अविवाहित युवक-युवति काम-वेग में यौन सबंध कर बैठते है, जब तक इस सबध से सन्तानोत्पत्ति नहीं होती, तब तक तो वे इसे छिपाये रखते है, परन्तु प्रकृति तो उनके साथ साँठ-गाँठ मिला कर नहीं बैठती। समय आता है जब युवति के पेट में बच्चा आ जाता है। बच्चा आते ही समस्या उठ खडी होती है—अब क्या किया जाय? वही समस्या जो आदि-मानव के मन में उठी थी। भेद इतना ही है कि आदि-मानव के काल में समस्या का हल ढूंढा जा रहा था, विवाह की सस्था अभी नहीं बनी थी, आज के अविवाहित युवक काम-वेग में इस हल का आश्रय लिये बिना गोता खा जाते है। आदि-मानव के सम्मुख जब यह समस्या उपस्थित हुई, तब उसने 'विवाह' की सस्था को जन्म दिया, आज के मानव के सम्मुख जब यह समस्या उपस्थित होती है, तब उसे झख मार कर विवाह करना पडता है। 'यौन-सबध' से जब 'सन्तानोत्पत्ति' हो जाय, तब समाज के पास इस सन्तान के भरण-पोषण की समस्या का क्या हल है?

३ विवाह का कानूनी दृष्टि-कोण

'यौन-सबध' से एक प्राणि-शास्त्रीय समस्या उत्पन्न हो गई। इस को हल करने के लिए आदि-मानव-समाज ने 'विवाह' की 'कानूनी' सस्था को जन्म दिया। अगर पुरुष ने स्त्री के साथ यौन-सबध करना है, तो समाज में—चाहे वह आदि-समाज हो, चाहे वर्तमान-समाज हो—वह सबध तभी बर्दाश्त किया जा सकता है, अगर वह हर तरह से स्त्री की, और बच्चे की परवरिश करने के लिए, उनकी रक्षा के लिए कानूनी तौर पर अपने ऊपर जिम्मेदारी ले। इसी कानूनी जिम्मेदारी का नाम 'विवाह' है। कानूनी जिम्मेदारी का यह अर्थ हुआ कि अगर वह स्त्री तथा बच्चे का पालन-पोषण नहीं करेगा, तो दंड का भागी होगा। इसका यह अर्थ भी हुआ कि विवाह के बिना 'यौन-सबध', जहाँ सन्तानोत्पत्ति की संभावना हो, नाजायज समझा गया। अविवाहिता कन्या के साथ 'यौन-संबंध' होने से सन्तानोत्पत्ति की सभावना है। अगर सन्तान हो जाय, तो उसके

पोषण की ज़िम्मेदारी किस पर होगी ? पुरुष तो इसे लेने को तैयार नहीं होता। इसलिए अविवाहिता कन्या के साथ 'यौन-संबंध' नाजायज़ समझा गया। विवाह के संबंध में आदि-समाज तथा वर्तमान-समाज में जो कानून बने उनका मुख्य उद्देश्य यह था कि बच्चे की हर हालत में रक्षा होनी चाहिए, नस्ल को उसी ने तो चलाना है, इसलिए पति-पत्नी का ऐसा संबंध होना चाहिए जिससे बच्चे की स्थिति समाज में सुरक्षित रहे। विवाह-संबंध के बाहर जो बच्चा हो, वह नाजायज़ करार दिया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि 'यौन-संबंध' के लिए किसी-न-किसी तरह का विवाह करना आवश्यक हो गया।

इस दृष्टि से 'विवाह' क्या है ? विवाह स्त्री-पुरुष का एक 'सामाजिक-ठेका' (Social contract) है जिसमें स्त्री अपने ऊपर बालक की परवरिश को, और पुरुष अपने ऊपर इन दोनों की भूख-प्यास-सरक्षा आदि की ज़िम्मेदारी लेता है। काम-भाव, भूख, प्यास, सरक्षा—ये सब मनुष्य की 'आधारभूत प्रवृत्तियाँ' (Instincts) हैं। इनके बिना मनुष्य का 'अति-जीवन' (Survival) संभव नहीं है। पुरुष तथा स्त्री एक-दूसरे की जीवन की इन आधारभूत आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विवाह द्वारा मानो एक प्रकार का सौदा, एक प्रकार का ठेका करते हैं। ठेके के साथ ठेके के टूटने का भाव भी बना रहता है। अगर वे एक-दूसरे की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकते, तो वे जुदा हो सकते हैं। तभी जिस समाज के कानून में विवाह को ठेके-जैसा समझा जाता है, उसमें विवाह-विच्छेद का, तलाक का भी स्थान रहता है। कई समाज बालक की सुरक्षा में ज़रा-सा भी ख़तरा नहीं लेना चाहते। विवाह अगर ठेका है, तो ठेका टूट सकता है, और बालक का भविष्य ख़तरे में पड़ सकता है। जहाँ-जहाँ तलाक होता है, वहाँ-वहाँ बच्चे की समस्या सदा उठ खड़ी होती है। बच्चा किसको दिया जाय, उसकी परवरिश कौन करेगा—ये सब समस्याएँ तलाक के संबंध में पैदा हुआ ही करती हैं। तलाक की संस्था विवाह को ठेका समझने का अवश्यभावी परिणाम है। ठेका टूट जाने पर अगर माता पर ही बालक की परवरिश का सारा बोझ आ पड़े, या पिता पर चला जाय, तो इन दोनों में से अलग-अलग कोई भी इस ज़िम्मेदारी को पूरी तरह निभा नहीं सकता। इसलिए जो समाज बालक की दृष्टि से इस प्रकार का ख़तरा नहीं उठाना चाहते, वे विवाह को ठेका न मान कर एक 'संस्कार'—एक 'स्थिर-धार्मिक-संबंध' (Sacrament) मानते हैं, ऐसा संबंध जो इस जन्म में तो टूट नहीं सकता। ऐसे समाज इस संबंध में तलाक को कोई स्थान नहीं देते। एक बार विवाह हो गया, सो हो गया, वह अटूट धार्मिक संबंध है।

४ 'विवाह' पर ऐतिहासिक या विकासवादी विवेचन

जैसा हमने कहा, परिवार के साथ-साथ विवाह की संस्था ने जन्म लिया। एक ही प्रकार के संगठन का 'विवाह' तो प्राणि-शास्त्रीय तथा कानूनी रूप है, 'परिवार' उसी का समाज-शास्त्रीय रूप है। इन दोनों पर अलग-अलग विचार

किया जाता है, परन्तु एक ही-सी सस्था होने के कारण इन दोनों पर विचार करने में समान बातो का आ जाना स्वाभाविक है। विवाह की सस्था का विकास कैसे हुआ—इस पर विकासवादियो का दृष्टि-कोण सब से प्रबल है। इस दृष्टि-कोण पर हम परिवार का वर्णन करते हुए भी लिख आये हैं, परन्तु यहाँ उसे विवाह के दृष्टि-कोण से लिखना आवश्यक जान पडता है।

(क) सकरता से एक-विवाह (From Promiscuity to Monogamy)—हम पहले लिख आये हैं कि विकासवादी कहते हैं कि शुरू-शुरू में विवाह की प्रथा नहीं थी, सकरता थी, जो जिससे चाहता यौन-सबध कर लेता था। विकासवादियों के दृष्टि-कोण में अनिश्चितता से निश्चितता, अव्यवस्था से व्यवस्था, भिन्नता से अभिन्नता, विविधता से एकता—विकास की यही 'एक-दैशिक' (Unilinear) प्रक्रिया है। इस दृष्टि से विकासवादियो का कथन है कि आदि-काल में विवाह के स्थान में सकरता की अवस्था थी, उससे विकसित होते-होते आज जो 'एक-विवाही-प्रथा' (Monogamous marriage) है, वह विकसित हुई। इस प्रक्रिया में 'सकरता' सबसे नीचे के स्तर पर है, 'एक-विवाह' सबसे ऊँचे स्तर पर है। इस पक्ष के सब से बडे समर्थक श्री मॉर्गन (Morgan) हैं। अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिए ये लोग कुछ प्रमाण देते हैं। इनका कहना है कि अनेक जन-जातियों में चाचा-ताया, चाची-तायी आदि के लिए अलग-अलग नाम नहीं हैं, इन सब को पिता या माता कहा जाता है। इसका यही कारण हो सकता है कि इनमें सभी पिता हो, सभी माता हो, सभी माता-पिता तभी हो सकते हैं जब विवाह की सस्था ही न हो। इसके अतिरिक्त इनका कहना है कि अनेक जन-जातियो में यौन-सबध में बहुत शिथिलता पायी जाती है। मध्य-भारत की अनेक अशिक्षित जातियों में उत्सव आदि के समय एक आदमी की स्त्री दूसरे से सबध कर सकती है, और इसे बुरा नहीं माना जाता। कई अशिक्षित जातियो में विवाह से पहले तथा विवाह के बाद भी स्त्री-पुरुष के यौन-सबध को स्वीकृत किया जाता है। एस्किमो परिवार में जब कोई अतिथि आता है, तो स्त्री की इच्छा से अतिथि तथा स्त्री सभोग कर सकती हैं। अतिथि को अपनी स्त्री भेंट करने की प्रथा कई जातियों में पायी जाती है। इन सब बातो के आधार पर मॉर्गन का कहना है कि आदिकालीन समाज 'सकरता' का समाज था, उस समय की बातें ही आज इन रूपों में भिन्न-भिन्न समाजो में अवशेष के रूप में पायी जाती हैं। 'यूथ-विवाह' (Group marriage) भी आदि-कालीन सकरता का सूचक है। मॉर्गन के अनुसार शुरू-शुरू में यौन-सबध में भाई-बहन का भेद भी नहीं किया जाता था, इस प्रकार का भाई-बहन का 'अनाचारी' (Incest) वैवाहिक सबध होता था, समान-रुधिर वालो में यौन-सबध (Consanguineous marriage) होता था, आजकल के विवाह-जैसा कई बन्धन नहीं था।

(ख) सकरता के सिद्धान्त की आलोचना—मॉर्गन के इस सिद्धान्त को दूसरे विकासवादी नही मानते। इन लोगो की युक्तियाँ भी विकासवाद पर आश्रित

हैं। इन युक्तियों के दो रूप हैं। इन युक्तियो का एक रूप तो यह है कि प्रकृति में संकरता नहीं पायी जाती। पशुओं में भी 'एकाधिकार' तथा 'ईर्ष्या' के लक्षण पाये जाते हैं और उन तक में एक-विवाह ही पाया जाता है। इस पक्ष को श्री हैनरी मेन (Henry Maine) तथा वेस्टरमार्क (Westermarck) ने बल-पूर्वक रखा है। जब पशु-पक्षियो तक में सकरता नहीं पायी जाती, तो मानव-समाज में सकरता कहाँ से आयेगी ? जेकब्स तथा स्टर्न (Jacobs and Stern) ने इस युक्ति के दूसरे रूप का आश्रय लिया है। उनका कहना है कि जैसे 'परिवार' की सस्था का मनुष्य के 'अति-जीवन' (Survival) के लिए आश्रय लिया गया, वैसे 'विवाह' की सस्था का भी मनुष्य के 'अति-जीवन' के लिए ही आश्रय लिया गया। अगर हम यह मानें कि मनुष्य की हर सस्था का विकास उसके 'जीवन' तथा 'अति-जीवन' के लिए हुआ है, तो सकरता से तो मानव का जीवन सभव ही नहीं है। 'सकरता' में शिशु की रक्षा कौन करेगा, स्त्री के गर्भवती होने पर उसकी देख-रेख कौन करेगा ? मनुष्य का और उसकी सन्तान का अब तक बना रहना तभी सभव हो सकता था अगर आदि-समाज को एक-विवाही माना जाय, सकर का न माना जाय।

तो फिर मॉर्गन की इस युक्ति का क्या उत्तर है कि अनेक समाजो में माता-पिता के अतिरिक्त दूसरे शब्द ही नहीं पाये जाते, अनेक समाजो में स्त्री-पुरुष के यौन-सबध पर कोई नियन्त्रण नहीं, अनेक समाजो में अतिथि को पत्नी तक यौन-सबध के लिए दे दी जाती है। इसका उत्तर यही दिया जाता है कि शब्द के अभाव के कारण इतना बड़ा क्रातिकारी परिणाम नहीं निकाला जा सकता, शब्दो के होने-न-होने के अन्य कारण भी हो सकते हैं। और, यौन-सबधो में शिथिलता का होना अलग बात है, एक-विवाह का होना अलग बात है, एक-विवाह की प्रथा के होते हुए भी यौन-सबधो में शिथिलता हो सकती है, यह शिथिलता केवल उत्सव आदि में होती है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि विवाह का मूल रूप एक-विवाही है, जिसमें कभी-कभी उत्सव आदि पर अपवाद कर दिया जाता है।

सकरता के विरुद्ध सबसे बड़ी युक्ति यह है कि जीवित अशिक्षित जन-जातियो में, जो आदि-समाज की मूर्त्त रूप हैं, कहीं सकरता की अवस्था नहीं पायी जाती। हर अशिक्षित जन-जाति में किसी-न-किसी प्रकार की विवाह की प्रथा मौजूद है। भारत में अडमान, कदार, पलियान, पलपन्तरम, चेंचु, बिरहोर आदि अशिक्षित जन-जातियाँ हैं—इनमें किसी में भी तो सकरता की प्रथा नहीं है, सकरता के स्थान पर इनमें एक-विवाही प्रथा तथा पति-पत्नी की एक-दूसरे के प्रति वफादारी पायी जाती है, इनके विधि-विधान में भी एक समय में एक साथी रखने का ही नियम है। मध्य-प्रदेश की कमार जन-जाति में भी एक-विवाही विधान है। भारत के बाहर की जन-जातियों का अध्ययन करने के बाद लोई (Lowie) इस परिणाम पर पहुँचे कि 'सकरता' अथवा 'यूथ-विवाह' किसी में नहीं पाया जाता, अगर इसकी कुछ सभावना है, तो उसी काल में इसकी सभावना

कल्पित की जा सकती है जब 'यौन-सबंध' के विषय में मनुष्य यह निर्णय नहीं कर पाया था कि इसका क्या परिणाम हो सकता है। जब मनुष्य को यह निश्चय हो गया कि 'यौन-सबंध' का परिणाम 'सन्तानोत्पत्ति' होता है, उसी समय मनुष्य ने सन्तान के उद्देश्य से 'यौन-सबंध' को सीमा में बाँधने के लिए 'विवाह' की सस्था का निर्माण कर दिया। 'सकरता' का एक दूसरा अर्थ हो सकता है। कई जन-जातियो में एक स्त्री के अनेक पति पाये जाते हैं। इस प्रथा को 'बहु-भर्तृता' (Polyandry) कहा जाता है। कई में एक पुरुष की कई पत्नियाँ होती हैं। इस प्रथा को 'बहु-भार्यता' (Polygyny) कहा जाता है। दोनों के लिए एक शब्द है—'बहु-विवाह' (Polygamy)। इस प्रथा को 'सकरता' का नाम दिया जा सकता है, परन्तु यह 'सकरता' नहीं, 'बहु-विवाह' होने के कारण 'विवाह' ही है।

(ग) 'परिवार' तथा 'विवाह' एक-साथ की सस्थाएँ हैं (Marriage is co-eval with Family)—ऊपर जो-कुछ कहा गया है उससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जब से 'परिवार' है तब से 'विवाह' की सस्था भी है, एक ही सामाजिक-सबंध के 'परिवार' तथा 'विवाह' दो पहलू हैं, जैसे 'परिवार' के विषय में विकास की बात ठीक नहीं जँचती, वैसे 'विवाह' के विषय में भी विकास की बात ठीक नहीं जँचती। 'परिवार' मनुष्य की सामाजिक तथा आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पैदा हुआ था, और जब परिवार पैदा हुआ था, उसी समय इन्हीं आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए 'विवाह' की सस्था भी बनाई गई थी। ऐतिहासिक या विकासवादी दृष्टि से हम सिर्फ इतना जान सकते हैं कि अमुक जन-जाति में 'परिवार' अथवा 'विवाह' की सस्था ने क्या रूप धारण किया, क्या एक-विवाही रूप धारण किया, क्या बहु-विवाही रूप धारण किया, एक स्त्री ने कई पतियों से विवाह किया, अनेक स्त्रियो ने एक पति से विवाह किया—या क्या किया। यह सब-कुछ जान लेने पर हमें इतना तो पता चलता है कि आदि-समय के किसी समाज में विवाह का कोई रूप है, किसी में कोई रूप, परन्तु इन सब रूपो को देख कर यह नहीं कहा जा सकता कि इनका विकास किसी एक रूप से हुआ है, 'एक-दैशिक विकास' (Unilinear evolution) की कल्पना भिन्न-भिन्न जन-जातियो की 'विवाह' की संस्था से पुष्ट नहीं होती।

५. 'विवाह' की आवश्यकता

यो तो 'विवाह' के प्राणि-शास्त्रीय तथा कानूनी दृष्टि-कोण पर विचार करते हुए हम विवाह की आवश्यकता का भी साथ-साथ जिक्र कर आये हैं, फिर भी विवाह की आवश्यकता के और इस सस्था के निर्माण के इनके अतिरिक्त अन्य भी कारण हैं। विवाह का विकास किस प्रकार हुआ—यह प्रश्न इतना महत्व का नहीं है, जितना मानव-शास्त्र में इस बात का महत्व है कि विवाह मनुष्य की किस आवश्यकता को पूरा करता है, यह उसकी किस चाह का, किस भावना का, किस एषणा

होगा। 'देवर' शब्द का अर्थ भी इसी बात का द्योतक है। 'देवर'-शब्द का अर्थ है --'देवर' कस्मात् द्वितीय वरो भवतीति'--देवर उसे कहते हैं जो दूसरा वर होता है। आर्य-जातियों की भाषाओं मे 'देवर' शब्द पाये जाने से ज्ञात होता है कि इडो-आर्यन लोगों में 'लेवराइट'-प्रथा प्रचलित थी। 'साली-सबध' (Sororate) का यह अर्थ है कि अगर पत्नी की मृत्यु हो जाय, और उसकी बहिन विवाह योग्य हो, तो विधुर की उसी से शादी होगी। ये प्रथाएँ अनेक स्थानो में प्रचलित हैं।

८ विवाह में अनुलोम तथा प्रतिलोम (Hypergamy and Hypogamy)

विवाह में विधि तथा निषेध पर विचार करते हुए हिन्दुओं के अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह पर विचार करना ज़रूरी जान पडता है, क्योंकि अनुलोम-विवाह करने की हिन्दुओ में छूट है, प्रतिलोम-विवाह करने की छूट नहीं है। 'अनुलोम' तथा 'प्रतिलोम' क्या है? हिन्दुओ की जाति-व्यवस्था या वर्ण-व्यवस्था के अनुसार लडकी की विवाह से पहले जाति पिता की जाति होती है, विवाह के बाद जाति पति की जाति हो जाती है। एक तरह से स्त्री की तो कोई जाति ही नहीं होती, पुरुष की जाति होती है, स्त्री जिस जाति के पुरुष के साथ विवाह करे, स्त्री की वही जाति मानी जाती है। विवाह-सबध में ब्राह्मण का ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र की कन्या से विवाह हो सकता है, इनमें ब्राह्मण तथा ब्राह्मण-कन्या का विवाह सवर्ण-विवाह एव ब्राह्मण तथा क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र कन्या का विवाह अनुलोम-विवाह कहाता है, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण-कन्या का विवाह प्रतिलोम विवाह कहाता है। अगर पुरुष अपने से नीचे वर्ण की कन्या से विवाह करता है, तो यह अनुलोम-विवाह है, इसकी मनु-शास्त्र आज्ञा देता है, अगर पुरुष अपने से ऊँचे वर्ण की कन्या से विवाह करता है, तो यह प्रतिलोम-विवाह है, इसकी शास्त्र आज्ञा नहीं देता। इस प्रथा का सामाजिक प्रभाव क्या हुआ? ब्राह्मण-कन्या के ब्राह्मण से विवाह की तो आज्ञा दी गई है, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र से ब्राह्मण-कन्या का विवाह 'प्रतिलोम-विवाह' है जिसकी शास्त्र में आज्ञा नहीं है, लेकिन ब्राह्मण अपनी जाति तथा नीचे की सब जातियो में विवाह कर सकता है। इसका सामाजिक-परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण-लडके का विवाह का क्षेत्र ब्राह्मण-लडकी के विवाह के क्षेत्र से बहुत विस्तृत हो गया और ब्राह्मण-लडकी का विवाह का क्षेत्र बहुत सीमित होगया; ब्राह्मण लडका जहाँ चाहता शादी कर सकता था, ब्राह्मण लडकी सिर्फ अपने वर्ण में शादी कर सकती थी। इसी कारण ब्राह्मण-लडकियों के लिए विवाह एक समस्या हो गया। या तो ब्राह्मण लडका ढूंढ़ने के लिए वे दहेज दें, या जन्म भर कुवारी बैठी रहें। 'प्रतिलोम-विवाह' को नाजायज करने का परिणाम ब्राह्मणों में 'दहेज' (Bride-groom price) प्रथा का चलन हो गया, एक-एक लडका कई लडकियो से विवाह करने लगा, उनमें 'बहु-भार्यता' (Polygyny) चल पडी, लडकी का होना ब्राह्मणों में एक मुसीबत का सामना करना हो गया। इसके प्रतिकूल जहाँ ब्राह्मण-लडका 'अनुलोम-प्रथा' के अनुसार हर जाति में शादी कर सकता था, और

ब्राह्मण-लडकी 'प्रतिलोम-प्रथा' के अनुसार सिर्फ अपनी जाति में शादी कर सकती थी, वहां शूद्र-लड़का तो सिर्फ अपनी जाति में शादी कर सकता था, परन्तु शूद्र लडकी हर जाति में शादी कर सकती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि शूद्र लडके का विवाह का क्षेत्र बहुत सकुचित हो गया, शूद्र-लडकी का क्षेत्र बहुत बढ गया। नतीजा यह हुआ कि शूद्र-लडके को लडकी मिलना ही कठिन हो गया। ब्राह्मणो में दहेज या 'पति-मूल्य' (Bridegroom price) तथा शूद्रो में 'पत्नी-मूल्य' (Bride price) की प्रथा चल पडी। नीची जातियों में लडकियां ही नहीं मिलतीं, लडकियों के लिए पैसा देना पडता है, वे विकती हैं। अनुलोम तथा प्रतिलोम प्रथा का आज हिन्दू-जाति पर यह प्रभाव पड रहा है कि वडी जातियो में लडके विकते है, छोटी जातियो में लडकियां विकती है, वडी जातियों में एक पुरुष अनेक स्त्रियां रखता है, छोटी जातियों में अनेक पुरुष एक स्त्री रखते है, वडी जातियों में पुरुष अविवाहित नहीं रहता, छोटी जातियों में कई वार पुरुष को अविवाहित रह जाना पडता है, वडी जातियो में लडकी आसानी से मिल जाती है, छोटी जातियो में लडकी को लूट कर, भगा कर लाना पडता है। हिन्दू-समाज में भिन्न-भिन्न जातियो में लड़की की स्थिति की विषमता का कारण अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह की प्रथा है।

अव 'हिन्दू-विवाह तथा तलाक-अधिनियम-१९५५' (Hindu Marriage and Divorce Act—1955) के अनुसार 'प्रतिलोम' विवाहो को वैधानिक मान लिया गया है। इस सवध में जो अधिक जानकारी प्राप्त करना चाहें, वे हमारी पुस्तक 'समाज-कल्याण तथा सुरक्षा' का 'सामाजिक-विधान'-शीर्षक अध्याय देखें या श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल की पुस्तक 'स्त्रियों की स्थिति' को पढें।

९ आदि-वासियों की विवाह की पद्धतियां

आदिवासियों में विवाह उनकी आर्थिक-समस्या को हल करने की उपज था, विना दो के उनकी आर्थिक-समस्या ही नहीं हल हो सकती थी, इसलिए इनमें विवाह एक तरह का 'ठेका' (Contract) पाया जाता है, 'धार्मिक-विधान' (Sacrament) नहीं, इसलिए इन जातियों में विवाह के अवसर पर धार्मिक विधि-विधान नहीं पाये जाते। फिर भी जो आदिवासी जातियां हिन्दुओं के सपर्क में आयी है, उन्होंने हिन्दुओं के विधि-विधानो को अपना लिया है, शायद वे समझती है कि इससे उनकी मान-प्रतिष्ठा वढती है। आदिवासियो में आठ प्रकार की विवाह की पद्धतियां पायी जाती है, जो निम्न है —

(क) परीक्ष्य-विवाह (Probationary marriage)
(ख) परीक्षा-विवाह (Marriage by trial)
(ग) अपहरण-विवाह (Marriage by capture)
(घ) क्रय-विवाह (Marriage by purchase)
(ङ) सेवा-विवाह (Marriage by service)
(च) विनिमय-विवाह (Marriage by exchange)

सवध भी जारी रहता है। वह अपने पति के घर तभी जाती है, जव उसके सन्तान हो जाती है। पति को यह मालूम होने पर भी कि सन्तान उसकी नहीं है, कुछ आश्चर्य नहीं होता, उसे कुछ अजनबीपन नहीं लगता, और स्त्री-पुरुष दोनो प्रेम-भाव से रहने लगते हैं।

(ख) मध्य-भारत की जातियो के रिवाज——मध्य-भारत की जन-जातियों में विवाह से पहले लडकी-लडके के यौन-सवध की तरफ विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। अगर लडकी इस समय गर्भवती हो जाय, तव जरूर इसे वुरा समझा जाता है, अगर लडकी को पाने के लिए सेवा कर रहे युवक से भी लडकी गर्भवती हो जाय, तब भी इसे उचित नहीं समझा जाता। गर्भवती होने पर लडकी से पूछा जाता है कि गर्भ किससे ठहरा है। जिससे गर्भ ठहरा होता है, उसे लडकी से शादी करने के लिए बाधित किया जाता है।

(ग) मुरिया जाति का रिवाज़——मुरिया जाति में लडके-लडकी को विवाह से पूर्व यौन-सबध की शिक्षा-दीक्षा दी जाती है, क्योकि वे समझते हैं कि विवाह से पहले युवको को इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि किस प्रकार के जीवन में वे प्रवेश करने लगे हैं। इन जातियो में इस प्रकार के शिक्षा-गृह होते हैं जहाँ प्रौढा युवतियाँ लडके-लडकियों को यौन-शिक्षा तथा प्रेम की कला में दीक्षित करती हैं। विवाह के बाद अपनी विवाहिता पत्नी के अतिरिक्त किसी से यौन-सवध करना मुरिया जाति में असह्य अपराध है। ऐसी घटनाओं का परिणाम कत्ल तथा आत्मघात तक हो जाते हैं।

(घ) थारु जाति का रिवाज़——थारु जाति की स्त्रियाँ रूपवती होती हैं। इनके पति इनके इतन वश में होते हैं कि अगर थारु-स्त्री पर-पुरुष से यौन-सवध कर ले, तो उसका पति उसे कुछ नहीं कहता, इस बात को दम मार कर सहन कर लेता है।

(ङ) खासा जाति का रिवाज़——जौनसार बावर की खासा जाति में पुत्री के रूप में भी उसे अपने मित्र-दोस्तों से यौन-सबध रखने की पूरी छूट है, वह जितने प्रेमी रखना चाहे, रख सकती है, परन्तु पत्नी रूप में उसे पतिव्रत धर्म का अक्षरश पालन करना होता है। क्योंकि उसका पुत्री-रूप केवल माता-पिता के घर में ही होता है, इसलिए खासा जाति की लडकी अपने प्रेमियो से मिलने माता-पिता के घर अक्सर चक्कर लगाया करती है। पति के घर आने पर वह केवल पति के साथ यौन-सबध रखती है, अपने दोस्त-मित्रों के साथ नहीं।

(च) टोडा जाति का रिवाज़——नील-गिरी की पहाड़ियो में टोडा जन-जाति के लोग रहते हैं। इस जाति के दो भाग है——'टरयरोल' तथा 'टेइवलियोल'। अगर एक भाग का टोडा व्यक्ति दूसरे भाग की किसी विवाहिता टोडा स्त्री से यौन-सवध स्थापित करना चाहता हो, तो उस स्त्री के पति या पतियों की स्वीकृति लेकर वह ऐसा कर सकता है। वह उस स्त्री के पति को कुछ रुपया देता है, स्त्री के माता-पिता को उसके पति ने जितना पैसा दिया था उससे ज्यादा पैसा देता है,

और विवाह का-सा सस्कार उस स्त्री से करता है। इसके वाद वह उस स्त्री के साथ उसे पत्नी वना कर रख सकता है, या जव चाहे उसके साथ यौन-सवध के लिए उसके पास जा सकता है। क्योंकि यह व्यक्ति जाति की दृष्टि से टोडा के उसी भाग का नहीं होता जिस भाग की स्त्री होती है, इसलिए इस पति से उत्पन्न सन्तान इसकी नहीं समझी जाती, इस स्त्री के अपनी जाति वाले भाग के पतियो की ही समझी जाती है। इस सव प्रकार के यौन-सवध को टोडा जाति में अनैतिक नहीं समझा जाता।

(छ) एस्किमो जाति का रिवाज़—एस्किमो जन-जाति में आतिथ्य-सत्कार का इतना महत्व है कि अगर कोई अपरिचित व्यक्ति घर में आ जाय, तो अपनी स्त्री को उसके लिए पेश करना इस जाति का नैतिक कर्तव्य समझा जाता है। अगर कोई व्यक्ति अतिथि को अपनी स्त्री पेश नहीं करता तो उसे वुरा माना जाता है। भूत-प्रेतो को भगाने के लिए इस जन-जाति में एक दिन-रात के लिए अविवाहित यौन-सवध करना पडता है।

(ज) ऑस्ट्रेलिया की जन-जातियो के रिवाज़—ऑस्ट्रेलिया की जन-जातियो में विवाह-संबध पर जोर दिया जाता है, परन्तु उत्सव-त्यौहार में सव प्रकार के वैवाहिक-वधनों को ताक में रख दिया जाता है। अगर कोई स्त्री-पुरुष भाई-वहन, पिता-पुत्री, पुत्र-माता नहीं है, तो हर किसी को हर किसी के साथ यौन-सवध की छूट हो जाती है। आदिवासियो में भाई-वहिन या खून के अत्यन्त निकट के रिश्ते में यौन-सवध महापाप गिना जाता है, वाकी किसी से विवाह के वाहर का यौन-सवध भी इतना वुरा नहीं माना जाता। ऑस्ट्रेलिया की इन जन-जातियो में उक्त प्रकार के उत्सव-त्यौहारो पर अगर किसी युवक को अपनी सास के साथ यौन-सवध के लिए कहा जाय, तो वह भी उसे करना पडता है।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि कन्या के अक्षतयोनि होने के सवध में सभ्य-समाज के जो विचार है, उनसे अशिक्षित जातियो के विचार वहुत भिन्न है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि एक समाज जिसे वुरा मानता है, दूसरा समाज उसे अच्छा मान सकता है, इन सव वातो की अच्छाई-वुराई आत्यन्तिक नहीं, सामाजिक है।

१२ तलाक

हम पहले लिख आये है कि आदिवासियों में विवाह एक 'सामाजिक-ठेका' (Social contract) है, 'धार्मिक-विधान' (Sacrament) नहीं। ठेका तो कुछ शर्तों पर टिका होता है, जव ये शर्तें पूरी न हों तो ठेका टूट जाता है, इसलिए आदिवासियो में विवाह की स्थिरता नहीं होती, खास-ख़ास अवस्थाओं में विवाह-विच्छेद हो जाता है, और इसे वुरा मानने के स्थान में स्वाभाविक माना जाता है।

फल-मूल एकत्रित करने तथा कृषि-सवधी सरल आर्थिक व्यवस्था में क्योंकि युवक-युवति एक-दूसरे को चुनते है, अपनी इच्छा से शादी करते है, माता-

शैशव-काल का चरित्र और स्वभाव बन सकता है, वैसे युवावस्था के नवीन सस्कारों से उसके पहले 'व्यक्तित्व' को बदल कर नवीन 'व्यक्तित्व' का निर्माण किया जा सकता है।

आदिकालीन समाज के बच्चो के विकास में मनोविश्लेषणवादियो की कल्पनाओं को क्रियात्मक रूप में परखा जा सकता है। आदिकालीन समाज एक तरह की प्रयोगशालाएँ हैं जिनमें हम अपनी मनोवैज्ञानिक कल्पनाओ की परीक्षा कर सकते है। उदाहरणार्थ, एस्किमो परिवार के बच्चे की परवरिश केवल माता-पिता—इन दो की देख-रेख में होती है, उसे अन्य साथियो से मिलने का अवसर नहीं मिलता। उत्तरी अमरीका के इडियन माता-पिता के बच्चो को माता-पिता की देख-रेख न के बराबर मिलती है। तीन बरस का होते-होते ही यह बच्चा सवेरे से घर से निकल पडता है और दूसरे बच्चो के साथ शाम तक जगल में फिरा करता है, शाम को ही घर लौटता है। जब घर के बडे-बूढे बातचीत में लगे होते है, उनकी बातो को सुनता-सुनता वह सो जाता है। एस्किमो तथा उत्तरी अमरीका के इडियनों का जीवन एक-दूसरे से कितना भिन्न है। इनके 'व्यक्तित्व' का अध्ययन करके मानव-शास्त्री मनोविश्लेषणवादियो की कल्पनाओ को परख सकता है। मानव-शास्त्री को यह देखना होगा कि क्या शैशव-काल के जीवन से बने 'व्यक्तित्व' का आदिकालीन बालक के जीवन पर प्रभाव पडता है, या बाल्य-काल के जीवन में वह जिन नये सस्कारो में, नये सगी-साथियो में पड जाता है, उनका उसके 'व्यक्तित्व' के निर्माण पर प्रभाव पडता है। आखिर, शैशव तथा बाल्य-काल—ये दो अवस्थाएँ हैं। जन्म से दो-चार साल तक शैशव, उसके बाद का समय बाल्य-काल है। मनोविश्लेषणवादी शैशव पर बल देते हैं, उनके मत में शैशव में जो-कुछ बन गया वह अमिट है। मानव-शास्त्री को देखना है कि क्या आदिवासियों के जीवन की प्रयोगशाला के अनुभव से यह तथ्य ठीक बैठता है, या बाल्य-काल के उनके नवीन सस्कार उनमें शैशव से भिन्न व्यक्तित्व का निर्माण कर देते हैं। यह बात नहीं कि इन तथ्यों की परीक्षा हम आदिकालीन समाज के बच्चो के विकास में ही कर सकते हैं, वर्तमान-समाज के बच्चो के विकास में नहीं कर सकते। परीक्षा तो दोनों प्रकार के समाजो में हो सकती है, परन्तु किसी बात की सचाई को परखने के लिए उस तथ्य की दोनो समाजों में परीक्षा हो जाय, तो उस तथ्य की यथार्थता के लिए एक और पुष्ट प्रमाण मिल जाता है।

आदिकालीन जातियों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि शैशव-काल के सस्कार तो बालक के 'व्यक्तित्व' निर्माण करते हैं, बाल्य-काल के सस्कार भी बालक के 'व्यक्तित्व' का कम निर्माण नहीं करते। मनोविश्लेषणवादी जितना शैशव-काल के सस्कारों पर बल देते हैं, उससे कम बल बाल्य-काल के सस्कारों पर नहीं दिया जा सकता। मानव-शास्त्र का अध्ययन बतलाता है कि बालक का 'व्यक्तित्व' हर समय बनता रहता है, ज्यों-ज्यों नय-नये सस्कार पडते रहते हैं, त्यों-त्यों पुराना व्यक्तित्व बदलता और नये व्यक्तित्व का निर्माण

होता रहता है। फल-मूल एकत्रित करने वाली सरल अर्थ-व्यवस्था में बालक शीघ्र ही माता-पिता का उनकी अर्थ-व्यवस्था में हाथ बँटाने लगता है, छोटी आयु में ही उनके साथ जगल में जाने, फल-मूल लाने और दूसरे काम करने लगता है। इसका परिणाम यह होता है कि इस प्रकार की सरल अर्थ-व्यवस्था में बालक को बहुत जल्दी अपने बराबर का समझा जाने लगता है, उसे छोटा नहीं समझा जाता। इस अर्थ-व्यवस्था के जो युवा होते हैं वे आठ-दस बरस के बच्चों को भी अपना साथी समझने लगते हैं, इसलिए क्योंकि उनके छोटा होते हुए भी उनसे बडो का-सा काम लिया जाता है। इस प्रारभिक तथा सरल अर्थ-व्यवस्था के बाद जब विकसित अर्थ-व्यवस्था आती है, जिसमें बच्चो को काम ज्यादा नहीं करना पडता, जिसमें 'बचत' होने लगती है, उसमें बडो को भी माता-पिता बच्चा समझते हैं, इसलिए बच्चा समझते हैं क्योंकि युवा होने पर भी उनसे बच्चों की तरह कुछ काम नहीं लिया जाता। सरल तथा विकसित दोनो अर्थ-व्यवस्थाओ के युवा तो युवा है, इनमें सरल अर्थ-व्यवस्था में युवा को दूसरे युवा अपना साथी समझते हैं, अपने बराबर का समझते हैं, विकसित अर्थ-व्यवस्था में युवा को दूसरे युवा बच्चा ही समझते हैं—इसका कारण क्या है? इसका कारण यही है कि युवावस्था में जैसा बालक से व्यवहार किया जाता है, उससे वह अपने नये 'व्यक्तित्व' का निर्माण कर लेता है, उसका व्यक्तित्व जैसा एक बार बन गया, वैसा बन गया यह बात नहीं है, परन्तु बालक का 'व्यक्तित्व' एक लचकीली चीज है, जो नई परिस्थितियों के उत्पन्न करने पर नई बन जा सकती है। मानव-शास्त्रियो की यह बात मनोविश्लेषणवादियों की बात को काटती है, परन्तु अभी इस दिशा में और अधिक विचार करने की आवश्यकता है।

घराने के लोगों में भाई-वहन तक की शादी होती थी, और वह इसलिए कि वडे घरानो के दैवीय-गुण सन्तान में सुरक्षित रह मकें। किन्हीं-किन्हीं जातियो में वुआ या मामा की लडकी से शादी की जाती है, यह 'समान-रुधिर-विवाह' है, परन्तु इसका मुख्य कारण अपनी सामाजिक-स्थिति को वनाये रखना है।

'सम्मिलित' अथवा 'समान-रुधिर' विवाह—इन दोनो में दो व्यक्तियों का पति-पत्नी के रूप में मेल होता है। इस मेल में कुछ व्यक्ति 'प्रथम-कोटि के सवधी' (Primary kins) होते है, कुछ 'द्वितीय-कोटि के सवधो' (Secondary kins) होते हैं, कुछ 'तृतीय-कोटि के सवधो' (Tertiary kins) होते हैं। इस प्रकार सवधो की कोटि आगे-आगे चलती चली जाती है। ये तीनो क्या हैं?

(i) प्रथम-कोटि सबध (Primary kinship)—'प्रथम-कोटि के सबधी' (Primary kins) कौन होते हैं? 'सम्मिलित' अथवा 'समान-रुधिर' विवाह में जिन व्यक्तियों का एक-दूसरे से सीधा, किसी के जरिये से नहीं, सबध होता है वह 'प्रथम-कोटि का सवध' कहलाता है। उदाहरणार्थ, सन्तान का अपने पिता के साथ सीधा 'प्रथम-कोटि का रुधिर का सवध' (Primary consanguineous kinship) है, इसी सन्तान की शादी होने पर इसका अपनी पत्नी के साथ सीधा 'प्रथम-कोटि का सम्मिलित-सवध' (Primary affinal kinship) है।

(ii) द्वितीय-कोटि सवध (Secondary kinship)—'द्वितीय-कोटि के सवधी' (Secondary kins) कौन होते हैं? जिनका अपना तो हमारे साथ 'समान-रुधिर का' या 'सम्मिलन का' सीधा 'प्रथम-कोटि' का सवध नहीं है, परन्तु जिन लोगों का हमारे साथ सीधा, अर्थात् 'प्रथम-कोटि' का सवध है उन लोगो के साथ उनका प्रथम-कोटि का सबध है—उन्हें हमारी दृष्टि से 'द्वितीय-कोटि के सवधी' कहा जाता है। उदाहरणार्थ, हमारे चाचा का हमारे साथ तो सीधा 'प्रथम-कोटि का सवध' नहीं है, परन्तु हमारे पिता के साथ, जिनका हमारे साथ 'प्रथम-कोटि का सवध' है, हमारे चाचा का 'प्रथम-कोटि का सबध' है। इस दृष्टि से हमारे पिता हमारे प्रथम-कोटि के और हमारे चाचा हमारे 'द्वितीय-कोटि के समान रुधिर के सवधी' (Secondary Consanguineous kins) कहलायेंगे। इसी प्रकार हमारी सौतेली माँ का हमारे साथ क्या सबध है? हमारी सौतेली माँ का हमारे साथ सीधा प्रथम-कोटि का सबध नहीं है, क्योंकि हमारा और उसका रुधिर का सवध नहीं है। माँ के साथ बेटे का रुधिर का ही तो सवध होता है, जिसका सौतेली माँ के साथ अभाव होता है। सौतेली माँ का हमारे पिता के साथ सीधा 'प्रथम-कोटि का सम्मिलन-सबध' है, इसलिए उसका हमारे साथ 'द्वितीय-कोटि का सम्मिलन-सबध' (Secondary affinal kinship) है।

(iii) तृतीय-कोटि सवध (Tertiary kinship)—'तृतीय-कोटि के सवधी' (Tertiary kins) कौन होते हैं? जिनके साथ हमारा 'द्वितीय-

कोटि का संबंध' है, उनके साथ जिनका 'प्रथम-कोटि का समान-रुधिर' का या 'सम्मिलन' का सबध हो, वे तृतीय-कोटि के सबधी कहे जाते हैं। इस प्रकार यह सबध समान-रुधिरवालों तथा सम्मिलन-सबध वालो के साथ आगे-आगे बढता चला जाता है।

(ख) भवधों का क्षेत्र (Range of kinship)—ऊपर हमने जो विवरण दिया उससे यह तो स्पष्ट हो गया कि नातेदारी के रिश्ते 'प्रथम-कोटि' से 'द्वितीय-कोटि' में और 'द्वितीय-कोटि' से 'तृतीय-कोटि' में पहुँचते-पहुँचते बढते चले जाते हैं, ज्यो-ज्यों हम तृतीय से भी अगली कोटियो में पहुँचेंगे, त्यों-त्यो इनकी सख्या बढ़ती ही चली जायगी। आजकल के समाज में रिश्तेदारी को बहुत आगे तक नहीं देखा जाता, दो-तीन पीढ़ियो तक ही इस सबंध को देखा जाता है, अशिक्षित-जन-जातियों में इसको बहुत दूर तक, कई पीढियो तक देखा जाता है। इन सबधों को 'पीढी' कहते हैं। हिन्दुओ में १९५५ से पहले तक तो यह नियम था कि विवाह-संबध में पिता की सात तथा माता की पाँच पीढियाँ छोड़ दी जाती थीं, अब 'हिन्दू-विवाह तथा तलाक अधिनियम' के स्वीकृत होने के बाद से विवाह के निषेध की यह सीमा माता तथा पिता दोनों से तीन पीढियों तक कर दी गई है। हमारा सबध देखने का क्षेत्र 'सकुचित-क्षेत्र' (Narrow range) होता जा रहा है, आदिवासियों का सबध देखने का क्षेत्र 'विस्तृत-क्षेत्र' (Broad range) होता है, और इतना विस्तृत होता है कि अपने कुल के आदि-काल को ढूँढते-ढूँढते वे किसी काल्पनिक पूर्वज को वश का प्रवर्तक मानने लगते हैं। 'गोत्र' (Clan) तथा 'गोत्र-चिह्न' (Totem) का उद्भव-स्थान इसी आदि-प्रवर्तक की ढूँढ का परिणाम है। हम 'गोत्र' तथा 'गोत्र-चिह्न' पर अगले अध्याय में विस्तार से विवेचन करेंगे।

(ग) वश (Descent)—वश का सबध माता तथा पिता दोनो से है। 'परिवार' (Family) एक ऐसी सस्था है जिसमें माता से भी वंश को गिना जाता है, पिता से भी, इसलिए परिवार का रूप 'उभय-पक्षीय' (Bilateral) कहलाता है, 'गोत्र' (Clan or Sib) एक ऐसी सस्था है जिसमें वश को सिर्फ पिता से या सिर्फ माता से गिनते हैं, इसलिए 'गोत्र' का रूप 'एक-पक्षीय' (Unilateral) कहलाता है। 'परिवार' की सस्था में वश गिनते हुए सब पीढियो को गिनना पडता है, पिता का पिता, उसका पिता, फिर उसका पिता कौन था, माता का पिता, फिर उसकी माता का पिता, फिर उसकी माता का पिता आदि सब पीढियों का क्रमश पता लगाना होता है, और 'गोत्र' की सस्था में इन सब पीढियों का पता लगाने की जरूरत नहीं, सिर्फ पिता के या सिर्फ माता के वंश के आदि-प्रवर्तक का, उस प्रवर्तक का जिससे शुरू-शुरू में वश चला, पता लगाना होता है। जिन परिवारों में माता से वश चलता है, उस परिवार के लोग आपस में 'मातृ-वशी-सबधी (Matrilineal kins) कहाते हैं, जिनमें पिता से वश चलता है, वे लोग आपस में 'पितृ-वशी-सबधी' (Patrilineal kins) कहाते

इनमें से कमारो का एक समूह तो कछुए की पीठ पर चढ कर जल को पार कर गया। इन्हें 'नेतम' कहा जाता है। आज दिन भी वे कछुए के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए इसे अपना गोत्र-चिह्न मानते है और कछुए को नहीं मारते, इसे नहीं खाते। दूसरा समूह मगरमच्छ की पीठ पर चढ कर जल को पार कर रहा था। धार के बीच में मगरमच्छ का दिल बिगड गया। उसने पीठ पर चढो से कहा कि मुझे भूख लगी है, मै तुम सब को हडप जाऊँगा। उसकी पीठ पर जितने कमार चढ़े थे, डर के मारे सब ने जल में छलाग मार दी। कुछ को वह खा गया, बाकी जो बच रहे वे तैरते-तैरते कछुए की पीठ पर चढो के निकट पहुँच गये। उन्होंने कछुए से गिडगिडा कर कहा—हमें भी अपनी पीठ पर ले लो। कछुए ने कहा कि मेरी पीठ पर काफी बोझ लदा है, मै और अधिक नहीं ले सकता। इन लोगो ने प्रार्थना करते हुए कहा—मामा, हमारी जान बचा लो। कछुए ने, कहा—अरे, तुम मेरे भानजे हो, आओ, पीठ पर चढ जाओ, और उसने इन सब की भी जान बचा दी। इस वर्ग को 'मरकम' कहा जाता है और आज भी ये जहाँ मगरमच्छ को देखते है उसे जान से मार डालते है और कछुए की पूजा करते है। 'कछुए' तथा 'मगरमच्छ' के इन गोत्रो के चिह्न होने की यह कहानी है।

सोरी लोग जगल की एक झाडी को पकड कर पार हो गये। पार होने के बाद उन्होंने एक जगल में डेरा डाला। वहाँ उनके भिन्न-भिन्न परिवारो ने कुछ दिन विश्राम करने के लिए अपनी झोंपडियाँ भी बना लीं। इनमें से एक सोरी स्त्री गर्भवती थी। उसके यहाँ दो सन्तान उत्पन्न हुई—एक सिह थी, दूसरी साँप थी। सिह कमार से जो वश चला उसका नाम 'बाघ-सोरी' तथा साँप कमार से जो वश चला उसका नाम 'नाग-सोरी' पडा। 'बाघ-सोरी' शेर को और 'नाग-सोरी' साँप को नहीं मारते। अगर उन्हें पता चल जाय कि आस-पास किसी ने शेर या साँप मारा है, तो वे स्नान करते है, प्रायश्चित्त करते है, ठीक ऐसे जैसे कोई निकट का सबधी मरा हो।

एक बूढ़ा कमार अपने पुत्र के लिए एक पुत्र-वधू लाया। इस बीच यह जल-विप्लव आ गया। लडके-लडकी का अभी सबध नहीं हुआ था। पानी उतरने के बाद जब वह घर का आँगन बुहारने लगी, तब उसके सब कपडे भीजे हुए थे, उन कपडो के बीच से उसके सुन्दर अग-प्रत्यग झलक रहे थे। इतने में बृद्धदेव का बकरा वहाँ आ निकला। बकरे ने सुन्दरी पर मोहित होकर उसका आलिंगन करना चाहा। सुन्दरी ने कहा—अगर तुम्हारे ससर्ग से मुझे सन्तान हो गई, तो क्या होगा। उसने कहा, वह 'कुजम'-गोत्र की कहलायेगी। वह सुन्दरी बकरे के साथ जगल में जाकर तीन दिन रही। चौथे दिन कमार लोगों ने ढूँढ़ते-ढूंढते जगल में जाकर उसे बकरे के साथ सोते पकडा, परन्तु इस बीच वह गर्भवती हो चुकी थी। इस स्त्री के जो सन्तान हुई वह आज भी 'कुजम' गोत्र की कहलाई और बकरा उसका 'गोत्र-चिह्न' हुआ। इस गोत्र के लोग बकरे का मांस नहीं खाते और

अगर बकरा इनकी झोपडी में आ घुसे तो रसोई के बर्तन फेंक देते हैं और पानी छिडक कर झोपडी को पवित्र करते हैं।

इस जन-जाति का एक वर्ग दुनियां भर में घूमता-फिरता रहा। लगातार गतिशील होने के कारण इसे 'जगत' कहते हैं। एक वर्ग इतना भूखा था कि उसने मुर्दे को खा लिया। इसे 'मरैं' कहते हैं और इनके यहां जो प्राणी अपने-आप मर जाय उसे खाना मना है, ये पशु को मार कर खाते हैं, स्वय मरे को नहीं खाते। जो कमार अपना निर्वाह किसी प्रकार नहीं कर सके उन्हें 'छेदैहा' कहा जाता है।

'गोत्र-चिन्ह' की उत्पत्ति से जन-जातियो मे इसका महत्त्व स्वय स्पष्ट हो जाता है। कई जातियो में 'गोत्र-चिन्ह' का जो पशु-पक्षी-वृक्ष हो उसका मारना तथा खाना मना होता है। कई-कई जातियों में उत्सवो-त्यौहारो पर उसे मार कर खाया भी जाता है। प्राय जन-जातिया अपना 'गोत्र-चिन्ह' शरीर के किसी भाग पर गुदवा लेती हैं।

कर रखने का महत्व नहीं है। जमा करने के बाद कई स्थानो में इसे सब के सामने जला देने की प्रथा है, कई स्थानो में बिरादरी का भंडारा कर इसे लुटा देने की प्रथा है, कई स्थानो में इसे समुद्र में फेंक देने की प्रथा है। इन सब प्रथाओ का यही अभिप्राय है कि इन लोगो में सम्पत्ति को जमा करने के स्थान में सम्पत्ति को लात मार कर कुलीन व्यक्ति उच्च-वर्ग में सम्मिलित होता है।

(ग) न्यू गिनी की ट्रोब्रियेड जन-जाति—यह जाति सम्पत्ति को जीवन का सब से ऊंचा लक्ष्य मानती है। अन्य जन-जातियो में सम्पत्ति को इतना महत्व नहीं दिया जाता जितना इनमें दिया जाता है, परन्तु इनमें भी उच्च-वर्ग का कहलाने के लिए 'कुल' नाम की एक प्रथा है। इस प्रथा के अनुसार अपने द्वीप के भीतर तथा बाहर व्यापार करते हुए व्यापारी उन व्यापारियों को जिनके साथ वह व्यापार करता है, बाजूबन्द तथा गुलूबन्द भेंट करता है। ये बाजूबन्द और गुलूबन्द साधारण जब चाहे बनाये हुए जेवर नहीं होते। इनके पीछे बरसों का इतिहास होता है। जैसे कोई पुरानी चीज परपरा से चली आती हो—इसी से वह महत्वपूर्ण हो जाती है, इसी प्रकार इस जन-जाति में परपरा से चले आ रहे बाजूबन्द और गुलूबन्द का महत्व हो गया है। जो व्यापारी दूसरो को उपहार के तौर पर इनको भेंट करता है, उसकी प्रतिष्ठा बहुत बढ जाती है। प्रतिष्ठा पाने के लिए व्यापारी इस प्रकार की भेंट देते-लेते हैं। जिस गाँव में 'कुल' नाम की प्रथा के अनुसार इस प्रकार की भेंट आ जाती है वह गाँव अपने को अन्य गाँवो से अधिक प्रतिष्ठित मानने लगता है। इस प्रथा के अनुसार इन भेंटों को सदा आगे-आगे चालू रखने में ही प्रतिष्ठा कायम रहती है, अपने पास जमा कर लेने से नहीं। 'पौटलैच' प्रथा में तो सम्पत्ति का बिल्कुल स्वाहा कर दिया जाता है, 'कुल'-प्रथा में सम्पत्ति का नाश तो नहीं, परन्तु दो बहुमूल्य वस्तुओ की भेंट कर के व्यक्ति 'उच्च-वर्ग' में आने का प्रयत्न करता है।

३ श्रेणी-स्थिति
(Status by rank)

आदिवासियों में वर्ग के विभाग से स्थिति का भेद तो प्रकृति का दिया हुआ नहीं है, मनुष्य द्वारा विकास की प्रक्रिया की उपज कहा जा सकता है। परन्तु श्रेणी-भेद तो विकास का परिणाम नहीं है, यह तो प्रकृति-सिद्ध है, यह भेद जब से मनुष्य जन्मा है, अपने साथ लाया है। कोई जन्म से चतुर है, कोई भोंडा है, कोई कुशल तथा प्रवीण है, कोई कौशल-विहीन है, कोई साहसी है, कोई निरा आलसी है। इन भेदो के अलावा आयु-सबधी भेद भी प्रकृति-सिद्ध हैं। हर समाज में बाल, युवा, वृद्ध होते ही हैं, स्त्री तथा पुरुष भी होते ही हैं। आदि-समाज में जैसा हमने पहले कहा 'वर्ग-भेद' तो नहीं था, परन्तु 'श्रेणी-भेद' था, श्रेणी-भेद में भी 'आयु-भेद' (Difference of age) तथा 'लिंग-भेद' (Difference of sex) क्योंकि बहुत प्रत्यक्ष भेद हैं, जन्म से चले आते हैं, इसलिए इनका विभाग उन्होंने स्वय किया था। 'लिंग-भेद' के आधार पर सामाजिक-स्थिति का वर्णन तो हम अगले

अध्याय में करेंगे, परन्तु 'आयु-भेद' के आधार पर आदिवासियो की क्या विचार-धारा है—इस संबंध में कुछ लिख देना आवश्यक है। आयु को दृष्टि में रख कर आदिवासियों ने 'आयु-श्रेणी' (Age-rank) का विभाग किया था, और क्योंकि 'आयु-श्रेणी' में मुख्य स्थान युवा-युवतियों का होता है, अत. उन्होंने इन्हें शिक्षित करने के लिए एक 'संस्था' (Institution) को जन्म दिया था, जिसे 'शयनागार' (Dormitory) की संस्था नाम दिया जाता है। हम इन दोनों पर इस प्रकरण में कुछ प्रकाश डालेंगे।

(क) आयु-श्रेणियाँ (Age-ranks)—प्रत्येक समाज में आयु की दृष्टि से मानव का विभाग तीन श्रेणियों में किया जाता है—बाल, युवा तथा वृद्ध। बालपन से युवावस्था में बालक तब प्रवेश करता है, जब उसमें युवावस्था के लक्षण प्रकट होने लगते हैं, जब वह अपने समाज की आर्थिक-व्यवस्था की बातें सीख जाता है। यह ठीक है कि आदिवासियो के बालक छोटी आयु में ही अपने समाज के तरीके, मछली कैसे पकड़ना, शिकार का पीछा कैसे करना, कन्द-मूल कैसे खोदना—यह सब-कुछ सीख जाते हैं और आजकल के बालक की अपेक्षा जल्दी युवा-श्रेणी में सम्मिलित हो जाते हैं। ज्यों-ज्यो मनुष्य सरल आर्थिक-व्यवस्था से विकसित आर्थिक-व्यवस्था की तरफ चलता चला जाता है, त्यो-त्यों बालक का 'युवा-श्रेणी' में आना भी देर से होने लगता है, यहाँ तक कि आजकल की अत्यन्त विकसित पूंजीपति अर्थ-व्यवस्था में तो कई बालक दाढी-मूंछ निकल आने पर भी निरे बच्चे ही बने रहते हैं, काम-काज की बात वे इसलिए नहीं सीख सकते क्योंकि उनके सब काम दूसरे लोग किया करते हैं। आदिवासियो में जब बालक-श्रेणी के व्यक्ति युवा-श्रेणी में आते हैं, तब वे अपने समाज में प्रचलित युवाओ के-से कपडे, उनकी-सी वेश-भूषा, उनका-सा आचार-व्यवहार करने लगते हैं। ये लोग अपनी आयु की श्रेणी के अन्य लोगों के-से उद्योग-धंधों में जाने का प्रयत्न करते हैं, अगर किसी जन-जाति के युवा सेना में भर्ती होते हैं, तो सभी-के-सभी युवा सेना में ही भर्ती होने के लिए यत्नशील रहते हैं। शादी-ब्याह भी वे उसी आयु में करते हैं जिस आयु में उस समाज के अन्य युवा करते हैं। आदिवासियो में नहीं, अपने समाज में भी युवा-श्रेणी अपना एक अलग नमूना बनाये रखती है। बालपन से युवावस्था में तो हर-एक बच्चा आता ही है, परन्तु युवावस्था के आने पर कई समाजो में बालक यूँ ही 'युवा-श्रेणी' में आ मिलता है, इसका कोई औपचारिक विधान नहीं किया जाता, परन्तु अनेक जन-जातियो में बालक के 'युवा-श्रेणी' में आकर सम्मिलित होने के लिए ख़ास तौर पर विधि-विधान किये जाते हैं, संस्कार किये जाते हैं। हिन्दुओं में उपनयन-सस्कार किया जाता है जो कहीं-कहीं तो विवाह-संस्कार से भी ज्यादा धूमधाम से मनाया जाता है। भारत की अनेक जन-जातियो में भी इस 'आयु-श्रेणी' में पहुँच कर कुछ सीखना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि अगर युवक होने के बाद भी वह अपनी जन-जाति के रीति-रिवाज, क्रिया-कलाप नहीं सीखेगा, तो उस जन-जाति की सांस्कृतिक-

'सम्पत्ति' उत्पन्न हुई कृषि तथा पशु-पालन के युग में, जब 'मातृ-सत्ताक-परिवार' का स्थान 'पितृ-सत्ताक-परिवार' ने ले लिया था, और उस समय, जैसा हम देख आये हैं, स्त्री की स्थिति भी उसके पास किसी प्रकार की सम्पत्ति न होने के कारण गिरी हुई थी।

तो फिर क्या स्त्री की स्थिति किसी समय ऊँची नहीं रही ? यह बात नहीं है। फल-मूल एकत्रित करने की जो अर्थ-व्यवस्था थी उसमें स्त्री तथा पुरुष की स्थिति समान थी। इसके अतिरिक्त जो मातृ-सत्ताक जन-जातियाँ पायी जाती हैं, उनमें से दो का उदाहरण हम ऊपर दे आये हैं। खासी तथा गारो जन-जाति में सम्पत्ति पर स्त्री-कुल का ही अधिकार होता है, पति-कुल का नहीं। यह ठीक है कि पति के स्त्री के घर में जाकर केवल रहने से पति की अपेक्षा स्त्री की स्थिति को ऊँचा नहीं कहा जा सकता, परन्तु अगर वहां सम्पत्ति का अधिकार स्त्री को रहे, तब तो उसे ऊँचा कहना ही पडेगा। खासी तथा गारो जन-जातियो में ऐसी ही व्यवस्था है, वहां स्त्री को ही सम्पत्ति का अधिकार है। इन दृष्टान्तो को देख कर यह कहा जा सकता है कि अगर सब मातृ-सत्ताक-परिवारो में नहीं, तो कम-से-कम जिन परिवारों में सम्पत्ति पर स्त्री का अखड अधिकार है, उनमें स्त्री की स्थिति निस्सन्देह पुरुष से ऊँची है, और रही होगी।

४. पितृ-सत्ताक परिवारो में स्त्री-पुरुष की स्थिति

मातृ-सत्ताक-परिवार में पति अपनी पत्नी के घर आकर रहता है, पितृ-सत्ताक-परिवार में पत्नी अपने पति के घर आकर रहती है। यद्यपि स्थान का कोई विशेष महत्व नहीं है, तो भी जब स्त्री अपने घर रहती है, तब अपनो के बीच रहने से उसकी मान-मर्यादा पति से ऊँची बने रहना स्वाभाविक है, पति उसके साथ दुर्व्यवहार नहीं कर सकता। इसी प्रकार जब स्त्री पति के घर आकर रहने लगती है, तब पति का हाथ ऊँचा रहना स्वाभाविक है, इसलिए पितृ-सत्ताक-परिवार में पुरुष की स्थिति स्त्री से ऊँची होती है।

मातृ-सत्ताक-परिवार के विषय में विकासवादियों का कहना है कि यह तभी तक बना रहता है, जब तक कोई समाज फल-मूल तथा आखेट की आर्थिक व्यवस्था में होता है, 'कृषि-सभ्यता' तक नहीं पहुँचा होता। जब तक मनुष्य शिकार से, पशु-पालन से जीवन-निर्वाह करता है, तब तक तो यह सभव हो सकता है कि पति अपने घर को छोड कर पत्नी के घर आता-जाता रहे, परन्तु जब मनुष्य ने कृषि का आविष्कार किया, तब पति के लिए पत्नी के घर आना-जाना कठिन हो गया। उस अवस्था में वह अपने कारोबार में, खेती-बाडी में इतना व्यस्त रहने लगा कि अपने धंधों से ही उसे फुर्सत नहीं मिलती थी। जमीन को साफ करना, हल चलाना, बीज बोना, जानवरों से खेती की रक्षा करना, पकने पर काटना—ये सब इतने जजाल के काम थे जिनके बिना उसका जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता था, परन्तु जिनमें लग जाने पर उसके पास फुर्सत भी नहीं रहती थी। इसलिए 'कृषि-

सम्यता' से पहले जो 'मातृ-सत्ताक' परिवार थे, वे भी कृषि के आविष्कार के बाद 'पितृ-सत्ताक' का रूप धारण कर गये, और स्त्री अपने पति के घर में ही जाकर रहने लगी। इस प्रकार स्त्री के अपना घर छोड कर पति के घर जा बसने से पुरुष की स्थिति अपने-आप ऊँची तथा स्त्री की स्थिति अपने-आप नीची हो गई। वैसे तो स्थान का, जैसा हम कई जगह कह आय हैं, स्थिति के ऊँचे-नीचे होने पर विशेष प्रभाव नहीं पडता, परन्तु क्योंकि स्त्री पति के यहां उसकी आर्थिक-व्यवस्था से खिची चली आयी, इसलिए स्त्री तथा पुरुष की स्थिति पर इस बात का प्रभाव अवश्य पडा। आजकल के परिवार मुख्य तौर पर पितृ-सत्ताक हैं, पितृ-स्थानी हैं, पितृ-वशी हैं, इसीलिए आजकल की व्यवस्था में पुरुष का स्त्री की अपेक्षा समाज में ऊंचा स्थान है। इस व्यवस्था में सम्पत्ति पर अधिकार स्त्री का न होकर पुरुष का है, और उत्तराधिकार के तौर पर जायदाद पुत्री को मिलने के स्थान में पुत्र को मिलती है। पुत्र ही वश-परपरा का चलाने वाला समझा जाता है, इसलिए पुत्र का होना ही महत्त्व का समझा जाता है, पुत्री से वंश चलता नहीं माना जाता। अब इस अवस्था के प्रति समाज में प्रतिक्रिया हो रही है और सम्पत्ति का अधिकार पुरुष के साथ-साथ स्त्री को भी दिया जा रहा है, पुत्र के साथ-साथ पुत्री को भी उत्तराधिकार में कुछ हिस्सा दिये जाने की व्यवस्था कर दी गई है।

५ पितृ-सत्ताक परिवारो से स्त्री की स्थिति पर क्या प्रकाश पड़ता है ?

पितृ-सत्ताक परिवार में स्त्री के स्थान में पुरुष की प्रधानता होती है—यह तो स्पष्ट है, परन्तु यह कहना कि इस प्रकार के परिवार में स्त्री को सदा दबा कर ही रखा जाता है, ग़लत है। उदाहरणार्थ, हो जन-जाति पितृ-सत्ताक है, परन्तु उसमें जहां रोब जमाने वाले पति पाये जाते हैं, वहां पत्नी के आज्ञाकारी पतियों की भी कमी नहीं है। गोंड पितृ-सत्ताक जन-जाति है, परन्तु इसमें पति चुनने, तलाक देने तथा विवाह से पहले यौन-सबध करने का स्त्री को अधिकार है। थारु जन-जाति पितृ-सत्ताक है, परन्तु इस जाति की स्त्रियां इतनी सुन्दर होती हैं कि पति सदा उनका दास बना रहता है। जौनसार की खासा जन-जाति पितृ-सत्ताक है, इनमें एक स्त्री के अनेक पति होते हैं, जब तक स्त्री पति-गृह में रहती है, दबी रहती है, परन्तु इनमें स्त्री के माता के घर में जल्दी-जल्दी आने की प्रथा है, और मातृ-गृह में आकर उसे हर बात की खुली छूट हो जाती है, वह मातृ-गृह में आकर पर-पुरुषों से यौन-सबध भी कर सकती है, इस बात को उसकी ससुरालवाले भी जानते हैं, परन्तु कोई आपत्ति नहीं करते। नागा जन-जाति पितृ-सत्ताक है, परन्तु उनमें स्त्री के पुरुष के बराबर अधिकार हैं। इस सब से क्या सिद्ध होता है? ये सब बातें सिद्ध करती हैं कि स्त्री की मातृ-सत्ताक परिवार में स्थिति निश्चित तौर पर ऊँची रहती हो और पितृ-सत्ताक-परिवार में निश्चित तौर पर नीची हो जाती हो—यह बात नहीं है। एक जन-जाति से जब हम दूसरी जन-जाति में जाते हैं, तो जगह-जगह स्थिति बदलती जाती है, जहां हम आशा करते हैं कि यहां स्त्री की स्थिति

गाय प्रत्येक पशु कुछ-न-कुछ चेष्टा-सकेतों का आश्रय लेता है। उदाहरणार्थ, मोर जब आनन्द-विभोर होता है, तब अपने पखों का सुन्दर छत्ता फैला कर मोरनी को अपनी तरफ मुग्ध करने का प्रयत्न करता है, कीडी चलती-चलती दूसरी कीडी को देख कर रुक जाती है और अपने मुखाग्र भाग से दूसरी कीडी के मुखाग्र भाग को छू कर न-जाने क्या-क्या बातें कर जाती है। कुत्ता कुत्ते को देख कर प्यार से पूंछ हिलाने लगता है। कुत्ता तो पूंछ हिला कर, उछल-कूद कर मनुष्य से भी बातें किया करता है। बिल्ली जब शिकार पर आंख साधे सारे शरीर को ताने बैठी होती है, तब दूसरी बिल्ली उसकी सब बातो को समझ जाती है। बात यह है कि दूसरी बिल्ली जो शिकार नहीं कर रही, वह जब शिकार करने वाली बिल्ली को एकटक तथा तनाव में बैठे देखती है तब उसे अपने उस समय की स्मृति आ जाती है, जब वह शिकार पर झपटने की तैयारी कर रही थी। इस स्मृति से उसे समझ आ जाता है कि यह एकटक ध्यान में मग्न, तनी हुई हालत में बैठी हुई मेरी बहिन जरूर शिकार पर आंख गडाये बैठी है। इस प्रकार जीव-जन्तु, पशु-पक्षी अपनी बाह्य-चेष्टाओ द्वारा अपने मनोभावो को दूसरे पशुओं तक पहुंचा देते हैं।

(ख) वाणी द्वारा सकेत—पशु चेष्टाओं द्वारा ही नहीं, वाणी द्वारा भी अपने मनोभावों को अपनी जाति के दूसरे पशुओं तक पहुंचाते हैं। हमारे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि पशुओं की अपनी कोई भाषा होती है। प्राचीन-काल की पशुओ की भाषाओ की अनेक दन्त-कथाएँ प्रसिद्ध हैं। कहते हैं, सोलोमन पशुओं की भाषाएँ जानता था। परन्तु ये सब किस्से-कहानियां हैं, पशुओ की कोई भाषा नहीं है, हां, वे भिन्न-भिन्न आवाजों द्वारा अपने मनोभावों को दूसरे तक पहुंचाने का प्रयत्न अवश्य करते हैं। मयूर जब आनन्द-विभोर होकर पख फैलाता है तब उसके साथ आवाज भी निकालता है। कई कीट-पतग अपने प्रेमी की आवाज सुन कर उसकी तरफ खिचे चले आते हैं। जब कोई प्राणी अत्यन्त कष्ट में होता है, तब उसकी दु खमय आवाज सुन कर उसकी जाति के दूसरे पशु उसके दुःख को समझ जाते हैं। जगलों में जब पशुओं के झुण्ड-के-झुण्ड फिरा करते हैं, तब किसी सकट की स्थिति को देख कर यूथ का नायक अपनी आवाज से खतरे की घंटी बजाता है उसे सुन कर उस जात-बिरादरी के सब पशु इकट्ठे हो जाते हैं और खतरे का सामना करने के लिए तैयार हो जाते हैं। जिधर से खतरा होता है, उधर सब का ध्यान होता है मानो सब एक-दूसरे को कह रहे होते हैं कि सावधान रहो।

२. मनुष्य में सकेत—चेष्टा तथा वाणी द्वारा

(क) चेष्टाओ द्वारा सकेत—जब तक मनुष्य ने वाणी का आविष्कार नहीं किया था तब तक वह चेष्टाओं द्वारा ही अपने मनोभावों को दूसरे मनुष्य तक प्रकट कर सकता था। मनुष्य तथा पशु में चेष्टा-सकेतों की अवस्था में एक भेद था। किसी खास स्थिति में अपने मनोभाव को दूसरे तक पहुंचाने की आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ, पशु घास चर रहे हैं, उन्हें अपने मनोभाव दूसरे तक पहुंचाने की कोई आवश्यकता नहीं। इतने में कोई खतरा आ खडा हुआ। इस समय

चेष्टा की, भागने की, या वाणी द्वारा खतरे की आवाज़ निकालने की आवश्यकता होगी। ऐसे मौके पर पशु अपने बचाव के लिए जो-कुछ करना चाहेगा, मनुष्य भी वैसा-ही-कुछ करना चाहेगा, परन्तु पशु तथा मनुष्य में एक भेद यह होगा कि मनुष्य हाथ का भी प्रयोग कर सकेगा। इसका अभिप्राय यह हुआ कि आदि-काल में पशु की अपेक्षा मनुष्य में अपने को बचाने की क्षमता अधिक थी और इस कारण खतरे से बचने के लिए पशु जो-कुछ कर सकता था मनुष्य उससे बहुत-कुछ अधिक कर सकता था। पशु बचने के लिए चेष्टा के साथ-साथ कुछ-कुछ वाणी का, चीखने-चिल्लाने का भी प्रयोग करता था। मनुष्य बचने के लिए भागने के साथ-साथ हाथ द्वारा चेष्टा करता था, चीखने-चिल्लाने के साथ-साथ वाणी का कुछ अधिक प्रयोग करता था। जैसे हाथ के प्रयोग के विकसित होते-होते पत्थर मारने, तीर फेंकने आदि अस्त्र-शस्त्र का धीरे-धीरे मनुष्य ने विकास कर लिया, वैसे वाणी से निकले हुए प्रारंभिक अस्पष्ट शब्दों से मनुष्य ने भाषा का विकास कर लिया।

मनुष्य के चेष्टाओं द्वारा संकेत कई तरह के होते थे। हाथ उठा कर इशारा किया जाता था, हाथ में कोई वस्तु लेकर उसे हिलाया जाता था, आसमान में धूल फेंक कर कुछ संकेत किया जाता था। जो लोग इन संकेतों को करते थे, उन की जाति के लोग इन संकेतों को समझते थे। कभी-कभी जंगली लोग आगे-पीछे भाग कर या गोलाई में भागते हुए चक्कर लगाकर अपनी किसी भावना को व्यक्त करते हैं। चक्कर लगाने से क्या भावना व्यक्त होती है—यह बात इस जाति के दूसरे लोग समझ जाते हैं। आग का भी चेष्टा-संकेत में प्रयोग किया जाता है। किस जगह आग जलाई गई है, आग से कितना धुंआ निकल रहा है, चमड़े को गीला कर के उसे आग पर दूर से फेंका जा रहा है या पास से—ये सब संकेत जंगली जातियों में किसी-न-किसी भावना को व्यक्त करते हैं।

(ख) वाणी द्वारा संकेत—मनुष्य के क्योंकि हाथ भी है, इसलिए मनुष्य के चेष्टाओं द्वारा संकेतों में पशुओं के संकेतों की अपेक्षा बल अधिक रहा है। हाथ होने के कारण मनुष्य पशु की अपेक्षा अधिक शक्ति से अपने मनोभावों को प्रकट कर सका है। प्रेरणा की इस प्रबलता का परिणाम यह रहा है कि वह चेष्टाओं के साथ-साथ वाणी का प्रयोग भी करता रहा है ताकि प्रेरणा को और अधिक बल मिले। यह वाणी प्रारंभ में अस्पष्ट शब्दों के प्रयोग के रूप में थी, वही धीरे-धीरे विकसित होती चली गई। असल में, यह कह सकना कि 'चेष्टा-भाषा' पहले थी या 'वाणी-भाषा' पहले थी कठिन है, क्योंकि चेष्टा को वाणी से सदा बल मिलता रहा है, और मनुष्य इन दोनों का एक-साथ प्रयोग करता आया है। इस समय भी जब दो मनुष्य ऐसे मिल जाते हैं जो आपस में एक-दूसरे की भाषा नहीं समझ सकते, तो वे इशारों से, चेष्टाओं से, 'चेष्टा-भाषा' द्वारा एक-दूसरे की बात समझने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि 'चेष्टा-भाषा' की अपेक्षा 'वाणी-भाषा' अधिक विकसित तथा अधिक महत्व की वस्तु है।

भाषाओ की उत्पत्ति का यह समाधान भाषाओ के उत्पन्न होने के मनोवैज्ञानिक पहलू पर तो प्रकाश डालता है, परन्तु एक खास प्रकार का शब्द ही क्यो बना, दूसरे प्रकार का क्यो नहीं बना—इस पर प्रकाश नहीं डालता।

४ भाषा के मूल तत्त्व

हमने भाषा की उत्पत्ति पर विचार किया। भाषा जब उत्पन्न हुई, तब वह कई तत्वो से बनी। ये तत्व क्या थे—इन पर विचार करना आवश्यक है।

(१) स्वर-शास्त्र (Phonetics)—स्वर का अर्थ है 'श्वास'। श्वास के मुख में भिन्न-भिन्न स्थानों के साथ टकराने से शब्द उत्पन्न होता है। शब्द की उत्पत्ति में शरीर के कई अग काम में आते है। फेफडो से श्वास उठता है, उठ कर वह श्वास-नालिका में से होता हुआ गले के स्वर-यत्र में से गजरता है, फिर मुंह में आता है, वहां जिह्वा, तालु, दांत और ओठों के सघर्ष से भिन्न-भिन्न आवाजें उत्पन्न करता है। उदाहरणार्थ, कुछ आवाजें मुंह के खुले रहने पर निकलती है, मुंह की ऐसी हालत में जब मुंह से सास बाहर निकलते हुए उसे कोई रुकावट नहीं होती। अ, आ, इ, ई आदि ऐसी ही आवाजें है। इन्हें 'स्वर' (Vowels) कहा जाता है। कुछ ऐसी आवाजें है जो मुंह से श्वास के बाहर निकलने पर कहीं तालु से, कहीं दांतो से, कहीं होठों से टकराती है। क-ख-ग, त-थ-द, प-फ-ब आदि ऐसी ही आवाजें है। इन्हें 'व्यजन' (Consonants) कहते है। इन आवाजो को पैदा करने में 'श्वास' और 'जिह्वा' इतना भाग लेती है कि सस्कृत में श्वास के लिए 'स्वर' शब्द है, और 'स्वर-शास्त्र' का अर्थ श्वास के शास्त्र होने के स्थान में वर्णोच्चारण के शास्त्र से हो गया है। इसी प्रकार अग्रेजी में 'जिह्वा' के लिए 'Tongue' शब्द है, और 'Tongue' का अग्रेजी में अर्थ 'जीभ' के साथ-साथ 'वाणी'-'भाषा'—यह भी हो गया है। ससार के सब भागो में, हर किसी नस्ल में आवाज निकालने का यत्र एक-सा है और इसलिए हर-किसी नस्ल का व्यक्ति अभ्यास से सब तरह की आवाजें निकाल सकता है।

(२) वर्ण (Phonemes or sound-units)—वैसे तो हम अपने स्वर-यत्र से असख्य आवाजें निकाल सकते है, परन्तु स्वर-शास्त्रियों ने ससार की अनेक भाषाओ का अध्ययन करके कुछ आधार-भूत 'स्वर' चुने है जो ससार की सब भाषाओ के आधार है, अन्य असख्य 'स्वरो' को छोड दिया है। किसी भाषा में कम 'स्वर' है, किसी में ज्यादा। यहां 'स्वर' से हमारा अभिप्राय अ-आ-इ-ई से नहीं, परन्तु हर तरह की आवाज से, स्वर तथा व्यजन दोनो से है। इन चुनी हुई आधार-भूत आवाजों को 'शिक्षा-शास्त्री' सस्कृत में 'वर्ण' तथा अग्रेजी में 'फोनीम्स, (Phonemes) कहते है। इन 'वर्णों' (Phonemes) की सख्या २० से ४० तक मानी गई है। इनमें 'स्वर' (Vowels) तथा 'व्यजन' (Consonants) दोनों आ जाते है—ये दोनों 'वर्ण' है, 'फोनीम्स' है। हर-एक भाषा में आधार-भूत 'वर्ण' (Phonemes) एक-से ही है, इसलिए जैसे मकान का आधार-

भूत सामान ईंटें हो, तो मकान बन कर उठ खड़ा होने की सभावना बढ जाती है, इसी प्रकार भाषा के आधार-भूत तत्व 'वर्णों' (Phonemes) के प्रत्येक मनुष्य, मनुष्य की प्रत्येक जाति-प्रजाति के पास मौजूद होने से भाषा का बन कर उठ खड़ा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हाँ, जैसे ईंटों की मौजूदगी पर भी मकान बनाने वाले भिन्न-भिन्न आकार का मकान बना डालते हैं, वैसे 'वर्णों' (Phonemes) की मौजूदगी होने पर भी भिन्न-भिन्न नस्लों ने भिन्न-भिन्न भाषाओं का निर्माण कर दिया है।

वर्णों के भेद से भाषाओं का भेद तो होता ही है, इन वर्णों के अतिरिक्त किसी वर्ण को लम्बा कर के बोलना, किसी को बोलने में थोड़ा समय लेना—दीर्घ-ह्रस्व का भेद, इन से भी तो भाषाओं के अर्थ में भेद आ जाता है।

इन वर्णों अथवा वर्णों के दीर्घ-ह्रस्व, प्लुत-अप्लुत के सबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि कौन-सा अधिक विकसित है, कौन-सा कम विकसित है, कौन-सा पहला है, कौन-सा पिछला है। इनमें विकास की प्रक्रिया हुई भी है या नहीं—यह सन्दिग्ध है। वर्ण के जिन उच्चारणों को हम अजीब-सा कहने लगते हैं, वे अजीब नहीं होते, सिर्फ हम उनसे अपरिचित होते हैं इसलिए उन्हें अजीब, प्राथमिक या जगली कहने लगते हैं। आफ्रीका के नीग्रो के होंट मोटे होते हैं, नाक चौडी होती है—इस सब से इन वर्णों के उच्चारण में कोई भेद नहीं पडता, सब नस्लों के लोग इन वर्णों का एक-सा उच्चारण करते और कर सकते हैं। यह कहना कि एक खास तरह का उच्चारण नीग्रो लोग करते आये, दूसरी तरह का उच्चारण मगोलॉयड लोग करते आये, तीसरी तरह का उच्चारण आर्य नस्ल के इडो-युरोपियन करते आये, और इन उच्चारणों को वश-परपरा से सन्तान-से-सन्तान को देते-चले आये—इससे उच्चारण-भेद हो गया, गलत धारणा है। संसार की भाषाओं की रचना में तो भेद है, उच्चारण में भेद नहीं है, अगर कहीं दीखता भी है तो वह सामयिक है, वह आधारभूत भेद नहीं है।

(३) शब्द (Morphemes or idea-units)—'उच्चारण' की इकाई 'वर्ण' (Phoneme) कहाती है, 'अर्थ' की इकाई 'शब्द' (Morpheme) कहाती है। उदाहरणार्थ, 'आर्थिक-लाभों द्वारा'—यह एक सदर्भ है। इसमें 'आर्थिक'-'लाभ'-'ओं'-'द्वारा'—ये चार शब्द हैं, जो चारों-के-चारों मिल कर एक अर्थ को प्रकट करते हैं और इनका अलग-अलग अपना स्वतत्र अर्थ भी है। इनमें से एक-एक को 'शब्द' या अग्रेज़ी में 'मौरफीम' (Morpheme) कहा जाता है। 'वर्ण' मिल कर 'शब्द' को बनाते हैं। अग्रेज़ी में 'Railroads' शब्द है। इसमें Rail, Road तथा s —ये तीन शब्द मिलकर सारे शब्द को बनाते हैं, इसलिए इस शब्द में तीन 'शब्द' (Morphemes) हैं। वर्णों के मिलने से शब्द बनता है, एक शब्द में कई वर्ण हो सकते हैं। 'वर्ण' का काम तो उच्चारण मात्र देना है, अर्थ देना नहीं, वर्णों का शब्द बनता है जो उच्चारण के साथ-साथ सार्थक भी होता है, शब्दों से पद और पदों से वाक्य बनते हैं।

उटल भाषा में टी, कौफी, प्रीस्ट आदि शब्द दूसरी भाषाओ से लिये भी गये हैं। कहने का मतलब यह है कि क्योंकि किसी भाषा में वैज्ञानिक या आर्थिक शब्द इस समय मौजूद नहीं हैं, इसलिए उस भाषा के लोग अपनी भाषा को छोड कर दूसरी भाषा को अपना लें—ऐसा नहीं होता।

(५) जाति-वाचक शब्द (Generalized terms)—भाषा के निर्माण में हमने शब्दो का महत्व देखा। भाषा का जब प्रारभ होता है, तब शब्दो का क्या स्वरूप होता है? शब्दो के दो रूप होते हैं—एक तो शब्द का 'व्यक्ति-वाचक' (Particular) रूप होता है, दूसरा 'जाति-वाचक' (General)। जब हम 'कुत्ता'—इस शब्द का उच्चारण करते हैं, तब हमारे ध्यान में अपने घर के कुत्ते का जिसका काला रग है, पूंछ कटी हुई है, जिसे हम 'जैक' कहते हैं, उसका ख्याल आ जाता है। कुत्ते का यह विचार 'व्यक्ति-वाचक' है, एक खास कुत्ते का विचार है, हर जाति के कुत्ते का नहीं। इसके अतिरिक्त 'कुत्ता'-शब्द कहने से हमारे ध्यान में सब तरह के कुत्तो का भी विचार आ सकता है। काले, सफेद, चितकबरे, भूरे, छोटे-बडे, बालोंवाले-बिना बालोंवाले—सभी प्रकार के कुत्तो का विचार हमारे ध्यान में आ जाने से कुत्ते का यह विचार 'जाति-वाचक' है।

शुरू-शुरू में शब्दो का कौन-सा रूप मनुष्य के ध्यान में आता था—'व्यक्ति-वाचक' या 'जाति-वाचक'? 'कुत्ता' कहने से अपने घर के कुत्ते का ही विचार सामने आता था, या कुत्ते मात्र का? बालक के ज्ञान की क्या प्रक्रिया है? बालक के सामने जब 'कुत्ता' उच्चारण किया जाता है, तब क्या वह ससार भर के कुत्तों का ध्यान अपने विचार में ले आता है? उसे तो अपने घर के 'जैक' के विषय में ही मालूम है, दूसरो के विषय में तो मालूम ही नहीं, वह दूसरे कुत्तो का ध्यान कर ही कैसे सकता है? इसी प्रकार आदि-काल के मनुष्य ने जो शब्द रचे उनका सबध उन्हीं वस्तुओं से था जो उसके इर्द-गिर्द थीं, उसके शब्दो को हम 'व्यक्ति-वाचक' कह सकते है, 'जाति-वाचक' (Generalized terms) नहीं। परन्तु ऐसी बात नहीं है। मानवशास्त्रियो का कहना है कि आदिकालीन मानव का ज्ञान 'जाति-वाचक' था, 'व्यक्ति-वाचक' नहीं, इसलिए उसके शब्द भी 'जाति-वाचक' (Generalized terms) थे। यह कैसे? मनोविज्ञान का कहना है कि शुरू-शुरू में मनुष्य का ज्ञान सारे का ज्ञान होता है, अधूरे का, किसी वस्तु के भिन्न-भिन्न भागो का नहीं होता। अगर हम अपनी टेबल को देखते हैं, तो पहले-पहल हमारे सामने सारी-की-सारी टेबल का ज्ञान ध्यान में आता है। हमारी टेबल पर २०–३० पुस्तकें तरतीब से पडी हैं, स्याही-दवात, अखबार, ऐनक—न-जाने क्या-क्या पडा है। टेबल की तरफ देखते ही टेबल पर जो-कुछ पडा है, सब-कुछ दिखाई देता है। उसके बाद हम चाहें तो इन भिन्न-भिन्न भागों की तरफ ध्यान दे सकते हैं, न चाहें तो न भी दें। प्रत्येक प्राणी का प्रारंभिक-ज्ञान भागों का ज्ञान न होकर पूरे का ज्ञान होता है, फिर उस पूरे में से भाग बनते है। इसी दृष्टि से मानवशास्त्री कहते हैं कि आदिकालीन जातियों का शब्द-ज्ञान 'जाति-वाचक' (Generalized terms)

का ज्ञान था, उसके बाद 'व्यक्ति-वाचक' शब्दो का ज्ञान हुआ। बच्चे का भी प्रारंभिक-ज्ञान 'जाति-वाचक' होता है। 'कुत्ता' देखने से विशेष कुत्ते का ज्ञान तो उसके माता-पिता उसे सिखाते हैं—यह कुत्ते का कान है, यह नाक है, यह मुंह है, यह सब कौन बताता है? बच्चा कुत्ते को देख कर उसके नाक-कान-आंख आदि अलग-अलग अगो को ध्यान में थोडे ही लाता है, वह तो सारे-के-सारे कुत्ते को देखता है। अनेक आदि-जातीय भाषाओ के अध्ययन से इस कथन की पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ, डकोटा जाति की भाषा में तोडना, काटना, टुकडे करना आदि के लिए अलग-अलग शब्द नहीं हैं, उनकी भाषा में सिर्फ एक शब्द है—'दो हिस्से करना'। 'तोडना' कहना हो तो वे कहेंगे 'पत्थर से दो हिस्से करना', 'काटना' कहना हो तो वे कहेंगे 'दांतो से दो हिस्से करना'। इसका अर्थ यह हुआ कि शुरु में तो शब्द का अर्थ विस्तृत होता है, इसी को हमने 'जाति-वाचक' कहा है, फिर ज्यों-ज्यो भाषा विकसित होती जाती है, त्यों-त्यो उसकी अन्य शब्दों से सीमा बांधी जाती है, और इस प्रकार एक से अनेक, एक 'जाति-वाचक' से अनेक 'व्यक्ति-वाचक' शब्द, और शब्दो से पद बनते जाते हैं।

(६) व्याकरण (Grammar)—पद के बाद वाक्य आता है। वाक्य क्या है? वाक्य पदो के ऐसे सबध का नाम है जिसमें पदो के भीतर पडा हुआ अर्थ हमारे सामने उठ खडा होता है। पदो को इस प्रकार आगे-पीछे रखना जिससे वे हमारे मनोभाव को प्रकट कर सकें—इसी से वाक्य बनता है, और वाक्य में इस सबध को बनाने वाली प्रक्रिया 'व्याकरण' कहाती है। वाक्य की आत्मा व्याकरण है। व्याकरण में भिन्न-भिन्न प्रकार के 'पदो' को जोड दिया जाता है। 'गा'-'गे'-'गी', 'था'-'थे'-'थी'—ये काल तथा लिंग सूचक 'पद' हैं। सस्कृत, ग्रीक तथा लैटिन में एक-वचन, द्वि-वचन तथा बहुवचन सूचक 'पद' होते हैं। काल-सूचक, लिंग-सूचक, वचन-सूचक पदों को व्याकरण के अनुसार ठीक-ठिकाने बैठाना होता है। कई भाषाओं में काल, लिंग, वचन तथा इसी प्रकार की भाषा की अन्य श्रेणियो का झमेला इतना अधिक नहीं होता, किसी-किसी भाषा में यह झमेला बहुत बढा-चढा होता है। लैटिन, स्लैविक या एस्किमो भाषाओ में शब्दो से बने 'पदो' की विविध श्रेणियां—लिंग, काल, वचन तथा और भी बहुत-कुछ होता है, अग्रेजी में तथा फ्रेंच में 'पदो' की ये श्रेणियां इतनी ज्यादा नहीं हैं, इस दृष्टि से इनका व्याकरण सरल है। चीनी भाषा में लिंग, काल, वचन, विभक्ति किसी का झगडा नहीं है। इस भाषा को व्याकरणहीन भाषा कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ, चीनी भाषा में 'उसे कुत्ते ने काटा'—इस वाक्य को 'कुत्ता काटना मनुष्य'—इस तरह कहा जाता है, इस भाषा में विभक्ति-रहित 'शब्द' (Morphemes) होते हैं, अन्य भाषाओ में शब्दों को मिलाने वाले सबध-सूचक जितने भी प्रकार बर्ते जाते हैं, वे इस भाषा में नहीं पाये जाते। चीनी भाषा के विपरीत ऐसी भाषाएं हैं जिनकी व्याकरण की उलझन इतनी ज्यादा है कि चीनी के 'कुत्ता काटना मनुष्य' की जगह इसी भाव को व्यक्त करने के लिए वे बहुत लम्बे

(ङ) वोर्फ के भाषा तथा संस्कृति के सम्बन्ध के विषय में विचार (Whorf on Language-Culture relation)—सैपिर के भाषा तथा संस्कृति के संबंध को स्पष्ट करने वाली विचार-धारा को वोर्फ ने बहुत अधिक पुष्ट किया है। वोर्फ का कहना है कि भाषा के शब्द ही हमारे सांस्कृतिक व्यवहार को नहीं कस डालते, भाषा की व्याकरण की पेचीदगियां भी हमारे सांस्कृतिक-व्यवहार को अधिकाधिक कसती जाती हैं। संस्कृति का हमारे जीवन पर क्रियात्मक-प्रभाव क्या पड़ता है? संस्कृति का हमारे जीवन पर क्रियात्मक-प्रभाव यह पड़ता है कि हमारा सारा-का-सारा व्यवहार ही उस संस्कृति के रंग में रंग जाता है। भारतीय-संस्कृति के प्रभाव में पड़ कर मनुष्य कोट-पतलून की जगह धोती-दुपट्टा पहनने लगता है, हाथ मिलाने की जगह हाथ जोड़ कर नमस्कार करता है। यह सब सांस्कृतिक-व्यवहार हमारी भाषा द्वारा प्रभावित होता है। भाषा में लिंग, वचन, कारक, लकार, वाक्य, विभक्ति—इन सब की जितनी पेचीदगी होती जायगी, उतना इनका प्रभाव सांस्कृतिक व्यवहार पर गहरा पड़ता जायगा। इसका यह मतलब नहीं कि हम बिल्कुल भाषा के दास ही बनते जायेंगे, भाषा की बेड़ियों में अपने को सदा कैदी की तरह जकड़ा पायेंगे। मनुष्य भाषा के बन्धनों से स्वतंत्र होने का भी प्रयत्न करता है, आखिर भाषा हमारी संस्कृति का ही तो एक अंग है, और भाषा तथा संस्कृति दोनों को मनुष्य ने बनाया है, परन्तु फिर भी भाषा की जकड़न बड़ी ज़बर्दस्त है। भाषा का हमारे चिंतन पर, हमारे सांस्कृतिक-व्यवहार पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसे स्पष्ट करने के लिए वोर्फ ने अमरीका की एक इंडियन-भाषा 'होपी' की अंग्रेजी, फ्रेंच तथा जर्मन—इन 'इंडो-युरोपियन' भाषाओं से तुलना की है जिसका सारांश हम नीचे दे रहे हैं।

(1) संख्या-वाचक शब्दों में भेद—'इंडो-युरोपियन' भाषाओं में दृश्य तथा अदृश्य दोनों तरह के पदार्थों के लिए संख्या-वाचक शब्दों का प्रयोग होता है, 'होपी' भाषा में सिर्फ दृश्य पदार्थों के लिए संख्या-वाचक शब्दों का प्रयोग होता है और वह भी 'इंडो-युरोपियन' भाषाओं से भिन्न तौर पर प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ, 'इंडो-युरोपियन' में दृश्य पदार्थों में 'दस गौएँ' तथा अदृश्य पदार्थों में 'दस महीने'—इन शब्दों का प्रयोग होगा। 'दस महीनों' को हमने अदृश्य इसलिए कहा है क्योंकि महीने दीखते तो नहीं हैं। इन भाषाओं में दस की संख्या लिखी जायगी, तथा इसके आगे जो शब्द होगा वह बहु-वचन में लिखा जायगा क्योंकि दस की संख्या बहु-वचन-सूचक है। 'होपी' भाषा में 'दस महीनों' जैसी तो कोई चीज है ही नहीं, क्योंकि महीने अदृश्य वस्तु हैं, संख्या तथा वचन का प्रयोग इस भाषा में सिर्फ दृश्य वस्तु के साथ हो सकता है। दृश्य वस्तु के साथ भी संख्या तथा वचन का प्रयोग करते हुए इस भाषा में ध्यान रखा जाता है कि संख्या के साथ जिस वस्तु का नाम लिया जाय, वह बहु-वचन में न होकर एक-वचन में हो। 'दस गौएँ'—ऐसा कहने के स्थान पर 'होपी' भाषा में 'नौ के बाद या ग्यारह से पहले जो गौ आती है वह'—ऐसा कहेंगे। 'इंडो-युरोपियन' भाषाओं में एक ही

वाक्य में महीने या गौ शब्द को अदला-बदला जा सकता, 'होपी' भाषा में ऐसा नहीं किया जा सकता।

(11) नाम-वाचक शब्दों में भेद—इंडो-युरोपियन भाषाओं में दो प्रकार के 'नाम' (Nouns) पाये जाते हैं—व्यक्ति-वाचक नाम तथा पदार्थ-वाचक नाम। व्यक्ति-वाचक नाम वे हैं जो किसी निश्चित परिधि से घिरे होते हैं, जैसे कुत्ता, मनुष्य, छडी। इनकी चारों तरफ की परिधि निश्चित है। पदार्थ-वाचक नाम वे हैं जो किसी निश्चित परिधि से नहीं घिरे होते, उन्हें जिस निश्चित परिधि वाले पदार्थ में डाल दिया जाता है, उसी की परिधि को ये ले लेते हैं, जैसे वायु, जल, दूध। जल, दूध की अपनी कोई निश्चित परिधि नहीं है, लोटे में डाल दिया तो लोटे की और गिलास में डाल दिया तो गिलास की सूरत ले लेते हैं। इन परिधि-रहित पदार्थ-वाचक नामों को हम व्यक्ति-वाचक बनाना चाहें तो एक छोटा-सा वाक्य बनाना पडता है जिसमें एक व्यक्ति-वाचक तथा एक पदार्थ-वाचक शब्द रहता है और इन दोनों को 'का' से जोड दिया जाता है। जैसे, 'पानी का लोटा'—यह रूप पदार्थ-वाचक नाम को लेकर भी व्यक्ति-वाचक का रूप धारण कर गया है। इस रचना में आधार तथा आधेय को हमने एक-साथ जोड दिया—लोटा आधार है, पानी आधेय है। आधार-आधेय के अतिरिक्त कभी-कभी एक ही पदार्थ-वाचक नाम के दो टुकडे कर दिये जाते हैं, तब भी पदार्थ-वाचक नाम को व्यक्ति-वाचक का रूप दे दिया जाता है। उदाहरणार्थ, 'लकडी का टुकडा'—इस वाक्य में 'लकडी'-शब्द पदार्थ-वाचक है, व्यक्ति-वाचक नहीं, क्योंकि 'लकडी' किसी निश्चित-परिधि से तो घिरी हुई नहीं, लकडी तो एक अनिश्चित-पदार्थ है। इस अनिश्चित को निश्चित करके हम इसे पदार्थ-वाचक से व्यक्ति-वाचक बना लेते हैं, परन्तु ऐसा कहते हुए 'पानी' और 'लोटा' दो भिन्न-भिन्न पदार्थों को जोडने के स्थान में एक ही पदार्थ के दो टुकडे कर डालते हैं। 'लकडी' के दो टुकडे करके हमने 'लकडी का टुकडा'—यह व्यक्ति-वाचक नाम बना दिया। इस प्रकार भाषा में 'व्यक्ति-वाचक' तथा 'पदार्थ-वाचक' नामों का होना और 'पदार्थ-वाचक' नाम को दो तरीकों से व्यक्ति-वाचक बना देना—यह सारी-की-सारी प्रक्रिया 'होपी' भाषा में नहीं पायी जाती। 'होपी' भाषा में केवल व्यक्ति-वाचक नाम हैं, पदार्थ-वाचक नहीं हैं, और जब पदार्थ-वाचक नाम है ही नहीं, तब उन्हें व्यक्ति-वाचक बनाने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस भाषा के लोग वायु, दूध, पानी, लकडी को इन के पदार्थ रूपों में सोचते ही नहीं, इन पदार्थों के विषय में इनका ज्ञान व्यक्ति-वाचक नामों से सीमाबद्ध है।

उक्त दृष्टान्तों के आधार पर वोर्फ का कथन है कि प्रत्येक भाषा का 'विचार का संसार' अपना-अपना है। इस 'विचार के संसार' का आधार भाषा के शब्द, भाषा की रचना है। विचार के इस 'लघु-संसार' (Microcosm) को प्रत्येक भाषा का व्यक्ति लिये-लिये फिरता है, और इसी के प्रकाश में इन्द्रियों से देखे जाने वाले इस 'महा-संसार' (Macrocosm) को समझने का प्रयत्न करता

का भी सूत्रपात हुआ। माया-जन-जाति ने ईस्वी सन् से बहुत पहले शून्य का आविष्कार किया, इकाई-दहाई आदि का भी इन्हीं ने आविष्कार किया।

ज्यामिति की माप-रेखाओ का आदि-मानव ने अपने शरीर के भिन्न-भिन्न भागो के आधार पर परिगणन करना सीखा। ब्रिटिश कोलम्बिया की तटवर्ती जन-जातियों में आजकल के फुट की तरह का बडा माप अगूठे के एक सिरे से छोटी अगुली के दूसरे सिरे तक की चौडाई का माप होता था, इनमें छोटा माप अगूठे के के एक सिरे से पहली अगुली के सिर तक की चौडाई का माप छोटा पैमाना था। अमरीका की उत्तर-पश्चिमी तटवर्ती जन-जातियो में मकान की मान-रेखा बनाने में ज्यामिति के सिद्धान्तो का आश्रय लिया जाता था।

६ आदिकालीन-मानव का नक्षत्र तथा ऋतु-सबधी ज्ञान

आदि-मानव ने नक्षत्रो तथा ऋतुओ के आधार पर कुछ 'नक्षत्र-सबधी' (Astrological) तथा 'ऋतु-सबधी' (Meteorological) परिणाम निकाले थे जिनके अनुसार वह अपनी गति-विधि का नियन्त्रण करता था। नक्षत्रो के सबध में तो कहा जा सकता है कि प्राय सभी आदिवासियो की वर्ष-गणना चन्द्रमा के आधार पर बनी है। क्योकि सूर्य घटता-बढ़ता नहीं, चन्द्र घटता-बढता है, इसलिए आदि-मानव के लिए चन्द्रमा को समय की गणना का आधार बनाना स्वाभाविक है। समय को प्रकट करने के लिए चन्द्रमा के भिन्न-भिन्न नाम रखे गये हैं, और इन नामों का सबध चन्द्रमा के उस समय के साथ मेल खाने वाले प्राकृतिक परिवर्तनों के साथ है। उदाहरणार्थ, चन्द्रमा के किसी काल में कोई वनस्पति पैदा होती है, किसी काल में पकती है। चन्द्रमा के किसी काल में हरिण के सींग गिर जाते हैं, किसी में नही गिरते। इन लोगो में गेहूँ पकने का चाँद निकल आया, हरिण के सींग गिरने का चाँद आजकल चल रहा है—इस प्रकार काल की गणना की जाती है। थौम्पसन इडियन चन्द्रमा के आधार पर काल की गणना इस प्रकार करते हैं—(१) हरिणों का सभोग-काल, (२) शरद् का चांद जब घर के भीतर रहना उचित है, (३) हरिणों के सींग छूटने का चन्द्र, (४) वसन्त-वायु का काल, (५) सर्दी के बाद घर से निकलने का काल, (६) मछलियो के पकडने का काल, (७) कन्द खोदने का काल, (८) बेरी पकने का काल, (९) ग्रीष्म काल, (१०) सालमन-मछली पकडने का काल, (११) मछली के नदी के स्रोत पर पहुँचने का काल, (१२) साल के इस बारहवें हिस्से का इनके यहाँ कोई नाम नहीं है। कोरयक जन-जाति में साल के बारह महीने गिने जाते हैं, परन्तु उनमें हर-एक महीने का हरिण के जीवन के किसी-न-किसी पहलू के साथ सबध होता है।

जन-जातियों का नक्षत्रों का ज्ञान असाधारण होता है। हौट्टनटौट तथा दक्षिणी-अमरीका के इडियन मास का प्ररभ 'कृत्तिका-नक्षत्र' (Pleiades) के उदय से गिनते हैं। 'भूमध्य-रेखा' (Equator) से जब सूर्य अधिकतम दूरी पर होता है उस समय को 'अयन' (Solstice) कहते हैं। सूर्य जब भूमध्य-

रेखा से उत्तर की तरफ अधिकतम दूरी पर होता है, तब सूर्य को उत्तरायण कहते हैं, जब इस रेखा से दक्षिण की तरफ अधिकतम दूरी पर होता है, तब सूर्य को दक्षिणायन कहते हैं। सूर्य भूमध्य-रेखा के उत्तर की तरफ जाता हुआ जब अधिकतम दूरी के बिन्दु पर पहुँच जाता है, तब वहाँ से लौट कर पश्चिम की तरफ के भूमध्य-रेखा के अधिकतम दूरी के बिन्दु की तरफ जाता है। असल मे तो पृथ्वी जाती-आती है, परन्तु कहने को सूर्य का उत्तरायण तथा दक्षिणायन जाना-आना कहा जाता है। इस आधार को बना कर ब्रिटिश कोलम्बिया के थौम्पसन इडियन, कोस्ट इडियन तथा प्युब्लो जन-जाति के लोग अपने पचाग को ठीक कर लेते हैं। वैनकोवर द्वीप-वासी क्वाकीउटल जन-जाति के लोग चाँद से होने वाले समुद्र के ज्वार को देख कर यह जान लेते हैं कि तेलवाली जिस मछली की खोज में वे हैं, वह किनारे पर कब पहुँचेगी। माइक्रोनेशिया की जन-जाति के लोगो ने समुद्र में नाव-सचालन के लिए नक्षत्रो के आधार पर ऐसा चार्ट बनाया था जिसको देख कर चलते हुए वे अपने निश्चित लक्ष्य पर पहुँच जाते थे। 'नव-पाषाण-युग' (Neolithic period) में पुरोहित-वर्ग के पास पर्याप्त अवकाश होता था, वे दुनियाँ के कामों में उलझे न होते थे, उस काल में उन्होने चान्द्र-मास का गणित के आधार पर समय निर्धारण किया था। अमरीका की माया जन-जाति ने जिन्होने शून्य का आविष्कार किया था, इस शून्य के आधार पर ही नक्षत्र-विद्या को उच्च-शिखर पर पहुँचा दिया था। इनकी नक्षत्र-विद्या मैसेपोटामिया के ज्योतिषियो से भी बढ गई थी। पौलीनेशिया के वासी अपने नक्षत्र-ज्ञान के आधार पर ही गहन समुद्र को दिशा-ज्ञान के कारण पार कर जाते थे।

७ आदिकालीन-मानव का औषध-सबधी ज्ञान

आदि-मानव जगलो में घूमता, आखेट का जीवन व्यतीत करता था। जगल की हर जडी-बूटी से वह परीक्षण करता रहता था। उसे अपने जगल के 'फल-फूल तथा जीव-जन्तु' (Flora and fauna) का पूरा-पूरा ज्ञान था। वह जानता था कि किस जडी-बूटी का क्या लाभ है, उसकी क्या हानि है, कौन-सी जडी-बूटी जगल के किस भाग में मिलती है। इन जडी-बूटियो में कई विष थीं, कई मादक थीं, कई निद्रा लाने वाली थीं, किसी से दस्त और किसी के खाने से उल्टी आ जाती थी। वह इन सब औषधियों का इन सब कामो के लिए प्रयोग करता था। कोका के पत्तों को दर्द कम करने के लिए वह प्रयोग में लाता था। कोकेन तथा कुनीन का प्रयोग आदि-जातियो से युरोपियन लोगो ने सीखा। हर-स्कोविट्स (Herskovits) ने लिखा है कि आफ्रीका की कई जन-जातियो में चेचक का टीका लगाया जाता है। हड्डी टूट जाने पर वे उस अग को हड्डी को अपने ठीक स्थान पर बैठाने और जोड़ने के लिए कमठी से बाँध देते थे। मालिश करना, गन्दे फोड़े को दाग कर जला देना, उल्टी कराना, दस्त देना, खून निकालना, पसीने से अन्दर का बुखार बाहर निकाल देना—इन सब बातों का उन्हें ज्ञान था।

विष का प्रयोग मछलियो को मारने में वे लोग करते थे, तालाब में विष घोल दिया तो सब मछलियाँ मर जाती थीं, तालाब साफ हो जाता था। भारत में जन-जातियो की बात तो हम नहीं कहते, परन्तु यहाँ के आर्य-निवासियो को औषधियो का ज्ञान ईस्वी सवत् से बहुत पहले-से था। ईसा से ४०० वर्ष पहले तो आयुर्वेद का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'चरक-सहिता' लिखा गया था, उसके बाद ईस्वी सवत् के १०० से ५०० वर्ष के भीतर-भीतर सुश्रुत ने अपना प्रसिद्ध आयुर्वेद का ग्रन्थ लिखा।

८ आदिकालीन-मानव का इतिहास-सम्बन्धी ज्ञान

इतिहास का क्रम-बद्ध ज्ञान तो तभी से शुरु हुआ जब से लेखन-कला का आविष्कार हुआ, परन्तु जब मनुष्य लिखना नही जानता था, तब भी स्मृति के आधार पर पुरानी बातों को याद रखता था, और उन्हें अपनी सन्तान को सुनाता रहता था। वे भी वश-परपरा से चले आ रहे कथानको को आगे-आगे देते चले जाते थे। स्मृति के आधार पर चले आ रहे इन कथानको को दो भागो में बाँटा जा सकता है। एक प्रकार के कथानक तो वे हैं जिनका पिछली दो-तीन पीढियो तक ही तार पहुँचता है, ये कथानक प्राय सच्चे होते हैं, इनमें कल्पना की गुञ्जाइश कम होती है, दूसरे प्रकार के कथानक वे हैं जो सुदूर-भूत तक चले जाते हैं, इन्हें पुराना होने के कारण 'पौराणिक-आख्यान' (Folklore) कहा जा सकता है, इनकी सत्यता के सबध में कुछ नहीं कहा जा सकता। इन पौराणिक-आख्यानो में कुछ तो ऐसे होते हैं, जिनमें नाम, वशावलियाँ, एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना—इन सब बातो का इतनी बारीकी से वर्णन होता है कि इन्हें सर्वथा काल्पनिक भी नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ, पौलेनेशिया के 'पौराणिक-आख्यान' हर वशावली के विस्तृत नामो तथा पूर्वजो के कारनामो से भरे पडे हैं। अपने देश के 'पौराणिक-आख्यान' भी इतने विस्तार से पाये जाते हैं कि उनमें अधिकाश रूप मे सचाई है—यही मानना पडता है। इसमें सन्देह नहीं कि कई 'पौराणिक-आख्यान' कोरी कल्पना पर भी आश्रित होते हैं, परन्तु उनसे भी उस-उस जन-जाति की कल्पना-शक्ति आदि का भान तो हो ही जाता है। अनेक जन-जातियो के आख्यानो से यह पता चलता है कि उनका आदि-निवास-स्थान किसी अन्य जगह था, वहाँ कोई भारी विपत्ति आई, दुर्भिक्ष पडा, विप्लव आया, या ऐसा ही कुछ हुआ, और वे अपना पुराना निवास-स्थान छोड कर दूसरी जगह आ बसे। इन कथानको में काफी सत्यता का अश होता है और अगर इन आख्यानो को निर्देश रूप में रख कर इन जन-जातियो के पुरातन इतिहास की खोज की जाय, तो इनके सबध मे बहुत-सी नई-नई बातें पता लग सकती हैं।

२७

आदिकालीन विधान, न्याय तथा शासन-पद्धति

(PRIMITIVE LAW, JUSTICE AND GOVERNMENT)

१. विधान की उत्पत्ति

(Origin of Law)

संसार में जो-कुछ दीखता है, वह बड़ी जद्दोजहद में से गुज़र कर निकला है। हर चीज का दूसरा पहलू था, दोनो पहलुओ में से जो पहलू मनुष्य के जीवन के लिए जरूरी था, वह बच रहा, दूसरा छूट गया। कभी मनुष्य टाँगो तथा भुजाओ, —इन चार सहारों से चलता था, परन्तु टाँगो पर चलने से उसके दो हाथ अन्य कामों के लिए स्वतन्त्र हो गये, इसलिए वह दो टाँगो से चलने लगा। अनेक अनुभवो तथा परीक्षणो में से गुजरते-गुजरते मानव-समाज आज जहाँ खड़ा है, वहाँ पहुँचा है। मनुष्य तथा समाज का शासन करने वाले 'नियमो' का भी यही हाल है। न-जाने कितने 'नियमो' पर मनुष्य ने वैयक्तिक तथा सामाजिक रूप में परीक्षण किये हैं। इनमें से कुछ नियम जो मनुष्य के वैयक्तिक-जीवन के लिए उसे आवश्यक प्रतीत नहीं हुए, वे उसने छोड़ दिये, जो आवश्यक प्रतीत हुए वे उसने ग्रहण कर लिये, इसी प्रकार जो नियम समाज के जीवन के लिए आवश्यक प्रतीत नहीं हुए, अनुभवों और परीक्षणो के बाद वे छोड़ दिये गये, जो आवश्यक प्रतीत हुए वे ग्रहण कर लिये गये।

जो नियम व्यक्ति अपने हित में जरूरी समझता है, उन्हें वह अपने व्यवहार में लाने लगता है। जिस समय पति अपनी पत्नी के यहाँ जाकर रहता था, उस समय जब पहले-पहल किसी पति ने देखा होगा कि इससे उसे अपने काम-धधे में असुविधा है, उसने अपने लिये यह नियम बनाया होगा कि वह तो अपने ही घर रहेगा। जब तक यह व्यवहार उस व्यक्ति तक सीमित रहा, तब तक तो वैयक्तिक नियम सिर्फ 'वैयक्तिक-व्यवहार' बना रहा, परन्तु जब इस वैयक्तिक-नियम को दूसरो ने भी अपनाना शुरू किया, तब यही 'वैयक्तिक-व्यवहार' (Individual behavior) बदल कर 'सामाजिक-व्यवहार' (Social behavior) का रूप धारण कर गया। अनेक नियमों के सघर्ष में से इस नियम, इस व्यवहार के बच रहने, सिर्फ इसी के चुने जाने तथा अन्य नियमो, अन्य व्यवहारो के छोड़ दिये जाने का आधार यह था कि अन्य नियमो तथा अन्य व्यवहारो की अपेक्षा यही नियम और यही व्यवहार व्यक्ति तथा समाज

के जीवन-धारण (Survival) के लिए आवश्यक था, दूसरे नियम या दूसरे व्यवहार पर चलते तो व्यक्ति तथा समाज का 'जीवन-धारण' खतरे में पड सकता था।

व्यक्ति तथा समाज जिन नियमो तथा व्यवहारो को अपने हित में, अपने जीवन-धारण के लिए चुनते हैं, जब तक वे इसी पीढी तक सीमित रहते हैं, तब तक तो इन्हें 'सामाजिक-व्यवहार' (Social behaviour) कहा जाता है, परन्तु जब ये अगली पीढी में पहुँचते हैं, और पीढी-दर-पीढी चलने लगते हैं, तब इन्हीं को 'सामाजिक-प्रथा' (Social custom) कहा जाता है। 'सामाजिक-प्रथा' का अर्थ है कि हमारे पुरखाओ ने अनुभवो और परीक्षणो के बाद समाज के जीवन-धारण के लिए जिन नियमो तथा व्यवहारो को आवश्यक समझ कर अपना लिया था, उन पर अब हम नये सिरे से परीक्षण न करके उन्हें जैसे-का-तैसा अपना लेते हैं।

जब तक कोई नियम 'वैयक्तिक-व्यवहार' के दायरे तक रहता है, तब तक व्यक्ति को उस नियम के अनुसार चलने-न चलने की पूरी स्वतत्रता होती है, ज्यो-ज्यों वह नियम व्यक्ति से आगे चलने लगता है, पहले समाज में चलता है, फिर अगली पीढी में चला जाता है, त्यो-त्यो उसमें से स्वतन्त्रता का अश निकलता चला जाता है, और बाधितपन का अश आता जाता है। आदिकालीन पति जिसने पहले-पहल पत्नी के घर जाना छोड कर अपने काम-धधे के लिए अपने घर रहना ही ठीक समझा, अपने व्यवहार मे स्वतत्र था, उसके बाद जब यह फैशन ही हो गया, यह 'वैयक्तिक-व्यवहार' बदल कर 'सामाजिक-व्यवहार' बन गया, तब व्यक्ति की स्वतन्त्रता कम हो गई, और जब यह 'सामाजिक-व्यवहार' पीढी-दर-पीढी चलने से 'सामाजिक-प्रथा' बन गया, तब तो व्यक्ति के लिए इसके विरुद्ध चलना उपहासास्पद हो गया। आज घर-जँवाई बन कर रहने को लोग उपहास की दृष्टि से देखते हैं। ज्यों-ज्यों नियम तथा व्यवहार 'प्रथा' का रूप धारण करता जाता है, त्यो-त्यों इस नियम तथा व्यवहार मे से स्वतत्रता का अश कम होता जाता है, इसमें बाधितपन का अश बढता चला जाता है, यहाँ तक कि किसी नियम के 'प्रथा' बन जाने पर उसे तोडना कठिन हो जाता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि 'प्रथा' को तोडा नहीं जा सकता। अब भी 'प्रथा' के पीछे ऐसा कोई बल नहीं होता कि उसे कोई तोड ही न सके, तो तोडे उसे दण्ड दिया जा सके।

जब तक मानव-समाज अशिक्षित तथा आदिकालीन अवस्था में रहा, तब तक नियमो का विकास करते-करते वह 'प्रथा' तक ही पहुँच सका, इससे आगे नहीं पहुँच सका। 'प्रथा' में भी बल था, बाधितपन था, स्वतत्रता नहीं थी, परन्तु अधिकतर यह समझा जाता था कि 'प्रथा' के विरुद्ध चलना एक तरह का 'पाप' (Sin) है, इस पाप का दड वह अलौकिक-शक्ति देगी जो विश्व का सचालन कर रही है, अब नहीं तो तब देगी, इस जीवन में नहीं तो मृत्यु के बाद देगी, इसलिए ज्यादा-से-ज्यादा हुआ तो 'प्रथा' के विरुद्ध चलने वाले के प्रति आदि-मानव ने बहि-

प्रकार के शस्त्र का प्रयोग कर दिया, हुक्का-पानी बन्द कर दिया, रोटी-बेटी का व्यवहार बन्द कर दिया, इससे अधिक वह कुछ न कर सका। फल-मूल एकत्रित करने वाली सरल तथा विकसित दोनों प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाओं में मनुष्य ने भूमि पर आधिपत्य के विचार को उत्पन्न नहीं किया था, इतनी भूमि पडी थी कि उसके लिए नाहक कोई क्यों झगडता, जब भूमि पर आधिपत्य का विचार ही नहीं उत्पन्न हुआ तब 'राज्य' (State) का विचार कहां से पैदा हो जाता, जब 'राज्य' ही नहीं था, कोई राजा नहीं, कोई महाराजा नहीं, कोई जज और मजिस्ट्रेट नहीं, तब 'प्रथा' के पीछे जन-मत के सिवाय और किसी प्रकार का बल कैसे हो सकता था? जब मनुष्य की आर्थिक-व्यवस्था विकसित होने लगी, फल-मूल एकत्रित करने की आर्थिक-व्यवस्था से जब वह कृषि तथा पशु-पालन की सरल तथा विकसित आर्थिक-व्यवस्था की तरफ बढा, जब भूमि पर मनुष्य का स्वामित्व होने लगा, तब मुखिया बने, सरदार बने, जमींदार बने, राजा-महाराजा बने, तब 'राज्य' भी बना। जब 'राज्य' बना, तब एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हो गई जो 'प्रथा' में बाधितपन की पुट डाल सकती थी। अभी तक तो 'प्रथा' के पीछे जन-बल था, अब राज्य बनने के बाद इसके पीछे राज्य-बल आ गया। राज्य-बल के आते ही 'प्रथा' के पीछे जो थोडी-बहुत स्वतन्त्रता छिपी थी, वह लुप्त हो गई, 'प्रथा' बदल कर 'विधान' (Law) का रूप धारण कर गई, इसलिए धारण कर गई क्योंकि अब तक तो यह समझा जाता था कि 'प्रथा' को तोडना 'पाप' (Sin) है, इसका दड अलौकिक-शक्ति देगी, परन्तु अब यह समझा जाने लगा कि 'प्रथा' को तोडना 'अपराध' (Crime) है, इसका दड अलौकिक-शक्ति देगी या न देगी, परन्तु लौकिक शक्ति, राज्य, मैजिस्ट्रेट और जज आदि यहीं, इसी लोक में दंड दे देंगे। इस प्रकार हमने देखा कि व्यक्ति से जो 'वैयक्तिक-व्यवहार' (Individual behavior) चला था, जिसमें मनुष्य को पूरी आजादी थी, वह विकसित होते-होते 'सामाजिक-व्यवहार' (Social behavior) बना, 'सामाजिक-व्यवहार' बनते ही इसमें से आजादी का अश कम हो गया, यह 'सामाजिक-व्यवहार' अगली पीढी में जाकर 'सामाजिक-प्रथा' (Social Custom) का रूप धारण कर गया, 'सामाजिक-प्रथा' बनते ही इसमें से आजादी का अश और कम हो गया, यह 'सामाजिक-प्रथा' राज्य के उत्पन्न होते ही 'सामाजिक-विधान' (Social law) बन गई, और 'सामाजिक-विधान' बनते ही इसमें से आजादी का अंश सर्वथा लुप्त हो गया, बाधितपन के अश ने 'विधान' चारों तरफ से घिर गया। अगर कोई 'विधान' को तोडना चाहे, तो राज्य की सारी शक्ति 'विधान' को कायम रखने में लग सकती है, मनुष्य को 'विधान' के अनुसार चलने में बाधित कर सकती है। 'विधान' की उत्पत्ति 'राज्य' की उत्पत्ति का परिणाम है। जबतक राज्य नहीं उत्पन्न हुआ था, तब तक 'प्रथा' तो थी, 'विधान' नहीं था, इसलिए नहीं था क्योंकि 'विधान' कहते ही उन नियमों को हैं जिन्हें जन-शक्ति द्वारा नहीं, राज्य-शक्ति द्वारा, दंड-शक्ति द्वारा, भय के द्वारा मनवाया जा सके।

जब हम कहते हैं कि आदिकालीन, अशिक्षित जन-जातियों में 'विधान' या 'कानून' नहीं था, 'प्रथा' थी, तब प्रश्न होता है कि उनमें कुछ तो थोडा-बहुत 'विधान' होगा, उनके 'विधान' का नाम 'प्रथा' ही सही, परन्तु 'प्रथा' के पीछे जन-बल के अलावा जो-कुछ भी थोडा-बहुत शक्ति-बल था, उसका क्या रूप था ?

२. आदिकालीन विधान का स्वरूप (Nature of Primitive Law)

आदिकालीन-विधान में जहाँ तक बाधितपन का अश पाया जाता है, भले ही वह बाधितपन अपनी बिरादरी, अपने समुदाय तथा अपने समूह का था, वहाँ तक इसे 'विधान' कहा जा सकता है। बिरादरी से निकाल देना भी तो एक तरह का दड है, भय है, जिससे बाधित होकर व्यक्ति अपनी स्वतत्रता का प्रयोग करने के स्थान में बिरादरी के नियमो, उसकी प्रथाओ का पालन करता है। इस बाधितपन को दृष्टि में रख कर अगर हम आदिकालीन जन-जातियो के नियमों तथा उनकी प्रथाओ को 'विधान' (Law) कह दें, तो बहुत अधिक आपत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि उन नियमो तथा प्रथाओ में जितना अश बाधितपन का छिपा हुआ है उतना अश 'विधान' का कहा जा सकता है, क्योंकि 'विधान' का आधार बाधितपन है, दड है, भय है।

कई लोगों का कहना है कि आदिकालीन-समाज में लडाई-झगडे, खून-खराबी झट-से हो जाती थी, समाज का सगठन शिथिल अवस्था में था, एक तरह से कोई सगठित-शासन-व्यवस्था नहीं थी, इसलिए उस समय का जो भी विधान था, कायदे-कानून थे, उन्हे 'फौजदारी-कानून' (Criminal law) कहा जा सकता है, उन लोगो में 'दीवानी-कानून' (Civil law) नहीं था, इसलिए नहीं था क्योंकि अभी सम्पत्ति, उत्तराधिकार आदि के विचार ही नहीं उत्पन्न हुए थे, 'दीवानी-कानून' का सबध तो इन्हीं बातो से है। इस बात में बहुत-कुछ सत्य प्रतीत होता है।

आदिकालीन-मानव तथा वर्तमान-मानव के विधान में कुछ आधार-भूत भेद हैं। लोई (Lowie) का कहना है कि इन दोनों प्रकार के विधानो में जो भेद हैं उन्हे तीन भागोंमें बाँटा जा सकता है। पहला भेद तो यह है कि आदिकालीन-विधान का आधार जाति तथा वर्तमान-विधानका आधार देश है, दूसरा भेद यह है कि आदिकालीन-विधान का आधार जन-बल तथा वर्तमान विधान का आधार राज-बल है, तीसरा भेद यह है कि आदिकालीन-विधान का आधार व्यक्ति तथा वर्तमान-विधान का आधार समाज है। इन तीनों बातो का क्या अर्थ है, यह स्पष्ट कर देने से आदिकालीन-विधान का स्वरूप समक्ष में आ जाता है। इन तीनों का अर्थ निम्न है

(क) आदिकालीन-विधान का आधार जाति तथा वर्तमान-विधान का आधार देश है—आदिकालीन-मानव की आर्थिक व्यवस्था का मुख्य आधार मूल-फल एकत्रित करना तथा शिकार का जीवन व्यतीत करना था। उस समय

जमीन की कमी नहीं थी, चारों तरफ जमीन-ही-जमीन पड़ी हुई थी। ऐसी अवस्था में राज्य का विकास नहीं हुआ था, भूमिपति-वर्ग नहीं उत्पन्न हुआ था। भूमिपति-वर्ग तो तब उत्पन्न हुआ जब भूमि की कीमत की जाने लगी, जब कृषि तथा पशु-पालन की अर्थ-व्यवस्था उत्पन्न हुई। वर्तमान-काल की अर्थ-व्यवस्था का आधार भू-स्वामित्व है, इसलिए आजकल के विधान भी भूमि तथा सम्पत्ति, जायदाद, उत्तराधिकार आदि पर आश्रित हैं। आदिकालीन-मानव के विधान का आधार भूमि न होकर नाते-रिश्ते थे, अपनी जात-विरादरी थी, सगे-सबंधी थे। उस समय का मानव व्यक्ति रूप से इकला नहीं रह सकता था, समूह के द्वारा ही उसकी रक्षा होती थी, उसके सगे-सबंधी ही उसके सब-कुछ थे, इसलिए उसके विधान का आधार राज्य या देश न होकर जाति या विरादरी थी। आज जैसे कोई किसी को नुकसान पहुँचाना चाहता है, तो उसकी सम्पत्ति को नष्ट करने का प्रयत्न करता है, इसी प्रकार उस काल में अगर कोई किसी को नुकसान पहुँचाता था, तो उसके सगे-सबंधियों को नुकसान पहुँचाता था। किसी का भाई मार दिया, किसी का चचा मार दिया—ये सब आजकल की सम्पत्ति की अपेक्षा अधिक महत्त्व-पूर्ण सम्पत्ति थे और इसलिए उस समय का विधान देश के इर्द-गिर्द नहीं, अपितु जात-विरादरी के इर्द-गिर्द अधिक घूमता था।

(ख) आदिकालीन-विधान का आधार जन-बल तथा वर्तमान-विधान का आधार राज-बल है—आदिकालीन आर्थिक-व्यवस्था में राज्य का उदय नहीं हुआ था, इसलिए उस समय के विधान के पीछे राज-बल न होकर जन-बल रहता था। थोड़े-से लोग थे, सब एक-साथ रहते थे, हर-कोई एक-दूसरे को जानता था, एक-दूसरे के सहारे ही सब-का जीवन टिका हुआ था, इसलिए कोई किसी की नजर में नीचे नहीं गिरना चाहता था। उस समय का सामाजिक-जीवन इतना एक-दूसरे से बँधा हुआ, एक-दूसरे में गुँथा हुआ था कि उससे अलग होकर मनुष्य पानी से बाहर मछली की तरह तड़पने लगता था, इसलिए जन-मत का प्रभाव आजकल के कानून से भी प्रबल था। मनुष्य का तभी से यह स्वभाव चला आता है कि कानून को तो वह लुक-छिप कर तोड़ने का प्रयत्न करता है, परन्तु जन-मत के विरुद्ध चलने का उसमें साहस नहीं होता। आज के युग में तो मनुष्य के सामने बीसियों विकल्प होते हैं—यह करूँ, वह करूँ, ऐसा ठीक रहेगा, वैसा ठीक रहेगा, परन्तु आदिकालीन-मानव के सामने इतने अधिक विकल्प नहीं थे, उसके सामने जीवन का एक ही रास्ता था, और वह रास्ता यह था कि जैसी परंपरा, प्रथा अब तक चली आ रही है, वैसा करे। वैसा अगर वह नहीं करता था, तो वह समाज में रह ही नहीं सकता था। इस कारण यद्यपि 'प्रथा' के पालन के पीछे कोई राज्य या सरकार का भय नहीं था, तो भी मनुष्य प्रथा को जन-बल या जन-मत के कारण इच्छापूर्वक स्वीकार करता था।

(ग) आदिकालीन-विधान का आधार व्यक्ति तथा वर्तमान-विधान का आधार समाज है—क्योंकि आदिकालीन-समाज में राज्य के विचार ने जन्म नहीं

लिया था इसलिए राज्य के प्रति या समाज के प्रति अपराधों का विचार भी नहीं उत्पन्न हुआ था। उस समाज का आधार जैसा हमने पहले कहा राज्य की एकता न होकर परिवार, गोत्र, जाति की एकता थी, इसलिए सामाजिक-अपराधो को वह स्थान प्राप्त न था, जो स्थान वैयक्तिक या पारिवारिक अपराधो को प्राप्त था। उस समय अपराध का रूप क्या था? अगर कोई अपराध करता था, तो किसी व्यक्ति को नुक्सान पहुँचाता था, उस व्यक्ति के किसी सगे-सबधी को नुक्सान पहुँचाता था। नुक्सान पहुँचाने वाला तथा जिसे नुक्सान पहुँचा है—इन दोनो के सगे-सबधी-रिश्तेदार थे, और क्योकि उस समय इन दोनो के बीच में पडने वाले राज्य की सत्ता अभी नहीं थी, इसलिए ये लोग स्वय लडते-झगडते थे, एक-दूसरे को मारते-पीटते थे, और झगडे का निपटारा करते थे। आदिकालीन-समाज की प्रारभिक अवस्था में यह नहीं समझा जाता था कि इन झगडो को निपटाने के लिए बीच में समाज के पडने की भी आवश्यकता है। जिन लोगो का झगडा होता था, वे व्यक्ति रूप से या उनके सगे-सबधी लड-झगड कर मामला तय करते थे, झगडा व्यक्ति के स्तर पर तय होता था, समाज के स्तर पर नहीं, अपराध भी व्यक्ति के प्रति हुआ समझा जाता था, समाज के प्रति नहीं। आज तो यह समझा जाता है कि जिस व्यक्ति ने चोरी की उसने उस व्यक्ति को ही नुक्सान नहीं पहुँचाया जिसकी चोरी की, समाज के प्रति भी उसने अनैतिक-व्यवहार किया है, आदिकालीन-समाज में यह समझा जाता था कि जिसने चोरी की है उसने जिसकी चोरी की है उसे नुक्सान पहुँचाया है, इस दोनो के बीच समाज को पडने की जरूरत क्या है? परन्तु इसका यह मतलब भी नहीं कि समाज सदा सोया ही पडा रहता था। एस्किमो जन-जाति के लोग किसी का कत्ल हो जाने पर उसका प्रतिकार करने की नहीं सोचते, परन्तु अगर किसी के प्रति यह सन्देह हो जाय कि वह जादू करता है, तो उसका सफाया करने के लिए सब मिल कर उठ खडे होते हैं क्योकि सब को डर हो जाता है कि यह हम पर भी जादू करेगा। इस दृष्टि से आदिकालीन-समाज में 'वैयक्तिक-अपराधो (Torts) का जो स्थान है, वह 'सामाजिक-अपराधो' (Crimes) का नहीं।

३ आदिकालीन न्याय
(Primitive Justice)

'विधान' का उद्देश्य समाज को सगठित रखना है, आपा-धापी को रोकना है, जन-जाति के हर व्यक्ति, परिवार तथा गोत्र का अपना-अपना अधिकार है, सब को अपने अधिकार के क्षेत्र में ही रहना चाहिए, अपने अधिकार-क्षेत्र से बाहर नहीं जाना चाहिए—इन सब की व्यवस्था करना है। परन्तु अगर कोई अपने अधिकार-क्षेत्र से बाहर जाता है, तो उस समय का समाज जो 'भू-व्यवस्था' (Territorial basis) पर आधारित न होकर 'सबध-व्यवस्था' (Kinship basis) पर आधारित था, इस बात की जाँच-पडताल तो करता ही था कि

वास्तव में किसी ने दूसरे के अधिकार पर आघात किया है या नहीं, दूसरे शब्दों में अपराध किया है या नहीं। यह सब छानना-बीनना इसलिए किया जाता था ताकि जो फैसला किया जाय, उसका आधार न्याय हो, अन्याय न हो। इस उद्देश्य से आदिकालीन सामाजिक-व्यवस्था में न्याय, अपराध तथा उसके प्रकार, साक्षी, इरादा, मुकदमा, दड आदि 'विधान' के भिन्न-भिन्न अग थे जिनके अनुसार निर्णय किया जाता था, इनके बिना नहीं। इन सब की चर्चा करना जरूरी है।

(क) न्याय (Justice)—शुरू-शुरू की फल-मूल एकत्रित करने वाली सामाजिक-व्यवस्था जन-तात्रिक प्रणाली पर आश्रित थी, इसलिए उसमें निर्णय जितने न्याय पर आश्रित हो सकते थे, उतने कृषि या पशु-पालन की विकसित सामाजिक व्यवस्था में नहीं हो सकते थे। जन-तात्रिक व्यवस्था में किसी का वैयक्तिक स्वार्थ नहीं होता इसलिए निर्णय भी अवैयक्तिक होते हैं, विकसित व्यवस्था में समाज का एक मुखिया बन बैठता है, भूमिपति, जमींदार, राजा आदि होते हैं, ये लोग अपने स्वार्थ को सामने रख कर निर्णय करते हैं। इनका उद्देश्य अपनी सम्पत्ति को अक्षुण्ण बनाये रखना होता है। अधिकतर निर्णय सम्पत्तिशाली वर्ग के अधिकारों को बनाये रखने के लिए किये जाते हैं। इनके जो प्रतिनिधि होते हैं, जज-मैजिस्ट्रेट आदि, वे भी इन्हीं के बनाये कानूनों को इन के हक में घटाने का प्रयत्न करते हैं। जब तक समाज में धन-सम्पत्ति का उदय नहीं होता, तब तक सब लोग समान गिने जाते हैं, सबके लिए कानून भी एक-से होते हैं, दण्ड-व्यवस्था भी एक-समान होती है, जब समाज में धन-सम्पत्ति का उदय हो जाता है, तब कानून भी सम्पत्तिशाली लोग ही बनाते हैं और न्याय का पलड़ा भी उन्हीं के लिए भारी रखा जाता है।

(ख) अपराधों के प्रकार (Types of offences)—जैसा हम ऊपर लिख आये हैं, अपराधों के मुख्य तौर पर दो प्रकार हैं—ऐसे अपराध जो समाज के विरुद्ध किये जाते हैं और जिनका दण्ड भी समाज देता है, इन्हें 'सामाजिक-अपराध' (Crimes) कहते हैं, ऐसे अपराध जो व्यक्ति के विरुद्ध किये जाते हैं और जिनका दण्ड भी व्यक्ति या उसके सगे-सबधी दे देते हैं, इन्हें 'वैयक्तिक-अपराध' (Torts) कहते हैं। जो समाज आर्थिक तथा प्राविधिक दृष्टि-कोण से नीचे स्तर का होगा उसमें ज्यादातर 'वैयक्तिक-अपराध' होते हैं, जो समाज आर्थिक तथा प्राविधिक दृष्टि-कोण से ऊँचे स्तर का होगा उसमें ज्यादातर 'सामाजिक-अपराध' होते हैं। विकास की दृष्टि से नीचे स्तर के लोग इन 'वैयक्तिक-अपराधों' का अपने-आप निपटारा कर लेते हैं, समाज को बीच में पड़ने की जरूरत नहीं पड़ती, विकास की दृष्टि से उच्च-स्तर के लोग किसी प्रकार के अपराध का भी अपने-आप निपटारा नहीं करते, उनके हर अपराध का निपटारा राज्य करता है। यह ठीक है कि कभी-कभी निम्न स्तर के समाज में भी 'सामाजिक-अपराध' हो जाते हैं जिनका दड देने के लिए सारा-का-सारा समाज तैयार हो जाता है। उदाहरणार्थ, अगर एस्किमो जन-जाति में कोई व्यक्ति किसी वर्ज्य-भोजन का

सेवन कर लेता है, तो उसे सारा समुदाय दड देने के लिए उद्यत हो जाता है, परन्तु आदिकालीन-समाज में इस प्रकार के 'सामाजिक-अपराधों' की सख्या 'वैयक्तिक-अपराधों' की अपेक्षा बहुत कम होती है। फल-मूल एकत्रित करने वाली सरल अर्थ-व्यवस्था में 'वैयक्तिक-अपराध' ही अधिक होते हैं, ज्यो-ज्यो आदिकालीन-मानव कृषि तथा पशु-पालन की विकसित अर्थ-व्यवस्था की तरफ बढता चलता है, त्यो-त्यों उसके अपराध भी 'वैयक्तिक' की जगह 'सामाजिक' रूप धारण करते जाते हैं क्योंकि विकसित अर्थ-व्यवस्था में भूमि का महत्व बढ जाने के कारण 'राज्य' का प्रादुर्भाव हो जाता है, और 'राज्य' के प्रादुर्भाव होते ही अपराध भी 'सामाजिक' रूप धारण कर लेता है।

फल-मूल एकत्रित करने वाली सरल आर्थिक-व्यवस्था में 'वैयक्तिक-अपराध' होते हैं, इसका यह अर्थ नहीं कि इस व्यवस्था में 'सामाजिक-अपराध' होते ही नहीं। सरल आर्थिक-व्यवस्था में भी अनेक 'सामाजिक-अपराध' करते हैं, परन्तु इनकी सख्या कम होती है। सरल तथा विकसित आर्थिक व्यवस्था के 'सामाजिक-अपराधों' में एक भेद है। वह भेद यह है कि सरल आर्थिक-व्यवस्थाओ में तो अपराध जन-तान्त्रिक प्रणाली पर अपराध माने जाते हैं, विकसित आर्थिक-व्यवस्था में अपराध जन-तान्त्रिक प्रणाली पर अपराध माने जाने की जगह मुखिया, जमींदार, भूमिपति, राजा आदि की इच्छा पर अपराध माने जाते हैं। हम पहले कह आये हैं कि फल-मूल एकत्रित करने वाली आर्थिक-व्यवस्था में कोई बडा नहीं था, कोई छोटा नहीं था, सब एक-समान थे। यह जन-तान्त्रिक व्यवस्था थी। इस व्यवस्था में जिस बात को सब लोग अपराध मानते थे, वही अपराध था, परन्तु कृषि तथा पशु-पालन की विकसित आर्थिक-व्यवस्था में क्या बात थी? उस व्यवस्था में सब लोग एक-समान नहीं थे, उस समय भूमि का मूल्य गिना जाने लगा था, उस समय मुखिया थे, जमीदार थे, राजा थे। यह जन-तान्त्रिक व्यवस्था नहीं थी। इस व्यवस्था में जिस बात को सब लोग अपराध कहते, वह नहीं, परन्तु जिसे मुखिया, जमींदार, राजा अपराध कहता था वही अपराध माना जाता था। समुदाय का जिसमें नुक्सान हो वही अपराध माना जाता हो—यह बात इस विकसित आर्थिक-व्यवस्था में जरुरी नहीं थी। मुखिया, जमींदार, राजा अपने स्वार्थ को समुख रख कर जिस बात में अपना स्वार्थ सिद्ध होता नहीं देखते थे उसे अपराध घोषित कर देते थे। राजाओं, महाराजाओ के बाद जब वह समय आया जब समुदाय के हाथ में शासन-सत्ता आयी, तब समुदाय के हित के विरुद्ध आचरण को शुद्ध अर्थों में 'सामाजिक-अपराध' कहा जाने लगा। यह समय अभी पूरी तरह आया है या नहीं—यह विवादास्पद है, परन्तु ऐसा समय आ रहा है, इसमें सन्देह नहीं।

(ग) साक्षी (Evidence)—अगर किसी पर कोई अपराध लगाया जाय, तो न्याय की यह माँग है कि यह सिद्ध किया जाय कि वास्तव में उसने अपराध किया है। दुश्मनी से भी तो किसी पर झूठा दोष लगाया जा सकता है।

इसीलिए साक्षी की जरूरत होती है। यह जरूरत जैसे आज है, वैसे आदिकालीन समाज में भी थी। साक्षी दो तरह की हो सकती है—'अन्त साक्षी' तथा 'वहि-साक्षी'। 'अन्त साक्षी' का अर्थ है कि जिस पर दोष लगाया गया है, उसी की साक्षी से यह जानने का प्रयत्न किया जाय कि उसने दोष किया है या नहीं। इसके भी दो प्रकार हैं। एक है—'शपथ ग्रहण करना' (Oath) तथा दूसरा है—'कठिन-परीक्षा' (Ordeal)। दोषी व्यक्ति से शपथ खिलायी जाती है कि वह जो-कुछ कहेगा सच कहेगा, झूठ नहीं कहेगा। आजकल के सभ्य-समाज में शपथ-ग्रहण करना एक रिवाज हो गया है, और लोग सच की शपथ खा कर झट-से झूठ बोलने लगते हैं, परन्तु आदिकालीन, अशिक्षित समाज में ऐसा नहीं था। शपथ ग्रहण करते हुए उन्हें भय रहता था कि अगर वे झूठ बोलेंगे, तो अलौकिक-शक्ति द्वारा उनका सहार हो जायगा। वे शपथ खा कर जो-कुछ कहते थे, सच कहते थे। 'कठिन-परीक्षा' में दोषी की भिन्न-भिन्न तरह से परीक्षा ली जाती थी। सीता जी ने अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए अग्नि-परीक्षा दी थी। आदिकालीन जन-जातियों में उबलते तेल में हाथ डालना, जहर पी जाना, कुश्ती में जीत-हार आदि द्वारा दोषी की परीक्षा ली जाती थी। जो इन परीक्षाओं में से बिना बाल-बाँका हुए निकल जाता था उसे निर्दोष घोषित कर दिया जाता था। क्योंकि आदिकालीन लोग अलौकिक-शक्ति में विश्वास रखते थे, इसलिए वे कल्पना ही नहीं कर सकते थे कि कोई निर्दोष व्यक्ति इन परीक्षाओं में असफल हो सकता है। इन 'अन्त साक्षियों' के अतिरिक्त 'वहि साक्षी' के द्वारा भी व्यक्ति के दोषी अथवा निर्दोष होने का प्रमाण माँगा जाता था। आज जैसे गवाहों को खड़ा किया जाता है, वैसे आदिकालीन लोग भी गवाहों द्वारा अपने को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न करते थे।

(घ) अपराध करने का इरादा (Motive or Intention)—आजकल के समाज में तो अपराध सिद्ध करने के लिए अपराधी का इरादा भी सिद्ध करना होता है। अगर किसी से कत्ल हुआ है, तो सिद्ध करना होगा कि कातिल का कत्ल करने का इरादा था। कत्ल में अगर यह सिद्ध हो जाय कि जिसका कत्ल हुआ, उसने कत्ल करने वाले को इतना उत्तेजित कर दिया था कि उसने उत्तेजना में आकर ऐसा किया तब भी अपराध की गहराई में कमी आ जाती है, परन्तु आदिकालीन-समाज में ऐसा नहीं था। उन लोगों के लिए किसी व्यक्ति का कत्ल हो जाना अपराध के लिए काफी था, इरादे या उत्तेजना का कोई प्रश्न नहीं उठता था। इसका कारण यह था कि अगर कत्ल हुआ, तो परिवार का एक व्यक्ति सदा के लिए चला गया, ऐसा व्यक्ति जो बाल-बच्चों का सहारा था। इस भारी क्षति की पूर्ति होनी चाहिए, इरादा था या न था—इससे क्या ? यह क्षति क्या पूरी की जा सकती है ? अगर कुल्हाड़ा हाथ से छूट गया और दूसरे की गर्दन पर जा पड़ा, तो नुकसान तो हो गया, इरादा नहीं था तो क्या हुआ, इस नुकसान को उस व्यक्ति के रिश्तेदार क्यों बर्दाश्त करें ? ऐसी हालत में इन लोगों में नुकसान

को पूरा आँक कर उसकी पूर्ति की जाती थी। क्योंकि आदिकालीन सामाजिक-व्यवस्था जन-तान्त्रिक थी, इसलिए अपराध के विषय में विचार करते हुए बदले की भावना को तो स्थान नहीं दिया जाता था, परन्तु यह देख लिया जाता था कि जिसकी क्षति हुई है उसकी क्षति-पूर्ति कर दी जाय। इसका यह मतलब नहीं कि इरादे को बिल्कुल आँखो से ओझल कर दिया जाता था। न्याय की यह माँग है कि अपराधी का इरादा भी देखा जाय। इरादा तो वे भी देखते थे, परन्तु अगर किसी का नुकसान पहुँचाने का इरादा नहीं था और उससे नुकसान हो जाता था तो इरादा न होते हुए भी नुकसान की पूर्ति तो उसे करनी ही होती थी।

(ङ) मुकदमा या अदालती कार्यवाही (Trial)—न्याय की यह भी माँग है कि दोषी को अपनी सफाई देने का अवसर दिया जाय। फल-मूल एकत्रित करने वाली आदिकालीन जनतान्त्रिक सामाजिक व्यवस्था में फैसला देने से पहले अपराधी को अपनी सफाई देने का अवसर दिया जाता था, उससे जिरह की जाती थी और आवश्यकता पडने पर गवाह भी तलब किये जाते थे। उत्तर-पश्चिमी प्रशान्त तटवर्ती जन-जातियो में इस प्रकार की गवाह तलब करने की प्रथा पायी जाती है। इस प्रारभिक सामाजिक व्यवस्था में बाकायदा अदालतें नहीं थीं, परन्तु कृषि तथा पशु-पालन की विकसित सामाजिक व्यवस्था में बाकायदा अदालतें पायी जाती है, जज-मजिस्ट्रेट पाये जाते हैं। मक्सिको की एज्टैक, पेरु की इनकस जन-जाति तथा गिनी-सूडान जन-जातियों में न्याय करने के लिए बाकायदा अदालती कार्यवाही करने की व्यवस्था पायी जाती है। गिनी-सूडान जन-जातियो में अदालत, न्यायाधीश, सफाई के वकील आदि सब-कुछ आजकल की अदालतों की तरह पाये जाते हैं।

(च) दड (Punishment)—प्रारभिक सरल सामाजिक-व्यवस्था में दण्ड का रूप दूसरे का नुकसान पूरा कर देना होता था। इस उद्देश्य से जुर्माना किया जाता या दूसरे की क्षति पूरी करा दी जाती थी। कोडे भी लगाये जाते थे, अग-छेद भी किया जाता था। विकसित सामाजिक व्यवस्था में अपराधी को समाज से अलग करके जेल में डाला जाने लगा। सिर्फ यूगाडा की जन-जातियो में जेल की व्यवस्था पायी जाती है। कहीं-कहीं अपराधी के हाथ-पैर एक बडे लक्कड में छेद कर उसमें बाँध दिये जाते हैं और वह इसी प्रकार पडा-पडा मर जाता है। कत्ल का बदला कत्ल से लिया जाता था, परन्तु यह जरूरी नहीं कि जिसने कत्ल किया है, उसी का कत्ल किया जाय। वह हाथ आ जाय तब तो ठीक है, परन्तु वह हाथ न भी आये तो उसके किसी सबधी का कत्ल कर देना काफी था। इन लोगो में यह समझा जाता था कि अगर किसी का कत्ल हुआ है, तो किसी एक व्यक्ति का नुकसान नहीं हुआ, एक परिवार का नुक्सान हुआ है, और इसका बदला कत्ल करने वाले के किसी सबधी से भी लिया जा सकता है।

४ विधान तथा प्रथा
(Law and Custom)

हम लिख आये हैं कि 'विधान' की उत्पत्ति राज्य की उत्पत्ति के साथ हुई, और 'प्रथा' की उत्पत्ति जन-जाति की उत्पत्ति के साथ हुई, राज्य की उत्पत्ति तब हुई जब भूमि का मूल्य समझा जाने लगा, भूमि को अपना देश कहकर उसकी दूसरो से रक्षा की जरूरत हुई, जाति की उत्पत्ति तब हुई जब मनुष्य इकला न रह कर अपने समुदाय का अंग बन कर रहता था, समुदाय की शरण में रहना ही उसकी रक्षा का साधन था। इन दोनो में जन-जाति की उत्पत्ति पहले हुई, राज्य की उत्पत्ति बाद को हुई। जब राज्य उत्पन्न हो गया तब तो वह अपनी राज-शक्ति से कानून को, विधान को मनवा सकता था, परन्तु जब राज्य उत्पन्न नहीं हुआ था, तब जन-जाति अपनी प्रथा को कैसे मनवाती थी, तब मनुष्य अपने समाज की प्रथाओ को क्यों पालन करता था? इस बात को समझने के लिए दो बातों का समझना जरूरी है—पहली बात यह कि मनुष्य 'विधान' तथा 'प्रथा' का क्यों पालन करता है और दूसरी बात यह कि 'विधान' तथा 'प्रथा' में क्या भेद है।

(क) मनुष्य विधान तथा प्रथा का क्यो पालन करता है—कई लोगो का कहना है कि मनुष्य विधान का तो इसलिए पालन करता है क्योकि अगर वह इसका पालन न करे, तो उसे राज्य की तरफ से दड मिलने का भय रहता है, प्रथा का पालन वह इसलिए करता है क्योकि इसके पीछे जन-मत होता है और जन-मत में बाधितपन रहता है, मनुष्य अपने स्वभाव से जन-मत के विरुद्ध नहीं जा सकता। विधान का पालन तो दड के भय से किया ही जाता है, परन्तु प्रथा का लोग पालन विधान की अपेक्षा भी अधिक जोर से करते हैं, इसका जन-मत के अतिरिक्त यह भी कारण है कि आदिकालीन सामाजिक-व्यवस्था में प्रथा का तोड़ना अपराध ही नहीं समझा जाता था, पाप समझा जाता था, यह समझा जाता था कि इसका दड समाज दे या न दे, इसका दड भगवान् देता है। इसलिए आज का मनुष्य तो विधान में से बच निकलने की कोशिश करता है, परन्तु आदिकाल का मानव इच्छा-पूर्वक प्रथा का पालन करता था, वह प्रथा का मानो दास था। मलिनोवस्की (Malinowski) इस बात को नहीं मानता। उसका कहना है कि आज का तथा आदिकाल का मानव सामाजिक-विधान तथा प्रथाओ को इसलिए नहीं मानता क्योकि उसे राज-दड या जन-मत का भय है, वह इन्हें इसलिए मानता और इनका पालन करता है क्योंकि मनुष्य अपने जीवन के लिए एक-दूसरे पर निर्भर है, एक-दूसरे का ऋणी है, अगर वह दूसरो के अधिकारो का मान नहीं करेगा, तो दूसरे उसके किसी अधिकार को क्यो स्वीकार करेंगे?

(ख) 'विधान' तथा 'प्रथा' में क्या भेद है—'कानून' तथा 'प्रथा'—इन दोनो का काम समाज को अव्यवस्थित होने से बचाना है, परन्तु 'कानून' तथा 'प्रथा' में भेद यह है कि 'कानून' के पीछे 'राज-शक्ति' है, प्रथा के पीछे 'राज-शक्ति' न होकर

'जन-शक्ति' है। जो 'कानून' को तोडे, उसे जेल में डाला जा सकता है, ऐसे भी अवसर आ सकते हैं जिनमें उसे मृत्यु-दड भी दिया जाता है, परन्तु जो 'प्रथा' को तोडे, उसे समाज में से बहिष्कृत किया जा सकता है, उसकी निन्दा-उपहास हो सकते है, और-कुछ नहीं हो सकता। 'कानून' राज्य की उपज है, 'प्रथा' जन-जाति की उपज है, 'कानून' का विकास किया जाता है, यह समाज पर ऊपर से लादा जाता है, 'प्रथा' का स्वत विकास होता है, यह समाज के भीतर से निकलता है, इसे ऊपर से नहीं लादा जाता। 'कानून' क्योकि बाहर से लादा जाता है, इसलिए यह उसके बाह्य-व्यवहार पर तो प्रभाव डालता है, परन्तु उसके अन्तरात्मा पर इसका असर नहीं पडता, 'प्रथा' क्योकि अन्दर से निकलती है, इसलिए यह उसकी अन्तरात्मा को जकड लेती है, मनुष्य इसके विरुद्ध जाना चाहे तो भी नहीं जा सकता। यही कारण है कि आज का समाज जिस पर कानून लागू होते है, कानूनो को वहीं तक पालता है जहां तक वह आसानी तथा विना भय के तोड इन्हें नहीं सकता, आदिकालीन मानव प्रथा को सदा पालता था, वह इसे तोड ही नहीं सकता था। आदिकालीन मानव पर प्रथा का प्रभाव वर्तमान मानव पर के कानून के प्रभाव से अधिक प्रवल था।

५. आदिकालीन शासन-पद्धति
(Primitive Government)

शासन-पद्धति के विचार के आधार में क्या भावना काम कर रही है? अगर किसी प्रकार की भी शासन-व्यवस्था न हो, तो मनुष्य स्वतत्र होता हुआ भी परतत्रता अनुभव करता है, उसे समझ ही नहीं आता कि चारो तरफ से अपनी स्वतत्रता पर हो रहे प्रहारो से अपने को कैसे बचाये? इस दृष्टि से आदि-काल से किसी-न-किसी प्रकार का शासन-व्यवस्था का सगठन बना ही रहा है। व्यक्ति, परिवार, गोत्र, जन-जाति अपना शासन करने की व्यवस्था करती रही है, इनकी शासन-व्यवस्थाओं को पारिवारिक, गोत्रीय या जन-जातीय शासन कहा जा सकता है, इसका आधार व्यक्ति, परिवार, गोत्र या जन-जाति की सुरक्षा करना रहा है। जव भूमि के विशेष भाग पर किसी जन-जाति का आधिपत्य हो गया, तब उस भू-खड की रक्षा के लिए देश का विचार उत्पन्न हुआ, देश की रक्षा के लिए राज्य का विचार जन्मा। आदिकालीन पारिवारिक, गोत्रीय तथा जन-जातीय समाज में भी शासन-व्यवस्था थी, इसका आधार 'रिश्तेदारी' (Kinship relation) था, राज्य उत्पन्न होने के बाद देशीय समाज में भी शासन-व्यवस्था थी, इसका आधार 'समान-देशीयता' (Territorial relation) था। इसका यह मतलब नहीं कि 'रिश्तेदारी' (Kinship) की व्यवस्था में भूमि के स्वामित्व का सर्वथा अभाव था, 'देशीय-प्रभुत्व' (Territorial ownership) को शासन-व्यवस्था में से बिलकुल आँखो से ओझल कर दिया जाता था। इसका सिर्फ इतना अर्थ है कि आदिकालीन सरल शासन-पद्धति में क्योंकि भूमि का, सम्पत्ति का उतना महत्व नही हुआ था जितना पीछे की विकसित पद्धति में होगया, इसलिए

इस काल की शासन-पद्धति का निर्माण अधिकतर रिश्तेदारी के सबधो पर केन्द्रित रहता था। हम देख चुके है कि मानव का विकास फल-मूल एकत्रित करने की सरल तथा विकसित एव कृषि तथा पशु-पालन की सरल तथा विकसित आर्थिक-व्यवस्था से हुआ है, इसलिए हम इन्हीं व्यवस्थाओं में शासन-पद्धति का विकास प्रत्येक आर्थिक-व्यवस्था में किस प्रकार हुआ, यह देखने का प्रयत्न करेंगे।

(क) फल-मूल एकत्रित करने वाली सरल आर्थिक व्यवस्था में शासन-पद्धति का स्वरूप—जैसा हमने अभी कहा, फल-मूल एकत्रित करने वाली जन-जातियों में भी भूमि का स्वामित्व पाया जाता है, परन्तु इनमें किसी व्यक्ति या किसी परिवार की अलग-अलग भूमि नहीं होती। यह भूमि मेरी है, यह तेरी है—यह भावना तो बहुत आगे चलकर विकसित हुई है, हमारे समाज में यही भावना है। उस काल में भूमि किसी एक व्यक्ति या एक परिवार की न होकर सारे समुदाय की थी, सब का भूमि पर साझा स्वामित्व था, इसलिए किसी व्यक्ति-विशेष का भूमि पर स्वामित्व नहीं था। एक-एक जन-जाति की भूमि ४,००० से १०,००० हजार वर्ग-मील तक की समझी जाती थी। टैसमेनियन, बुशमैन, वेड्डा, बोटोकुडो, फ्यूजियन तथा ऑस्ट्रेलियन—इन सब जन-जातियो में भूमि पर सब का सामूहिक प्रभुत्व था और भू-खड भी बहुत बडा था। जिस भू-खड पर जिस जन-जाति का प्रभुत्व था, वह अन्य जन-जाति के लोगो को भी मालूम होता था। इन भू-खडो का विभाग प्राकृतिक सीमाओ से किया जाता था। एक तरफ नदी, दूसरी तरफ पहाड, तीसरी तरफ जगल या मैदान—इस प्रकार की सीमाओ से भू-खडो का विभाग होता था। अगर जन-जाति में परिवारो के बीच भू-खडो को बांटा जाता था, तो एक परिवार को जो क्षेत्र शिकार या फल-मूल एकत्रित करने के लिए दे दिया जाता था, दूसरा परिवार उसमें नहीं घुसता था। अगर कोई दूसरी जन-जाति का व्यक्ति किसी जन-जाति के पारिवारिक भूखड में आकर उनके फल-मूल ले जाता था, तो सारा-का-सारा समूह मिल कर इसका प्रतिकार करता था क्योकि परिवारों को भी तो जन-जाति ने ही भू-खड दिया होता था। टैसमैनियन जन-जाति के भू-खड में किसी दूसरे के आने का अभिप्राय लडाई के सिवाय और कुछ नहीं था। ऑस्ट्रेलियन जन-जाति के फल-मूल के क्षेत्र में अगर कोई दूसरा आ घुसता था, तो दोनो जन-जातियो में घमासान लडाई छिड जाती थी।

किसी पारिवारिक-क्षेत्र में दूसरी जन-जाति के आ घुसने से सारी-की-सारी जन-जाति युद्ध के लिए तैयार हो जाती थी—इसका यही कारण है कि फल-मूल एकत्रित करने वाली सरल आर्थिक-व्यवस्था में सामाजिक-सगठन समाजवादी ढग पर होता था, सब मिल कर समाज के अग बनते थे, हर व्यक्ति के पालन-पोषण, खान-पान की जिम्मेदारी सारे समाज पर थी, और इसलिए सारा-का-सारा समाज अपनी जन-जाति, अपने परिवारों के लिए सुरक्षित वन-क्षेत्र की हर तरह से सुरक्षा करने के लिए मरने-मिटने को कटि-बद्ध रहता था। इन जन-जातियों में अगर किसी प्राणी का शिकार किया जाता था, तो प्रथा के अनुसार

शिकार की एक टाँग अगर शिकारी के पिता की समझी जाती थी, तो दूसरी उसके मामा की, पूँछ उसकी वहिन की, कन्धे उसके भाई के और जिगर उसका अपना समझा जाता था। नगारिगो जन-जाति में शिकार का सिर तो उसे मिलता है जिसने शिकार मारा है, परन्तु उसका बाकी का सारा हिस्सा उसके निकट के सबधियो और जो सबधी बिल्कुल नहीं हैं उनमें बाँट देने की प्रथा है।

इस प्रकार हमने देखा कि फल-मूल एकत्रित करने वाली आर्थिक-व्यवस्था में जमीन सब की साझी और भोजन सब का साझा था, सब-कुछ व्यक्ति का न होकर समाज का, समुदाय का होता था। अगर ऐसा था, तो उस समय क्या किसी की कुछ निजी सम्पत्ति भी थी ? अगर सम्पत्ति का आजकल का अर्थ लिया जाय, अगर सम्पत्ति का अर्थ यह समझा जाय कि किसी वस्तु पर व्यक्ति का अखड, अक्षुण्ण अधिकार, तो इस अर्थ में इस आर्थिक-व्यवस्था में 'निजी-सम्पत्ति' (Private property) भी नहीं थी। अस्त्र-शस्त्र, कपडे, वर्तन--इतना तो निजी सम्पत्ति कहा जा सकता है, परन्तु इसके अतिरिक्त इन लोगो में 'निजी-सम्पत्ति' का विचार बिल्कुल नहीं था। फिसोन तथा होविट (Fison and Howitt) का कथन है इन लोगो में व्यक्ति की पृथक्-सत्ता को ही स्वीकार नहीं किया जाता, व्यक्ति के अपने स्वतत्र रूप से कोई अधिकार नहीं, इसलिए 'वैयक्तिक-सम्पत्ति' का भाव भी इनमें पैदा नहीं हो सकता। कई जन-जातियो में तो 'मैं' तथा 'मेरा'--ये शब्द ही नहीं पाये जाते, 'मैं' की जगह 'हम' और 'मेरा' की जगह 'हमारा' शब्द ही पाये जाते हैं जिसका अर्थ यह है कि इनमें 'निजी-सम्पत्ति' की भावना नहीं पैदा होती।

ऐसी आर्थिक-व्यवस्था में 'जन-तान्त्रिक' (Democratic) तथा 'समाज-वादी' (Socialistic) शासन-पद्धति के सिवाय दूसरी कौन-सी शासन-पद्धति हो सकती थी ? फल-मूल एकत्रित करने वाली सरल आर्थिक-व्यवस्था में थोडे लोग होते थे, सब साथ मिल कर रहते थे, और इनके जन-तत्र में सब एक-साथ बैठ कर हर मामले का फैसला कर लेते थे। यह ठीक है कि वृद्ध लोगो का अनुभव ज्यादा होता है, इस बात को इनकी शासन-पद्धति में भी स्वीकार किया जाता था, और इसीलिए कई लोग इस पद्धति को 'जरा-राज्य' (Gerontocracy[1]) का नाम देते हैं, अर्थात् वृद्ध लोगों का राज्य। इसमें सन्देह नहीं कि जहाँ सब को समान अधिकार होंगे, वहाँ खुद-ब-खुद लोग वृद्ध लोगो की बात को अपने-आप महत्व देंगे, इसलिए देंगे क्योंकि उनका अनुभव दूसरों से ज्यादा होता है। कृषि-सबधी सरल अर्थ-व्यवस्था में भी गाँव के सब लोग साथ मिल-बैठ कर हर बात का निर्णय करते हैं, क्योंकि उनमें भी जन-तत्र तथा समाजवाद का ही वोल-बाला होता है। इन आर्थिक-व्यवस्थाओं में 'निजी-सम्पत्ति' नहीं बनी होती, इसलिए 'निजी-सम्पत्ति' के आधार पर उठने वाली विभिन्न शासन-पद्धतियाँ इस समय तक जन्म

---

1 Gerontocracy=Greek word *Geron*, an old man सस्कृत जरा=वृद्धावस्था), *Kratos*, power (सस्कृत क्रतु=शक्ति)

नहीं लेतीं। फल-मूल एकत्रित करने वाले तथा सरल कृषि-व्यवस्था वाले जन-समाज मे मुखिया, नवरदार, जमींदार, राजा आदि नहीं बने होते, 'निजी-सम्पत्ति' नहीं बनी होती, इसलिए उत्तराधिकार के जटिल नियम भी नहीं बने होते, और सब निर्णय 'महाजनो येन गत स पन्था' के अनुसार होते हैं, जन-तंत्र के आधार पर होते हैं। एस्किमो जन-जाति के विषय में तो प्रसिद्ध है कि अगर किसी के पास दो किश्तियां हों और उनमें से कोई एक किश्ती उधार ले ले, तो इस किश्ती को वापस करने की आवश्यकता नहीं होती, इसलिए नहीं होती क्योंकि जिससे किश्ती उधार ली गई है, उसके पास दो किश्तियां हैं। ऐसी अवस्था में अगर यह भी कह दिया जाय कि आदिकालीन सरल आर्थिक-व्यवस्था में 'समाजवाद' होता है, तो कोई अत्युक्ति नहीं।

(ख) कृषि संबंधी सरल अर्थ-व्यवस्था अथवा बागबानी आदि मे शासन-पद्धति का स्वरूप—कृषि-युग से पहले जब अभी फल-मूल एकत्रित करने की सरल अर्थ-व्यवस्था चल रही थी, तब कहीं-कहीं ऐसे पेड़-वनस्पति बोये जाते थे जिन के फल जन-जातियों के खाने के काम आते थे। ऐसी कृषि-संबंधी सरल अर्थ-व्यवस्था ऑस्ट्रेलिया, मलेनेशिया, न्यूगिनी के दक्षिण-पश्चिम तटवर्ती प्रदेशों में पायी जाती है। न्यूगिनी में साबूदाना, ऑस्ट्रेलिया में जिमीकन्द तथा अन्य प्रदेशो में इसी प्रकार के कन्द-मूल बोये जाते हैं। इन सरल कृषि-संबंधी अर्थ-व्यवस्था की जन-जातियो में भूमि-संबंधी व्यवस्था फल-मूल एकत्रित करने वालों की व्यवस्था से कुछ भिन्न है। इस व्यवस्था में भी भूमि का स्वामित्व व्यक्ति के हाथ में न होकर समूह तथा समुदाय के हाथ में होता है, परन्तु सिर्फ उसी भूमि का स्वामित्व होता है, जहां कन्द-मूल बोये जाते हैं। आखिर, कृषि के लिए वही जमीन तो फायदेमन्द होती है जहां कृषि हो सकती है। यह भूमि किसी व्यक्ति की नहीं होती, सारे समुदाय की साझी होती है। इस भूमि का क्षेत्र भी बहुत विस्तीर्ण होता है। कई-कई लेखकों ने तो लिखा है कि सत्तर मील तक का क्षेत्र एक ही वनस्पति या जड़-मूल के बोने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। क्योंकि इसमें काम सबने मिल कर करना होता है, ये एक प्रकार के सामूहिक-फार्म होते हैं, इसलिए इतने बड़े क्षेत्र में सब के सहयोग से कृषि करना कठिन भी नहीं होता। जहां फसल कट कर इकट्ठी होती है वह जगह मुख्य रूप धारण कर लेती है, वहीं सब लोग जमा होते हैं, मकान भी उसी जगह के आस-पास बनाये जाते हैं। इस अर्थ-व्यवस्था में फल-मूल की अर्थ-व्यवस्था से जन-संख्या भी अधिक होती है, कहीं-कहीं हजार तक पहुँच जाती है।

फल-मूल वाली अर्थ-व्यवस्था में तो एक जन-जाति की भूमि में दूसरा नहीं आ सकता था, परन्तु इस अर्थ-व्यवस्था में यह बात नहीं होती। कभी-कभी दूसरी जन-जातियों को फसल कटने के समय निमन्त्रित किया जाता है, और जब कभी जरूरत से ज्यादा पैदावार हो जाती है, तो साथ की कुटुम्बी जन-जातियों में

ज्यादा पैदावार बांट दी जाती है। जब फल पकते हैं, तो कभी-कभी सौ-सौ मील से दूसरी जातियों के लोग इस जशन में भाग लेने आते हैं।

यह अर्थ-व्यवस्था भी जन-तान्त्रिक, समाजवादी तथा कम्यूनिस्ट सिद्धान्तो पर खड़ी हुई है। इसमें 'निजी-सम्पत्ति' का विचार नहीं होता, सारी सम्पत्ति समाज तथा समूह की मानी जाती है। इस अर्थ-व्यवस्था में मुखिया, सरदार, राजा आदि अभी नहीं बने होते यद्यपि इन विचारो का बीज पडने लगता है।

(ग) फल-मूल एकत्रित करने की विकसित अर्थ-व्यवस्था मे शासन-पद्धति का स्वरूप—जब फल-मूल एकत्रित करने की अर्थ-व्यवस्था विकसित होने लगती है, तब इस व्यवस्था में कुछ मुखिया, सरदार, बडेरे उठ खडे होते हैं। जहां शिकार ज्यादा मिलता है, उस क्षेत्र को ये अपना घोषित कर देते हैं, जहां मछली ज्यादा मिलती है उस नदी-तालाब पर ये अपना स्वामित्व जमा लेते हैं। ये क्योंकि समाज के मुखिया होते हैं, इसलिए बिना काम किये भी दूसरे लोगो से अपने-अपने क्षेत्रों में शिकार करने या मछली पकडने का मुआविजा लेने लगते हैं। किसी पर जुर्माना, किसी से कर—इस प्रकार इनकी 'निजी-सम्पत्ति' बढने लगती है। फल-मूल तथा कृषि-संबधी सरल अर्थ-व्यवस्था में तो 'निजी-सम्पत्ति' होती ही नहीं, जो भी सम्पत्ति होती है सारे समूह की होती है, परन्तु फल-मूल एकत्रित करने की विकसित अर्थ-व्यवस्था में जब जगलो, नदी-तालाबो, घाटियो पर इन गिरोहो के सरदारो का आधिपत्य हो जाता है, तब 'निजी-सम्पत्ति' का विचार सिर उठाने लगता है। इस आर्थिक-व्यवस्था में सरदार लोग अपने सहायको के साथ दूसरो के इलाकों पर छापे मारते हैं, उनके क्षेत्र अपने अधिकार में करने लगते हैं, कुछ को पकड लाते हैं, उनसे दासो का काम लेते हैं। यह आर्थिक-व्यवस्था 'निजी-सम्पत्ति' को अपना आधार बना लेती है, सम्पत्ति की रक्षा के लिए इन समुदायो के मुखिया 'जन-तान्त्रिक' तथा 'समाजवादी' शासन-पद्धति को छोडकर जिस पद्धति में राजा-महाराजा शासन करते है, उस पद्धति को जन्म देते हैं। इस पद्धति में मुखिया की इच्छा ही विधान हो जाती है, वही कानून हो जाती है, समुदाय की इच्छा उसके सामने कुछ नहीं रहती। इस आर्थिक-व्यवस्था में राजाओ द्वारा शासन की पद्धति का बीज पड जाता है।

(घ) कृषि तथा पशु-पालन सबधी विकसित आर्थिक-व्यवस्था मे शासन-पद्धति का स्वरूप—कृषि तथा पशु-पालन सबधी विकसित आर्थिक-व्यवस्था में जन-तन्त्र तथा समाजवाद आदि की जगह सम्पत्ति तथा व्यक्तिवाद ने स्थान लेना शुरू कर दिया। अब भी साझी जमीनें थीं, अब भी उस काल के अवशेष थ जब व्यक्ति की अपेक्षा समूह का मुख्य स्थान था, परन्तु व्यक्तिवाद का जो बीज विकसित फल-मूल की आर्थिक-व्यवस्था में बो दिया गया था, वह कृषि तथा पशु-पालन की आर्थिक-व्यवस्था में फलने-फूलने लगा। अब भी चरागाह सारी जन-जाति की मिलकियत थे, परन्तु समाजवाद की यह धुन्धली रेखा प्राचीन समाजवाद के अवशेष के रूप में रह गई थी। इस काल में 'निजी-सम्पत्ति' बढ़ने लगी, धनी-

निर्धन का वर्ग बन गया, श्रेणी-विभाजन तथा वर्ग-विभाजन स्पष्ट रूप में प्रकट हो गया। इस समय जो मुखिया थे उनकी इच्छा शासन का मुख्य आधार बन गई, परन्तु फिर भी जैसे आदिकालीन-व्यवस्था में बड़े-बूढ़ों की सलाह से काम होता था, वैसे इस व्यवस्था में भी जन-जाति का मुखिया कुछ बड़े-बूढ़ों की सलाह से काम करने लगा। मुखिया की यह सलाहकार-समिति आगे चलकर राजा के मन्त्रि-मडल के रूप में परिणत हो गई। इस आर्थिक-व्यवस्था में राजा, मन्त्री, मन्त्रि-मडल—इन सगठनों का निर्माण शुरू हो गया। इस समय का शासन जन-तान्त्रिक न होकर उन लोगो के हाथ में आ गया, जो प्रजावादी न होकर राजवादी थे, जिनके पास जमीन थी, पशु थे, दास थे। ये लोग मुखिया, राजा, महाराजा, सम्राट्—न-जाने किस-किस नाम से पुकारे जाते थे। इन्होंने पुलिस-फौज रखनी शुरू की। पुलिस का काम जबर्दस्ती कर तथा जुर्माने वसूल करना था। ये लोग जज, मैजिस्ट्रेट तैनात करते थे, जो इनकी इच्छानुसार बनाये गये कानूनों के अनुसार न्याय-व्यवस्था चलाते थे। ये राजे-महाराजे वश-परपरा मे चलने लगे और आदिकालीन शासन-व्यवस्था के स्थान में नवीन आर्थिक-व्यवस्था के परिणामस्वरूप एक नवीन शासन-पद्धति ने जन्म ले लिया।

६. जन-जातियो में शासन-पद्धतियाँ
(Governments in the Tribal world)

हमने देखा कि विधान क्या है, विधान के अनुसार भिन्न-भिन्न आर्थिक-व्यवस्थाओं में किस-किस प्रकार की शासन-पद्धति जन्म लेती है। भारत की तथा अन्य देशो की जन-जातियो में किस-किस प्रकार की शासन-पद्धतियों ने जन्म लिया, इसे उदाहरणो द्वारा अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है। हम यहां कुछ जन-जातियो की शासन-पद्धतियों का वर्णन करेंगे।

(क) कमार जन-जाति की शासन-पद्धति—यह मध्य-प्रदेश की फल-मूल एकत्रित करने तथा कृषि एव पशु-पालन की आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था की जन-जाति है। जहां भारतीय शासन-पद्धति के अनुसार कत्ल के लिए प्राण-दड दिया जायेगा, वहां इनकी शासन-पद्धति में, अगर कातिल बिरादरी को बड़े पैमाने पर भोज दे तो उसे छोडा जा सकता है। किसी अपराध में बिरादरी को भोज देना—इस प्रकार का प्रायश्चित्तीय-दड जन-जातियो में प्राय पाया जाता है। दूसरी जन-जातियो की फसल काट लाना या सरकारी निषिद्ध जगल से कुछ उडा लाना इनके यहां अपराध नहीं माना जाता। जहां दो व्यक्तियो में झगडा खडा हो जाय, तो द्वन्द्व-युद्ध से उसका फैसला किया जाता है। जन-जातीय प्रथाओ का उल्लघन करने वाले को दड देने के लिए पचायत बैठती है, और सब मिल कर अपराधी को दड देते हैं। अगर यह समझा जाय कि इस अपराध का दड भगवान् देंगे, तो अपराधी को अपने भाग्य पर छोड भी दिया जाता है। प्रचलित विचार यही है कि अपराध का दड आगे जाकर मिलता है। भाई-

बहन या अत्यन्त निकट के रुधिर-सबधियो के यौन-सबध का दड तो मृत्यु के वाद उस लोक में अवश्य मिलता है, फिर भी इस लोक में भी जो ऐसे विवाह करते हैं, उन्हें बिरादरी से निकाल दिया जाता है, कभी-कभी गांव से भी निकाल बाहर कर दिया जाता है। देवताओं की पूजा करना सब के लिए आवश्यक है, परन्तु जो नहीं करते, उन्हें कोई दण्ड नहीं दिया जाता, यह समझा जाता है कि इनके साथ देवता लोग उस लोक में स्वय निबट लेंगे।

हर जन-जातीय प्रथा अथवा कानून को तोडने वाले को दड देने के लिए वार-बार पचायत के बैठने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। समुदाय के वृद्ध-जनो का अपराधी के कार्य के प्रति रोष प्रकट कर देना काफी होता है, इतने से ही लोग ऐसे व्यक्ति का बहिष्कार कर देते हैं। गम्भीर अपराधो के निर्णय के लिए पचायत बैठती है। पुरानी प्रथाओ तथा पुराने चलन के विरुद्ध चलना गम्भीर अपराध माना जाता है। जन-जाति में कई वस्तियाँ या गांव होते हैं। हर वस्ती अपनी-अपनी पचायत वना लेती है, पचायत का मुखिया सरपच कहलाता है, कई गाँवो के सरपच मिल कर वडा सरपच वना लेते हैं जिसे 'कुरहा' कहते हैं। एक चपरासी भी होता है जो पचायत भरने की तारीख, स्थान तथा उद्देश्य आदि की सब जगह सूचना पहुँचाता है। केवल वृद्ध लोग पचायत के सदस्य हो सकते हैं। बच्चे, युवा तथा स्त्रियाँ पचायत की सदस्य नहीं हो सकतीं। पचायत के निर्णय सर्व-सम्मति या वहु-सम्मति से किये जाते हैं। पचायत में इकट्ठे होने वाले सव अपनी-अपनी वात कह सकते हैं, परन्तु निर्णय सव का मिलकर होता है। पचायत से ऊपर कोई अधिकारी नहीं होता। झगडे के दोनों पक्षो की वात सुनी जाती है, साक्षी पेश किये जाते हैं, अपराधी को अपनी सफाई देने का अवसर दिया जाता है। अपराध करने वाले के इरादे की छान-बीन नहीं की जाती, अपराध के परिणाम की तरफ ध्यान दिया जाता है। अगर अपराध हुआ है, चाहे बिना जाने भी क्यो न हो गया हो, अचानक, विना इरादे के हुआ हो, उसका दड अवश्य दिया जाता है। अनेक अपराध विरादरी को भोज देने से माफ कर दिये जाते हैं। भोज में क्या-क्या देना पडेगा—यह पचायत लिखाती है। अगर अपराधी के पास इतना रुपया न हो, तो वह भोज्य-पदार्थों को कुछ कम करवाने की प्रार्थना कर सकता है। जवतक वह भोज नहीं दे देता तब तक दड जारी रहता है, अगर उसे जाति से वहिष्कृत कर दिया गया है, तो भोज देने तक वह बिरादरी में शामिल नहीं किया जाता। कमार लोगों में जो कृत्य अपराध माने जाते हैं, उनमें से कुछ ये हैं—व्यभिचार, जादू-टोना करना, नीच जात के साथ खाना खा लेना, घोडे को छूना या घोडे पर चढना, काला-जादू, गो-हत्या या बैल को मारना, फोडे में कीडे पड जाना, नीच जात वाले से मार खा जाना, चार पति बदल कर पाँचवाँ पति करना, बिना विवाह के किसी के साथ भाग जाना, बहिर्विवाही प्रतिबन्धो को तोडना आदि। क्योंकि जन-जातियो में 'अपराध' को एक तरह से 'पाप' माना जाता है, इसलिए इन्हें छिपाने का कोई यत्न नहीं करता और हर कोई अपने-आप विरादरी को

जुर्माना या भोज देकर इन पापो का प्रायश्चित करना चाहता है। विरादरी के वडे-बूढे ही जन-जाति के कानूनो के रक्षक माने जाते हैं, वे ही झगडे खडे होने पर उनका निपटारा करते हैं।

(ख) खडिया जन-जाति की शासन-पद्धति—यह भी फल-मूल एकत्रित करने वाली एव कृषि तथा पशु-पालन करने वाली आदि-कालीन अर्थ-व्यवस्था की ओडीसा तथा विहार की जन-जाति है। ये लोग जगलों तथा पहाडो में फल-मूल तथा शिकार की तलाश में भटकते फिरा करते हैं। ये आठ-दस परिवारो के समूह में रहते हैं, कहीं-कहीं अधिक परिवारों की बस्तियाँ भी पायी जाती हैं। इनका एक मुखिया होता है, वही सब बातो का निपटारा करता है, परन्तु अपना निर्णय करने में भिन्न-भिन्न परिवारो के वडे-बूढो की उसे सलाह लेनी होती है। ये वडे-बूढे मिल कर पचायत कहाते हैं। मुखिया तथा पचायत मिल कर ही सब फैसले करते हैं। पचायत ने सब से वडा दड देना हो तो अपराधी का बहिष्कार कर देती है। खडिया जन-जाति के वाहर यौन-सवध, अपने गोत्र में विवाह, इरादतन या विना इरादे का गौ या बैल का वध—ये अपराध बहिष्कार के लिए काफी हैं। छोटे अपराधो के प्रायश्चित्त के तौर पर अपराधी को सफेद मुर्गे या वकरे का सूर्य के नाम पर वलि चढा कर उसका खून पीना पडता है और पचायत के सदस्यो को शराव पिलानी पडती है। जिन लोगो को विरादरी से निकाला गया होता है, उन्हें भिन्न-भिन्न गाँवों की पचायतें मिल कर फिर से अपने में शामिल कर सकती हैं, परन्तु इसके लिए विरादरी को एक वडा भोज देना पडता है। पचायत ही इस जन-जाति की शासन-पद्धति को सुरक्षित रखने वाली सस्था है।

(ग) पौलीनेशिया की समोआ जन-जाति की शासन-पद्धति—पौलीनेशिया में अनेक जन-जातियाँ हैं, जो एक-साथ कृषि तथा पशु-पालन के स्तर पर हैं। इनमें से समोआ जन-जाति का अनेक मानव-शास्त्रियो ने अध्ययन किया है, इसलिए हम इसी जन-जाति की शासन-पद्धति की यहाँ चर्चा करेंगे। इस 'जन-जाति' (Tribe) में कई 'गोत्र' (Clans or Sibs) पाये जाते हैं। प्रत्येक गोत्र का अपना-अपना भू-भाग निश्चित है। जन-जाति में अनेक गांव आ जाते हैं और इन गांवो में इस जन-जाति के भिन्न-भिन्न गोत्र के लोग अपने-अपने गोत्र के साथ रहते हैं।

समोआ जन-जाति में राजनैतिक दृष्टि से शासन की इकाई गांव है। पौलीनेशिया में वडे-वडे राजनैतिक-सगठन नहीं पाये जाते। गांव का शासन किसी की स्वेच्छाचारिता पर नहीं चलता, अपितु जन-तान्त्रिक प्रणाली पर चलता है। प्रत्येक गांव की एक गांव-सभा होती है, जो गांव में ही भरती है। इन गांव-सभाओ के कुछ अनुभवी, वडे-बूढे सदस्य होते हैं जिन्हें मताई कहा जाता है। असल में, फैसला इन्हीं मताई लोगो के हाथ में होता है। गांव-सभा का मुखिया इन मताई लोगो से सभा भरने से पहले बात-चीत कर लेता है और इनकी जैसी सम्मति होती है, सभा के सब सदस्यो की वैसी सम्मति ढालने का प्रयत्न करता है।

मताई लोगों को सभा भरने से पहले लोग अपने-अपने पक्ष से प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। गांव-सभा में उन्हीं बातो पर विचार होता है जिनका सबध समुदाय से होता है या जो मामले सार्वजनिक हित के होते हैं। अगर गांव के मुखिया का उपहास किया जाय, कोई दूसरी बार चोरी करे, अनाचार अर्थात् भाई-बहन या खून के रिश्ते में यौन-सबध की शिकायत हो, दो मताई का आपसी झगडा हो, तो ये मामले गांव-सभा में लाये जाते हैं, दूसरे झगडो को मताई या परिवारों के बडे-बूढ़े पच बन कर स्वय निपटा लेते हैं। इस जन-जाति में दण्ड कई प्रकार का है। जुर्माना, कुछ दिन दास की तरह सेवा करना, सम्पत्ति का अपहरण, बहिर्निष्कासन, धूप में खडा रखना, फांसी पर लटका देना—ये सब इनके दण्ड-विधान के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। फांसी से बचने के लिए अपराधी किसी भी मताई से रक्षा की भिक्षा मांग सकता है। वह मताई उसे अपने घर में रक्षा दे या न दे—यह मताई के गांव में अपने प्रभाव पर निर्भर रहता है। जो प्रभावशाली होता है वह रक्षा दे देता है, जो प्रभावशाली नहीं होता वह लाचारी प्रकट कर देता है।

२८

आदिकालीन-कला—मूर्ति-निर्माण तथा चित्र-निर्माण

(PRIMITIVE ART — PLASTIC AND GRAPHIC)

१. कला क्या है ?

(क) कला सौन्दर्यपूर्ण-अभिव्यक्ति का नाम है—बाह्य-परिस्थिति को देख कर मनुष्य के भीतर, उसके मन में जो प्रतिक्रिया होती है, उसे वह दूसरे तक पहुँचाने के लिए प्रकट करता है। इसी प्रकार की एक 'अभिव्यक्ति' (Expression) भाषा है। जब तक यह अभिव्यक्ति साधारण तौर पर सामान्य-अभिव्यक्ति होती है, तब तक यह कला का रूप नहीं धारण करती। परन्तु मनुष्य में जैसे 'भाव-अभिव्यक्ति' की आकांक्षा है, वैसे यह भी आकांक्षा है कि वह अपनी अभिव्यक्ति को सुन्दरता का रूप दे। जब मनुष्य की अभिव्यक्ति में सुन्दरता का पुट मिल जाता है, तब यही अभिव्यक्ति 'कला' (Art) का रूप धारण कर जाती है। इस दृष्टि से 'कला' का क्या अर्थ है ? 'कला' का अर्थ है—'सौन्दर्यपूर्ण अभिव्यक्ति'। 'सौन्दर्य-पूर्ण अभिव्यक्ति' को जब 'गद्य' (Prose) की भाषा में प्रकट करते हैं तब 'पौराणिक-आख्यानों' और 'दन्त-कथाओ (Mythology and folktale) की उत्पत्ति हो जाती है, जब 'पद्य' (Poetry) की भाषा में प्रकट करते हैं तब 'संगीत-कला' (Art of music and song) की उत्पत्ति हो जाती है, जब 'सौन्दर्य-पूर्ण अभिव्यक्ति' को भाषा में प्रकट न कर 'गति' (Movement) में प्रकट करते हैं तब 'नृत्य-कला' (Art of dance) की उत्पत्ति हो जाती है, जब 'सौन्दर्य-पूर्ण अभिव्यक्ति' को 'आकृति' (Form) में प्रकट करते हैं तब 'मूर्ति-निर्माण-कला तथा चित्र-कला' (Plastic and Graphic art) की उत्पत्ति हो जाती है। हम आदिकालीन पौराणिक-गाथाओं तथा कथानकों एवं आदिकालीन संगीत तथा नृत्य पर अगले अध्यायों में लिखेंगे, इस अध्याय में हम आदिकालीन मूर्ति-निर्माण तथा चित्र-कला पर ही प्रकाश डालेंगे।

(ख) मूर्ति-निर्माण तथा चित्र-निर्माण कला में भेद—वैसे तो जैसा हमने लिखा 'कला' एक विस्तृत शब्द है, परन्तु हम इस अध्याय में कला का सिर्फ मूर्ति-निर्माण तथा चित्र-निर्माण के अर्थ में प्रयोग करेंगे। रेखाओं, धरातल तथा रंग में सौंदर्य डाल देने को मूर्ति-निर्माण तथा चित्र-कला कहते हैं, ध्वनि तथा शब्द में समता

डाल देने तथा माधुर्य घोल देने को सगीत-कला कहते है, गति में सगीत-यन्त्रो के साथ ताल-लय मिला देने को नृत्य-कला कहते हैं। इन सब में सौन्दर्य का पुट देना आवश्यक है। मूर्ति-निर्माण तथा चित्र-कला---ये दोनो एक ही कला के दो पहलू हैं। रेखाओ, धरातल तथा रगो के मेल से 'आकृति' बनती है। यह 'आकृति' दो तरह की होती है। एक आकृति को त्रिपार्श्व (Three dimensional) तथा दूसरी को द्वि-पार्श्व (Two dimensional) आकृति कह सकते हैं। 'त्रि-पार्श्व-आकृति' वह है जिसमें हमें वस्तु की लम्बाई-चौडाई-गहराई---इन तीनो का ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ, हमारे हाथ में एक टोकरी है, बर्तन है, जेवर है, एक मूर्ति है। इनके तीन पहलू हैं। इनमें से हर-एक की लम्बाई भी है, चौडाई भी है, गहराई भी है। गणित की दृष्टि से इनका परिमाण निकाला जाय, तो उसे घन-इच या घन-फुट कहेंगे। इस प्रकार की वस्तुओं को 'मूर्ति' कहते हैं। इनका निर्माण कला की दृष्टि से 'मूर्ति-निर्माण-कला' (Plastic art) कहाता है। आदि-कालीन-समाज में हम देखते हैं कि वे बर्तन बनाते थे, टोकरियां बनाते थे, सुन्दर-सुन्दर जेवर बनाते थे, देवताओ की मूर्तियां भी बनाते थे। आदिकालीन-कला का अध्ययन करते हुए हमें इन सब का अध्ययन करना होगा। 'द्वि-पार्श्व आकृति' वह है जिसमें वस्तु की गहराई नहीं होती, सिर्फ लम्बाई तथा चौडाई होती है, और हमें वस्तु की सिर्फ लम्बाई-चौडाई का ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ, दीवार पर पाषाण पर बना एक चित्र है। इस चित्र में वस्तु के सिर्फ दो पहलू दिखाई देते हैं। एक लम्बाई दिखाई देती है, दूसरी चौडाई, इस चित्र में वस्तु की गहराई दिखाई नहीं देती। गणित की दृष्टि से चित्र का परिमाण निकाला जाय, तो उसे वर्ग-इच या वर्ग-फुट कहेगे, घन-इच या घन-फुट नहीं कहेगे। इस प्रकार की वस्तुओं को 'चित्र' कहते हैं। चित्रो का निर्माण कला की दृष्टि से 'चित्र-निर्माण-कला' (Graphic art or Painting) कहाता है। आदिकालीन-समाज में हम देखते है कि वे गुफाओ मे, चट्टानों पर, बर्तनो, टोकरियों तथा मूर्तियो पर इस प्रकार के चित्र बनाये जाते थे। आदिकालीन-कला का अध्ययन करते हुए हमें इन चित्रों की तरफ भी ध्यान देना होगा। इस प्रकार जिस कला का हम वर्णन करेंगे उसमें मूर्ति-निर्माण-कला (Plastic art) तथा चित्र-कला (Graphic art) दोनों का जगह-जगह उल्लेख किया जायगा।

२. कला की उत्पत्ति

'कला' की उत्पत्ति कैसे हुई---इस सबध में भिन्न-भिन्न विचार है। कला की उत्पत्ति के सबध में एक विचार विकासवादियों का है। इनका विचार तो हर प्रकार की कला पर लागू होता है। चाहे वह कथा-कथानक हो, चाहे सगीत हो, चाहे मूर्ति-निर्माण या चित्र-कला हो। दूसरे विचार का सबध विशेष तौर पर चित्र-निर्माण के साथ है। इनका कहना है कि आदिवासियों का चित्र-निर्माण बच्चों के ढग का है। हम पहले इस दूसरे तथा बाद को विकासवादियो के विचार पर प्रकाश डालेगे।

(क) आदिवासियों का मूर्ति तथा चित्र-निर्माण बच्चों के ढंग का है (Primitive art compared to work of children)—कुछ लोगों का कहना है कि जैसे बच्चे चित्र बनाते हैं, वैसे ही आदिवासियों का मूर्ति तथा चित्र-निर्माण है। परन्तु बच्चों के चित्र-निर्माण की आदिवासियों के चित्र-निर्माण से तुलना नहीं की जा सकती। वह बच्चा जिसने मूर्ति-कला तथा चित्र-कला में शिक्षा नहीं प्राप्त की, जब मूर्ति अथवा चित्र बनाने बैठता है, तो जो-कुछ उसे दीखता है उसकी नकल करने लगता है। कई चीजें ऐसी भी उसमें डाल देता है जो उस वस्तु में नहीं होतीं, परन्तु जिन्हें वह अपने बालपन की कल्पना में समझता है कि उसमें हैं। इसके अतिरिक्त वस्तु में जिस चीज को वह स्वयं मुख्य समझता है उसी को चित्र में डालता है, बाकी सब छोड देता है। अपने चित्रों को वह अलंकृत नहीं करता। आदिवासियों की मूर्ति-निर्माण तथा चित्र-कला ऐसी नहीं है। उनकी कला में 'वस्तु' (Object) ही नहीं, 'विषय' (Theme) भी पाया जाता है, उनकी कला में 'रीति' (Style) भी पायी जाती है। वे सिर्फ जो चीज सामने आयी उसी की मूर्ति या उसी का बच्चे की तरह बिना मतलब के चित्र बनाने नहीं बैठ जाते थे, वे किसी विषय को अभिव्यक्त करने वाली वस्तु की मूर्ति बनाते और उसका चित्र खींचते थे। खुदाई में अनेक देवताओं की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, भिन्न-भिन्न भावों के चित्र मिले हैं। इसी प्रकार उनकी कला की अपनी रीति कही जा सकती है, जिस बात का बालक की कला में सर्वथा अभाव होता है। 'रीति' हम इसे इसलिए कहते हैं क्योंकि चित्रों की जैसी प्रणाली आदिवासियों के चित्रों में पायी जाती है, वह वंश-परंपरा से चलती चली आती प्रतीत होती है, अनेक कालों के चित्रों तथा मूर्तियों में समानता है। अगर आदिकालीन चित्र-कला तथा बच्चों के चित्र-निर्माण में कुछ समानता दीखती है, तो इसका कारण यही है कि प्राचीन-युग के मानव के पास अपनी कला के लिए उपकरणों का सर्वथा अभाव था। वह ब्रुश की जगह उँगली का प्रयोग करता था, बारीक उपकरणों की जगह अपने युग के पत्थर या इसी तरह की अन्य किसी वस्तु का प्रयोग करता था, मूर्ति तथा चित्र-निर्माण के लिए उसे उपयुक्त पदार्थ भी नहीं मिलता था।

(ख) कला की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यथार्थ से सांकेतिक चित्रण का विकासवादियों का सिद्धान्त (Evolutionary theory of art—'from Realism to symbolism')—कला के संबंध में विकासवादियों के सिद्धान्तों में सब से प्रसिद्ध सिद्धान्त ए० सी० हैडन (A C Haddon) का है। इनका कहना है कि शुरू-शुरू में आदिकालीन-मानव 'यथार्थ-चित्रण' करता था, जो चीज जैसी थी, उसे वैसा बनाने का यत्न करता था। 'यथार्थ-चित्रण' का यह अर्थ तो है ही नहीं कि जो चीज जैसी हो वैसी ही बना दी जाय। 'वस्तु' तथा उसकी 'मूर्ति' और 'चित्र' में भेद तो रहता ही है। वस्तु के अत्यन्त निकट की चीज आज-कल फोटो कही जा सकती है। फोटो वस्तु का अत्यन्त यथार्थ चित्र होता है, परन्तु फिर भी इन दोनों में भेद यह है कि वस्तु में तीन पार्श्व रहते हैं—लम्बाई-

चौडाई-गहराई, और फोटो में सिर्फ दो पार्श्व रहते हैं—लम्बाई तथा चौडाई। चित्र में गहराई नहीं होती। वस्तु तथा उसकी मूर्ति अथवा चित्र में दो भेद और पाये जाते हैं। पहला भेद तो यह है कि मूर्ति तथा चित्र निर्माण के जो साधन हैं, उपकरण हैं, वे हर काल में भिन्न-भिन्न होते हैं। कभी पत्थर के उपकरण थे, कभी धातु के बने। जिन पदार्थों से वस्तु की मूर्ति तथा चित्र बनाये जाते हैं, वे भी हर काल में भिन्न-भिन्न होते हैं। कभी पत्थर को गढ़ कर मूर्ति बनायी जाती थी-उस पर चित्र बनाया जाता था, कभी मट्टी की मूर्ति बनने लगी, उसके बर्तन बनने लगे, इन मूर्तियों तथा बर्तनों को गढने के बजाय मट्टी के मुलायम होने के कारण गीले हाथ से सुधारा जाता था। उपकरण तथा पदार्थ भेद के कारण हर काल में 'यथार्थ-चित्रण' के होते हुए भी वस्तु तथा उसकी मूर्ति तथा चित्र में काल-काल का भेद रहता ही था। दूसरा भेद यह है कि चित्रण तो मनुष्य करता है, मनुष्य की अपनी कल्पना भी होती है। इस कल्पना की भी मूर्ति-कला तथा चित्र-कला पर कुछ छाया पडती रहती है। इन सब के कारण 'यथार्थ-चित्रण' में जो थोडा-बहुत अन्तर पड़ जाय वह तो पडता ही है, परन्तु फिर भी हैड्डन के कथनानुसार आदिकालीन कला 'यथार्थवादी-कला' (Realistic art) होती है। इस कला में वस्तु के असली स्वरूप का यथार्थ-चित्रण करने का अधिक-से-अधिक प्रयत्न होता है। ऑस्ट्रेलिया की चित्र-कला में यथार्थ के साथ मेल रखने का इतना प्रयत्न किया जाता है कि अगर कगरू का चित्र बनाना हो, तो इतना ही नहीं कि चित्र की शक्ल-सूरत कगरू की बनाई जाती है, अपितु उसकी रीढ़, हृदय, पेट आदि सब बना दिये जाते हैं। हैदराबाद की चेंचु जन-जाति के किसी व्यक्ति से पेड का चित्र बनाने को कहा जाय, तो पेड के तने-शाखा-पत्ते के साथ-साथ वह उसकी जडो का भी साथ ही चित्र बना देता है। इस सब का यही अर्थ है कि आदिकालीन-मानव का कला-सबधी विचार यथार्थवादी है। हैड्डन का कहना है कि ज्यों-ज्यो विकास होता जाता है, त्यों-त्यों कला 'यथार्थवाद' (Realism) से 'सकेतवाद' (Symbolism) की तरफ बढ़ने लगती है। सस्कृति-सवर्धन के अध्याय में हम लिख आये हैं कि विकासवादी लोगो का कहना है कि विकास एक सीधी रेखा में, एक ही दिशा में, 'एक-दैशिक-विकास' (Unilinear evolution) होता है। हैड्डन का कहना है कि कला के क्षेत्र में भी 'एक-दैशिक-विकास' ही होता है, 'यथार्थ' से 'सकेत' की तरफ विकास बढ़ता चला जाता है। ऐसा नहीं होता कि विकास की यह एक-देशीय-रेखा कहीं टूट जाय, किसी जन-जाति में तो पहले 'यथार्थवाद' दिखाई दे, बाद को 'सकेतवाद' उत्पन्न हो, और किसी में पहले 'सकेतवाद' चले और पीछे 'यथार्थवाद' आये। 'सकेतवाद' (Symbolism) को स्पष्ट करने के लिए विकासवादियों ने अनेक शब्दों का प्रयोग किया है। 'औपचारिकवाद' (Conventionalism), 'सरलीकरण' (Simplification) आदि भिन्न-भिन्न शब्दो का प्रयोग 'सकेतवाद' (Symbolism) को स्पष्ट करने के लिए ही किया जाता है। इनका कहना है कि पहले तो यथार्थ-चित्रण करने का प्रयत्न किया जाता

है, परन्तु धीरे-धीरे यथार्थ का इतना महत्व नहीं रहता, कुछ सकेतो से ही यथार्थ की कल्पना कर ली जाती है, औपचारिक तौर पर यथार्थ को प्रकट करने के लिए उसका कुछ चिह्न चित्र में शेष रह जाता है, प्रारभिक चित्र को नये सकेत द्वारा सरल बना दिया जाता है। उदाहरणार्थ, शुद्ध, स्वच्छ तालाव को हीरे के सकेत से, सांप को टेढी-मेढ़ी रेखा के सकेत से, पक्षी के उडने को पख में अभिव्यक्त किया जाता है। जव कला 'यथार्थ-चित्रण' से 'साकेतिक-चित्रण', 'औपचारिक-चित्रण' या 'सरलीकरण' की तरफ आती है, तव हम कहते हैं कि कला का विकास हुआ, जव तक वह 'यथार्थ-चित्रण' की अवस्था में रहती है, तव तक वह आदिकालीन अवस्था में ही होती है। विकासवादियों का इसी आधार पर यह भी कहना है कि 'ज्यामितिक-चित्रण' (Geometric art) आदि-काल की नहीं, पीछे की कला है, क्योकि ज्यामिति की कोनो वाली रेखाओं का विकास शुरू-शुरु में हो सकना सभव नहीं था।

अपने विकासवादी सिद्धान्त की पुष्टि में श्री हैड्डन ने टॅरेस के दर्रो (Torres Straits) से प्राप्त हुए वाणो का उदाहरण दिया है। इन वाणो पर मगरमच्छ के चित्र वने हैं। ये वाण अनेक हैं। कुछ वाणो पर तो मगरमच्छ की थूथन, सिर, हाथ-पैर, शरीर, पूंछ सव वना है, कुछ पर सिर्फ इन भागो के उपलक्षक चिन्ह, सकेत ही रह गये हैं। हैड्डन का कहना है कि ये वाण 'यथार्थ-चित्रण' से 'साकेतिक' या 'औपचारिक'-चित्रण के विकास के उदाहरण हैं।

(ग) कला की उत्पत्ति के सवध में विकासवादी सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the Evolutionary theory of art)—अधिकांश मानव-शास्त्री कला की उत्पत्ति के सवध में विकासवादी सिद्धान्त को नहीं मानते। उनका कहना है कि 'यथार्थ-चित्रण' के लिए वहुत वारीक तथा नपे-तुले, सधे हुए उपकरणो की आवश्यकता है। इस प्रकार के उपकरण आदिकालीन-मानव के पास थे ही नहीं। उस समय के मानव के प्राविधिक-उपकरण वहुत भोंडे तथा अघड थे, सुथरे उपकरण नहीं थे। इन उपकरणों से यथार्थ-चित्रण हो ही नहीं सकता था। इसके अतिरिक्त अगर उस समय की मूर्ति-कला तथा चित्र-कला का वारीकी से अध्ययन किया जाय, तो पश्चिमी-युरोप के कुछ ही इने-गिने प्रदेशों की चित्र-कला, न्यूगिनी की सगतराशी तथा मध्य-अमरीका के वर्तनों पर के चित्रो को छोड कर अन्य कहीं यथार्थ-चित्रण नहीं दीख पडता। इसके विपरीत उस काल की मूर्तियों, चित्रो, वस्त्रों तथा टोकरियो पर साकेतिक चित्र दिखाई देते हैं, साथ ही ज्यामितिक शक्लें भी इन वस्तुओ पर पायी जाती हैं। यह तो सीधी-सी वात है कि जव तक उपकरणो में विकास नहीं हो जाता, तव तक यथार्थ चित्र वन कैसे सकते हैं? मट्टी के वर्तनो के निर्माण में शुरू-शुरु में यथार्थता कैसे आ सकती थी? उस समय के वर्तन चिकनी पीठ के वन ही नहीं सकते थे, क्योंकि वर्तनो की पीठ को चिकना करने के द्रव्य ही पीछे-से आविष्कृत हुए। उन वर्तनो में अघड़ता तो हो सकती थी, यथार्थता नहीं हो सकती थी। जव मट्टी पर आदि-मानव का

ए है। फ्रास में उपलब्ध होने वाले चित्र-कला के मैगडेलीनियन-काल के नमूनो में दो प्रसिद्ध है।

एक चित्र गरुड पक्षी के पख की हड्डी पर वना है। इस हड्डी के शुरू के सिरे पर तीन जानवरों के चित्र बनाये गये हैं, इसी प्रकार उसी तरफ के अन्त के सिरे पर एक जानवर का चित्र बनाया गया है। पख की हड्डी पर इस प्रकार का चित्र बनाना उस काल के मानव की कला की उच्चता का द्योतक है। इसी प्रकार इस काल का एक और चित्र पाया गया है जो मिला तो फ्रांस में ही है, परन्तु फ्रास में पाये गये पहले चित्र से भिन्न स्थान पर मिला है। यह चित्र एक पत्थर पर उल्लिखित है। इसमें घोड़ों का झुण्ड-का-झुण्ड दिखाया गया है, परन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस चित्र में शुरू का घोडा दिखाया गया है, उसके पीछे के घोडे न दिखा कर सिर्फ उनके चेहरे दिखाये गये हैं, नीचे टाँगें दिखाई गई हैं, सिर और टाँगो के वीच का भाग नहीं दिखाया गया। इन दोनों चित्रो को देख कर भी यही परिणाम निकलता है कि आदिकालीन चित्र-कला को 'यथार्थवादी' नहीं कहा जा सकता। ये दोनो चित्र साकेतिक-चित्र हैं। घोडो का चित्र तो विल्कुल साकेतिक है क्योंकि उसमें तो शुरू के एक घोडे के अलावा अन्य घोडो के धड दिखाये ही नहीं गये, जो-कुछ दिखाया गया है उससे घोड़ों का सकेत जरूर मिल जाता है।

(घ) मैसोलिथिक तथा नव-पाषाण-काल की कला---पूर्व-पाषाण-युग तथा नव-पाषाण-युग को मिलाने वाला काल मैसोलिथिक-काल कहाता है। इस काल में कला का ह्रास हो गया प्रतीत होता है। कहीं-कहीं घोघे आदि पर चित्रकारी दिखलाई देती है जिसका जादू-टोने के लिए इस्तेमाल होता था। इसके वाद नव-पाषाण-युग का सूत्रपात हुआ। इस युग मे बर्तनो तथा कपडो का आविष्कार हुआ, इस आविष्कार के साथ इन पर चित्रकारी भी होने लगी। कई लेखको का कहना है कि अव तक तो चित्र-कला उपयोगिता की दृष्टि से चलती चली आ रही थी, इस नव-पाषाण-युग में पहले-पहल कला की कला के लिए अभिव्यक्ति होना प्रारभ हुआ।

[भारत में]

भारत में सव से पहले १८८० में आर्चिवाल्ड कारलाइल तथा जे० कौकवर्न को उत्तर प्रदेश के मिर्ज़ापुर जिले की विजयगढ नाम की गुफाओं में कुछ चित्रो के नमूने पत्थरों की शिलाओ पर मिले। ये शिलाएं प्रागैतिहासिक काल की थीं। इनमें से एक शिला पर गेंडे का चित्र वना हुआ है जिस पर छ शिकारी आक्रमण कर रहे हैं। इनमें से कुछ शिकारियो के सिर पर पहनी हुई पोशाक में उसे अलकृत करने के लिए पख भी लगे हैं। हो सकता है यह सारी-की-सारी पखो की पोशाक हो। मध्य-प्रदेश में रायगढ़ जिले के सिंघनपुर और सरगुजा रियासत के जोगीमारा में भी चट्टानों पर अंकित चित्र मिले हैं। इन पर कीडों, पशु-पक्षियों, मनुष्यों आदि की बहु-रगी आकृतियां चित्रित हैं। उत्तर-प्रदेश में मिर्ज़ापुर जिले की सोन

की खाड़ी एवं बांदा जिले के माणिकपुर स्थान में और मध्य-प्रदेश के होशंगाबाद तथा पचमढ़ी स्थानो में कई चट्टानें मिली हैं जिन पर चित्र-कला तथा उल्लेखन के उदाहरण मिलते हैं।

भारत में चित्र-कला के जो नमूने मिले हैं वे कितने पुराने हैं—यह नहीं कहा जा सकता। मिर्जापुर की चित्र-कला कई विद्वानो के अनुसार 'पूर्व-पाषाण-युग' (Paleolithic period) की है। इस चित्र-कला की पश्चिमी-युरोप की चित्र-कला से तुलना की जाती है। श्रीयुत् मित्रा के कथनानुसार ये चित्र 'पूर्व-पाषाण-युग' से कुछ पहले के हैं, परन्तु श्री गौरडन के कथनानुसार ये आज से २५०० वर्ष से पहले के नहीं हैं। कई विद्वानों ने विहार के घाटशील की चट्टानों की चित्र-कला की ऑस्ट्रेलिया में पायी जाने वाली चित्र-कला से तुलना की है। इन दोनो में इतनी समानता को देख कर उनका कहना है कि इन दोनो देशो में कभी आदान-प्रदान अवश्य रहा होगा।

१९२४ में मोहनजोदडो तथा हडप्पा की सभ्यता प्रकाश में आयी। इसका हम विस्तृत उल्लेख पहले एक अध्याय में कर आये हैं। इस सभ्यता के काल में मूर्ति-कला तथा चित्र-कला दोनो का पर्याप्त विकास हो गया था। मूर्ति-कला का उदाहरण धातु की वनी हुई नर्तकी की वह सुन्दर, नग्न मूर्ति है जो अत्यन्त सजीव मालूम पड़ती है। इस काल के वर्तनो पर तरह-तरह की चित्रकारी है। मट्टी की वनी छोटी-छोटी गाडियाँ भी यहाँ के अवशेषो में मिली हैं जो सभवत खिलौनों के रूप में वच्चों के खेलने के काम आती थीं। मट्टी के ये खिलौने वच्चे वनाते थे क्योकि इन पर वच्चो की अगुलियों के निशान पाये जाते हैं। वच्चो के अतिरिक्त शिल्पियो तथा कलाकारो के वनाये खिलौने भी यहां पाये गये हैं।

५. समकालिक-आदिकालीन कला
(Contemporary Primitive Art)

(क) आदिकालीन मूर्ति तथा चित्र-कला के साधन—इस समय जो जीवित जन-जातियाँ हैं, उनकी आदिकालीन मूर्ति तथा चित्र-कला के साधन प्राय वही हैं जो प्रागैतिहासिक-कला के थे, परन्तु क्योकि हमारी समकालीन जन-जातियों की मूर्ति तथा चित्र-कला के सब साधन हमारे सामने हैं, इसलिए उन साधनों का जिनके द्वारा वे अपनी कला की अभिव्यक्ति करते हैं, वर्णन असगत न होगा। कला के ये साधन संसार के सभी देशो में एक-समान पाये जाते हैं। ये साधन क्या हैं—यह हम नीचे दे रहे हैं क्योकि इनके जान लेने से आदिकालीन कला पर प्रकाश पड़ता है।

(1) चट्टानो पर चित्र बनाना या चित्रो को उल्लिखित करना। चित्र वनाने का अर्थ है, एक या विविध रगों से किसी पशु, पक्षी, मनुष्य का चित्र वना देना, किसी भाव को प्रदर्शित करना। उल्लेखन का अर्थ है, चट्टान पर नक्काशी के चित्र बनाना। इन चित्रों में सिर्फ वस्तु का चित्र ही नहीं वनाया गया, सिर्फ 'यथार्थ-चित्रण' ही नहीं किया गया, 'भाव-चित्रण' भी किया गया है, 'सांकेतिक-

६. कला में यथार्थवाद तथा सकेतवाद
(Realism and Symbolism in Art)

हम इसी अध्याय में कला की उत्पत्ति के सबध में विकासवादी सिद्धान्त का वर्णन करते हुए लिख आये हैं कि उनके कथन के अनुसार कला का विकास 'यथार्थ-चित्रण' से 'साकेतिक-चित्रण' की तरफ बढ़ता है। इस 'यथार्थ' तथा 'साकेतिक'-चित्रण का अर्थ भी हम वहाँ लिख आये हैं। कला के सबध में विचार करने वालों का कहना है कि 'यथार्थ-चित्रण' होता ही नहीं, जो भी चित्रण है वह सदा 'सांकेतिक-चित्रण' ही होता है। इस विषय को यहाँ स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

(क) चित्रण 'यथार्थ' न होकर सदा साकेतिक' होता है—अगर यह कहा जाय कि मूर्ति-कला तथा चित्र-कला दोनों में जो भी चित्रण होता है, वह यथार्थ हो ही नहीं सकता, तो कोई अत्युक्ति न होगी। 'चित्रण' का अर्थ क्या है? चित्रण किसी 'वस्तु' अर्थात् 'यथार्थ' का प्रतीक होता है। 'वस्तु' अर्थात् 'यथार्थ' तथा वस्तु के 'प्रतीक' अर्थात् उसके 'सूचक'—इन दोनों में भेद होना स्वाभाविक है। अगर वस्तु अर्थात् 'यथार्थ' का 'प्रतीक', वस्तु का 'सूचक' और 'वस्तु' बिल्कुल एक हो जांय, तो 'वस्तु' तथा 'प्रतीक' में कोई भेद ही न रहे, भेद न रहे तो 'सूचक' 'सूचक' न रहे 'प्रतीक' 'प्रतीक' न रहे, स्वय 'वस्तु' हो जाय। इस दृष्टि से 'वस्तु' अर्थात 'यथार्थ' तथा उसके 'सूचक' में भेद तो सदा बना रहता है। इतना अवश्य है कि कला में 'वस्तु' अर्थात् 'यथार्थ' के अधिकतम निकट आने का, उसके साथ अधिकतम समता स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है। यह बात किसी वस्तु की उसके फोटो के साथ तुलना करने से अधिक स्पष्ट हो जाती है। जब हम किसी वस्तु का फोटो खींचते हैं, तब उस वस्तु का यथार्थ रूप ज्यादह-से-ज्यादह अभिव्यक्त होता है। परन्तु इतना ज्यादह रूप अभिव्यक्त करने पर भी क्या उस वस्तु तथा फोटो में भेद नहीं है? जरा-सा भी ध्यान देने से इन दोनों का भेद स्पष्ट हो जाता है वस्तु में तीन पहलू होते हैं—लम्बाई, चौड़ाई, गहराई, फोटो में सिर्फ दो पहलू होते हैं—लम्बाई तथा चौडाई, अर्थात् वस्तु 'त्रि-पार्श्वीय' (Three dimentional) है, फोटो 'द्वि-पार्श्वीय' ((Two dimentional) है। इसके अतिरिक्त वस्तु को कई दृष्टियों से देखा जा सकता है। अगर कोई व्यक्ति है तो व्यक्ति चल-फिर सकता है, हँस-रो सकता है, सुखी-दुःखी हो सकता है, परन्तु उसकी फोटो में तो उसका सिर्फ एक रूप आ सकता है—या हँसते हुए व्यक्ति का ही फोटो खींचा जा सकता है, या रोते हुए का ही, व्यक्ति के ये दोनों रूप दिखाने हों तो अलग-अलग फोटो खींचने होंगे, परन्तु व्यक्ति एक होता हुआ भी दोनों रूप दिखा सकता है। कला की इसी कमी को दूर करने के लिए ईजिप्ट की प्राचीन-कला में मनुष्य की आकृति बनाते हुए सिर तथा टाँगें सामने से न दिखा कर इन्हें एक ओर से, बाजू से दिखाते थे और धड सामने से दिखाते थे, जिससे आकृति का आमने-सामने तथा एक पासे का रूप दीख जाय। परन्तु इससे कला

की कमी दूर थोडे ही हो जाती है। वस्तु तथा उससे अत्यन्त मिलती-जुलती फोटो ; भेदो की तुलना से यह स्पष्ट है कि वस्तु अर्थात् 'यथार्थ' तथा उसके 'प्रतीक' में दा भेद रहता है। 'प्रतीक' क्या है ? 'प्रतीक' वस्तु का केवल 'सकेत' है, सी चीज है जिसे देख कर वस्तु का, यथार्थ का ध्यान आ जाता है। इस दृष्टि यह कहना उपयुक्त ही है कि कला कभी 'यथार्थ' नहीं होती, वह 'यथार्थ' होने ग केवल प्रयत्न करती है, 'यथार्थ' की तरफ ज्यादा-से-ज्यादा आने का प्रयत्न करती है, असल में कला सदा 'साकेतिक' रहती है।

(ख) साकेतिक-कला के रूप—अगर कला सदा साकेतिक-चिह्नों द्वारा यथार्थ को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करती है, तो प्रश्न है कि यह किस प्रकार अपने को साकेतिक रूपो में प्रकट करती है। कला के साकेतिक रूप तीन हैं— सरलीकरण' (Simplification), 'विकृतीकरण' (Distortion) तथा स्थानापन्नीकरण' (Substitution)। इन तीनो का क्या अर्थ है ?

(i) सरलीकरण (Simplification)—किसी वस्तु के यथार्थ रूप को चित्रण करने की अपेक्षा जब उसके प्रतीक को भी बनाया जा सकता है, तब सारी वस्तु का चित्रण करने की क्या आवश्यकता है ? चित्रण का अर्थ यही तो है कि उस वस्तु का बोध हो जाय, कोई ऐसा प्रतीक हो जिसे देख कर वह वस्तु हमारे ध्यान में आ जाय। तो फिर सारी वस्तु का चित्रण करने की क्या आवश्यकता है। अगर पंख को देख कर पक्षी का, सींग को देख कर बैल या हरिण का, मुख को देख कर मनुष्य का—अर्थात् किसी हिस्से को देख कर पूरे का बोध हो जाता है, तो कलाकार के लिए इतने का ही निर्माण पर्याप्त है। 'साकेतिक-कला' में सकेत बनाने का एक रूप तो यह है। आदिकालीन-कला में वस्त्रो, टोकरियो तथा बर्तनो पर जो चित्रण किया जाता था, उसमें सारे-का-सारा चित्र तो उतारा नहीं जा सकता था, इसलिए उस काल के वस्त्रो, टोकरियों तथा बर्तनो पर चित्र-कला के साकेतिक चिह्न बनाते हुए उन्हें सरल बना दिया गया था, पक्षी का सकेत करना हो तो सारा पक्षी बनाने के स्थान में पक्षी का पंख बना दिया जाता था। जनी तथा होपी जन-जाति की टोकरियां तथा बर्तन इसी प्रकार के सरलीकृत सांकेतिक-चित्रण के उदाहरण हैं।

(ii) विकृतीकरण (Distortion)—साकेतिक चित्रण के लिए सरलीकरण ही एक मार्ग नहीं है। आदिकालीन-मानव ने साकेतिक चित्रण का एक दूसरा तरीका भी निकाला था जिसे 'विकृतीकरण' (Distortion) कहा जाता है। 'विकृतीकरण' में 'सरलीकरण' की तरह वस्तु के एक अग का चित्रण न करके चित्रण तो सारी-की-सारी आकृति का किया जाता है, परन्तु उसके जिस अंग की तरफ कलाकार को ध्यान आकर्षित करना होता है, उसे बढ़ा-चढ़ा कर बनाया जाता है। उदाहरणार्थ, आफ्रीका तथा मैलेनेशिया की मूर्ति-कला तथा चित्र-कला में, और इसी प्रकार 'पूर्व-पाषाण-युग' की मूर्ति-कला तथा चित्र-कला में आकृतियों के गुह्यागो को बहुत विशद रूप में तथा बढा-चढा कर दिखाया गया है

शैलियो में देखा जा सकता है। ये छहों गाँव ५० मील के घेरे में वसे हुए हैं, इनकी वर्तन तथा सुराही वनाने की कला एक ही समय की है, परन्तु हर-एक गाँव में वर्तन तथा सुराही वनाने की शैली अपनी है, दूसरे गाँवो से भिन्न है, और किसी भी वर्तन तथा सुराही की शैली को देख कर कहा जा सकता है कि वह इनमें से किस गाँव की वनी हुई है।

सैंटर क्लेरर के वर्तन काली मट्टी के वने होते हैं, पोलिश किये होते हैं। इनमें से मुख्य वर्तन सुराही है जिसके नीचे का तला छोटा, धड क्रमिक वडा और गर्दन लम्वी होती है। इन वर्तनो तथा सुराहियो पर तरह-तरह के चित्र वने होते हैं। सैन इल्डेफोन्जा के वर्तन भी काले तथा पालिश किये होते हैं परन्तु उन पर जटिल चित्रकारी नहीं होती, वे सरल-साधारण होते हैं, जो-कुछ चित्रकारी की जाती है वह मामूली-सी होती है। सैंटो डोमिनगो की सुराही नीचे से लाल और ऊपर से सफेद होती है। गर्दन तथा धड के ऊपरी भाग की ज्यामितिक आकृतियो से इसे अलकृत किया जाता है। होपी जन-जाति की सुराही छोटी, नीचे से चौडी और पेंदे से ऊपर तक नोकीली होती चली जाती है। इस का रग हल्का-पीला तथा गुलावी आभा लिये होता है। जूनी जन-जाति की सुराही का मुंह अन्य सुराहियो की अपेक्षा वहुत चौडा होता है। इसके नीचे के भाग में चित्रकारी नहीं की जाती और इसका रग भूरा-लाल होता है। वीच के तथा ऊपर के हिस्से पर सफेद पेंट किया जाता है। सफेद हिस्से में काले और लाल रग की चित्रकारी की जाती है। एकोमा जन-जाति की सुराहियों के निर्माण की शैली जूनी शैली के अनुसार होती है, परन्तु चित्रकारी में भिन्नता पायी जाती है। सफेद भाग के नीचे से सुराही के मुख तक सारा हिस्सा चित्रकारी से भर दिया जाता है।

ऊपर हमने कला की शैली के विषय में जो-कुछ लिखा, उससे हमारा यही अभिप्राय है कि मूर्ति-कला तथा चित्र-कला में शैली का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। मूर्तियों, वस्तुओ तथा इन पर वने चित्रो की शैली के आधार पर आदि-कालीन सभ्यता तथा सस्कृति के काल-निर्णय करने में तथा यह निर्णय करने में कि ये वस्तुएँ किस सभ्यता तथा सस्कृति की प्रतिनिधि हैं, वडी सहायता मिलती है। इसीलिए जव कभी किसी स्थान को खोदते-खोदते कोई वर्तन मिल जाते हैं, तव मानवशास्त्रियो का ध्यान उनके निर्माण की शैली पर, और अगर उन वर्तनो पर चित्र वने हैं, तो उन चित्रों की शैली पर एकदम केन्द्रित हो जाता है। क्योंकि इस शैली को देख कर इन वर्तनो के काल का निर्णय किया जा सकता है।

२९

आदिकालीन मौखिक-साहित्य—पौराणिक-आख्यान तथा दन्त-कथाएँ

(PRIMITIVE ORAL LITERATURE—MYTHOLOGY AND FOLKTALE)

पिछले अध्याय में हमने लिखा था कि कला 'सौन्दर्यपूर्ण-अभिव्यक्ति' का ाम है। 'सौन्दर्यपूर्ण-अभिव्यक्ति' जब 'रेखाओ तथा आकृति' द्वारा मूर्ति-निर्माण या चित्र-निर्माण का रूप धारण करती है, तब 'मूर्ति-कला' तथा 'चित्र-कला' ा प्रादुर्भाव हो जाता है, जब 'शब्द' तथा 'गति' द्वारा अपने को प्रकट करती है, ब 'सगीत-कला' तथा 'नृत्य-कला' का प्रादुर्भाव हो जाता है, जब गद्य-पद्य के रूप आती है तब 'पौराणिक-आख्यानो' तथा 'दन्त-कथाओं' का प्रादुर्भाव हो जाता । कला पर विचार करते हुए जैसे मूर्ति-कला तथा चित्र-कला पर विचार रना आवश्यक है, वैसे आदिकालीन मौखिक साहित्य को कला के रूप में ौराणिक आख्यानों तथा दन्त-कथाओ पर भी विचार करना उतना ही आवश्यक ।। जैसे आजकल हमारा लिखित साहित्य है, वैसे आदिकालीन-मानव का लिखित साहित्य था, वह मौखिक रूप से आज तक चला आ रहा है और उसके ो रूप है—पौराणिक-आख्यान तथा दन्त-कथा।

१. पौराणिक-आख्यानो तथा दन्त-कथाओ मे भेद

'पौराणिक-आख्यान' (Mythology) तथा 'दन्त-कथा' (Folktale) —ये दोनो आदिकालीन-मानव के मौखिक-साहित्य कहे जा सकते हैं। दोनों ें कुछ समानता है, कुछ भेद है। इन दोनों में समानता इस बात में है कि दोनों में हानी के तौर पर बात कही जाती है, परन्तु दोनो की कहानो का आधार भिन्न-भन्न होता है। पौराणिक-आख्यान को हम सिर्फ 'आख्यान' भी कह सकते हैं, परन्तु योंकि इस प्रकार की कहानियाँ हमारे पुराणो में पायी जाती हैं, इसलिए हमने से पौराणिक का नाम दिया है। इसके अतिरिक्त अत्यन्त प्राचीन होने के कारण ी इन्हें पौराणिक कहना ही अधिक सगत है। 'पौराणिक-आख्यानो' की विशेषता ह है कि इन आख्यानो में सृष्टि की उत्पत्ति, देवी-देवताओं का वर्णन, प्रकृति े जल-पृथिवी-वायु-आकाश आदि तत्वों का कथा-कहानी के रूप में निरूपण ादि किया जाता है। आख्यानों में जो-कुछ निरूपण होता है, उसकी दिशा ेल-बहलाव या मनोरजन की तरफ न जाकर सृष्टि के गहन-तत्वो की गहराई में

जाकर उनकी गाँठ खोलने की-सी होती है। आदिकालीन मनुष्य का जीवन तो धर्ममय था। धर्म ही उसकी गति-विधि का नियन्त्रण करता था। धर्म-कर्म के लिए अनेक प्रकार के विधि-विधान थे। यज्ञ करना है, तो किस दिशा में बैठना, यज्ञ-कुड के उत्तर में आहुति डालना या दक्षिण में—ये सब 'विधि-विधान' (Ceremonials, rituals) क्यो किये जाते हैं, इसका उत्तर आख्यानों द्वारा दिया जाता था। पूर्व की तरफ इसलिए मुंह करना क्योंकि उधर से सूर्य देवता का उदय होता है—इस प्रकार विधि-विधान के क्षेत्र में 'क्यों' का उत्तर देने का काम 'आख्यान' (Mythology) का है। ससार की महान् शक्तियों के साथ बँधे होने के कारण 'आख्यान' में 'आश्चर्य' तथा 'आतक' प्रधान होता है। 'दन्त कथाओं' का काम 'पौराणिक-आख्यानों' से भिन्न है। 'दन्त-कथाओं' की विशेषत यह है कि इनके द्वारा समाज का मनोरजन होता है। ये एक तरह से आजकल की गल्पों, कहानियो और उपन्यासों की तरह की कथाएँ हैं। इनमें आख्यानो की तरह 'आतक' प्रधान नहीं होता, 'कल्पना' प्रधान होती हैं। 'आख्यान' एक तरह की धार्मिकता को लिये रहते हैं, 'दन्त-कथाओ' में धार्मिकता का होना आवश्यक नहीं। 'आख्यान' को लोग सत्य समझते हैं, 'दन्त-कथाओं' को नहीं।

इस प्रकरण में अंग्रेजी के 'फोक-लोर', 'माइथौलोजी' तथा 'फोक-टेल'—इन तीनो का भेद समझ लेना भी आवश्यक है। 'माइथौलोजी' के लिए हम 'पौराणिक-आख्यान'-शब्द का प्रयोग किया है, 'फोक-टेल' के लिए 'दन्त-कथा' शब्द का प्रयोग किया है। 'आख्यान' तथा 'कथा'—इन दोनो में कहानी के रूप में बात कही जाती है, परन्तु 'फोक-लोर' में जनता-जनार्दन की सब बा समा जाती हैं—आख्यान, कथा, गद्य, पद्य, पहेलियाँ, किस्से-कहानियाँ, सगीत नृत्य, नाटक—यह सब 'फोक-लोर' कहाता है। इसे हम 'लोक-साहित्य' कह सक हैं। इस अर्थ में पहले-पहल डब्ल्यू० जे० थौमस (W J Thomas) १८४६ में 'फोक-लोर'—अर्थात् 'लोक-साहित्य'—इस शब्द को घड़ा था इस 'लोक-साहित्य' (Folklore) का एक अग जिसमें 'लोक-कथाएँ' आजात हैं, 'लोक-कथा' या 'दन्त-कथा' (Folktale) कहाता है। साधारण लिख बोलने में 'फोक-लोर' तथा 'फोक-टेल' का एक ही अर्थ में भी प्रयोग कर दिय जाता हैं। 'फोक-लोर'-शब्द 'फोक-टेल' से अधिक व्यापक है। हम इस अध्या में 'पौराणिक-आख्यानों' तथा 'लोक-साहित्य' के एक अश 'दन्त-कथाओ' का वर्ण करेंगे। पहले हम 'पौराणिक-आख्यानों' पर लिखेंगे, उसके बाद 'दन्त-कथाअ पर लिखेंगे।

२ 'पौराणिक-आख्यान' का अर्थ

जब हम 'आख्यान' (Mythology)-शब्द का प्रयोग करते हैं, तब मारा क्या अभिप्राय होता है, 'आख्यान' में क्या बातें आ जाती हैं? किसी जन-ाति या समाज की सृष्टि की रचना तथा उत्पत्ति के सबध में जो आधारभूत

धारणा युग-युगान्तर से चली आती है, उसे उसका 'पौराणिक-आख्यान' कहते हैं। यहाँ 'पौराणिक'-शब्द का अर्थ हिन्दुओं के अठारह पुराणों से नहीं है। 'पौराणिक' का अर्थ है—पुराना। सृष्टि की रचना तथा उसकी उत्पत्ति की धारणा का साधारण विवेचन कर दिया जाय, तो वह दर्शन का रूप धारण कर जायगा, परन्तु आख्यानों में तात्विक-विवेचन नहीं होता। सृष्टि की रचना तथा उत्पत्ति संबंधी ये विचार, ये विश्वास, ये धारणाएँ, देवी-देवताओं अथवा हमारे ही जैसे मनुष्यों के जीवन के साथ ओत-प्रोत होकर जब कथा-कथानक का रूप धारण कर लेती हैं, तब इन्हें 'आख्यान' (Mythology) कहा जाता है। उदाहरणार्थ' सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में यहूदियों में नूह के तूफान की एक कहानी आती है। पहले-पहल नूह को जिहोवा ने बताया कि अब मैं सृष्टि का नाश कर दूंगा, तूं हर प्राणी का एक-एक जोडा लेकर एक नाव बनाना, उस नाव में तूं तथा सब प्राणी चढ जाना, फिर वर्षा शुरू होगी, इतनी होगी कि सब नष्ट हो जायेंगे, तूं बच रहेगा, उसके बाद इन बचे हुओं से सृष्टि-रचना दुबारा होगी। यह सब आख्यान है। इसे यहूदी लोग किस्सा-कहानी नहीं, यथार्थ समझते हैं, वे कहते हैं कि ठीक ऐसे हुआ था। 'आख्यान' में सिर्फ सृष्टि की उत्पत्ति तथा रचना का ही कथानकों के रूप में वर्णन नहीं होता, अन्य भी अनेक दैवीय घटनाओं का वर्णन होता है। उदाहरणार्थ, अफ्रीका की जन-जातियों में अपने पूर्वजों के भूत-प्रेतों के साथ युद्ध, जादूगरनियों और डायनों के साथ मुठ-भेड़ के कथानक पाये जाते हैं, कोयरक जन-जाति में दुष्ट प्रेतात्मा के साथ हाथापाई, ईसाइयों के सन्त-महन्तों तथा भारत के कथानकों में महात्मा बुद्ध का शैतान के साथ युद्ध—ये सब 'पौराणिक-कथानक' कहाते हैं। जिन कथानकों में सृष्टि की रचना का वर्णन हो, सृष्टि की उत्पत्ति अथवा नाश का वर्णन हो, दैवीय घटनाओं का वर्णन हो, ऐसे देवी-देवताओं का वर्णन हो जिन्हें उस जन-जाति के लोग काल्पनिक न मान कर यथार्थ मानते हों, सत्य मानते हों, इन सब के साथ-साथ इन कथानकों में इन घटनाओं को अति प्राचीन काल में हुआ बताया गया हो, हाल का न बतलाया गया हो, ऐसे कथानकों को 'पौराणिक-आख्यान' (Mythology) कहा जायगा।

३ पौराणिक आख्यानों की उत्पत्ति तथा विशेषताएँ (Origin of Mythology and its Characteristics)

(क) व्यक्तीकरण (Personification)—आख्यान की सब से मुख्य विशेषता यह है कि इसमें पशु, पक्षी, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र जिस किसी को भी आख्यान के साथ जोडा जाता है, उसे एक व्यक्ति के रूप में, ऐसे व्यक्ति के रूप में जो मनुष्य जैसा बोल-चाल सकता है, जिसमें मनुष्य की-सी भावनाएँ हैं, मनुष्य के-से प्रेम-द्वेष हैं, प्रकट किया जाता है। पशु-पक्षियों को मनुष्य का-सा अभिव्यक्त करने का कारण तो स्पष्ट है। पशु-पक्षी को मनुष्य की-सी भूख-प्यास लगती है, मनुष्य की तरह वे डरते-डराते हैं, क्रोध और प्रेम करते हैं। आदिकालीन मनुष्य ने जब देखा कि पशु-पक्षियों की शक्ति उससे ज्यादह है, वे उस पर आक्रमण करते हैं,

उसे जान से मार भी देते हैं, तो उसका उनमें दैवीय-शक्ति समझना स्वाभाविक था। इसी प्रकार अपने चारों तरफ वह प्रकृति की महान् शक्तियों को देखता था। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, बादल, बिजली---ये ऐसी महाशक्तियाँ हैं जो उसमें सदा आश्चर्य तथा आतंक बनाये रखती थीं। ये शक्तियाँ क्या हैं? जब ये शक्तियाँ उससे ज्यादा शक्तिशाली हैं, और इनमें मनुष्य का-सा आना-जाना, गरजना-कड़कना पाया जाता है, तो वह क्यों न समझता कि इनमें भी मनुष्य की तरह इच्छा-द्वेष, प्रेम-क्रोध आदि सब-कुछ है। आदि-काल का मानव इस सृष्टि में अपने को इकला नहीं समझता था, चेतन तथा जड दोनों प्रकार के जगत् को अपने जैसा जीवित-जागृत, व्यक्तित्वयुक्त समझता था। इसी को हमने 'व्यक्तीकरण' कहा है।

(ख) स्पष्टीकरण (Explanation)---जब उसने समझ लिया कि वह चारों तरफ से अपने से महान् भिन्न-भिन्न शक्तियों से घिरा हुआ है, तब इन शक्तियों में ही वह हर बात का स्पष्टीकरण ढूंढने लगा। आखिर, दुनियाँ इतनी रहस्यमय है कि जैसे आज हमें हर बात का कारण, हर बात का समाधान, हर बात का स्पष्टीकरण जानने की उत्सुकता है, वैसे ही सृष्टि के आदि-काल के मानव को भी वह उत्सुकता थी। उसने जब सृष्टि की रचना तथा इसकी उत्पत्ति का स्पष्टीकरण जानना चाहा, तो वह उसे अपने चारों तरफ की अपने से प्रबल शक्तियों में मिलने लगा। मनुष्य में धूर्तता पायी जाती है---संसार में यह धूर्तता कहाँ से आयी? उसे दीखा कि जानवरों में धूर्तता की शिरोमणि लोमड़ी है। बस, स्पष्ट हो गया, धूर्तता की उत्पत्ति लोमड़ी से हुई है। मनुष्य में मूर्खता पायी जाती है---संसार में यह मूर्खता कहाँ से आयी? उसे दीखा कि जानवरों में मूर्खता का शिरोमणि भेडिया है। बस, स्पष्ट हो गया, मूर्खता की उत्पत्ति भेडिये से हुई है। मनुष्य में चालाकी पायी जाती है---संसार में यह चालाकी कहाँ से आयी? उसे दीखा कि जानवरों में चालाकी का शिरोमणि बन्दर है। बस, स्पष्ट हो गया कि चालाकी की उत्पत्ति बन्दर से हुई है। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, बादल, बिजली---ये महाशक्तियाँ भी तो मनुष्य की तरह की चलने-फिरने, आने-जाने, बोलने-चालने वाली शक्तियाँ हैं। सूर्य को जब क्रोध आता है तब वह सृष्टि को तपा कर नष्ट कर डालता है, बादल को जब क्रोध आता है तब वह अपनी गडगडाहट से चारों दिशाओं को कँपा देता है और इतना पानी बरसाता है कि सृष्टि डूब जाती है, नष्ट हो जाती है। इन महाशक्तियों को देख कर आदिमानव सृष्ट्युत्पत्ति, सृष्टि की रचना आदि की गुत्थियों को इन्हीं के द्वारा सुलझाने का प्रयत्न करता था। सृष्टि की गुत्थियों का स्पष्टीकरण वह सृष्टि की इन शक्तियों के व्यक्तीकरण द्वारा ढूंढने लगता था। लोमडी का व्यक्तीकरण करके संसार की धूर्तताओं का स्पष्टीकरण, सूर्य, चन्द्र, बादल का व्यक्तीकरण करके संसार की उत्पत्ति और इसके विनाश का स्पष्टीकरण करने के जो वह कथानक रचता था, उससे पौराणिक आख्यान पैदा हो गये। इस दृष्टि से 'पौराणिक-आख्यान' संसार की उत्पत्ति उलझनों का व्यक्तीकरण द्वारा स्पष्टीकरण है।

(ग) प्रतिनिधीकरण (Representation)—हम ऊपर 'व्यक्तीकरण' शव्द का प्रयोग कर आये है। इसका अर्थ तो यह है कि हर-एक जीव-जन्तु, पशु-पक्षी, सूर्य, चन्द्र, तारा, मेघ, विजली—इनमें से सवको मनुष्य का-सा मान कर इन सव में भी वैसा ही व्यक्तित्व है जैसा हम में है, यह समझ कर आदि-मानव चलता था। परन्तु सव में व्यक्तित्व मान कर भी अपने कथानको में वह हर लोमडी, हर वन्दर का वर्णन तो नही कर सकता था। वह अपने कथानको में जव किसी लोमड़ी, किसी जानवर, ससार की किसी घटना का वर्णन करता था, तो उसे अन्य सव का प्रतिनिधि मान कर वर्णन करता था। लोमडी कहा तो सव लोमडी समझी गईं, वन्दर कहा तो सव वन्दर समझे गये। एक लोमडी और एक वन्दर ही सव के प्रतिनिधि के रूप में ले लिये जाते थे। इस प्रकार के 'प्रतिनिधीकरण' का तात्पर्य भी 'स्पष्टीकरण' ही था। उदाहरणार्थ, किसी कथानक में कहा गया कि एक रीछ था, वह नदी पार कर रहा था, इतने में नदी जम गई, वह झटका देकर वर्फ में से निकल आया, परन्तु उसकी पूंछ वर्फ में जमी रह गई, उसकी पूंछ वहीं वर्फ में कट कर रह गई। यही कारण है कि आजकल रीछ की दुम छोटी या नहीं के वरावर होती है। इस कथानक का रीछ सव रीछो का प्रतिनिधि है, और रीछ की पूंछ क्यो नहीं के वरावर होती है—इसका स्पष्टीकरण इस आख्यान से हो जाता है। एक वार एक कुत्ता और एक विल्ली लड पडे। वे क्यो लड पडे, यह जो कुत्ते-विल्ली का एक-दूसरे से द्वेष दीखता है इसका आदिकालीन कुत्ते-विल्ली का एक वार लड पडना ही कारण है, क्योकि उस 'आख्यान' में कुत्ते-विल्ली लड पडे थे, इसलिए इसके वाद ये जहाँ मिलते है, लडते है। जो-कुछ पहली वार हो गया वह आगे चलता रहा, पहली वार जो-कुछ हुआ वह प्रतिनिधि रूप में हुआ—यह भाव इन सव कथानको में पाया जाता है। ससार का भाग्य पहली वार की घटना से तय हो गया क्योकि वह घटना आगे के ससार की प्रतिनिधि थी। पहले मनुष्य नहीं मरता था, एक वार मनुष्य मर गया, उसके वाद सव मनुष्य अपनी आयु भोग कर मरने लगे। आदम और हव्वा ने एक वार पाप किया, फिर वह पाप आगे होता ही चला गया, उन्होंने पाप किया उसका दड उन्हें तो मिला ही परन्तु उनकी हर सन्तान को मिलता चला जायगा। आख्यानो की इस विचार-धारा का आधार 'प्रतिनिधीकरण' की भावना है। जो-कुछ हुआ वह प्रतिनिधि रूप में हुआ, व्यक्तिरूप में नहीं हुआ। पशु-पक्षियों का आदि-मानव ने 'व्यक्तीकरण' तो पहले किया ही होता है, इस 'व्यक्तीकरण' के वाद उनमें से किसी व्यक्ति को 'प्रतिनिधीकरण' के तौर पर लेकर ससार की गुत्थियो का 'स्पष्टीकरण' कथानको द्वारा किया जाता है, यह समझाने का प्रयत्न किया जाता है कि ससार में यह क्यो है, वह क्यो है, ऐसा क्यो है, वैसा क्यो है, यह चीज कैसे पैदा हुई, वह कैसे पैदा हुई, इसकी रचना कैसे हुई, इसका नाश कैसे हुआ? 'व्यक्तीकरण' और 'प्रतिनिधीकरण' द्वारा कथा-कथानक के रूप में 'स्पष्टीकरण' की प्रक्रिया से ही 'पौराणिक-आख्यानों' की उत्पत्ति हुई।

(घ) प्राचीनता अथवा पौराणिक काल (Mythological period)— आख्यानो की एक विशेषता यह है कि वे किसी अति प्राचीन काल से चले आ रहे ह। इन आख्यानो का निर्माण किसने किया, कब किया—कुछ नहीं कहा जा सकता। धाराबाहिक रूप से ये आख्यान प्रत्येक जन-जाति में मौखिक रूप से चले आते हैं और जन-जाति का प्रत्येक व्यक्ति इनसे भली-भांति परिचित होता है। इन आख्यानों में जो 'पौराणिक-व्यक्ति' (Mythological beings) पात्र की तरह काम करते हैं, वे सृष्टि रचना के पहले से विद्यमान थे—ऐसा समझा जाता है। ये पौराणिक-पात्र ही सृष्टि की रचना करते हैं। इन पात्रों में से कुछ काल्पनिक, कुछ यथार्थ होते हैं, परन्तु इतना समय बीत जाने पर यह कह सकना कठिन हो जाता है कि कौन काल्पनिक है, कौन यथार्थ है।

(ङ) काल्पनिक की जगह दार्शनिक आधार (Not imaginative but philosophical basis)—यह समझना भूल है कि 'पौराणिक-आख्यान' मनुष्य की कल्पना की उपज हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन आख्यानों में पशु-पक्षियों तथा सूर्य-चन्द्र आदि का मनुष्यो का-सा बरतना काल्पनिक-सा प्रतीत होता है, परन्तु जिस गभीरता से इन आख्यानों का बखान किया जाता है और इन आख्यानों को प्रत्येक जन-जाति में जो महत्व दिया जाता है, उससे स्पष्ट है कि वे लोग इन आख्यानो को कल्पना की उडान न मान कर गभीर विचार का परिणाम मानते थे। सृष्टि की रचना में क्या तत्व काम कर रहे हैं, इसकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई, हमारे विधि-विधान का क्या अर्थ है—ये सब बातें कल्पना के आधार पर नहीं समझी जा सकतीं, इन सब को समझने के लिए आदिकालीन-मानव ने जो गभीर, दार्शनिक विचार किया था वही दार्शनिक विचार इन पौराणिक-आख्यानों का आधार है। यह दार्शनिक-विचार किस तरह काम करता है? हम अपने जीवन में कार्य-कारण की शृंखला देखते हैं। हमने शत्रु से युद्ध किया, उसे परास्त किया। हम जो-कुछ करते है, वही-कुछ तो सृष्टि में अन्य स्थानों पर होता होगा। सूर्य पर बादल छा जाते हैं। जैसा कार्य-कारण का नक्शा हमारे जीवन में घटा, हमारा शत्रु के साथ युद्ध हुआ, वैसा ही नक्शा तो सूर्य और बादल के बीच घटता होगा। इनका भी हमारी तरह ही युद्ध होता होगा, और जब सूर्य अपने तीखे बाणो से बादल को बींध देता होगा, तो उसके मृत-शरीर से रुधिर की धार की तरह पानी बह निकलता होगा। यह दार्शनिक-विचार इन्द्र तथा वृत्र के युद्ध का आधार रहा होगा, इससे सूर्य तथा बादल की लडाई का दार्शनिक-आख्यान चला होगा। इसी प्रकार उस काल के मनुष्य के दार्शनिक विवेचन से अन्य आख्यान चले होंगे।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि 'आख्यानो' के निर्माण में 'कल्पना' का कोई अश नहीं रहा होगा, सिर्फ दार्शनिक-विवेचन का ही स्थान रहा होगा। शुरू-शुरू में 'कल्पना' के आधार पर ही मनुष्य ने पशु-पक्षियों, सूर्य, चन्द्र, तारे, बादल, बिजली को मनुष्य की तरह का—'मानव-सम' (Anthropomorphic)—

कल्पित किया होगा। उसने यह कल्पना की होगी कि जैसे हम आजकल व्यवहार करते हैं, वैसे सृष्टि के आदिकाल में ये मानव-सम व्यक्ति व्यवहार करते होंगे। जैसे आजकल हम किसी चीज़ का निर्माण, उसकी रचना, उसकी उत्पत्ति करते हैं, वैसे इन 'मानव-सम व्यक्तियों' ने आदि-काल में दृष्टि की रचना की होगी। इस प्रकार 'कल्पना' तथा 'दर्शन' के सम्मिश्रण से पौराणिक-आख्यान उत्पन्न हुए होंगे जिनमें कल्पना की अपेक्षा दर्शन का भाग इसलिए अधिक रहा होगा क्योंकि इस सारी प्रक्रिया का मुख्य उद्देश्य तो सृष्टि के कारण का जानना रहा होगा।

(च) विधि-विधान का आधार आख्यान हैं (Mythology as basis of rituals and ceremonials)—प्रत्येक जन-जाति में सस्कार, विवाह, उत्सव आदि के लिए कुछ विधि-विधान किये जाते हैं। इन विधि-विधानों का क्या कारण है? हर बात का कारण जानने की अभिलाषा प्रत्येक मनुष्य में है, चाहे वह आज का हो, चाहे आदि-काल का। ये विधि-विधान तो देर से चले आ रहे होते हैं। इनका कारण ढूंढने के लिए भी 'पौराणिक-आख्यान' रचे जाते हैं। इन विधि-विधानों में दो बातें होती हैं—'विधि' (Custom) तथा 'निषेध' (Taboo)। 'विधि' का अर्थ है—यह करना; 'निषेध' का अर्थ है—यह न करना, त्याग देना। इस प्रकार 'विधि' तथा 'निषेध' का सबध जब किसी 'पौराणिक-आख्यान' से जोड़ दिया जाता है, तब मनुष्य अपने मन को समझा लेता है कि उसने इसके कारण का पता लगा लिया, यद्यपि वह कारण भी ऐसा होता है जिसके आगे भी कारण ढूंढने की जरूरत होनी चाहिए, परन्तु कारण की तलाश में आदि-काल का मानव बहुत दूर तक नहीं जाना चाहता। त्यौहारों में भी यही बात लागू होती है। उदाहरणार्थ, होली का त्यौहार अपने देश में बडी धूमधाम से मनाया जाता है। क्यों मनाया जाता है? इसका उत्तर देने के लिए एक आख्यान रचा गया है। होली का त्यौहार मनाने का आख्यान यह है कि एक बार शिव जी तपस्या में इतने रमे कि पार्वती को बिल्कुल भूल गये। पार्वती कामदेव के पास पहुँची और शिकायत की कि मेरे देवता मुझे बिसरा गये, इनकी समाधि कैसे भंग हो। कामदेव ने शिवजी को समाधि से उठाने के लिए उन पर अपने तीर छोडने शुरू किये। शिवजी ने क्रुद्ध होकर अपना तीसरा नेत्र खोला और कामदेव को भस्म कर दिया। कामदेव के भस्म होते ही उसकी स्त्री रति रोने-चिल्लाने लगी। अब शिवजी क्या करते? उन्होंने कामदेव को वर दिया कि तुम्हारा शरीर तो भस्म हो गया, परन्तु तुम बिना शरीर के भी जीवित रहोगे और लोगों के मनों में विराजा करोगे। इसीलिए कामदेव का दूसरा नाम है—'अनंग'—अर्थात् जिसका अग हो न हो। अब कामदेव मन-मन में बैठ कर सब को तरंगित करते रहते हैं, और इसी तरंग और उल्लास को अभिव्यक्त करने के लिए होली का पर्व मनाया जाता है। जैसे होली का समाधान पौराणिक-आख्यान से दिया गया है, वैसे अन्य विधि-विधानों का भी इन आख्यानों से समाधान किया जाता है। विधि-विधान पहले होते हैं, उनके समाधान के आख्यान पीछे बनते हैं।

४ अन्तरग तथा बहिरग आख्यान
(Esoteric and Exoteric Mythology)

'पौराणिक-आख्यानों' को जानने वालो के दो रूप होते हैं—'अन्तरग' तथा 'बहिरग'। आख्यानों को जानने वालो का 'बहिरग-वर्ग' तो सब-कोई है। किसी भी जन-जाति के आख्यानो को प्रत्येक व्यक्ति जानता है। परन्तु इन आख्यानो को जानने वाला एक 'अन्तरग-वर्ग' भी होता है, जो आख्यानो के वास्तविक रहस्य को जानता है। आख्यान को जान लेना पर्याप्त नहीं है। आख्यान तो किसी रहस्य को अपने भीतर छिपाये हुए होते हैं। इन रहस्यो को सब-कोई नहीं जानते। किस आख्यान का क्या रहस्य है, इसके भीतर छिपा हुआ अर्थ क्या है—यह इने-गिने ही जानते होते हैं। प्रत्येक जन-जाति में उसके आख्यान को जानने वाले अन्तरग लोगो का एक वर्ग होता है। प्राय जन-जातियो में यह वर्ग जो अपना सारा समय 'विधि-विधान' (Rituals) तथा 'आख्यान' (Mythology) में लगाता है, 'पुरोहित-वर्ग' होता है। जन-जातियो के मुखिया भी इस रहस्य को जानने में अपना समय बिताया करते हैं। उपनिषदों में भी जगह-जगह मिलता है कि ऋषि लोग दौड-दौड कर उस समय के राजाओ के पास जाते थे और उनसे ब्रह्म-विद्या का रहस्य पूछते थे। उस समय रहस्य का ज्ञान ऋषियों के स्थान में राजा लोगों को था। प्रत्येक समाज में रहस्य को जानने वाला एक वर्ग सदा बना रहता है। अडमान द्वीपवासियो में एक विशिष्ट-वर्ग के विषय में कहा जाता है कि उन्हें प्रेतात्माओ तथा रोग दूर करने वाली औषधियो के विषय में अन्तरग-ज्ञान है, इन के रहस्य का उन्हें पता है। असल बात यह है कि प्रत्येक जन-जाति में कोई-न-कोई निश्चित विधि-विधान चिर-काल से चला आ रहा होता है। यह विधि-विधान इस जन-जाति के आख्यानों के उत्पन्न होने से पहले से आ रहा होता है। इस विधि-विधान को पवित्र समझा जाता है, इसमें जरा भी हेर-फेर करना अनुचित समझा जाता है। इस विधि-विधान के पीछे कोई आधार होना चाहिए। यह आधार उस जन-जाति के पादरी-पुरोहित-मुखिया पौराणिक-आख्यानों के द्वारा उत्पन्न करते रहते हैं। इन आख्यानों का उद्देश्य उस-उस जन-जाति के विधि-विधान के पीछे कोई ऐसी दैवीय घटना जोड देना होता है जिससे लोग विधि-विधान को छोडें नहीं, उसे करते ही रहें। जनता विधि-विधानों तथा आख्यानो का बहिरग रूप ही जानती है, ये पुरोहित तथा जन-जाति के मुखिया इन विधि-विधानों तथा आख्यानो का अन्तरग रूप जानते हैं, इनका रहस्य जानते हैं—ऐसा कहा जाता है। इसी कारण पुरोहितों की जन-जातियों में मान-मर्यादा तथा प्रतिष्ठा की जाती है। आख्यानो का काम कथानको द्वारा 'विधि-विधान' की पुष्टि करना होता है। इन आख्यानों के अन्तरग रहस्य को जानने वाले हर किसी को रहस्य का उद्घाटन नहीं करते। रहस्य का उद्घाटन करने के लिए विशेष परीक्षा के बाद शिष्य बनाया जाता है। इसी कारण लोग गुरु धारण करने के लिए तरसा करते हैं ताकि उन्हें 'अतरग' रहस्य का ज्ञान हो।

५ आख्यान तथा संस्कृति
(Mythology and Culture)

जैसा हमने अभी कहा 'पौराणिक-आख्यानों' का उद्देश्य 'विधि-विधान' (Ritual) को वल देना होता है। 'विधि-विधान' को वल देने के लिए पुरोहित-वर्ग आख्यान रचता है, धार्मिक-कथानक घडता है। जव ये आख्यान घड़े जाते हैं, तव इन्हें कैसे घडा जाता है? जिस समाज में आख्यान वनते हैं, उस समाज की सस्कृति के प्रकाश में ही इन आख्यानों का निर्माण हो सकता है, इस सस्कृति के विना आख्यान कैसे वनेंगे? एक तरह से इन आख्यानो में उस समय की संस्कृति का प्रतिविम्व होता है। किसी काल की संस्कृति में उस समय के लोगो के मन में सृष्टि की उत्पत्ति का रहस्य जानने का विचार प्रवल होगा, तो उस काल में वने कथानकों में भी सृष्ट्युत्पत्ति के आख्यान अधिक पाये जायेंगे। किसी काल की सस्कृति सृष्ट्युत्पत्ति को अपने विचार का मुख्य लक्ष्य न वनाकर मनुष्य तथा पशु के संवंध में जिज्ञासा को विचार का मुख्य लक्ष्य वनायेगी, तो उस समय के कथानको में पशुओ तथा मनुष्यों के सवध की वातें मुख्य होगी। इस दृष्टि से आख्यानों के आधार पर जिस काल में ये आख्यान वने उस काल की सस्कृति का अध्ययन किया जा सकता है। आख्यान क्योंकि अपने काल की संस्कृति को प्रति-विम्वित करते हैं इसलिए इन आख्यानों में से उस काल की सस्कृति का निर्माण कर सकना कठिन नहीं है।

६ आख्यानो के कुछ उदाहरण

मानव-जाति कैसे उत्पन्न हुई—इस सवध में अनेक आख्यान हैं। एक तो प्रसिद्ध आख्यान वाइवल का है कि परमात्मा ने मट्टी का पुतला वनाया, उसमें फूंक मार दी और जिन्दा इन्सान पैदा हो गया। उसकी पसली की एक हड्डी को लेकर स्त्री को वना दिया। यह आख्यान सैमिटिक जातियो में प्राय सर्वत्र पाया जाता है। स्त्री में प्राण नहीं फूंका, इसलिए देर तक यहूदी लोग स्त्री में आत्मा नहीं मानते रहे। ईसाई-संसार में, स्त्री को यह सिद्ध करने के लिए कि उसमें भी पुरुष की तरह का आत्मा है, उसे वडी जद्दोजहद करनी पड़ी। ग्रेट स्मोकी मौनटेन्स के चेरोकी इडियनो में मानव की विविध जातियो की उत्पत्ति के सवध में एक रोचक आख्यान है। इस आख्यान के अनुसार सृष्टि के निर्माता ने एक तदूर गर्म किया, आटा साना और इस सने आटे की तीन मूर्तियां वनायीं। इन्हें पका कर मनुष्य वनाने के लिए उसने इन तीनों को तन्दूर की आग में रख दिया। उसे यह जानने की वडी उत्सुकता थी कि उसका वनाया मनुष्य कैसा वना, इसलिए उसने झट-से एक मूर्ति को वाहर निकाल लिया। मनुष्य की यह मूर्ति अधपकी थी, पीली-पीली थी, परन्तु अव इसे आग में नहीं रखा जा सकता था क्योंकि तदूर में से निकालते ही यह जीवित हो गई थी। इससे युरोपियन जाति के लोगो की उत्पत्ति हुई। इससे विधाता सन्तुष्ट न हुआ। इसके कुछ देर वाद उसने दूसरी मूर्ति को निकाला।

यह पक चुकी थी, लाल रग की थी, सुखड-सुडौल थी। इससे वह सन्तुष्ट हुआ। इस मूर्ति से लाल-इडियन पैदा हुए। वह इस मूर्ति से इतना प्रसन्न हुआ कि यह भूल ही गया कि एक तीसरी मूर्ति भी तदूर में पडी है। इस बीच यह कोयला बन गई उसके जलने का धुंआ आने लगा। उसने उसे निकाला तो वह तो निरा कोयला हो चुकी थी। इससे नीग्रो लोग उत्पन्न हुए।

भारत की जन-जातियों में अपनी-अपनी जन-जाति की उत्पत्ति के सबध में भिन्न-भिन्न आख्यान प्रचलित हैं। कमार जन-जाति के कथानक के अनुसार महादेव समाधि में बैठे थे कि एक पागल गीदड ने समाधि में विघ्न डाल दिया महादेव ने क्रोध में आकर जल-विप्लव द्वारा सृष्टि के विनाश का शाप दे दिया एक वृद्धा को इस बात का पता चल गया, उसने अपने पति से कहा, वह भागा-भाग जगल गया और उसने एक नौका बनाई। इस नौका में १२ साल के लिए खाने-पी का सामान जमा कर लिया। अपने लडके-लडकी को किश्ती में रख लिया। इसके बाद घमासान वर्षा शुरू हुई, सारी पृथिवी पानी से भर गई, सब बह गया, नष्ट ह गया। बारह वर्ष तक महादेव का यह रौद्र रूप जारी रहा। इसके बाद उसने अप अनुचरों को फिर से सृष्टि उत्पन्न करने के लिए मनुष्य का बीज ढूंढने के लिए भेजा उन्हें किश्ती में ये भाई-बहन मिले। महादेव ने इन्हें अपनी सन्तान मान लिया एक कीडे के मुँह में कुछ बीज थे, वे निकाले गये, उनसे बन-वनस्पति पैदा हुए। पृथ्व भी बनी। परन्तु इस पृथ्वी पर रहे कौन? इसके लिए मनुष्य की आवश्यकत हुई, परन्तु कहाँ से आये? महादेव ने इन भाई-बहन को सृष्टि चलाने क प्रेरणा दी, परन्तु वे नहीं माने। महादेव ने कई चालें चलीं, अन्त में वह इनक यौन-सबध कराने में सफल हो गया। लडकी के एकदम कई सन्तानें हुई, परन् उसने लज्जा के मारे प्राण छोड दिये। जब ये सन्तानें बढीं, तब इन्हीं से अनेक जन जातियाँ बन गई।

हो जन-जाति का सृष्ट्युत्पत्ति का आख्यान अपने ढग का है। इनके आख्या के अनुसार सृष्टि के कर्ता का नाम सिग-बोंग तथा ओटेबोरम है। ये स्वय तो स्वय हैं, इन्हें कोई पैदा नहीं करता। इन्होंने घास और पेडो से पृथिवी को पैदा किया इसके बाद पालतू जानवर और फिर जगली जानवर पैदा किये। इन सब के पै हो जाने के बाद एक लडका और एक लडकी को पैदा करके एक गुफा में रख दि गया। ये दोनों बिल्कुल सरल और निर्दोष थे, इसलिए इन्होंने यौन-सबध न किया। सिग-बोंग ने यह देख कर कि ये सन्तान उत्पन्न नहीं करते, इन्हें इल्ली बना सिखाया। इल्ली का अर्थ है चावल से बनी शराब। इल्ली पीकर ये अपने भूल गये और इन्होंने सन्तान उत्पन्न की। इनके १२ पुत्र तथा १२ पुत्रियाँ हुई सन्तानें बडी हो जाने पर सिग-बोग ने एक दावत का सामान इकट्ठा किया, उस भैंस, बैल, बकरा-बकरी, सूअर, मछली, बत्तख का मास तथा साग-सब्जी सब-कु रखा। इन चौबीसों में से भाई-बहन का एक-एक जोडा बना कर हर जोडे व ावत में से मनचाहा भोजन चुनने को कहा ताकि सृष्टि-रचना प्रारभ करने के

बाद वे उसी भोजन पर अपना निर्वाह करें। जिस जोड़े ने भैंस तथा बैल का मांस पसन्द किया, उससे आगे चलकर 'हो' तथा 'भूमिज' जन-जातियाँ उत्पन्न हुईं; जिन जोड़ो ने साग-सब्जी पसन्द की उनसे आगे चलकर 'ब्राह्मण' और 'क्षत्रिय' पैदा हुए, जिन्होंने मछली तथा बकरी का मास पसन्द किया उनसे 'शूद्र' उत्पन्न हुए, जिन्होंने घोंघे पसन्द किये उनसे 'भूइयां' जन-जाति बनी, जिन्होंने सूअर चुना उनसे 'सन्याल' जन-जाति पैदा हुई। एक जोड़े को कुछ नहीं मिला, उन्हें हो जन-जाति के लोगों ने अपनी बचत में से खाने को दिया, इनकी सन्तान 'घासी' कहलाई। यह 'घासी' जन-जाति 'हो' जन-जाति का काम-काज करती है।

७ 'दन्त-कथा' की उत्पत्ति तथा विशेषताएँ
(Origin of Folktale and its characteristics)

'दन्त-कथा' उस कथानक को कहते हैं जिसका मुख्य आधार 'कल्पना' होता है। 'आख्यान' तो प्राचीन-काल की देवी-देवताओ की सत्य-घटनाओं को कहा जाता है, ये सत्य हो या न हो, परन्तु लोग इन्हें सत्य ही मानते हैं, 'दन्त-कथा' के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। 'आख्यान' का उद्देश्य प्रथाओं, रीति-रिवाजों, नैतिक विचारो, समाज की विधियो तथा निषेधों को सहारा देना, इन्हें पुष्ट करना होता है; 'दन्त-कथा' का उद्देश्य मुख्य तौर पर दिल बहलाव होता है। 'दन्त-कथा' की उत्पत्ति में सत्य घटनाएँ होती ही नहीं—यह नहीं कहा जा सकता। 'पूर्व-पाषाण-युग' (Paleolithic period) में जब से मनुष्य ने भाषा का आविष्कार किया, तब से जो घटनाएँ होती रहीं, वे वंश-परपरा द्वारा आगे-आगे सुनाई जाती रही होंगी। जहाँ तक इन घटनाओ का सबध है, वहाँ तक इनके आधार पर बने कथानको, दन्त-कथाओ को सत्य कहना असगत नहीं होगा, परन्तु दन्त-कथाएँ सिर्फ सत्य-घटनाओं तक सीमित नहीं रहतीं, उनमें कल्पना का पुट मिला रहता है, और घटना भिन्न-भिन्न व्यक्तियो की कल्पना के मिश्रण से काल्पनिक होती जाती है। 'दन्त-कथा' की उत्पत्ति कैसे होती है—इस सबध में विद्वानो के भिन्न-भिन्न मत हैं, जिन्हें हम यहाँ दे रहे हैं :—

(क) दन्त-कथाओं की उत्पत्ति का आधार प्रसारवाद (Theory of diffussion)—प्रसारवादियों का कहना है कि प्रत्येक दन्त-कथा कहीं बाहर से आती है। जैसे भाषा की उत्पत्ति कहाँ हुई—यह नहीं कहा जा सकता, वैसे दन्त-कथा की उत्पत्ति कहाँ हुई—यह भी नहीं कहा जा सकता। भाषा एक स्थान से दूसरे स्थान को फैलती है। मनुष्य-मनुष्य का, समाज-समाज का सपर्क होता है, इनमें आदान-प्रदान होता है, और एक की चीज दूसरा लेता है। इसी प्रकार एक समाज के कथानक दूसरे समाज में 'प्रसार' की प्रक्रिया द्वारा पहुँचते हैं। कई लोगो का कहना है कि सब दन्त-कथाओं का उत्पत्ति-स्थान मैसेपोटामिया या भारत रहा है। इन्हीं दो केन्द्रों में दन्त-कथाएँ उत्पन्न हुई, और जैसे पानी में पत्थर फेंकने से लहरें

समुद्र में चारो तरफ फैल गई। परन्तु यह बात तभी कही जा सकती है, जव ससार भर भी दन्त-कथाओ में प्रत्येक कथा को 'कथा-वस्तु' (Plot) एक ही तरह की हो। ऐसा नहीं कहा जा सकता। देश-देश और जाति-जाति की दन्त-कथाओ की 'कथा-वस्तुओं' में भिन्नता है। ऐसी हालत में इन दन्त-कथाओ की भिन्न-भिन्न देशों में स्वतत्र उत्पत्ति भी हुई होगी, और प्रसार द्वारा वे एक देश से दूसरे देश में भी पहुँची होंगी—यही कहा जा सकता है। मनुष्य तो यात्रा करता ही है, परन्तु कथाओ की यात्रा मनुष्य की यात्रा से भी तेज होती है। जादू के जोर से समुद्र पार कर जाने की कथा युरोप, एशिया, आफ्रीका —सव जगह पायी जाती है।

'प्रसारवाद' का यह कथन तो ठीक है कि दन्त-कथा एक देश से दूसरे देश में पहुँची होगी, परन्तु इससे इस वात का समाधान नहीं होता कि जहा यह पहले-पहल उत्पन्न हुई, वहाँ किस प्रकार उत्पन्न हुई ?

(ख) दन्त-कथाओ की उत्पत्ति का आधार प्रकृति-रूपकवाद (Nature symbolism or Cosmogonic origin)—प्रकृति-रूपकवादियों का कहना है कि प्रकृति में जितनी घटनाएँ हैं, उनका कल्पना के सहारे रूपक बना कर, उन घटनाओं का दन्त-कथाओं में साकेतिक वर्णन किया जाता है। उदाहरणार्थ, प्रकृति में गर्मी-सर्दी-वर्षा आदि ऋतुएँ, चांद की वढ़ती-घटती कलाएँ, सूर्य का उदय-अस्त, तारा-पुच्छल तारा, समुद्र के ज्वार-भाटा, विजली, बाढ, विप्लव, दावानल, धुँघ आदि घटनाएँ रोज-रोज देख कर आदिकालीन मनुष्य का इनको अपनी कल्पना का आधार बनाना अत्यन्त स्वाभाविक था। परन्तु इनको वह अपनी कल्पना का सहारा कैसे बनाता ? सब से पहली कल्पना तो उसने इनको मानव-सम बनाने में की। जैसे मनुष्य अपने काम-धधे करता है, वैसे ये भी करते होंगे। जैसे मनुष्य में राग-द्वेष, काम-क्रोध होते हैं, वैसे इनमें भी होते होंगे। इनमें मानव-सम कल्पना करते ही आगे कल्पना को इतनी छूट मिल जाती है कि वह मनुष्यों के आधार पर कथानक बनाने के स्थान पर इनके आधार पर भी कथानक बनाने लगता है। एक वार सूर्य और वायु में बहस चल पड़ी। वायु कहने लगी, मैं वडी, सूर्य कहने लगा, मैं बडा। इन्हें एक आदमी कवल ओढ़े दीख पडा। वायु ने कहा, जो इसका कवल उतरवा देगा, वह वडा माना जायगा। सूर्य ने कहा—ठीक। वायु वडे वेग से चलने लगी, कवल इधर-से-उधर उडने लगा। वायु की मशा थी कि कवल को उडा ले जाये, परन्तु जितनी हवा चलती, वह मनुष्य उतना ही सर्दी के कारण कवल को लपेटता जाता। वायु ने कहा, मैं तो कवल नहीं उतरवा सकी। अब सूर्य की वारी आयी। सूर्य ने तपना शुरू किया। उस आदमी ने पहले तो कम्वल को ढीला किया, परन्तु ज्यो-ज्यों गर्मी बढ़ती गई, उसने कम्वल को उतार कर फेंक दिया। वायु ने सूर्य से हार मान ली। यह एक प्राकृतिक-घटना का वर्णन हुआ, परन्तु इसे एक कथा का रूप दे दिया गया। इसी प्रकार अन्य दन्त-कथाओं की प्राकृतिक-घटनाओं से कल्पना द्वारा उत्पत्ति होती है।

अगर 'प्रकृति-रूपक-वाद' को दन्त-कथाओ की उत्पत्ति का आधार मान भी लिया जाय, तो भी एक स्थान से दूसरे स्थान में उस कथा के पहुँचने के लिए 'प्रसारवाद' का सहारा लेना पडता है, क्योंकि ये दन्त-कथाएँ एक ही जगह तो नहीं मिलतीं, जैसी ये एक जगह पायी जाती हैं वैसी दूसरी जगह भी पायी जाती हैं। इसके अतिरिक्त 'आख्यानों' (Mythologies) के उत्पन्न होने में भी यही कारण बताया जाता है। जहाँ तक 'दन्त-कथाओं' (Folktales) तथा 'आख्यानों' (Mythologies) में समानता है, वहाँ तक तो यह समाधान ठीक बैठ जाता है, परन्तु इनमें भेद भी तो है। उस हालत में 'प्रकृति-रूपक-वाद' को उन दन्त-कथाओ का समाधान करने के लिए जिनमें प्राकृतिक घटनाओ का उल्लेख नहीं है, अन्य वादों का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है। 'आख्यानों' में जब प्राकृतिक-रूपको का सहारा लिया जाता है, तब उद्देश्य विधि-विधान को पुष्ट करना होता है, दन्त-कथाओं में जब प्राकृतिक-रूपकों का सहारा लिया जाता है, तब उद्देश्य अधिकतर मनोरजन होता है, इसलिए दोनो के आधार में प्राकृतिक-घटनाओ के होते हुए भी दोनों में भेद बना रहता है।

(ग) दन्त-कथाओ की उत्पत्ति का आधार मनोविश्लेपणवाद (Psycho-analytic or sex origin)—रूपकवाद को आधार बना कर कुछ विद्वानों ने रूपकों का स्रोत प्राकृतिक-घटनाओं, सूर्य, चन्द्र, तारा आदि को कहा, तो फ्रॉयड (Freud) के अनुयायी मनोविश्लेपणवादी इन रूपकों का स्रोत प्राकृतिक-घटनाओं को न मान कर यौन-प्रवृत्तियों (Sex drives) को मानते हैं। उनकी विचार-धारा इस प्रकार है :—मनुष्य के मन के दो भाग हैं—'ज्ञात-मन' (Conscious) तथा 'अज्ञात-मन' (Unconscious)। 'अज्ञात-मन' हमारी आदिकालीन, प्राथमिक इच्छाओं, वासनाओं का मूल-स्रोत है। इस 'अज्ञात-मन' में हमारी आदिकालीन, प्राथमिक इच्छाएँ पड़ी होती हैं, वे 'अज्ञात' से 'ज्ञात' में आने का प्रयत्न करती हैं। हमारी इच्छाओ का सोता 'अज्ञात' में होता है, 'ज्ञात' में नहीं। जो-कुछ हम करते हैं 'अज्ञात-मन' द्वारा ही करते हैं, 'ज्ञात-मन' का काम तो 'अज्ञात' पर सिर्फ नियन्त्रण करना, उसमें से किस इच्छा को बाहर आने दिया जाय, किसे न आने दिया जाय—इसका चुनाव करना होता है। 'अज्ञात-मन' से जो इच्छाएँ बाहर निकलती हैं, उनके निकलने के दो साधन हैं। एक साधन तो यह है कि समाज की जो धारणाएँ हैं, ये इच्छाएँ अपने को इन धारणाओ के अनुकूल बना लें। समाज नहीं चाहता कि किसी की स्त्री को बुरी नजर से देखा जाय। मनुष्य का 'अज्ञात-मन' तो हर स्त्री से छेड़-छाड करना चाहता है। 'अज्ञात-मन' की यह इच्छा जब अपने को समाज के प्रतिबन्धों के अनुरूप बना लेती है, जब मनुष्य प्रत्येक स्त्री को बडा होने के कारण 'माँ', छोटा होने के कारण 'पुत्री' तथा समान होने के कारण 'बहन' मानने लगता है, तब 'ज्ञात-मन' अन्दर की इच्छा को बाहर निकलने की आज्ञा दे देता है। 'अज्ञात-मन' की आदिकालीन, अघड, प्राथमिक-इच्छा अर्थात् वासना के 'ज्ञात-मन' से

बाहर निकलने का दूसरा रास्ता यह है कि वह इच्छा अपनी शक्ल ऐसी बदल ले जिससे 'ज्ञात-मन' को पता ही न चले कि यह भोडी, अघड, आदिकालीन इच्छा बाहर निकल रही है। प्राय 'अज्ञात-मन' इसी तरीके से 'ज्ञात-मन' को धोखा दिया करता है। मनोविश्लेषणवादियों के कथनानुसार 'अज्ञात-मन' में अधिकतर यौन-सबधी वासनाएँ रहती हैं। ये यौन-वासनाएँ बाहर कैसे निकलें ? बाहर तो 'ज्ञात-मन' पहरेदार बन कर बैठा है, वह इन्हें बाहर आने ही नहीं देता। तो फिर ये 'अज्ञात-मन' की यौन-वासनाएँ क्या करें ? ये अपना रूप, अपनी शक्ल बदल लेती हैं। इनकी शक्ल बदलने से ही 'दन्त-कथाएँ' (Folktales) उत्पन्न हो जाती हैं। एक राजा था, उसकी सात रानियाँ थीं। सात क्यों थीं, एक क्यों न थी ? मनुष्य की काम-वासना उसे अनेक स्त्रियों के साथ सबध रखने के लिए प्रेरित करती है, परन्तु समाज इसे बुरा मानता है, इसलिए 'अज्ञात-मन' के इस विचार को 'ज्ञात-मन' बाहर नहीं आने देता। इस रुकावट को देख कर 'अज्ञात मन' अपनी वासना की शक्ल बदल कर बाहर निकलता है। मनुष्य कहता है— मेरे सात रानियाँ नहीं, उसके सात रानियाँ थीं। 'ज्ञात-मन' धोखे में आ जाता है —कह देता है, अच्छा तेरे नहीं तो कर ले सात रानियों की बात। जब 'दन्त कथा' में मनुष्य राजा और सात रानियों की बात कह रहा होता है, तो कल्पना राजा की जगह अपने को रख रहा होता है, और अपने को एक तरह से सात रानि का राजा कल्पित कर रहा होता है। मनोविश्लेषणवादियो का कहना है कि ससा की दन्त-कथाओं की उत्पत्ति 'अज्ञात-मन' में पड़ी काम-वासाना के अपना यथा रूप छिपा कर शक्ल बदल कर बाहर निकल आने का ही परिणाम है।

मनोविश्लेषणवादियों का विचार उन दन्त-कथाओ के सबध में तो ठी हो सकता है, जिनका किसी प्रकार का सबध काम-वासनाओं के साथ जोड़ा ज सकता है, परन्तु ये लोग तो हर चीज का सबध काम-वासनाओं से जोड़ने प्रयत्न करते हैं। यह कुछ ज्यादती मालूम देती है। मनोविश्लेषणवादी सम धान से कुछ 'दन्त-कथाओं' का समाधान हो सकता है, सब का नहीं।

(घ) दन्त-कथाओ की उत्पत्ति का आधार इच्छा-पूर्तिवाद (Doctri of wish-fulfilment)—मनोविश्लेषणवाद का एक पहलू दूसरा भी है। हर ब को यौन-प्रवृत्ति में खींच ले जाने के स्थान में यह भी कहा जा सकता है कि 'अज्ञा मन' की इच्छाएँ चाहे यौन हो या अन्य किसी तरह की हो, अपने को पूर्ण कर चाहती हैं। इच्छा की गति पूर्णता की तरफ बहती है। अपनी अपूर्ण इच्छाओं मनुष्य कल्पना के जगत् में पूर्ण किया करता है। अपूर्ण इच्छाओ को पूर्ण क के लिए जब मनुष्य कल्पना-जगत् का निर्माण करता है, तब परियों की, राक्ष की, भूत-प्रेतों और जिनों की, इसी प्रकार अन्य अनेक प्रकार की कथाओं को ज दे देता है। यह वाद निरे 'मनोविश्लेषणवाद' से ज्यादा युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

(ङ) दन्त-कथाओ की उत्पत्ति का आधार व्याख्यावाद (Explanatory origin)—'आख्यानों' के विषय में हम पहले लिख आये हैं कि ये अपने समय के

विधि-विधानों की, रिति-रिवाजों की, विधि-निषेध की व्याख्या करते हैं; 'दन्त-कथाओं' का काम भी अपने समय की सामाजिक रूढ़ियों, प्रथाओं आदि की मनोरंजक ढग से व्याख्या करना होता है। इस दृष्टि से 'आख्यानो' तथा 'दन्त-कथाओ' का एक-सा कार्य है। कभी-कभी चिकित्सा आदि के सिद्धान्त भी दन्त-कथाओं द्वारा अभिव्यक्त किये जाते हैं। 'भाव-प्रकाश'-नामक चिकित्सा-ग्रन्थ में लिखा है—"यदामृतं वैनतेयो जहार सुरसत्तमाम्, तदा ततोऽपतद् विन्दुः स रसोनोऽभवद् भुवि"—जब देव तथा दानवो ने मिल कर रत्न पाने के लिए मेरु को मथानी तथा वासुकि-सर्प को रज्जु वना कर समुद्र-मथन किया, तव समुद्र में से अमृत कलश निकला। इस अमृत के कलश को हस्तगत करने के लिए देवों और दानवों की लडाई छिड गयी। ये लोग लड ही रहे थे कि गरुड ने आकर कलश को उडा लिया। वह कलश लिये उड़ा चला जा रहा था कि हिलने से कलश में से अमृत के कुछ विन्दु पृथिवी पर गिर पडे। उन्हीं से लहसुन पैदा हुआ। यह कथा लहसुन के गुण वताने के लिए घड़ी गई। लहसुन को सस्कृत में 'रसोन' कहते हैं। 'रसोन' का अर्थ है जिसमें एक रस 'ऊन' हो, अर्थात् कम हो। इसमें अम्ल रस को छोड़ कर सव रस पाये जाते हैं। 'रसोन' से ही विकृत होकर 'लहसुन' वना है। चिकित्सा-शास्त्र में इसका गुण अमृत के समान माना गया है, और इस कथन को कथानक से पुष्ट किया गया है। राजनीति की कथाओ द्वारा राजनीति के वडे-वडे सिद्धान्तो को पचतन्त्र तथा हितोपदेश की कथाओं में व्यक्त किया गया है। कई नैतिक वातों को कथा-कहानियों से पुष्ट किया जाता है। कभी-कभी जीवन की अनेक गुत्थियो को इन दन्त-कथाओं से सुलझाने का प्रयत्न किया जाता है। मृत्यु के वाद क्या होता है—यह समस्या किसे तग नहीं करती। अनेक जन-जातियों में नक्षत्र के तारों को मृत-पूर्वज कल्पित कर के उनकी रोचक कथाएँ घडी गई हैं। जन-जाति का नेता युद्ध करता मारा गया। क्या हमारा नेता मर सकता है—यह समस्या अनुयायियों को तंग करती है। इसका समाधान करने के लिए कथाएँ पायी जाती हैं जिनके अनुसार नेता के चारों तरफ जव शत्रु घिर आये, तव वह मारे जाने के स्थान पर यकायक अन्तर्धान हो गया, उसका किसी को पता ही नहीं चला। इस दृष्टि से अनेक वातों की मनोरजक ढंग से व्याख्या करने के लिए कथा-कथानक, दन्त-कथा की उत्पत्ति होती है। व्यारयावाद से दन्त-कथाओं की उत्पत्ति का यही अर्थ है।

जिन लोगो ने कथाओ का गहराई से अध्ययन किया है, उनका कहना है कि कथाओ के पीछे—'इसलिए ऐसा करना चाहिए' या 'इसलिए ऐसा नहीं करना चाहिए'—ये वाक्य पीछे-से लगाये जाते रहे हैं, कथानक इन 'चाहिए-न चाहिए' से पहले-से चले आते रहे हैं, इसलिए यद्यपि व्याख्यावाद दन्त-कथाओं की उत्पत्ति का कारण हो सकता है, तो भी यह इनकी उत्पत्ति का निश्चित कारण नहीं कहा जा सकता।

(च) दन्त-कथाओं की उत्पत्ति में विकासवादी-सिद्धान्त (Evolutionary

(Tylor) का कहना है कि ससार में एक स्थान के मनुष्यो की दूसरे स्थान के मनुष्यों से मानसिक समानता है। 'मानव-समाज की इस आधारभूत मानसिक-समानता' (Psychical unity of mankind) के कारण सब जगह के मानवो का चिन्तन एक-सा होता है, इसलिए सब स्थानो के कथानक भी एक-से पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, सिंड्रेला की कहानी ससार में सब जगह भिन्न-भिन्न रूपों में पायी जाती है। हरस्कोविट्स (Herskovits) के कथनानुसार इसके ३५० के लगभग भिन्न-भिन्न रूप पाये गये हैं। सिंड्रेला को उसकी सौतेली माँ तथा सौतेली बहनों ने बन्द कर रखा था, उसके साथ बुरा व्यवहार करती थीं, परन्तु अपनी असली माँ की आत्मा तथा पक्षियों और चूहो की सहायता से वह अपने बंधनों से निकल भागी और अपने प्रिय राजकुमार के साथ शादी करने में सफल हुई।

इस कहानी का ससार के सब स्थानों में पाया जाना 'प्रसारवाद' (Theory of diffusion) से भी समझाया जा सकता है, 'विकासवाद' के मानव के 'चिन्तन की एकता' के सिद्धान्त से भी समझाया जा सकता है क्योंकि सौतेली माँ-बहन का व्यवहार सब जगह एक-सा पाया जाता है। विकासवादी इसका समाधान 'चिन्तन की एकता' से करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु आजकल का हमारा अनुभव सिद्ध करता है कि इस प्रकार समान कथाओं का पाया जाना अधिकतर 'प्रसार' द्वारा होता है। जहाँ-जहाँ फ्रासीसी लोग उत्तरी अमरीका की जन-जातियों के सपर्क मे आये हैं, वहाँ-वहाँ फ्रासीसी कहानियाँ जन-जातियो के कथा-साहित्य में प्रविष्ट हो गई हैं। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक उदाहरण हैं। ऐसी हालत में विकासवादी सिद्धान्त बहुत युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता।

(छ) दन्तकथाओ की उत्पत्ति मे यथार्थवाद (Realism)—इस विचार के मानने वालो का कहना है कि आदिवासियों में यथार्थ घटनाओं का वर्णन कई बार होता था। जिससे मिले उसे घटना सुनाई। एक ने दूसरे को सुनाई, दूसरे ने तीसरे को सुनाई। जो पहली बार सुनाता था, उससे सुन कर सुनाने वाला नमक-मिर्च लगाकर, उसे बढ़ा-चढ़ा कर सुनाता था। इस क्रम को आगे चलाने वाला अपने देश, जन-जाति की परपरा की बातें इसके साथ और जोड़ देता था। बढ़ते-बढ़ते यह चीज इतनी विकृत हो जाती थी कि सारे कथानक में से वास्तविक घटना को पहचानना ही कठिन हो जाता था, परन्तु सारी घटना के मूल मे कोई वास्तविक तथा यथार्थ घटना ही होती थी। धीरे-धीरे इस कथानक के पात्रों में, वस्तु-कथा में, शैली में भेद पड़ता जाता था, और एक नवीन कथानक उत्पन्न हो जाता था, स्रोत इस सब का यथार्थ ही होता था।

८ दन्त-कथाओ के प्रेरक
(Motifs of Folktales)

दन्त-कथाओं के आधार में कुछ प्रेरक-विचार काम कर रहे होते हैं। इन्हें मानव-शास्त्री 'मोटिफ' कहते हैं। 'मोटिफ' फ्रेंच शब्द है, इसी के लिए अंग्रेजी में 'मोटिव'-शब्द का प्रयोग होता है। अर्थ दोनों का 'प्रेरक' से है, जो दन्त-कथा की

पति को डस लेती है। अगले दिन पति मरा मिलता है, परन्तु किसने इसे डसा—इसका पता नहीं चलता। इस बीच एक अन्य नायक इस भूमिका में उतरता है। उसे सारा रहस्य मालूम हो जाता है और वह इस सुन्दरी को जब वह सर्पिणी के रूप में होती है, मौत के घाट उतार देता है। ऐसे कथानक अक्सर पाये जाते हैं।

(ङ) मनुष्य की आत्मा का किसी पक्षी में बन्द होना—एक राक्षस था। उसकी आत्मा एक तोते के शरीर में रहती थी। इस राक्षस को तभी मारा जा सकता था जब तोते को मारा जाय, परन्तु वह तोता कहाँ है—इसका किसी को पता नहीं था। यह राक्षस इस तोते को बड़े सुरक्षित स्थान पर रखता था। इसके उपद्रवो से चारो तरफ हाहाकार मचा रहता था। एक युवक ने इस राक्षस को मारने का सकल्प किया। उसे एक महात्मा ने बताया कि इस राक्षस की आत्मा अमुक-अमुक तोते में रहती है। वह तोता नदी, पहाड और समुद्र पार कर के जमीन के तहखानों में बन्द है। महात्मा युवक को एक अगूठी देता है। युवक अगूठी पहन कर तोते की तलाश में चल देता है। अगूठी के प्रभाव से वह पहाडों को लाँघता, समुद्रो को पार करता आगे-आगे चलता चला जाता है। जब तोते को वह पा लेता है, तो उसके एक पख के काटने से राक्षस की एक भुजा कट कर गिर जाती है, टाँग काट देने से राक्षस लगडा हो जाता है, गर्दन मरोड देने से राक्षस की गर्दन धड से अलग जा पडती है। ऐसे कथानको में राक्षस, जिन या किसी दैत्य की आत्मा का किसी पशु-पक्षी के देह में निवास बता कर कहानी को मनोरजक बनाया जाता है।

९ दन्त-कथाएँ तथा सस्कृति
(Folktales and Culture)

रचना को प्रेरणा दे, वह 'दन्त-कथा' का 'प्रेरक' (Motif or motive) है। ससार की दन्त-कथाओ का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य के पास इन दन्त-कथाओ की रचना के 'प्रेरक' इने-गिने हैं। इनकी सख्या ७० के लगभग वताई जाती है। ससार की दन्त-कथाओं के वर्णन का प्रकार, उसे प्रभाव-शाली वनाने का तरीका सब का भिन्न-भिन्न हो सकता है, परन्तु इन के 'प्रेरको' में भेद नहीं आता। दन्त-कथाओ के मुख्य-मुख्य प्रेरक निम्न हैं —

(क) सब से छोटी रानी का दुष्ट-स्वभाव—ससार के प्राय सभी देशो में राजा की अनेक रानियो की कहानी पायी जाती है। इनमें से सब से छोटी रानी जब आती है, तो वह राजा पर ऐसा मोह-जाल डाल देती है कि वह अन्य रानियो की पर्वाह विल्कुल नहीं करता। इतना ही नहीं, वह अन्य रानियो के साथ बुरा-वर्ताव भी करने लगता है। धीरे-धीरे इस छोटी रानी की पोल खुलने लगती है, राजा की मोह-निद्रा टूटने लगती है और इस छोटी रानी को अपनी दुष्टता का फल मिलता है। इसके वाद राजा के प्रेम में अन्य रानियो का स्थान ऊँचा हो जाता है। 'छोटी रानी का दुष्ट स्वभाव'—यह प्रेरक प्राय सर्वत्र पाया जाता है।

(ख) छोटे पुत्र का सर्वोत्तम निकलना—छोटे पुत्र के विषय में जो कहानियाँ मिलती है, उनमें पहले सब उसकी हँसी-मजाक उडाते है, सब भाई तथा माता-पिता भी उसे झिडकते-धिक्कारते रहते हैं। इस सब परिस्थिति के साथ उसे जूझना पडता है, और अन्त में वही लोग जो उसकी मजाक उडाते थे, उसे प्यार करने लगते हैं, उसकी सफलता उसे सब का प्रिय बना देती है।

(ग) जादू के प्रभाव से बाधाओ को पार करना—ऐसी कथाओ की कमी नहीं है जिनमें जादू की अगूठी, जादू के दर्पण, जादू की खडाँवो या जादू की अन्य किसी वस्तु के सहारे मनुष्य सब विघ्न-बाधाओ को पार करता चला जाता है। अंगूठी पहनी और पहाडो के ऊपर से उड कर पार चले गये, दर्पण को सामने रखा और दुनियाँ का आर-पार नज़र आ गया, खड़ांव पहनी और अदृश्य हो गये। जादू की इन वस्तुओं के प्रभाव से मनुष्य के अजेय हो जाने के कथानक सब जगह पाये जाते हैं।

(घ) मनुष्य का जानवर के चोले में रहना—मनुष्य के जानवर के या जानवर के मनुष्य के चोले में चले जाने के भी अनेक कथानक पाये जाते हैं। एक राजकुमार था, उसे जादूगर ने शाप देकर मेंडक बना दिया। अब मेंडक से राजकुमार बनने के लिए उसे कुछ शर्तों को पूरा करना आवश्यक है। या तो कोई राजकुमारी उससे प्रेम करे, या उसे मार दे—तब कहीं मेंडक से वह फिर राज-कुमार बनता है। कई वर्षो तक वह मेंडक के शरीर में ही पड़ा रहता है। एक दिन अचानक एक राजकुमारी के क्रोध का वह पात्र बनता है, वह उसे जान से मार देती है, वह फिर से राजकुमार बन जाता है और उसी राजकुमारी से शादी करता है। कई कहानियो में साँपिन एक सुन्दर स्त्री के रूप में जन्म धारण करती है। वह अत्यन्त सुन्दरी है, परन्तु मध्य-रात्रि को अपने असली साँपनी के रूप में आकर सोते

पति को डस लेती है। अगले दिन पति मरा मिलता है, परन्तु किसने इसे डसा—इसका पता नहीं चलता। इस बीच एक अन्य नायक इस भूमिका में उतरता है। उसे सारा रहस्य मालूम हो जाता है और वह इस सुन्दरी को जब वह सर्पिणी के रूप में होती है, मौत के घाट उतार देता है। ऐसे कथानक अक्सर पाये जाते हैं।

(ङ) मनुष्य की आत्मा का किसी पक्षी में बन्द होना—एक राक्षस था उसकी आत्मा एक तोते के शरीर में रहती थी। इस राक्षस को तभी मारा ज सकता था जब तोते को मारा जाय, परन्तु वह तोता कहाँ है—इसका किसी क पता नहीं था। यह राक्षस इस तोते को बडे सुरक्षित स्थान पर रखता था इसके उपद्रवों से चारो तरफ हाहाकार मचा रहता था। एक युवक ने इस राक्ष को मारने का सकल्प किया। उसे एक महात्मा ने बताया कि इस राक्षस व आत्मा अमुक-अमुक तोते में रहती है। वह तोता नदी, पहाड और समुद्र पार क के जमीन के तहखानों में बन्द है। महात्मा युवक को एक अगूठी देता है। युव अगूठी पहन कर तोते की तलाश में चल देता है। अगूठी के प्रभाव से व पहाडों को लाँघता, समुद्रो को पार करता आगे-आगे चलता चला जाता है जब तोते को वह पा लेता है, तो उसके एक पख के काटने से राक्षस की एक भुज कट कर गिर जाती है, टाँग काट देने से राक्षस लगडा हो जाता है, गर्दन मरो देने से राक्षस की गर्दन धड से अलग जा पडती है। ऐसे कथानको में राक्षस जिन या किसी दैत्य की आत्मा का किसी पशु-पक्षी के देह में निवास बता कर कहान को मनोरजक बनाया जाता है।

९ दन्त-कथाएँ तथा सस्कृति
(Folktales and Culture)

प्राय देखा जाता है कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रो में भिन्न-भिन्न प्रकार की दन्त कथाएँ ही अधिक प्रचलित होती है। किसी क्षेत्र की दन्त-कथाएँ दूसरे क्षेत्रो फैल जाती है, किसी क्षेत्र की नहीं फैलतीं। इसका कारण एक तो यह है कि उ दन्त-कथा में इतना मनोरजक-तत्त्व नहीं होता जिससे वह फैले, दूसरा कार यह होता है कि उस कथानक की 'कथा-वस्तु' (Plot) दूसरे क्षेत्र के प्रचलि कथानकों की 'कथा-वस्तु' से मेल नहीं खाती। उदाहरणार्थ, एक क्षेत्र के कथानव में राक्षस की कथाओं का अन्त नायक द्वारा उसके समाप्त किये जाने से होता ह और दूसरे क्षेत्र में कथा का अन्त नायक के समाप्त किये जाने से होता हो, तो दोनो क्षेत्र एक-दूसरे की कथा को लेने के लिए नहीं तैयार होंगे, क्योंकि दोनो कथानको में मनोरजकता होते हुए भी इनकी 'कथा-वस्तुओं' (Plots) में भिन्नत है। 'कथा-वस्तु' किस प्रकार बनता है—इसका प्रकार भी प्रत्येक देश तथा ज जाति का अलग-अलग पाया जाता है। हम अभी 'प्रेरकों' (Motifs) का वर्णन क आये हैं। किसी प्रदेश की कथा-वस्तु में एक खास तरह के 'प्रेरक' होते है, किसी दूसरी तरह के 'प्रेरक' होते हैं, किसी में 'कथा-वस्तु' में दो प्रेरक मिल कर 'कथ वस्तु' को बनाते है, किसी में सिर्फ एक 'प्रेरक' से ही 'कथा-वस्तु' बनती है।

इसके अतिरिक्त, 'कथा-वस्तु' के निर्माण में प्रत्येक क्षेत्र में भिन्न-भिन्न तरह का 'नायक' (Actor) होता है। किसी क्षेत्र में राक्षस, जिन आदि को नायक बनाना पसन्द किया जाता है, किसी में पशु-पक्षी को और किसी में मनुष्य को। इन तीनो के अलावा प्रत्येक क्षेत्र की 'कथा-वस्तु' की 'शैली' (Style) में भी भेद होता है। कहीं प्रत्येक कहानी तीन भाइयों से शुरू होती है, तीन रीछों या तीन धनुषबाणों से शुरू होती हैं, कहीं चार, कहीं पाँच, कहीं सात से शुरू होती है। कहीं कथानक का प्रारंभ किसी पवित्र कार्य से शुरू होता है—यज्ञ हो रहा था, विवाह हो रहा था, या इसी तरह का कोई और शुभ कार्य हो रहा था, इससे कथा का प्रारंभ किया जाता है। कहीं—'ऐसा सुनते हैं', कहीं—'एक बार की बात है', कहीं—'जब दुनियाँ में सब सुख-शान्ति में रहते थे'—इन भूमिकाओं से कथा को प्रारंभ करने की शैली है। यह शैली सब जगह की अपनी-अपनी अलग-अलग है। इस प्रकार 'दन्त-कथा' (Folktale) के निर्माण में 'कथा-वस्तु' (Plot) के 'प्रेरक' (Motif), 'नायक' (Actor) तथा 'शैली' (Style)—ये तीन मुख्य तत्व हैं और ये चारो भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग होते हैं। इन सब के अलग-अलग होने का आधार उस-उस क्षेत्र की संस्कृति है, इसलिए किसी 'दन्त-कथा' तथा उसकी 'कथा-वस्तु', 'प्रेरक', 'नायकों' के चरित्र और 'शैली' के आधार पर उस क्षेत्र की संस्कृति का अनुमान लगाया जा सकता है। भारत की 'दन्त-कथाओं' के आधार पर 'कथा-वस्तु', 'प्रेरक', 'नायकों' के चरित्र और 'शैली' की छान-बीन कर यहां की संस्कृति की रूप-रेखा का पता चल सकता है। इसी प्रकार अन्य देशों की संस्कृति के संबंध में भी इनके आधार पर कुछ कहा जा सकता है। किसी क्षेत्र की दन्त-कथाओं में शत्रुओं का संहार, किसी में सन्तानोत्पत्ति, किसी में नैतिकता, किसी में भय-आतंक—इनकी प्रधानता रहती है, जिसे उस समय की संस्कृति तथा सामाजिक अवस्था का कथानकों में प्रतिबिम्ब कहा जा सकता है।

१०. दन्त-कथाओं के कुछ उदाहरण

भारत की हो जन-जाति की एक दन्त-कथा है कि बुड्डु-बुरा नाम का किसान अपने खेत में एक चूहे को देख कर उसे मारने को दौड़ा। चूहे ने किसान से प्रार्थना की कि मेरी जान बख्शो—मैं एवज में सारी उम्र तुम्हारी गुलामी करूंगा। बुड्डु-बुरा ने उसकी बात मान ली और उसे घर ले आया। खेत में लोमड़ियाँ आकर इस किसान की बत्तखों और खेत की उपज को खा जाती थीं। चूहे ने लोमड़ियों के बीच चक्कर मारना शुरू किया और इनकी सब चालाकियों का पता लगाना शुरू किया। वह इनकी सब चालाकियों को किसान को बता देता था, परन्तु जब लोमड़ियों को पता चला कि उनकी स्कीमें पता लग जाती हैं, तो उन्होंने भी उन्हें झट-झट बदलना शुरू किया। इससे किसान बहुत तंग आ गया। अन्त में चूहे ने किसान की स्त्री से परामर्श करके ऐसी तरकीबें सोच निकालीं जिनसे सब लोमड़ियों का सफाया हो गया और वह चूहा तथा यह किसान-परिवार शान्ति से रहने लगे।

जूनी जन-जाति के इडियनों की एक दन्त-कथा इस प्रकार है पश्चिम मे
एक मैक्सिकन लडकी रहती थी। वह घर से बाहर नहीं निकलती थी। घर मे
जहाँ सूर्य की किरणें पडती थीं, वहाँ वह बैठी रहा करती थी। सूर्य से उसे गर्भ
धारण हो गया। बाहर सिपाहियों का पहरा था। एक सिपाही ने उसे देख क
दूसरों से कहा कि जिस लडकी की हम रक्षा कर रहे हैं, वह तो गर्भवती मालूम देत
है। अगर इस लडकी की ऐसी करतूतें है, तो इसकी रक्षा करने से क्या फायदा ?
आओ, इसे मार दें। अगले दिन प्रातःकाल उसके मारे जाने का दिन निश्चि
किया गया, परन्तु उसी दिन सायकाल सूर्य उसके कमरे में आया और कहने लग
कि कल तो तुम्हें मरना है। लडकी ने कहा—जो होना है सो होकर रहेगा,
मरने के लिए तैयार हूँ। सूर्य ने कहा—नहीं, मै तुझे मरने नहीं दूंगा। मै तु
इस मुसीबत में से निकाल दूंगा। अगले दिन प्रातःकाल ही सूर्य ने उसे खिड
के रास्ते बाहर निकाल दिया और कहा—अब तू जहाँ चाहे जाकर रहना। व
चलती-चलती एक जगह पहुँची जहाँ एक किसान हल चला रहा था। लडकी
किसान से पूछा—क्या बो रहे हो? किसान ने कहा—गोल पत्थर बो रहा हूँ
उसने झूठ बोला था, इसलिए लडकी ने किसान के बीजों को बेकार कर दिय
उसने जो-कुछ बोया एक बीज भी नहीं जमा। लडकी ने आगे चल कर देखा—
एक और किसान हल चला रहा था। उससे पूछा—क्या बो रहे हो? उस
उत्तर दिया—धान और गेहूँ बो रहा हूँ। उसने सच कहा था, इसलिए लडकी
बीजों को बेकार नहीं किया और उसके सब बीज उग आये। इस बीच सिपाहि
ने देखा कि लडकी गायब हो गई है, तो वे उसकी तलाश में निकले। उन्होंने पह
किसान से आकर पूछा—क्या तुमने कोई लडकी इधर देखी है। उसने कहा—
वह पहाडी के उस पार गई है। वे पहाडी के ऊपर चढ गये, परन्तु लडकी
कहीं पता नहीं चला। पहाडी से उतर कर वे नदी की तरफ बढ़े। नदी
पानी नापने के लिए उन्होंने बल्लियाँ काटीं, देखा पानी बहुत गहरा था। उन्ह
अब लडकी का पीछा करना छोड दिया, किन्तु लडकी तब तक नदी के पार पहु
गई थी। वहाँ एक स्थान पर जाकर उसके सन्तान हुई—वह युगल थी, जो
थी। यहाँ पर सूअरो और कुत्तो ने उसे चूमा-चाटा। इसी लिए सूअरों त
कुत्तों के बच्चो की झोल-की-झोल होती है। खच्चर ने इस लडकी को नहीं चू
इसलिए खच्चर की कोई सन्तान नहीं होती।

इस कथानक में कई 'प्रेरक' (Motifs) रले-मिले हैं। सूर्य आदि
मनुष्यो का-सा, अर्थात् मानव-सम व्यवहार करना, इसी कथानक में नहीं, प्र
सभी जगहो के कथानको में पाया जाता है। महाभारत में भी तो कुन्ती का
कर्ण सूर्य द्वारा हुआ था। गर्भवती होकर घर से निकल जाना भी कई कथान
में पाया जाता है। सीता जी के लव-कुश जगल में ही हुए थे। बिना पति
सन्तान होने के कथानक भी सर्वत्र पाये जाते हैं। बुद्ध तथा ईसा मसीह की उत्
बिना यौन-सबध के हुई थी। जिन लोगों ने इन कथानकों की रचना की उ

सम्मुख समाज की कोई गहन समस्या अवश्य रही होगी—ऐसा इन कथानकों के रूप से झलकता है।

हम इस स्थान पर और अधिक कथानक देने की आवश्यकता नहीं समझते, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कथानकों से भली प्रकार परिचित रहता है। कथानक एकत्रित करने का काम बड़ा रोचक है, और इस संबध में भिन्न-भिन्न प्रेरकों को ध्यान में रख कर कथानक एकत्रित करने की आवश्यकता है।

११. मौखिक साहित्य के अन्य रूप—नाटक, पहेली आदि (Other forms of oral literature—Drama, Proverbs etc.)

इस अध्याय के प्रारंभ में हमने कहा था कि आदिकालीन-समाज के मौखिक-साहित्य में 'सौन्दर्यपूर्ण अभिव्यक्ति' जब गद्य या पद्य के रूप में प्रकट होती है, तब आख्यान तथा दन्त-कथाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसी प्रकार की 'सौन्दर्य-पूर्ण-अभिव्यक्तियों' में आदिकालीन-समाज के नाटक तथा पहेलियों को भी गिना जा सकता है।

(क) नाटक (Drama)—आदिकालीन-समाज में आख्यानों तथा दन्त-कथाओं को नाटक के रूप में भी खेला जाता है। जिस तरह के नाटक हम आजकल खेलते हैं, इस प्रकार के नाटक फल-मूल एकत्रित करने तथा सरल कृषि-संबधी अर्थ-व्यवस्था में नहीं पाये जाते। नाट्यशाला, नाटक खेलने वाला एक वर्ग, पर्दे आदि तो युरोप में एथन्स की उपज हैं, परन्तु बिना नाट्यशाला के, गाँव के बाडों में लोगों का इकट्ठा हो जाना, प्रकृति के स्वाभाविक पर्दों में धार्मिक-कथानकों को खेलना प्रायः सर्वत्र पाया जाता है। कृषि-संबंधी विकसित अर्थ-व्यवस्था में आजकल के-से नाट्यशाला आदि के नाटक भी खेले जाने लगे। इन नाटकों में बनावटी चेहरे लगाकर खेलने का आम रिवाज था। बाली में ऐसे नाटकों का आज भी प्रचलन है जिनमें बनावटी चेहरे लगाकर नाटक खेले जाते हैं। अपने देश में दशहरे पर कोई हनुमान् बनता है, कोई राम-सीता, कोई राक्षस बन कर सब लोग रामायण की कथा को खेलते हैं। इनमें भी बनावटी चेहरों का प्रयोग होता है। इन नाटकों का अधिकतर संबंध उस-उस जन-जाति के विधि-विधान तथा धार्मिक-कृत्यों से होता है।

इन नाटकों में संगीत तथा नृत्य का प्रचुर प्रयोग होता है। आदि-काल के मानव के लिए नाटक एक ऐसी कला थी जिसमें कला, संगीत, नृत्य, आख्यान, दन्त-कथा सभी का सम्मिश्रण होता था। कला, आख्यान तथा दन्त-कथा पर हम लिख आये हैं, संगीत तथा नृत्य पर अगले अध्याय में लिखेंगे।

(ख) कहावत तथा बुझारत आदि (Proverbs, Sayings and Riddles)—कहावतों में मानव-समाज छोटे में बड़ी बात भर कर रख देता है। इनमें मानव-समाज के सदियों पुराने अनुभव बन्द रहते हैं। बुझारतों का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन होता है। ये दोनों बातें आदिकालीन समाज में पर्याप्त पायी जाती हैं, और विद्यार्थी किसी भी जन-जाति में जाकर इनका संग्रह कर जन-जातियों-संबंधी अपने ज्ञान को बढ़ा सकता है।

३०

आदिकालीन संगीत तथा नृत्य

(PRIMITIVE MUSIC AND DANCE)

'कला' की व्याख्या करते हुए हमने कहा था कि सौन्दर्यपूर्ण-अभिव्यक्ति का नाम कला है। यह 'सौन्दर्यपूर्ण-अभिव्यक्ति' जब आकृति में प्रकट होती है, तब इसे मूर्ति-कला तथा चित्र-कला कहते हैं, जब गद्य में प्रकट होती है, तब इसे आख्यान तथा वन्त-कथा कहते हैं, जब पद्य में प्रकट होती है, तब इसे सगीत कहते हैं, जब गति में प्रकट होती है, तब इसे नृत्य कहते हैं। हम मूर्ति-कला, चित्र-कला, आख्यान तथा वन्त-कथा का पिछले दो अध्यायो में वर्णन कर आये हैं। इस अध्यायमें हम आदिकालीन सगीत तथा नृत्य का वर्णन करेंगे।

१ सगीत की प्राचीनता तथा उत्पत्ति

(क) सगीत तथा नृत्य की प्राचीनता—'कला' का अध्ययन करते हुए जितना ही हम पुराने समय की तरफ जायेंगे, उतना ही 'कला' का अभाव पायेंगे। इसका कारण स्पष्ट है। आदिकालीन-मानव अपने खाने-पीने की समस्या में इतना उलझा रहता था कि उसे जगल में जाकर फल-मूल बटोरने और शिकार पकड लाने के सिवाय फुर्सत ही कहाँ थी? सुबह से वह अपना तीर-भाला लेकर निकलता और शाम को थका-मादा घर लौटता था। एस्किमो तथा बुशमैन शिकार पकडने के लिए दौडे-दौडे फिरते या आराम से बैठ कर हाथी दाँत की मूर्तियाँ बनाते, उन पर नकाशी और मीनाकारी करते, चित्र बनाते? फल-मूल एकत्रित करने की सरल और फिरदर आर्थिक व्यवस्था में इस प्रकार की कला का उत्पन्न होना फुर्सत न होने के कारण सभव ही नहीं था, क्योंकि इस प्रकार की कला तभी सभव है जब मनुष्य एक जगह मकान बना कर फुर्सत से, आराम से जीवन व्यतीत कर सके।

परन्तु सगीत तथा नृत्य के विषय में यह नहीं कहा जा सकता। आदिकालीन मानव जगल में बैठा जब शिकार की बाट जोह रहा था, तब बैठा-बैठा चित्रकारी, टोकरी या हाथी दाँत की वस्तुएँ तो नहीं बना सकता था, परन्तु बैठा-बैठा गा तो सकता था, दो-चार हो तो वे नाच-गान दोनों भी कर सकते थे। और क्योंकि उस काल में अन्य किसी प्रकार की कला का आविष्कार नहीं हुआ था, तो स्त्री घर के दूसरे काम करती-करती गा तो सकती थी। इस दृष्टि से सब कलाओ से पहले, जब और किसी कला का आविष्कार नही हुआ था, तब सगीत तथा नृत्य का आविष्कार हो चुका था।

(ख) सगीत की उत्पत्ति—सगीत में तीन बातें मुख्य पायी जाती हैं—'ताल' (Rhythm), 'सुर' (Melody) तथा 'संगीत-यंत्र' (Musical instruments)। 'ताल' (Rhythm) की उत्पत्ति के सबंध में बुचर (Bucher) का मत है कि आदिकालीन-मानव ने देखा कि काम करते हुए कुछ निश्चित समय के बाद आवाज द्वारा या शरीर की गति द्वारा ज़ोर देने से काम आसान हो जाता है। आवाज़ या शारीरिक गति द्वारा यह जोर, जब तक काम जारी रहता है, बार-बार दिया जाय तो काम का बोझ हल्का हो जाता है। आवाज़ में या गति में बार-बार ज़ोर देने से सगीत तथा नृत्य—इन दोनो के 'ताल' (Rhythm) की उत्पत्ति हुई। हम देखते हैं कि स्त्रियाँ जब चक्की से आटा पीस रही होती हैं, पुरुष जब एक भारी नौका को रस्सी बांध कर जल-प्रवाह के विरुद्ध ऊपर खींच रहे होते हैं, तो कोई गीत गाते जाते हैं और थोड़ा-थोड़ा अन्तर दे कर एक प्रकार का 'ताल', एक प्रकार का 'ठेका' देते जाते हैं। इस प्रकार के ताल के ज़ोर से उनके शरीर की शक्ति भी उछल-सी पड़ती है और वे काम को आसानी से कर डालते हैं। कुछ ध्यान बंट जाने के कारण भी काम में आसानी हो जाती है। वुंडट (Wundt) ने बुचर के संगीत की उत्पत्ति-सबधी इसी मत को नृत्य पर घटाया है और उसका कहना है कि जैसे सगीत में थोड़े-थोड़े समय बाद एक आवाज में एक जगह ज़ोर दे दिया जाता है, वैसे नृत्य में भी थोड़े-थोड़े समय बाद एक गति पर ज़ोर दे दिया जाता है। बोआस (Boas) सगीत तथा नृत्य के 'ताल' की उत्पत्ति के सबध के इन दोनों मतो को नहीं मानते। उनका कहना है कि 'ताल' की आधारभूत बात तो किसी बात को थोड़ा-थोड़ा अन्तर दे कर नियमित रूप से करना है। इस प्रकार के नियमित दोहराने में मनुष्य को स्वभावत प्रसन्नता होती है, यह मन का स्वभाव है, इसलिए 'ताल' की उत्पत्ति में मनुष्य का यह स्वभाव ही एकमात्र कारण है। उदाहरणार्थ, जब कोई व्यक्ति टोकरी में थोड़ा-थोड़ा अन्तर देकर एक ही 'डिज़ाइन' बार-बार बनाता है, तो वह भी तो एक प्रकार की 'ताल' ही की भावना है। उसे सगीत न होने के कारण 'ताल' न कहकर हम 'डिज़ाइन' कह देते हैं, परन्तु होता तो वह एक तरह का 'ताल' ही है। इसमें बुचर तथा वुंडट की ध्यान बंट जाने से काम के आसान हो जाने की बात कहाँ घटती है? इसलिए यही कहना पड़ेगा कि थोड़ा-थोड़ा अन्तर देकर आवाज़ या गति में ज़ोर देना—अर्थात् ताल या ठेका—मनुष्य को प्रसन्नता देता है, इससे जी खुश होता है—यह ताल की उत्पत्ति का कारण है।

सगीत में दूसरी वस्तु 'सुर' (Melody) है। 'सुर' का मुख्य आधार स्वर (Voice) है। एक ही स्वर में जब लगातार एक ही आनन्दप्रद 'ध्वनि' (Tone) निकलती है, तब उसे 'सुर' (Melody) कहते हैं। 'ताल' (Rhythm) और 'सुर' (Melody) के मेल से 'सगीत' बनता है। यह 'सुर' पहले-पहल आदि समाज में कैसे पैदा होता है? कार्ल स्टम्फ (Carl Stumpf) का कहना है कि 'सुर' की उत्पत्ति पहले-पहल 'क्रन्दन' से होती है। 'क्रन्दन' तो स्वाभाविक

है—बच्चा भी रोता है, बडा-बूढ़ा भी रोता है। क्रन्दन में ठहर-ठहर कर लगातार एक ध्वनि निकलती है। शृंखलाबद्ध लगातार एक मधुर-ध्वनि का नाम ही तो 'सुर' (Melody) है। इस 'सुर' में, अर्थात लगातार के स्वर मे, ठहर-ठहर कर दूसरी या तीसरी बार के 'सुर' में जो जोर दिया जाता है, वह 'ताल' है, और इन दोनो में से 'सुर' की उत्पत्ति 'क्रन्दन' से और 'ताल' की उत्पत्ति थकान कम करने के लिये या मनुष्य-स्वभाव की सहज प्रसन्नता से होती है।

सगीत में तीसरी वस्तु 'स्वर-यत्र' (Musical Instrument) है। पहले-पहल सगीत के यत्र नहीं थे, कठ से ही सगीत गाया जाता था। 'नव-पाषाण-युग' में जब अन्य प्रकार के यन्त्रो का आविष्कार हुआ तब सगीत के भी यत्रों का आविष्कार हुआ।

२ सगीत के तीन तत्व—ताल, सुर तथा यत्र

(Three elements of Music—Rhythm, Melody, Instruments)

हम अभी कह आये है कि सगीत के तीन तत्व है—ताल, सुर तथा स्वर-यत्र। इन तीनो पर आदिकालीन दृष्टि से कुछ विचार करना आवश्यक है।

(क) ताल (Rhythm)—ताल का आधारभूत तत्व है एक ही वस्तु को ठहर-ठहर कर दोहराना। प्रत्यक कला में ताल का यह आधारभूत तत्व पाया जाता है। मूर्ति-कला तथा चित्र-कला में जब टोकरी बनायी जाती है, तब थोडा-थोडा अन्तर देकर उसी प्रकार की बुनाई दोहराई जाती है—यह एक प्रकार का 'ताल' का ही सिद्धान्त है। कथा-कथानक में भी आदिवासियो में एक ही बात को थोडे-थोडे अन्तर से दोहराया जाता है। उदाहरणार्थ, प्यूब्लो इडियनो की कहानियों में अगर कहानी में चार बहनों का जिक्र है तो चारो के साथ एक ही घटना दोहराई जाती है। अनेक कहानियो में अगर सात भाई किसी राज-कुमारी की खोज में निकले है, तो जो घटनाएँ पहले राजकुमार के साथ घटती है, वही क्रमश सातो के साथ घटती दिखाई जाती है। ताल का यही थोडा-थोडा अन्तर देकर उसी चीज को दोहराने का तत्व सगीत तथा नृत्य में भी पाया जाता है। 'हरे राम हरे कृष्ण' गाते हुए दूसरी-तीसरी बार जब इसे दोहराते है, तो तीसरी बार या चौथी बार ताल या ठेका देते जाते है, और फिर हर तीसरी या चौथी बार ठेका देते चलते है। नृत्य में भी नृत्य की गतियो में जो विशेष गति दो या तीन मिनट बाद दी जाती है, वही हर दूसरे या तीसरे मिनट पीछे दोहराई जाती है। यही 'ताल' का आधारभूत नियम है और जन-जातियों के सगीत तथा नृत्य में यह ऐसा ही पाया जाता है। आदिवासियों के सगीत के 'ताल' अर्थात् 'ठेका' (Rhythm) तथा वर्तमान सगीत के 'ताल' अर्थात् 'ठेका' में कुछ भेद है। वह भेद क्या है?

(१) ताल में समय-भेद (Difference in Rhythm-interval)—वर्तमान-सगीत में दूसरी, तीसरी या चौथी बार जब सगीत के एक ही

पद को दोहराया जाता है, तब ताल दिया जाता है। 'हरे कृष्ण हरे राम' गाते हुए, दूसरी बार के दोहराने, या तीसरी या चौथी बार के दोहराने पर ताल दी जायगी, परन्तु आदिवासियों के सगीत में इतनी जल्दी ताल नहीं दी जाती। उनके सगीत में सात-आठ बार दोहराकर ताल दी जाती है, या कभी-कभी नहीं भी दी जाती। आदिवासियो के कथा-कथानकों, सगीत तथा नृत्य में दोहराना तो अवश्य होता ही है, यह दोहराना तो ताल की आत्मा है, परन्तु यह दोहराना एक निश्चित व्यवधान के बाद ही हो—यह आवश्यक नहीं है। कभी-कभी दोहराना निश्चित व्यवधान के बाद होता है, कभी-कभी निश्चित व्यवधान के बाद न होकर देर में होता है। इतना अवश्य है कि आदिवासियों के सगीत में समय का निश्चित व्यवधान तथा दोहराना—'ताल' के ये दोनो तत्व पाये जरूर जाते हैं।

(ii) सगीत तथा नृत्य में समन्वय का भेद (Difference in co-ordination between song and dance)—वर्तमान-संगीत में जब ताल दी जाती है, तभी उसी के साथ नृत्य में भी एक प्रकार की ताल-सी दे दी जाती है, दोनो कलाओ में जोर एक-साथ दिया जाता है, अगर एक मिनट बाद आवाज में जोर दिया जाता है, तो उसी समय ताली बजाई जाती है या नृत्य की गति में लचक दी जाती है। वर्तमान-सगीत में कठ-स्वर तथा शारीरिक गति एक-साथ चलती हैं। आदिवासियो में ऐसा नहीं होता। आफ्रीका की जन-जातियो के सगीत में सगीत का प्रवाह स्वतत्र चलता है, हाथ-पैर की गतियों का प्रवाह स्वतत्र चलता है, गाते हुए कण्ठ-स्वर से जब समय-समय पर जोर दिया जाता है, उसी समय हाथो की ताली से या पांव के पैर से जोर नहीं दिया जाता।

(ख) सुर (Melody)—सगीत में 'ताल' (Rhythm) के अलावा दूसरी मुख्य वस्तु 'सुर' (Melody) है। आदिकालीन जन-जातियो में 'सुर' को कठ से ही अभिव्यक्त किया जाता रहा। 'सुर' को अभिव्यक्त करने का माध्यम कठ की 'ध्वनि' (Tone) होती है। इस 'ध्वनि' को जब यत्रो द्वारा प्रकट किया जाने लगता है, तब जैसे कठ 'ध्वनि' को अभिव्यक्त करता है, वैसे यंत्र भी 'ध्वनि' को अभिव्यक्त करने लगते हैं। आफ्रीका की कुछ जन-जातियां ढोल से ऐसी ध्वनि निकालती हैं जो कठ की ध्वनि का अनुकरण करती है, कठ से निकले शब्दो का नहीं, ध्वनि का अनुकरण करती हैं, और इस ध्वनि को सुन कर वे ध्वनिकार का अभिप्राय समझ जाती हैं।

'ध्वनि' (Tone) को कहीं सात, कहीं आठ 'आरोहावरोहों' (Pitch) में अभिव्यक्त किया जाता है। पहली ध्वनि से आठ गुना ऊँचे आरोह को 'अष्टक' (Octave) कहा जाता है। यह आरोह प्रथम ध्वनि से कहीं सात गुना, कहीं आठ गुना पाया जाता है। साधारण व्यक्ति इस 'अष्टक' को एक ही ध्वनि समझता है, परन्तु यह एक 'ध्वनि' न होकर कई 'ध्वनियों' (Tones) का पुंज होता है। वर्तमान अंग्रेजी सगीत में 'अष्टक' को बारह सम-भागो में बांटा जाता है, परन्तु आदिकालीन जन-जातियो के संगीत के 'सुर' का अध्ययन करने से पता

चलता है कि 'अष्टक' को अन्य भी कई प्रकार के भागो में बांटा जा सकता है। जावा की जन-जातियाँ 'अष्टक' को पांच सम-भागो और स्याम की जन-जातियां इसे सात सम-भागो में बाँटती हैं।

सगीत में 'ध्वनि' के तारतम्य को बनाये रखने के लिए कई जन-जातियों में निरर्थक शब्दो को जोड दिया जाता है। उदाहरणार्थ, हमारे सगीत में त-न-न-न-न, अग्रेज़ी में ला-ला-ला को सगीत में 'सुर' (Melody) का पुट देने के लिए जोडा जाता है। कहीं-कहीं शब्द को आवश्यकता से अधिक लम्बा कर दिया जाता है, कहीं जितना शब्द हो उसे उतने से भी छोटा कर दिया जाता है। इस सब का मूल-कारण सगीत की 'ध्वनि' को सम-भाव में बनाये रखना है।

मनुष्य के कठ से इतनी ध्वनियाँ निकल सकती हैं कि जितनी सगीत यन्त्रों से नहीं निकल सकतीं, इसीलिए फल-मूल एकत्रित करने वाली आदिकालीन अर्थ-व्यवस्थाओ की जन-जातियों में जितनी 'ध्वनियाँ' (Tones), और इन ध्वनियों के कारण जितने 'सुर' (Melodies) पाये जाते हैं, उतनी विकसित अर्थ-व्यवस्था में नहीं पायी जाते। जब इन जन-जातियो में निश्चित 'आरोहावरोहों' के यन्त्र आविष्कृत हो जाते हैं, तब इनकी 'ध्वनि' निकालने की शक्ति और इसी कारण इनकी 'सुर-शक्ति' भी इन यन्त्रो तक सीमित होने लगती है।

(ग) सगीत-यत्र (Musical instruments)--सगीत में 'ताल' तथा 'सुर' के अलावा तीसरी मुख्य वस्तु 'सगीत-यन्त्र' है। यन्त्र का उपयोग 'ताल' तथा 'सुर' दोनों में किया जा सकता है। जब तक 'ताल' में यन्त्र का उपयोग नहीं होता, तब तक ताली या भूमि पर पैर बजा कर इन से 'ताल' का उपयोग लिया जाता है, परन्तु यन्त्र निकल आने पर यन्त्रो से 'ताल' का काम लिया जाता है। अपने देश में खडताल से 'ताल' का काम लिया जाता है, इसीलिए इसका नाम 'खडताल' है। ताल देने के लिए लकडी की छडी से किसी गुंजाने वाली चीज़ पर प्रहार किया जा सकता है, या ढोल आदि को बजाया जा सकता है। यत्र कैसे होते हैं ?

(1) डोरी से बजने वाले यत्र--आदिकालीन जन-जातियो के सगीत-यत्रों को तीन भागो में बाँटा जा सकता है--डोरी से बजने वाले यत्र (Stringed instruments), मुंह की हवा से बजने वाले यत्र (Wind instruments) तथा चोट लगा कर बजने वाले यत्र (Percussion instruments)।

इनमें से डोरी से बजने वाले यन्त्र आदिवासियो में बहुत कम पाये जाते हैं और चोट दे कर बजने वाले यन्त्र बहुत अधिक सख्या में पाये जाते हैं। डोरी वाले यत्रों को धनुष की डोरी पर बजाया जा सकता है। इनसे जो स्वर पैदा होता है वह इतना धीमा होता है कि उसे ऊँचा करने के लिए कोई खोखली चीज़ साथ लगानी पडती है जिससे उसके खोल में से स्वर गूंज कर निकले। प्राय डोरी वाले धनुष को सूखे तथा खोखले कद्दू के साथ जोड दिया जाता है, या बजाने वाले डोरी वाले यन्त्र को अपनी छाती के साथ लगा कर बजाता है जिससे आवाज गूंज

उठती है। इसी प्रक्रिया से तबूरा, सारगी, सितार, वीणा, वायलिन, इसराज आदि बने हैं।

(ii) हवा से बजने वाले यंत्र—मुंह की हवा से बजने वाले सगीत-यत्र बासुरी, तुरही, बीन आदि प्रसिद्ध है। बीन का प्रयोग अपने देश में सपेरे किया करते है। इनकी रचना विविध पदार्थों से होती है। लकडी, सींग, बांस अस्थि, मट्टी के बर्तन आदि किसी भी पदार्थ से मुंह की हवा से बजने वाला यत्र बनाया जा सकता है। मुंह से बजने वाले यत्रो का प्रयोग सदा सगीत के लिए ही किया जाय—यह बात नहीं है। तुरही का प्रयोग सकेतो के लिए किया जाता है। जब सेना को तुरही के सकेतो का ज्ञान हो, तब तुरही के सकेतों को सुन कर सेना उसका आशय समझ जाती है। कई आदिवासियो में नाक से बजने वाले यन्त्र भी पाये जाते है। इनके अनेक यन्त्र ऐसे होते है जिनके भीतर हवा देने के बजाय उनके ऊपर हवा देने से वे बज उठते है। इन यन्त्रो में से भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनियाँ निकालने के लिए यन्त्रों की लम्बाई भिन्न-भिन्न होती है।

(iii) चोट देने से बजने वाले यंत्र—चोट देकर बजने वाले यत्रो में घटा-घड़ियाल प्रसिद्ध है। घटी-घूंघरू भी ऐसे बनाये जाते है जिनमें उनके हिलने से भीतर से ही चोट पडने से आवाज उठती रहती है। आफ्रीकावासी जन-जातियो में एक तरह का पियानो बनाया जाता है जिसे वे सैन्ज़ा कहते है। इस यन्त्र में भिन्न-भिन्न नापो की धातु की पट्टियां या बॉस की धज्जियां इस प्रकार लगाई जाती है कि जब किसी पट्टी या धज्जी को अगूठे से दबा कर छोडा जाता है तो वह ढोल-सरीखे गुंजाने वाले खोल पर जाकर बजने पर इस यत्र में से तरह-तरह के स्वरो को उत्पन्न कर देती है। ढोल तो चोट देकर बजने वाला अत्यन्त प्रसिद्ध यत्र है। आफ्रीका की जन-जातियां ऐसे ढोल बनाती है कि एक ही ढोल के भिन्न-भिन्न भागो पर चोट देने से चार भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वर निकल सकते है। कोंगो बेसिन तथा एमेज़ोन की जन-जातियो के ढोल भी भिन्न-भिन्न भागो पर चोट देने से भिन्न-भिन्न स्वर पैदा करते है। इन ढोलो पर भिन्न-भिन्न जानवरो की चमडी को सुखा कर मढ़ा जाता है। हमारे वाद्य-यंत्रो में तबला इसी प्रकार का यत्र है।

३ आदिकालीन सगीत—'कला' के रूप में
(Primitive music as Art)

'पूर्व-पाषाण-युग' में जब सगीत के यन्त्रो का आविष्कार नहीं हुआ था, कठ ही सबसे बडा यत्र था। कठ से जितने प्रकार की आवाजें निकल सकती है, वे दुनियां भर के सगीत-यत्र इकट्ठे कर देने पर भी नहीं निकल सकतीं, इसलिए आदिकालीन-मानव कठ द्वारा सगीत की कला में बहुत बढा-चढ़ा था। उसके इस कला में निपुण होने का सब से बडा कारण यह था कि उसके पास कठ के अलावा दूसरा किसी प्रकार का यत्र ही नहीं था, जो-कुछ सगीत वह निकाल सकता था, अपने कठ से ही निकाल सकता था। आज जब सगीत बहुत हद तक

यत्रों पर निर्भर हो गया है, हर-एक के लिए गाना भी कठिन हो गया है, उस समय का हर-एक बच्चा-जवान-बूढ़ा मजे में गाया करता था क्योंकि प्रकृति का दिया हुआ कठ-यत्र सब के पास एक-समान था।

वर्तमान-युग में सगीत-कला में प्रगति कुछ व्यक्तियो की प्रतिभा तथा निर्माण-शक्ति का परिणाम है, परन्तु आदिकालीन-सगीत-कला व्यक्तियो की प्रतिभा का परिणाम न होकर समूह की प्रतिभा का परिणाम थी। आज हम सगीत के क्षेत्र में तानसेन, बीथोवन, मोजार्ट को स्मरण करते हैं, आदिकालीन सगीत में किसी व्यक्ति को आज कोई स्मरण नहीं करता, उस समय का जो भी सगीत जन-जातियों में चला आ रहा है वह सारे-के-सारे समुदाय का है। समुदाय का सगीत है, समुदाय के गाने हैं, समुदाय के वाद्य-यत्र है।

उस समय के लोगो ने सगीत-कला के विकास में कितना हाथ बँटाया, इस कला में किन नवीन तत्वो को उत्पन्न किया—यह निश्चित तौर पर कैसे कहा जा सकता है? इतना अवश्य कहा जा सकता है कि 'पूर्व-पाषाण-युग' का सगीत 'नव-पाषाण-युग' में नहीं रहा, 'नव-पाषाण-युग' का सगीत वर्तमान जीवित जन-जातियो में नहीं रहा, इसमें परिवर्तन होता रहा। इस परिवर्तन का यही अर्थ हो सकता है कि आदिकाल से अबतक जन-जातियो की सगीत-कला में लगातार नूतन-तत्वो का, नव-निर्माण का प्रवेश होता रहा। अगर इन लोगो में नव-निर्माण की शक्ति न होती, तो आजतक इनकी सगीत-कला 'पूर्व-पाषाण-युग' के स्तर की ही बनी रहती।

कई लोगों को आदिवासियो के सगीत में कुछ अजीब-सा लगता है, परन्तु अजीब तो हमारा सगीत भी उन को लगता होगा। जिस वस्तु से मनुष्य परिचित नहीं होता, वह उसे अजीब ही लगती है, परन्तु असल में वह अजीब नहीं होती। आदिवासियो के सगीत के विषय में अपनी राय कौन दे सकता है? वे लोग जो अपने को सगीतज्ञ समझते हैं उनकी सम्मति इस क्षेत्र में बेकार है। वे अपनी सगीत-कला के विशेषज्ञ तो होते हैं, परन्तु आदिवासियो की सगीत-कला को नहीं समझते। आदिवासियों की सगीत-कला पर तो उन्हीं के सगीत का जिसने विशेष रूप से अध्ययन किया है, वही कुछ कह सकता है।

वर्तमान-सगीत तथा आदिवासियो के सगीत की तुलना में कई लोग उनके सगीत को निम्न-कोटि का कहने लगते हैं, परन्तु यह धारणा ग़लत है। यह तो कहा जा सकता है कि आजकल के सभ्य-समाज तथा आदिवासियो के सगीत में भिन्नता है, दोनो का अपना-अपना क्षेत्र है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें से एक दूसरे से उच्च या निम्नकोटि का है।

४ नाट्य तथा सांकेतिक नृत्य
(Dramatic and Symbolic Dance)

'सुन्दर-अभिव्यक्ति' जब गति का रूप धारण करती है, तब इसे 'नृत्य' कहते हैं। गति हाथ, पैर, शरीर के किसी अन्य अग या सारे शरीर की हो सकती

है। जैसे संगीत में 'ताल' (Rhythm) होता है, वैसे शरीर की इन गतियों में भी 'ताल' होता है, थोडा-थोडा अन्तर देकर एक ही 'गति' को दोहराया जाता है। यह 'ताल' या तो सिर्फ शरीर की गति द्वारा होता है, या ढोल आदि किसी संगीत-यन्त्र का स्वर इसके साथ मिला रहता है। जैसा हम पहले कह आये हैं, वर्तमान-नृत्य में 'संगीत के ताल' तथा 'नृत्य के ताल' में सहकारिता, समन्वय पाया जाता है, परन्तु आदिवासियों के नृत्य में इस समन्वय का होना आवश्यक नहीं है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि वर्तमान-सगीत में थोडा-थोडा अन्तर देकर जब सगीत के किसी भाग को दोहराया जाता है, उसी समय शारीरिक-गति को भी दोहराया जाता है, परन्तु आदिवासियों के नृत्य में संगीत तथा नृत्य—इन दोनो का ताल स्वतंत्र रूप से, अलग-अलग चलता है।

नृत्य संसार में सभी देश-काल में पाया जाता है। मनुष्य का यह शरीर जो नृत्य का एकमात्र साधन है, सब के पास एक-सा है, इसका सचालन करने वाला ज्ञान-तंतु-सस्थान भी सब के पास एक-सा है। आदिवासियों में तथा वर्तमान मानव में भेद यह है कि आज का हर-एक मानव नृत्य नहीं करता, सब के पास फुर्सत नहीं, परन्तु आदिवासियो में बच्चा-बच्चा नृत्य करता है। आज का मनुष्य सामाजिक, आर्थिक आदि इतने बन्धनों से चारो तरफ से जकड़ा हुआ है कि नृत्य के उल्लासमय सोते की उसमें से फूट निकलने की सभावना कम रहती है, आदि-कालीन-मानव का जीवन इतना उल्लासमय था कि हर बात में वह नाच-गा लिया करता था।

आदिवासियो में उत्सव आदि के अवसर पर प्राय गॉव के सभी स्त्री-पुरुष मिल कर नाचते-गाते हैं। गाना क्योंकि नृत्य-कला का अविभाज्य अंग है, इसलिए नाचने के साथ गाना तो होता ही रहता है। नाचते समय वे लोग प्राय चक्र में नाचते हैं, एक गोल घेरा बना लेते हैं और इस गोलाई में नाचते ह। कभी-कभी एक-दूसरे की तरफ पीठ कर के या सब एक तरफ मुँह कर के एक पक्ति में खड़े हो जाते है। स्त्री-पुरुष जब एक-साथ नाचते है, तब दो घेरे बना लिये जाते हैं। स्त्रियाँ अन्दर के घेरे में और पुरुष बाहर के घेरे में आ जाते ह। अगर नृत्य पक्ति में खडे होकर किया जाता है, तो स्त्रियाँ पुरुषो से अलग पक्ति बना लेती है। अडमानी-लोगो में स्त्रियाँ नृत्य में सम्मिलित नहीं होतीं। जब अधिक संख्या में लोग नाचते हैं तब बडे-बडे व्यूह बनाये जाते हैं। पालिनेशिया, आफ्रीका आदि में नाचते हुए व्यूह बनाने की प्रथा है। नृत्य-गृहों में नाचने का तरीका, जिसमें नाचने वाला युगल स्वतत्र रूप से अपनी गतियो का सचालन करता है—यह अग्रेजी नाच का अपना निराला तरीका है। आदिवासियोमें समूह-का-समूह एक निश्चित दिशा में मिल कर गति करता है, भिन्न-भिन्न व्यक्ति स्वतत्र गति नहीं करते। प्रत्येक जन-जाति के सामूहिक नृत्य का अपना-अपना तरीका होता है। पौलीनेशिया के लोग बैठे-बैठे शरीर की गतियाँ करते हैं, उत्तर-पश्चिम तटवर्ती इंडियन हर कदम पर घुटने झुका कर, हथेली सामने कर और शिरोभाग को

कपन देते हुए नाचते हैं। नाचते हुए इन लोगो का शरीर एक-दूसरे से सटा हुआ नहीं होता।

आदिवासियो में 'अनुकरण-नृत्य' (Mimetic dancing) का अधिक प्रचलन है। वे तरह-तरह के चेहरे लगा कर शिकार खेलने, शिकार को घर पकडने, उसे मारने का नृत्य में अभिनय करते है। इस प्रकार के नृत्य में पशु की सब गतियों का वे नृत्य में ऐसा अनुकरण करते है कि उसे यथार्थ अनुकरण कहा जा सकता है। इस नृत्य में शरीर की भिन्न-भिन्न गतियाँ की जाती ह, भिन्न-भिन्न प्रकार से उठा-बैठा-दौडा जाता है। इन गतियो का अभिप्राय यथार्थ दृश्य को सामने ला खडा करना होता है। शिकार के समय शिकारी तथा शिकार में जो मनोवेग उठ रहे होते हैं, उनको भी इस नृत्य में उभारने का प्रयत्न किया जाता है। बुशमैन, ऑस्ट्रेलिया तथा कैलीफोर्निया की जन-जातियाँ इस प्रकार के नृत्य में बहुत कुशल हैं। 'अनुकरण-नृत्य' एक तरह का 'नाट्य-नृत्य' ही है।

कई जन-जातियों में नृत्य को इतना महत्व दिया जाता है कि उनके यहाँ हर रात को नृत्य का आयोजन होता है। अडमानी, आफ्रीका के बुशमैन, सीलोन के वैड्डा इसके उदाहरण हैं। उनके यहाँ सामूहिक आमोद-प्रमोद का यही एक साधन है। नृत्य का धार्मिक विधि-विधान के साथ भी बडा सबध है। अनेक धार्मिक-कृत्यो में नृत्य आवश्यक माना जाता है। नृत्य, सगीत तथा नाटक—ये तीनो एक-दूसरे के साथ इतने रले-मिले है कि नृत्य में सगीत तथा नाटक भी आ ही जाते हैं। विधि-विधान सबधी कोई धार्मिक नृत्य होना हो, तो उसकी पहले से ही सब को सूचना दे दी जाती है। जिस गाँव में यह धार्मिक नृत्य होता है वह चाहे छोटा हो, चाहे अन्य गाँवों से दूर हो, आस-पास के गाँवों के सब लोग उस गाँव मे इकट्ठे होने लगते हैं। जगह तग होती है, दूर-दूर के गाँवो से आये हुए सब लोग खडे-खडे सारा नृत्य देखते है। एक घेरा बना लिया जाता है, १०–१२ नर्तक लोग उस घेरे में चक्कर काटने लगते है, उनमें पुरुष भी होते हैं, कुछ स्त्रियाँ भी होती है, घेरे के बाहर दर्शक लोग आ-आकर खडे होते या बैठते जाते है। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, नर्तकों पर देवी आने लगती है, वे आपे में नहीं रहते। इतने में एक चीख सुनाई देती है, एक स्त्री जमीन पर गिर पडती है, वह उठना चाहती हे परन्तु उठ नहीं सकती। दूसरे उसकी सहायता के लिए आते है, परन्तु वह सब को परे हटा देती है, एक छडी की तरफ इशारा करती है, छडी लेकर घेरे में लगडाती-लगडाती चलने लगती है। इतने में नर्तकों में से दूसरा कोई जिस पर देवी चढ़ आती है, जोर-जोर से घेरे के चारो तरफ नाचने लगता है, उसके मुँह के स्नायु तन जाते हैं, ढोल के सामने कभी वह आगे को आता, कभी पीछे को हटता है। ढोल में से जो आवाज निकलती है, वह देवी-देवता की आवाज मानी जाती है, वह आवाज इस नर्तक को मानो खेंचे हुए होती है। इतने में गाँव का पुरोहित वहाँ पहुँचता हे। उस पर भी देवी चढ़ी होती है। वह भी घेरे में आकर बडे तनाव में आगे-पीछे नृत्य करता है, दूसरे सब लोग उसी का

अनुकरण करते हैं। जब उसका तनाव सीमा पर पहुँच जाता है, तब एक चीख मार कर वह घेरे से बाहर निकल कर गाँव की तरफ भाग खडा होता है। कुछ नाचने वाले उसके पीछे-पीछे भागते हैं। बाकी लोगो का ढोल पीटना और बढ़ जाता है, ये लोग आवेश में तरह-तरह की आवाजें निकालने लगते हैं। वह स्त्री जिस पर सब से पहले देवी चढी थी, अब अपने हाथ की लकडी फेंक कर जोर-जोर से नाचने लगती है। इतने में पुरोहित फिर लौट आता है, और सब के साथ फिर नाचने लगता है। पुरोहित तथा उसके साथी अब देवी के मन्दिर की तरफ नाचते-नाचते जाते हैं। इधर घेरे में दूसरे लोगो पर देवी चढती जाती है और यह नृत्य दोपहर से शुरू होकर तब तक चलता रहता है जब तक हर-एक नाचने वाले के सिर से देवी उतर नहीं जाती। यह अशन्ति जन-जाति के नृत्य का वर्णन है।

इन लोगो के नृत्य को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—'नाट्य-नृत्य' (Dramatic dance) तथा 'सकेत-नृत्य' (Symbolic dance)। हमने 'नाट्य-नृत्य' का अभी अशन्ति जन-जाति के नृत्य में वर्णन किया। 'सकेत-नृत्य' भी कम रोचक नहीं होता। नाचते हुए ढोल के सामने खडे होकर नर्तक क्रमशः अपने हाथो को ऊपर करते हैं। इसका अभिप्राय बीजो के भूमि फोड कर 'अकुरित' होने से है, जैसे हाथ नीचे से ऊपर को आया वैसे बीज अकुरित होकर ऊपर उठा। नृत्य में 'टोकरी' को सकेत में अभिव्यक्त करने के लिए ये लोग दोनो हाथो का घेरा लगा कर उन्हें आगे से मिला देते हैं। 'चलने' को सकेत में प्रकट करने के लिए दोनो हाथों को क्रमश आगे-पीछे करते हैं। ये 'सकेत-नृत्य' के उदाहरण हैं।

५ नृत्य की उत्पत्ति

नृत्य की उत्पत्ति कब हुई—इस सबंध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। बहुत सभव है 'पूर्व-पाषाण-युग' (Paleolithic period) में नृत्य का प्रारंभ हो गया हो, परन्तु आजकल की नृत्य-कला की किसी शैली को 'पूर्व-पाषाण-युग' से चली आ रही या उस युग की प्रतिनिधि भी नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि नृत्य अपने समय के सास्कृतिक तत्वों को अपने में समेटे रहता है, और ज्यो-ज्यो सस्कृतियां बदलती जाती हैं त्यों-त्यो नृत्य की शैली, उसके विषय भी बदलते जाते हैं। 'पूर्व-पाषाण-युग' की संस्कृति का प्रतिबिम्ब उस समय के नृत्य में झलकता था, परन्तु ज्यो-ज्यो प्राविधिक-परिवर्तन होते गये, त्यो-त्यो नृत्य के विषय, उसकी शैली तथा भाव-भंगो में भी परिवर्तन आता गया। यही कारण है कि आज के सास्कृतिक परिवर्तन के कारण नृत्य में भी पहले के युग की झलक नहीं दिखाई देती। किस देश में नृत्य की कौन-सी शैली कैसे पैदा हुई और कहाँ से आयी—इस सबध में सिर्फ 'प्रसारवाद' (Theory of diffusion) का ही सहारा लिया जा सकता है, इतना ही कहा जा सकता है कि नृत्य एक जन-जाति से दूसरी में, दूसरी से तीसरी में उनके आपसी संपर्क के कारण आता-जाता रहा है, आदान-प्रदान द्वारा ही इसका प्रसार हुआ। नृत्य की शैली, नृत्य के **विषय,**

नृत्य के प्रेरक-तत्व, भाव-भगी सब लोग सदा से एक-दूसरे से सीखते रहे हैं, एक-दूसरे से मानो उधार लेते रहे हैं। इसलिए यद्यपि हम नृत्य की उत्पत्ति के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते, तो भी नृत्य के उन अगों के विषय में अवश्य विवेचना की जा सकती है जिन्हें भिन्न-भिन्न सस्कृति का तत्व कहा जा सकता है। यह काम नृत्य-कला पर अनुसधान करने वालों का है कि वे भिन्न-भिन्न जन-जातियो के नृत्यों की शैली, उनके विषय, भाव-भगी आदि को लेकर यह पता लगायें कि किस नृत्य में किस सस्कृति के चिह्न पाये जाते हैं। अनुसधान कर्ताओ के लिए गवेषणा का यह एक अच्छा क्षेत्र है।

जीवित जन-जातियो में से जो आदिकालीन सरल अर्थ-व्यवस्था में जीवन-यापन कर रही हैं उनमें नृत्य के साथ-साथ नृत्य की वर्दी-पोषाक की बहुतायत नहीं पायी जाती। वे लोग शरीर को चित्रित कर लेंगे, पख आदि से सजा लेंगे, परन्तु उस पर वर्दी-पोषाक आदि का कम-से-कम बोझ डालने का प्रयत्न करेंगे जिससे नृत्य करते हुए शरीर की स्वतत्र गतियो में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न न हो। जो जन-जातियाँ सरल से विकसित अर्थ-व्यवस्था में पहुँच गई हैं, उनमें ठाठ-बाठ की पोशाक के साथ नृत्य किया जाता है, शरीर की स्वतत्र गतियों में भी उतनी विविधता नहीं रह पाती। नृत्य के इतिहास की गवेषणा करने वालो को नृत्य के विकास में इस बात का ध्यान रखना होगा।

नृत्य-कला की उत्पत्ति के सबध में विचार करते हुए कर्ट सैक्स (Curt Sachs) का कहना है कि 'पूर्व-पाषाण-युग' के मौस्ट्रियन-काल की नृत्य-कला के कुछ अवशेष वर्तमान-काल की आदिकालीन सरल अर्थ-व्यवस्था की जातियो में पाये जाते हैं। आदिकालीन जन-जातियों के नृत्य सामूहिक-नृत्य होते थे, परन्तु उस समह के ढीले घेरे में कुछ नर्तक व्यक्ति रूप में सब के घेरे में घिरे-घिरे हो नाचते पाये जाते हैं। वर्तमान-युग का जोडों या युगलो के सामूहिक नृत्य में रहते हुए भी जो स्वतत्र नृत्य है वह उसी 'पूर्व-पाषाण-युग' के मौस्ट्रियन-काल के नृत्य का अवशेष है। श्रीयुत् कर्ट का यह भी कहना है कि 'नव-पाषाण-युग' की नृत्य-कला के अवशेष भी वर्तमान-काल की नृत्य-कला में पाये जाते हैं। श्रीयुत् कर्ट के इन कथनों की सत्यता को अभी प्रमाणित करने की आवश्यकता है, परन्तु गवेषणा के लिए यह भी अच्छा विषय है।

६. भारत में नृत्य-कला

भारत में आदि-काल से नृत्य-कला चलती चली आ रही है। यहाँ की नृत्य-कला का जन-जातियों के जीवन में विशेष स्थान है। गोंड जन-जाति का 'कर्म-नृत्य' तथा असम की जन-जातियो के 'बिहू-नृत्य' प्रसिद्ध हैं। जब तक यहाँ विदेशी शासन रहा तब तक भारतीयों को भी विदेशी नृत्यो का शौक रहा, परन्तु जब से भारत स्वतत्र हुआ है तब से जन-जातियों की नृत्य-कला को विशेष स्थान दिया जाने लगा है। स्वतत्रता-दिवस तथा अन्य समारोहो में जन-जातियों की नृत्य-कला का विशेष रूप से प्रदर्शन किया जाता है।

भारत की नृत्य-कला में 'शास्त्रीय-नृत्य' (Classical dance) का महत्व दिनोदिन बढता चला जा रहा है। पिछले दो हजार से भी अधिक समय से यह कला गुरु-परपरा द्वारा जीवित है। इस युग में इस कला के सवर्धन की तरफ ध्यान दिया जाने लगा है, परन्तु अव से पहले यह कला नटो आदि तक सीमित थी। भारत के कथानको में शिवजी को नटराज का नाम दिया गया है। नृत्य-कला नटराज शिवजी की कला है, उनका नृत्य ताडव-नृत्य कहाता है। आदि-काल में शिवजी ने अपनी अर्धाङ्गिनी 'शक्ति' को नृत्य-कला की शिक्षा दी। 'शक्ति' के नृत्य से शिवजी इतने प्रसन्न हुए कि जो इस कला के उपासक हुए उन सव को शिवजी का वरदान प्राप्त हुआ। 'शक्ति' का दूसरा नाम 'पराशक्ति' तथा 'गौरी' है। प्रचलित कथानक के अनुसार शिवजी की अर्धाङ्गिनी 'पराशक्ति' अर्थात् 'गौरी' ने एक लाख श्लोको का 'गौरीकथक' लिखा। इस ग्रन्थ के आधार पर सारगदेव ने 'महाभारत सुदामनि'-नामक नाट्य-ग्रन्थ लिखा। इन ग्रन्थो में 'भरत-नाट्यम्' का विस्तृत वर्णन है—ऐसा कहा जाता है। 'भरत-नाट्यम्' पर नन्दिकेश्वर, वसिष्ठ, अगस्त्य, भारत, अर्जुन आदि ने अनेक नाट्य-ग्रन्थ लिखे।

'भरत-सूत्र'-ग्रन्थ अगस्त्य ऋषि का लिखा वताते हैं। इस ग्रन्थ में लिखा है कि 'शिव-ताडव'-नामक नृत्य के १०८ प्रकार हैं। इन १०८ में १२ नृत्य ऐसे हैं जिन्हें एक कोटि में रख कर उनका नाम 'द्वादश-ताडवम्' रखा गया है। सारगदेव ने इन 'द्वादश-ताडवो' अर्थात् वारह नृत्यों का वर्णन निम्न प्रकार किया है —

(१) आनन्द-ताडव—यह ताडव शिवजी ने तव किया जव तीनों लोको की उत्पत्ति हुई और इन तीनो लोको में प्राणी को उत्पन्न किया गया। तीन लोको से अभिप्राय पृथिवी, द्यु और नक्षत्र लोक से है। इन तीनो लोको को उत्पन्न करते हुए शिवजी ने आनन्द ताडव किया। ताडव का अर्थ है—शिवजी का नृत्य। इस ताडव की उत्पत्ति का स्रोत 'जाति-नाट्य' कहा जाता है।

(२) सान्ध्य-ताडव—यह नृत्य भिन्न-भिन्न सगीत तथा वाद्य यत्रो के उत्पन्न करने के लिए किया गया। नृत्य विना यंत्र के ठीक नहीं जंचता, इसलिए नृत्य को सफल वनाने के लिए सगीत के यत्रो को भी नृत्य-कला से ही उत्पन्न किया गया। इस ताडव की उत्पत्ति का स्रोत 'गीत-नाट्य' कहा जाता है।

(३) शृगार ताडव—यह नृत्य शिवजी ने पार्वती के उल्लास के लिए किया। इस नृत्य का अवसर तव होता है जव कोई हर्ष-का प्रसंग हो। इस नृत्य का नवरसो से सवध जोडा जाता है।

(४) त्रिरूप ताडव—ईश्वर को त्रिरूप माना जाता है। पृथ्वी, आकाश तथा नक्षत्र उसी के रूप हैं। इन तीनो को अपने में समेट लेने वाले त्रिरूप ईश्वर का यह नृत्य तव होता है जव वह इन्हें अपने भीतर समेटता है या सृष्टि के इन तीनो रूपो को पृथक्-पृथक् अभिव्यक्त करता है। इस ताडव की उत्पत्ति का स्रोत 'वरनय-नाट्य' कहा जाता है।

(५) ऊर्ध्व-ताडव—इस ताडव के विषय में अधिक लिखा नहीं मिलता, परन्तु इसकी उत्पत्ति का स्रोत 'चित्र-नाटय' कहा जाता है ।

(६) मुनि-ताडव—यह नृत्य चिदम्बर में पाया जाता है। कहते हैं, पतजलि मुनि ने ताल के साथ इस नृत्य को किया था और तवले पर अपने पाँव से ताल दी थी। इस ताडव की उत्पत्ति का स्रोत 'लय-नाट्य' कहा जाता है।

(७) सहार-ताडव—यह नृत्य मार्कण्डेय ऋषि को यम के चगुल से छुड़ाने के लिए किया गया था—ऐसा कथानक है।

(८) उग्र-ताडव—यह नृत्य शिवजी के भक्तो को कष्ट से मुक्त करने के लिए किया गया था। इस ताडव की उत्पत्ति 'राज्य-नाट्य' से कही जाती है।

(९) भूत-ताडव—इस नृत्य में शिवजी पशु का चर्म पहन कर नृत्य करते हैं। इस तांडव की उत्पत्ति 'पत्तस-नाट्य' से कहते हैं। इस ताडव का विशेष विवरण वायु-पुराण में दिया गया है।

(१०) प्रलय-ताडव—इस नृत्य को शिवजी सृष्टि के प्रलय के समय करते हैं। इस ताडव की उत्पत्ति 'पर्व-कुयु-नाट्य' से हुई बताते हैं।

(११) भुजग-ताडव—इस नृत्य में शिवजी समुद्र-मन्थन में से निकले हुए विष का पान करते हैं। इस ताडव की उत्पत्ति 'पीठ-नाट्य' से कही जाती है।

(१२) शुद्ध-ताडव—यह नृत्य सब से शुद्ध माना जाता है। इसकी उत्पत्ति ऋषियो के लिए की गई थी। इस ताडव की उत्पत्ति 'पाय-श्री नाट्य' से हुई है।

उक्त बारह प्रकार के ताडव दक्षिण-भारत के मदिरों की शिल्प-कला में जगह-जगह दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि इनकी गहराई में जाने की अभी आवश्यकता है, तो भी नृत्य-कला का इतना गहरा वर्गीकरण सिद्ध करता है कि जिस युग में नृत्य-कला के विषय में इतना विवेचन हुआ था वह नृत्य-कला की दृष्टि से अवश्य नृत्य-कला का स्वर्णिम-युग था।

प्रचलित कथानक के अनुसार पाणिनि मुनि जब सस्कृत व्याकरण की रचना करने लगे, तो उन्होंने शिवजी की आराधना की और उनसे आशीर्वाद माँगा। इस आराधना के फलस्वरूप शिवजी अपना डमरु लेकर प्रकट हुए और उन्होने नृत्य करते हुए डमरु बजाया। इस डमरु में से जो शब्द प्रकट हुए उन्हें आधार बना कर पाणिनि ने अपने ससार भर में अद्वितीय सस्कृत के व्याकरण की रचना की। इस प्रकार पाणिनि मुनि के व्याकरण का प्रादुर्भाव नृत्य-कला से हुआ।

भारत में जो नृत्य आदिकाल से चले आ रहे हैं, उन्हें चार भागो में बाँटा जाता है—भरतनाट्यम्, कथाकली, मणिपुर तथा कत्थक। इनमें भरतनाट्यम् तामिलनाड का नृत्य है, कथाकली केरल का, मणिपुर असम का और कत्थक-नृत्य उत्तर भारत का है जिसे मुगल बादशाहो, नवाबों तथा राजाओ ने प्रोत्साहना दी। जब से भारत स्वतत्र हुआ है, इन नृत्यों की तरफ

७ आदिकालीन नृत्य—'कला' के रूप मे
(Primitive dance as Art)

आदिकालीन नृत्य-कला में सरल से विषम की तरफ विकास हुआ, और धीरे-धीरे अधिक विकसित नृत्य-कला उत्पन्न हो गई—यह नहीं कहा जा सकता। 'पूर्व-पाषाण-युग' में तो इस प्रकार का विकास हुआ प्रतीत होता है, परन्तु 'पूर्व-पाषाण-युग' के बाद 'नव-पाषाण-युग' तथा 'वर्तमान-युग' तक नृत्य कला में जो प्रगति हुई उसे क्रमिक या शृखलाबद्ध विकास कहने के स्थान में यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि ज्यो-ज्यो समय बदलता गया, सस्कृति बदलती गई, त्यों-त्यो उसके साथ-साथ नृत्य-कला भी अपना रूप बदलती गई। शुरू-शुरू में 'पूर्व-पाषाण-युग' में वेश-भूषा का ठाठ-बाठ नहीं था, शरीर स्वतत्र रूप से नृत्य की सब गतियों को कर सकता था, इसलिए उस समय की नृत्य-कला को किसी भी तरह पीछे की नृत्य-कला से नीचे के स्तर का नहीं कहा जा सकता। नृत्य-कला ऊँचे स्तर की है, या नीचे स्तर की है—इसका हर-कोई निर्णय करने लगा है, परन्तु यह उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त वर्तमान नृत्य-कला का पडित आदिकालीन नृत्य-कला के सबध में निर्णय दे—यह भी ठीक नहीं प्रतीत होता। आदिकालीन नृत्य-कला पर वही निर्णय देने का अधिकारी है जिसने आदिकालीन जन-जातियो के विविध नृत्यो का तुलनात्मक अध्ययन किया हो। इसमें सन्देह नहीं कि ज्यो-ज्यो आदिकालीन जन-जातियाँ वर्तमान सभ्य जातियो के सपर्क में आती जाती हैं, त्यो-त्यों अपने नृत्य की अनेक बातें छोड कर वर्तमान नृत्य-कला की बातो को ग्रहण करती जाती हैं। इस प्रवृत्ति को रोक कर उनकी नृत्य-कला को अपने शुद्ध रूप में बनाये रखने का उद्योग करना उनकी कला के हित में श्रेयस्कर है।

'सगीत' आदि का अध्ययन करने के लिए तो आजकल टेप-रिकार्डरो से काम लिया जाता है। आदिकालीन जातियो का सगीत टेप-रिकार्डर पर भर कर उसे बार-बार सुना जाता है और उसके ताल, स्वर आदि का विश्लेषण किया जाता है, परन्तु 'नृत्य' के लिए टेप-रिकार्डर से काम नहीं चलता, इसके लिए फिल्म की सहायता लेना आवश्यक है। फिल्म के द्वारा जन-जातियो के नृत्य को चित्रित करके उसका गहराई से विश्लेषण किया जा सकता है और उसी के आधार पर उनकी नृत्य-कला के सबध में तुलनात्मक अध्ययन के बाद ही अनुकूल या प्रतिकूल निर्णय दिया जा सकता है। असल में, 'कला' के इस क्षेत्र में किसी को अच्छा तथा किसी को निकृष्ट कहना गलत है। नृत्य सब का अलग-अलग है, अपने-अपने क्षेत्र में सब अच्छे हैं क्योंकि इन सब से 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' की अभिव्यक्ति होती है।

३१

धर्म तथा जादू

(RELIGION AND MAGIC)

मनुष्य ससार की घटनाओं पर तीन दृष्टियो से विचार कर सकता है। एक दृष्टि यह है कि इस जगत् में दृश्य-ससार से परे कोई 'पारलौकिक-शक्ति' (Supernatural power) है, जो हम से महान् है, शक्तिशाली है, जिसके सामने हम सिर्फ सिर झुका कर उसकी आराधना कर सकते हैं और इसी आराधना से उसका आशीष प्राप्त कर सकते हैं। इस दृष्टि को धार्मिक-दृष्टि कहा जा सकता है। दूसरी दृष्टि यह है कि दृश्य-ससार से परे 'पारलौकिक-शक्ति' तो है, परन्तु इसके बजाय कि वह हम पर शासन करे, हम मत्र-तत्र से उसे अपने अधीन कर सकते हैं, और उसके सामने सिर झुकाने के बजाय हम उसे काबू कर सकते हैं, सिर्फ उस पर आधिपत्य जमाने का रास्ता पता लगना चाहिए। इस दृष्टि को जादू-टोने की या तान्त्रिक-दृष्टि कहा जा सकता है। तीसरी दृष्टि यह है कि ससार जैसा दीखता है, यह कार्य-कारण के नियम से चल रहा है, इसके पीछे कोई 'पारलौकिक-शक्ति' नहीं काम कर रही, यह ससार, लौकिक-पारलौकिक जो-कुछ दीखता है, वही-कुछ है, और इस पर नियन्त्रण पाने के लिए विश्व के सचालक नियमो का ज्ञान लेना काफी है, फिर इन नियमों के आधार पर हम ससार पर आधिपत्य जमा सकते हैं। इस दृष्टि को वैज्ञानिक-दृष्टि कहा जा सकता है। धर्म, जादू तथा विज्ञान—इन तीन दृष्टियों से मानव-समाज विश्व की समस्याओ को हल करता आया है, जिनमें से वर्तमान-युग में विज्ञान से तथा आदिकालीन-समाज में धर्म तथा जादू-टोने से मनुष्य विश्व की समस्याओं को हल करता रहा है। हम इस अध्याय में पहले धर्म तथा फिर जादू-टोने पर विचार करेंगे क्योंकि आदिकालीन मानव का विश्व की समस्या को हल करने का तरीका इन्हीं दोनो में से एक था, विज्ञान का तरीका नहीं था।

१ धर्म की परिभाषा

धर्म क्या है? यह जो प्राकृतिक-ससार हमें अपनी इन्द्रियो से अनुभव होता है, हम किसी चीज को देखते हैं, किसी को छते हैं, किसी को चखते और किसी को सूँघते हैं—इस प्राकृतिक तथा इन्द्रिय-ग्राह्य ससार के अतिरिक्त कोई शक्ति है जो इसे चलाती ह, इस शक्ति की सत्ता का अनुभव कर के उसके साथ मनुष्य का किसी भी प्रकार से अपना सबध स्थापित करना ही तो धर्म है। इस

सम्बन्ध-स्थापन के लिए 'विधि-विधान' (Ritual) का आविष्कार किया जाता है। संसार से परे इस शक्ति की सत्ता को मानना 'पारलौकिक-शक्ति' का मानना है। इस 'पारलौकिक-शक्ति' की सत्ता को मानना तथा इस शक्ति के साथ 'विधि-विधान' द्वारा सम्बन्ध स्थापित करना 'धर्म' के आधारभूत तत्व कहे जा सकते हैं। इस दृष्टि से भिन्न-भिन्न लेखकों ने धर्म की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं, जिनमें से कुछ हम नीचे दे रहे हैं:—

[क] मैरेट की व्याख्या—"आदिकालीन-मानव की दार्शनिक कल्पनाओं का परिणाम धर्म है।"

[ख] टायलर की व्याख्या—"धर्म आध्यात्मिक सत्ताओं में विश्वास का नाम है। ये दैवीय तथा राक्षसीय—दोनों प्रकार की हो सकती हैं।"

[ग] मैलिनोवस्की की व्याख्या—"धर्म के अन्तर्गत मनुष्य का वह सारा व्यवहार आ जाता है जिससे वह अपने दैनिक-जीवन की अनिश्चितता को दूर कर देना चाहता है और अनपेक्षित तथा अज्ञात से मनुष्य को जो भय बना रहता है उसे पार कर लेता है। धर्म जब पहले-पहल उत्पन्न हुआ तब यह मनुष्य की आशाओं तथा आकांक्षाओं का परिणाम न होकर उसे जो सदा भय लगा रहता था, उसका परिणाम था।"

२. धर्म की उत्पत्ति
(Origin of Religion)

उक्त परिभाषाओं के अनुसार 'धर्म' के लिए संसार से परे की 'आध्यात्मिक-शक्ति' में विश्वास होना आवश्यक है। इस 'पारलौकिक-शक्ति' को मानने का विचार सहज में उत्पन्न नहीं हो जाता। मनुष्य को भूख-प्यास लगती है, यह स्वाभाविक है, और इस स्वाभाविक-आकांक्षा को तृप्त करने के लिए वह भिन्न-भिन्न मार्ग ग्रहण करता है। ये मार्ग ही 'आर्थिक-व्यवस्था' को उत्पन्न कर देते हैं। मनुष्य को सुरक्षा की जरूरत है, वह इकला अपनी रक्षा नहीं कर सकता, एक-दूसरे का सहयोग प्राप्त करता है। सुरक्षा की स्वाभाविक-आकांक्षा को पूरा करने के लिए वह भिन्न-भिन्न सामाजिक-संगठन बनाता है। ये संगठन ही 'राजनैतिक-व्यवस्था' को उत्पन्न करते हैं। मनुष्य यौन-सुख चाहता है, पुरुष को स्त्री की

[क] "Religion is the result of intellectual speculation of the primitive man"—*Marret*

[ख] "Religion is the belief in spiritual beings and fiends" —*Tylor*

[ग] "Religion includes all those patterns of behavior whereby men strive to reduce the uncertainties of daily living and to compensate the crises which result from the unexpected and unpredictable Religion first was not related to the hopes and aspirations of man, it was related to fear"—*Malinowski*

और स्त्री को पुरुष की चाह होती है, और इस स्वाभाविक-आकाक्षा को क्रिया म परिणत करने के लिए 'परिवार' की सस्था को जन्म दिया जाता है। ये सब सगठ स्वाभाविक है, मनुष्य की आकाक्षा के परिणाम है, परन्तु मनुष्य के भीतर ऐस कोई आकाक्षा नहीं दीखती जिससे वह 'पारलौकिक-शक्ति' की सत्ता में विश्वास क अन्य सगठनो की तरह 'धर्म' को उत्पन्न कर दे। इसीलिए 'धर्म' की उत्पत्ति वे सबध में विद्वानो के भिन्न-भिन्न मत है। कुछ मत हम यहां दे रहे है —

(क) हर्बर्ट स्पेंसर का पूर्वजो की पूजा का सिद्धान्त (Theory o ancestor-worship of Herbert Spencer)—हर्बर्ट स्पेंसर का कहन है कि धर्म की उत्पत्ति का आधारभूत तत्व पूर्वजो की पूजा का भाव है। प्रत्येव परिवार के लोग अपने आदि-पुरखाओ को सम्मान की दृष्टि से देखते है। इ पुरखाओं को वे पूजने लगते हैं। इनकी पूजा करते-करते कालान्तर में ये पुरख ही परमेश्वर वन कर पूजे जाने लगते है, और इन्हीं की पूजा में विधि-विधा उत्पन्न हो जाते हैं।

(ख) टायलर का जीववादी सिद्धान्त (Tylor's theory of animism or belief in spirits)—टायलर का कहना है कि स्वप्न के समय मनुष्य को अनुभव होता है कि वह शरीर से वाहर चला गया। स्वप्न आदि अनुभवो के आधार पर आदि-मानव ने यह कल्पना की होगी कि शरीर अल है, और आत्मा अलग है। जैसे मेरा शरीर और मेरा आत्मा अलग-अलग हैं इसी प्रकार दूसरो के शरीर और दूसरों के आत्मा भी अलग-अलग होने चाहिएं[1]। जो लोग मर जाते है, उनका आत्मा जड-जगत् की वस्तुओ में जाकर निवास करता है। जव आत्मा की शरीर से अलग सत्ता का विचार आदि-मानव ने पकड लिया, तो धर्म का विचार तो अपने-आप पैदा हो गया। धर्म की उत्पत्ति आत्मा के शरीर से अलग मानने से होती है। यह आत्मा जव जड वस्तुओ में जा वैठता है, तव इन जड वस्तुओ की पूजा करना भी स्वाभाविक है। असल में, जड वस्तु की पूजा नहीं की जाती, जड में वैठे आत्मा की पूजा की जाती है। जड में जाकर वैठने वाला यह आत्मा हमारा कोई पूर्वज ही होता है। एक तरह से जीववाद पूर्वज-पूजा का ही दूसरा रूप है। इन आत्माओं की पूजा से धर्म की उत्पत्ति होती है। ये आत्मा अनेक हैं—इससे 'वहु-देवतावाद' चलता है, और जव इनमें से किसी एक की पूजा चल पडती है, तव 'वहु-देवता-वाद' से 'एक-देवता-वाद' विकसित हो जाता है।

(ग) मैरेट का 'जीवित-सत्ता-वाद' या कोर्डरिंगटन द्वारा प्रतिपादित मैलेनेशियनो का 'मैना' का सिद्धान्त या 'पारलौकिकवाद' (Theory of animat-

---

१ "Animism is a belief in individual spiritual beings, found among all peoples in primitive economies"

—*Jacobs and Stern*

ism[२] of Marret or Mana of Melanesians described by Codrington or Supernaturalism)—टायलर का कहना तो यह कि धर्म की उत्पत्ति आत्मा की उत्पत्ति के बाद हुई, परन्तु मैरेट का कहना है कि आदिवासियो में जड तथा चेतन पदार्थों को जीवित-सत्ता-युक्त माना जाता है। एक ऐसी सत्ता है जो भौतिक नहीं है, 'अभौतिक' (Non-material) है, व्यक्तिरूप भी नहीं है, 'अवैयक्तिक' (Impersonal) है। ईश्वर का विचार तो एक व्यक्ति-रूप विचार है, परन्तु आदिवासियो के विचार में इस पारलौकिक-सत्ता का रूप 'अपौरुषेय' (Non-individualized) है। इस 'अभौतिक-सत्ता' को वे 'पारलौकिक' अर्थात् 'दैवीय' (Spiritual) मानते है, 'सर्व-व्यापक' (All-pervading) मानते है। टायलर का 'जीववाद' (Animism) तो प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग आत्मा मानता है, मैरेट का 'जीवित-सत्ता-वाद' (Animatism) एक ही अध्यात्म-सत्ता को सर्व-व्यापक मानता है। मैरट का कहना है कि आदिवासियों में सर्वत्र यह 'जीवित-सत्ता-वाद' पाया जाता है। सर्वत्र 'जीवित-सत्ता' को मानना ही धर्म की उत्पत्ति का स्रोत है।

कौर्डरिगटन ने पहले-पहल पता लगाया कि दक्षिण-तटवर्ती भिन्न-भिन्न जातियो में दैवीय-शक्ति का विचार धार्मिक-विचार के रूप में एक विशेष स्थान रखता है। इस शक्ति को वे जन-जातियां 'अवैयक्तिक-सत्ता' (Impersonal) मानती है। मैलिनेशिया की जन-जातियो में इस पारलौकिक-सत्ता को 'मैना' (Mana) कहा जाता है। 'मैना' का विचार सिर्फ मैलिनेशियावासी जन-जातियो में ही नहीं पाया जाता। अमरीकन-इडियनो में भी इसी आशय के तीन शब्द पाये जाते ह—'मनीटाउ' (Manitou), 'ओरेंडा' (Orenda) तथा 'वाकन' (Wakan)। इन तीनो का अर्थ भी अवैयक्तिक, पारलौकिक सत्ता से है। इनका अर्थ 'अलौकिक-व्यक्ति' (Supernatural person) या 'परमात्मा' (God)—यह नहीं है। इनका अर्थ अपौरुषेय, अलौकिक, आध्यात्मिक सत्ता से है। मैरेट का 'जीवित-सत्ता-वाद' तथा कौर्डरिगटन का 'मैना'—इन दोनो का एक ही अर्थ है। इन दोनो का अर्थ 'अलौकिक-शक्तियों' में विश्वास है, अत. इन दोनो को 'पारलौकिकवाद' (Supernaturalism) भी कहा जा सकता है। मैरेट तथा कौर्डरिगटन का कथन है कि आदिवासियो का यही विचार धर्म का मूल-स्रोत है।

(घ) दुरखीम का 'समाजशास्त्रीय' सिद्धान्त (Durkheim's theory of Sociological origin of religion)—फ्रेंच समाजशास्त्री दुरखीम का कहना है कि आदिमानव दो प्रकार का जीवन व्यतीत करता था। एक तो

---

२ Animatism is a belief in the existence of non-material super-natural essence, force or power which resides in matter, also termed *mana*"—*Jacobs and Stern*

अपना वैयक्तिक, एकान्त का जीवन, दूसरा सामूहिक-जीवन। वैयक्तिक-जीवन में उसे कोई रस नहीं मिलता था, वह एक-रस, बिना उतराव-चढ़ाव का जीवन था। परन्तु जब वह सामूहिक-जीवन के किसी कृत्य में सम्मिलित होता था, तो उसे रस आता था, उसमें उत्साह भर जाता था। समूह में एक का उत्साह दूसरे में भर ही जाता है, समूह में सब का सम्मिलित उत्साह होता है। समूह में सम्मिलित होने के उसे अनेक अवसर मिलते थे। 'सामूहिक विधि-विधान' (Group rituals) तो धर्म की उत्पत्ति से पहले भी होते थे। अपने 'गोत्र-चिह्न' (Totem) के लोगो के एकत्रित होने के अनेक अवसर आते थे जिनमें सामूहिक आमोद-प्रमोद, मिलना-जुलना, विधि-विधान होता था। सामूहिक अवसरों पर आदि-मानव अपने में जो उत्तेजना पाता था, वह वैयक्तिक-जीवन की नीरसता को छिन्न-भिन्न कर देती थी। यही कारण था कि आदि-मानव सामूहिक विधि-विधान को जीवन में अधिक स्थान देने लगा, और इसी सामूहिक-जीवन से प्राप्त होने वाली उत्तेजना ने धर्म को जन्म दिया। आदिवासियों का धर्म भी तो सामूहिक-जीवन से प्राप्त होने वाली उत्तेजना के सिवाय कुछ नहीं, उनके जीवन में धर्म का रूप वैयक्तिक न होकर सामूहिक है। धर्म की उत्पत्ति के सबध में दुरखीम का यह 'समाज-शास्त्रीय'-सिद्धान्त है।

(ड) हाउर का रहस्यवाद (Mysticism of Hauer)—हाउर का कहना है कि किसी भी मानव-समुदाय में एक ऐसा वर्ग अवश्य होता है, जिसे रहस्यमय, अलौकिक अनुभव हुआ करते हैं, ऐसे अनुभव जिनका साधारण तौर पर कोई समाधान नहीं दिया जा सकता। किसी को कान में आवाजें सुनाई देती हैं, किसी को दिन में कई शक्लें दिखाई देती हैं। इन रहस्यमय अनुभवो को दूसरे भी प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और इसी से धर्म तथा विधि-विधान उत्पन्न हो जाते हैं।

(च) भय से धर्म की उत्पत्ति का सिद्धान्त (Fear as origin of religion)—कई लोगो का कहना है कि आदि-मानव के हृदय में हर समय जो भय बना रहता था, कहीं इधर से आफत न आ जाये, उधर कहीं से न आ जाये, इसके निवारण के साधन के तौर पर धर्म की उत्पत्ति हुई। हम जिसकी पूजा करते हैं, वह हमारी भयानक सकटों से रक्षा करता है—यह भाव धर्म की भावना को जन्म दे देता है, इसी से पूजा-पाठ, विधि-विधान चल पड़ते हैं।

(छ) वैराग्य से धर्म की उत्पत्ति का सिद्धान्त (Dissatisfaction as origin of religion)—कुछ लोगों का कहना है कि मनुष्य जब ससार से दुःखी हो जाता है, तब इस पर भरोसा छोड कर और किसी चीज का भरोसा ढूँढने लगता है। इस ढूँढ में एक नहीं, कई लोग लगे होते हैं। उन सब को जिस बात में शान्ति मिलती है, वही उनका शान्ति का स्रोत बन जाता है। ससार के दुःख से बचने तथा वैराग्य की प्रक्रिया से धर्म की उत्पत्ति हुई है।

३ धर्म-संबंधी मुख्य-मुख्य वाद
(Principal theories of Religion)

धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमने अनेक सिद्धान्तों की चर्चा की। ये सब एक-दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं, परन्तु मानव-शास्त्र का लक्ष्य धर्म की उत्पत्ति कैसे हुई—इस बात को ढूंढना इतना नहीं है जितना आदि-काल से धर्म में मुख्य-मुख्य विचार क्या-क्या रहे हैं—यह पता लगाना है। आदिकालीन समाज में धर्म की उत्पत्ति के संबंध के उक्त सभी विचार कुछ-कुछ अंशों में ठीक हो सकते हैं, परन्तु हमें तो यह देखना है कि आदिकालीन-मानव के धर्म-संबंधी विचार क्या थे। इस प्रकरण में हम आदि-काल के धर्म-संबंधी मुख्य-मुख्य विचारों की चर्चा करेंगे :—

(क) 'जीववाद' का विकासवादी सिद्धान्त (Evolutionary theory of Animism)—हमने अभी धर्म की उत्पत्ति के संबंध में 'जीववाद' का वर्णन किया था। अब हम धर्म की उत्पत्ति के सिलसिले में इसका वर्णन न कर, आदि-कालीन-मानव के धर्म-संबंधी विचारों में से एक विचार के तौर पर इसका वर्णन कर रहे हैं। पहले कई लोगों का विचार था कि आदिकालीन जन-जातियों में धर्म का विचार नहीं पाया जाता, परन्तु लगभग ८० वर्ष पहले विकासवादी टायलर (Tylor) ने इस मत का खंडन किया। उसका कहना है कि आदि-वासियों में धर्म की उत्पत्ति का आधार 'आत्मा' अर्थात् 'जीव' (Animae) है, और इसी कारण टायलर के सिद्धान्त को 'जीववाद' (Animism) कहा जाता है। आदिकालीन-मानव को 'आत्मा'—'जीव'—का विचार कैसे सूझा ? टायलर का कहना है कि मनुष्य सोते हुए भी अनेक काम करता है। जब वह सो रहा होता है, तब उसका शरीर तो एक जगह पड़ा होता है, परन्तु वह वहाँ पड़ा होने पर भी शिकार को जाता है, जानवर को मारता है, जागते हुए जो-कुछ करता था सभी-कुछ करता है। इससे आदिकालीन-मानव क्या परिणाम निकालता ? वह इन स्वप्नों से इसके सिवाय क्या परिणाम निकाल सकता था कि शरीर से भिन्न शरीर में कोई और भी सत्ता विद्यमान है, जो स्वप्न में शरीर से बाहर चली जाती है। इस बात की उसे पुष्टि एक और बात से मिली होगी। स्वप्न में वह मरे हुए अपने पूर्वजों से, माता-पिता, भाई, जान-पहचान वालों से मिलता था, उनसे बात करता था। अगर वे शरीर के साथ खत्म हो गये, तो स्वप्न में उनसे भेंट कैसे हो जाती है ? अवश्य वे किसी-न-किसी प्रकार बिना इस शरीर के मौजूद होंगे। कभी-कभी जागृत अवस्था में भी उसे अपने से बिछुड़े सगे-संबंधियों का भान होता था। मेरे शरीर से अलग मैं कुछ हूँ—इस बात का भान उसे पद-पद पर होता था। तालाब के पानी में वह अपना प्रतिबिंब देखता था, जंगलों में जब जोर से चिल्लाता था तब उसकी आवाज की प्रतिध्वनि उसे सुनाई देती थी, अपनी छाया को वह अपने से जुदा नहीं कर सकता था, वह सदा उसके साथ चिपटी रहती थी। आदि-काल के मानव के ये सब अनुभव उसे सोच-

विचार में डाल देते थे। वह सोचने लगता था कि मेरे शरीर के अलावा भी मेरे साथ कोई अलग सत्ता है। इन सब अनुभवों के साथ उसने यह भी देखा कि मनुष्य मर भी जाता है। मरने पर क्या होता है? यह वही मनुष्य था जो पहले बोलता-चालता था, अब भी इसकी शक्ल-सूरत वैसी-की-वैसी है, परन्तु अब यह हिलता-जुलता क्यों नहीं, बोलता-चालता क्यो नहीं? अवश्य इसमें कोई अदृश्य वस्तु रही होगी जिसके कारण यह हिलता-जुलता, बोलता-चालता था, वह वस्तु निकल गई होगी, तभी तो यह वैसे-का-वैसा होता हुआ भी कुछ नहीं करता। इस सब विचार-विमर्श से आदिकालीन-मानव इसी परिणाम पर पहुँचा होगा कि शरीर से अतिरिक्त कोई अदृश्य सत्ता मौजूद रहती है, जिसके निकल जाने पर शरीर मृत हो जाता है। यह अदृश्य सत्ता ही आत्मा है।

परन्तु टायलर का कहना था कि आदिकालीन-मानव की विचार-परपरा यहीं तक समाप्त नहीं हो गई होगी। उसने यह भी सोचना शुरू किया होगा कि निद्रा के समय भिन्न-भिन्न स्वप्न आने का कारण क्या है? वह इस नतीजे पर पहुँचा होगा कि सोते समय आत्मा के शरीर में से निकल कर भिन्न-भिन्न अनुभव प्राप्त करना ही स्वप्नो का कारण हो सकता है। ये स्वप्न क्या हं, आत्मा के शरीर में से निकल कर इधर-उधर विचरण करने के ये अनुभव हे। जव हम सोते हें, तव आत्मा शरीर में से बाहर चला जाता है और स्वतत्र घूमा करता है। इसी कारण कई लोग सोते को एकदम जगाना ठीक नहीं समझते। एकदम जगाने से यह सभव हो सकता है कि घूमता-फिरता आत्मा शरीर में फौरन वापस न पहुँच सके। परन्तु फिर यह शका होती है कि अगर सोते समय आत्मा शरीर में से निकल कर वाहर घूमने-फिरने चला जाता है, तो शरीर जिन्दा कैसे रहता है? टायलर का कहना है कि इस शका का समाधान करने के लिए आदिवासियो में दो आत्मा माने जाते हें—एक 'स्वतत्र-आत्मा' (Free-soul) जो शरीर छोड कर जहाँ-कहीं आ-जा सकता है, दूसरा 'शारीर-आत्मा' (Body-soul) जो शरीर को छोड कर नहीं जा सकता, जिसके कारण शरीर जीवित कहलाता है, अगर वह शरीर को छोड कर चला जाय, तो शरीर मृत हो जाता है। क्या शरीर में से 'स्वतत्र-आत्मा' (Free-soul) गया है, या 'शारीर-आत्मा' (Body-soul) भी निकल गया है—यह आदिवासियो के लिए एक समस्या रही होगी क्योकि निश्चेष्ट तो मनुष्य निद्रा के समय भी हो जाता है। मृत-व्यक्ति कहीं निद्रा की अवस्था में हो न हो—इस सभावना को दूर करने के लिए कई आदिवासियों में दो मृतक-सस्कार पाये जाते हें। एक मृतक-सस्कार हरा तथा दूसरा सूखा कहलाता है। हरा मृतक-सस्कार मरते साथ ही किया जाता है, परन्तु जब शरीर सूख जाता है, उसमें आत्मा के लौट आने की कोई सभावना नहीं रहती, तव सूखा मृतक-सस्कार किया जाता है। भारत की टोडा तथा हो जन-जातियो में इसी प्रकार के दो मृतक सस्कार किये जाते हें। हो जन-जाति के लोग इस दूसरे शुष्क-सस्कार को को 'जगतोपा' कहते हें। उनके यहाँ ससार की अवैयक्तिक-सत्ता को 'वोंग'

का नाम दिया जाता है। मृत्यु के बाद 'आत्मा' का इस 'बोग' से सम्मिलन हो जाता है। शुष्क-मृतक-संस्कार करते हुए ढोल बजाया जाता है, उसमें से टोपम-जगटोपम की आवाज़ निकाली जाती है। भारत की कोटा जन-जाति में हरे-संस्कार को 'पसदाउ' कहते हैं। इसे हरा इसलिए कहा गया है कि अभी शरीर हरा होता है, सूखा नहीं होता। कोटा लोग शुष्क-मृतक-संस्कार को 'वरलदाउ' कहते हैं। शुष्क-संस्कार होने के बाद आत्मा तथा शरीर का संबंध सदा के लिए टूट गया मान लिया जाता है। 'आत्मा' को ये लोग अमर मानते हैं। आत्मा को अमर मानने का कारण यह है कि अनेक बार अत्यन्त प्राचीन आत्माओं से स्वप्न में भेंट होती है। अगर वे नष्ट हो जाती है, तो यह भेंट कैसे हो सकती है ?

टायलर का कहना है कि आदिकालीन-धर्म का आधार इन 'आत्म-सत्ताओं' (Spiritual beings) के प्रति आतंक तथा श्रद्धा-भक्ति थी। ये आत्माएँ शरीर छोड़ने के बाद हमारे आधीन तो होती नहीं, स्वतंत्र विचरण करती है, हमें लाभ भी पहुँचा सकती है, हानि भी पहुँचा सकती है। इनकी तृप्ति, इनकी आराधना, इनका सन्तोष करना इसलिए आवश्यक है ताकि ये हमें किसी प्रकार की हानि न पहुँचायें। क्योंकि ये आत्माएँ हमारे पूर्वजों की होती थीं, इसलिए इन्हीं की पूजा पहले-पहल चली होगी, और आदिकालीन-धर्म का रूप 'पूर्वज-पूजा' (Ancestor-worship) का रूप रहा होगा और आदिकालीन-मन्दिर का रूप 'कब्र-पूजा' (Tomb-worship) का रूप रहा होगा। टायलर का कहना है कि धीरे-धीरे आत्म-पूजा से इन आत्माओं के सम्बन्ध में यह विचार उत्पन्न हो गया होगा कि ये ही संसार का शासन करती है। ये क्योंकि अनेक थीं, इसलिए अनेक जीवों को संसार का शासक मानने के कारण पहले 'जीववाद' (Animism) और फिर 'जीववाद' से 'बहु-देव-वाद' (Polytheism) उत्पन्न हुआ होगा, और 'बहु-देव-वाद' से आगे चलकर 'एक-देव-वाद' (Monotheism) का विकास हुआ होगा। टायलर की विचार-धारा विकासवादी विचार-धारा है और उसका दृष्टि-कोण विकासवादी दृष्टि-कोण है।

इन आत्माओं के साथ आदिकालीन-मानव ठीक ऐसे वर्ताव करता था जैसे किसी व्यक्ति के साथ किया जाता है। कई लोगों का कहना है कि वह इनके प्रति भयभीत रहता था, इनका आतंक मानता था और भय तथा आतंक की भावना में मनुष्य जैसा व्यवहार कर सकता है वैसा व्यवहार करता था। परन्तु यह बात नहीं है। वह इनसे भयभीत तो रहता ही था, परन्तु समय-समय पर इन आत्माओं की मिन्नत-समाजत, इनकी खुशामद, और मौका हुआ तो इन पर अपना क्रोध भी प्रदर्शित करता था। आख़िर, ये आत्माएँ वही तो थीं जो किसी समय इस मानव-देह में हमारे भीतर मौजूद थीं। बिस्मार्क द्वीप-समूहों में मानुस नाम की जन-जाति रहती है। ये लोग अपने किसी पूर्वज की खोपड़ी बहुत संभाल कर अपने घर में रखते हैं और आशा करते हैं कि यह पूर्वज उनकी समृद्धि में उनकी सहायता करेगा। अगर वे अपने कार्यों में समृद्धि होते नहीं देखते तो किसी

पुरोहित-पण्डित से पूछ कर उस पूर्वज की तृप्ति करने का प्रयत्न करते हैं, और अगर फिर भी उनका अभीष्ट सिद्ध नहीं होता तो इस पूर्वज को क्रोध में फटकारते हैं और कहते हैं कि अगर सीधे रास्ते पर न आयेगा तो याद रखना गली में फेंक दूंगा, वहाँ धूप-वर्षा में तड़पोगे, फिर अक्ल दुरुस्त हो जायगी। लंगलगा जन-जाति के लोग सामूहिक-नृत्य करते हुए अपने पूर्वजों की खोपड़ियों को सजा कर सामने रख लेते हैं और आशा करते हैं कि वे उनके नृत्य का आनन्द उठायेंगी। अपने यहाँ हिन्दुओं में पितरों की श्राद्ध द्वारा तृप्ति करने का प्रयत्न किया जाता है।

विकासवादी लोग यह मानते हैं कि विकास की जो प्रक्रिया किसी एक जगह चली, वही सब जगह चलती है, इसलिए धर्म के उत्पन्न होने तथा उसके विकास की वही दिशा है जो टायलर ने प्रतिपादित की है। परन्तु मानव-शास्त्री इस बात को नहीं मानते। घर में कुर्सी पर बैठे-बैठे सिद्धान्त बना डालना एक बात है, उस सिद्धान्त को समाज में परखना दूसरी बात है। जैसे विज्ञान के सिद्धान्त प्रयोगशाला में परखे जाते हैं, वहाँ ठीक उतरें तभी उन्हें सत्य कहा जाता है, वैसे मनुष्य के संबंध में जो सिद्धान्त बनाये जाते हैं, उनकी प्रयोगशाला वर्तमान जीवित जन-जातियाँ हैं। प्रश्न यह है कि क्या टायलर का धर्म-संबंधी सिद्धान्त जन-जातियों की प्रयोगशाला में ठीक उतरता है? क्या उनमें धर्म के विचार का वैसा ही विकास हुआ है जैसा विकासवादी विचार-धारा के अनुसार बतलाया जाता है? इस कसौटी पर परखने से यह बात ठीक नहीं जँचती। कई जातियों में 'बहु-देव-वाद' पाया जाता है, तो कई में 'एक-देव-वाद' पाया जाता है, कई में 'जीववाद' पाया जाता है, तो कई में 'चेतन-सत्ता-वाद' पाया जाता है। जन-जातियों में धर्म का विकास किसी एक विचार को लेकर हुआ नहीं दीखता। एक जगह का विचार दूसरी जगह चला गया, एक जगह एक विचार पैदा हुआ तो दूसरी जगह कोई और विचार उत्पन्न हो गया। मनुष्य की सोचने की शक्ति भिन्न-भिन्न है, इसलिए मनुष्य के विचार सदा विकासवादी दिशा में चलते रहे हों—यह नहीं जान पड़ता। इसके अतिरिक्त टायलर ने जो लम्बी-चौड़ी विचार-परंपरा बतलाई है, ठीक वैसे ही आदिकालीन-मानव ने सोचा—यह भी एक क्लिष्ट-कल्पना है। आदि-काल का मानव इतना लम्बा-चौड़ा नहीं सोचता था जितना टायलर ने सोचा। वह खाने-पीने की चिंता तथा व्यवस्था में इतना लगा रहता था कि उसे टायलर जैसा गम्भीर विचार करने का समय ही कहाँ मिलता होगा। इसका यह अभिप्राय नहीं कि टायलर के विकासवादी सिद्धान्त को विद्वान् नहीं मानते। मानते हैं, परन्तु इसे धर्म के संबंध में एकमात्र विचारधारा नहीं मानते।

(ख) 'जीवित-सत्ता-वाद' या 'मैनावाद' (Animatism or Manaism)—'जीवित-सत्ता-वाद' का जिक्र भी हम इसी अध्याय में धर्म की उत्पत्ति पर लिखते हुए कर आये हैं। 'जीवित-सत्ता-वाद' के तीन मुख्य समर्थक हैं—मैरट (Marret), कौडरिंगटन (Codrington) तथा मैक्समूलर (Max

Muller)। इन तीनों की बात एक ही है, परन्तु कहने का ढंग अलग-अलग है। हम इन तीनों के विचारों को संक्षेप में लिखेंगे।

(1) मैरेट का 'जीवित-सत्ता-वाद' (Marret's Animatism)—'जीववाद' (Animism) के अनुसार तो हर प्राणी में पृथक्-पृथक् आत्मा है, परन्तु मैरेट का कहना है कि आदिवासियों में इस विचार से भी पहले का विचार 'जीवित-सत्ता' का विचार है। मैरेट के कथनानुसार आदिकालीन लोग जड़-चेतन सब पदार्थों में एक अनिर्वचनीय, अवैयक्तिक, अप्राकृतिक, अलौकिक तथा दैवीय जीवित सत्ता में विश्वास करते हैं। संसार में जो-कुछ भी है, उसमें यह अलौकिक सत्ता वास करती है। यह सत्ता इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है, परन्तु अपने-आप को भौतिक-शक्ति के रूप में प्रकट करती है। संसार की हर वस्तु में यह सत्ता विद्यमान है, किसी में कम और किसी में ज्यादा हो सकती है। इसी सत्ता को मैलेनेशिया के आदिवासी लोग 'मैना' कहते हैं।

(ii) कोडरिंगटन का 'मैनावाद' तथा डा० मजूमदार का 'बोंगवाद' (Codrington's Manaism and Majumdar's Bongaism)—'जीवित-सत्ता-वाद' (Animatism) तथा 'मैनावाद' (Manaism) का एक ही अर्थ है। 'मैना' के सिद्धान्त की तरफ कोडरिंगटन ने अपनी पुस्तक 'मैलेनेशियन्स' द्वारा विद्वानों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया। 'मैना' मैलेनेशियन जन-जातीय भाषा का शब्द है जिसका अर्थ उसी अनिर्वचनीय, अवैयक्तिक, अप्राकृतिक, अलौकिक दैवीय-सत्ता से है जिसका हम अभी 'जीवित-सत्ता-वाद' के नाम से वर्णन कर आये हैं। जैसे मैलेनेशिया के लोग इस सत्ता के लिये 'मैना'-शब्द का प्रयोग करते हैं, वैसे अमरीकन-इंडियन इसके लिए 'मनीतऊ' (Manitou), 'ओरेंडा' (Orenda) तथा 'वाकन' (Wakan) शब्दों का प्रयोग करते हैं। ये सब शब्द 'अलौकिक-शक्ति' (Supernatural power) के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। इनका अर्थ 'अलौकिक-व्यक्ति' न होकर 'अलौकिक-शक्ति' है। इस दृष्टि से अपने यहां जो लोग ईश्वर को व्यक्ति विशेष न मान कर शक्ति रूप मानते हैं उनके विचार से आदिवासियों का 'मैना' का विचार बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। उक्त शब्दों का प्रयोग जड़ तथा चेतन दोनों के लिए किया जाता है—'आश्चर्यजनक', 'विचित्र' आदि अर्थों में भी इनका प्रयोग होता है। हर्स्कोविट्स (Herskovits) का कहना है कि आजकल 'लक'—'भाग्य'—'दैव' आदि शब्दों का हम लोग इन्हीं अर्थों में प्रयोग करते हैं। 'लक' या 'भाग्य' क्या है? 'भाग्य' ही तो सब का शासन करता है, 'भाग्य' के ही सब आधीन हैं, इसी प्रकार 'मैना' ही शासन करता है, 'मैना' के ही सब आधीन हैं। जैसे पत्थर में कठोरता है, घास में हरियावल है, वैसे संसार की हर वस्तु में 'मैना' है। आदि-वासियों में तथा वर्तमान अपढ़ लोगों में भी तावीज़ काम में लाये जाते हैं। किसी तावीज़ की पशु की-सी आकृति होती है। इस तावीज़ को अगर कमर में बाँध कर ले जांय, तो शिकार में सफलता मिलती है। अगर तावीज़ की आकृति किसी

फल की-सी है, तो उसे वृक्ष की जड में दवा देने से वृक्ष अपनी मौसम में फलो से लद जाता है। तावीज की यह शक्ति 'मैना' की ही शक्ति है। पुरोहित में आदि-वासी किस बात की शक्ति मानते हैं? उसकी तीव्र स्मृति-शक्ति, विशाल ज्ञान, बुद्धि की प्रखरता, उसकी 'मैना-शक्ति' के कारण ही है। विधि-विधान के विषय में पुरोहित की जितनी निपुणता होती थी, उतनी ही उसकी 'मैना-शक्ति' भी उच्च-कोटि की समझी जाती थी। मैनावादियो का कहना है कि प्रकृति में चेतन-सत्ता अर्थात् मैना की अनुभूति ने ही आदिवासियो में धर्म की भावना को जन्म दिया है।

डा० मजूमदार भारत की आदिवासी जातियों का अध्ययन करते हुए इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि जिस शक्ति को मैलेनेशियन लोग 'मैना' कहते हैं, उसे छोटा नागपुर की मुंडा तथा हो जन-जातियो में 'वोंग' कहा जाता है। 'बोंग' का इन जन-जातियो में वही अर्थ है, जो अर्थ 'मैना' का है। इस दृष्टि से डा० मजूमदार ने 'मैनावाद' (Manaism) की तरह 'बोंगवाद' (Bonga-ism) शब्द की रचना की है। 'वोंग' अलौकिक-शक्ति का सूचक शब्द है। मुंडा तथा हो जन-जातियों में अद्भुत शक्ति की हर-कोई चीज 'वोंग' कही जाती है। वे साइकिल और इजिन को भी 'वोंग' कहते हैं, अब तो हवाई जहाज के रूप में वहुत वडा 'वोंग' निकल आया है। मनुष्य मनुष्य में भेद इसी 'वोंग' के कारण है। कोई वडा है, कोई छोटा—यह सब 'वोंग' की महिमा है।

(iii) मैक्समूलर का प्रकृतिवाद (Max muller's Naturalism)—मैक्समूलर का प्रकृतिवाद भी 'जीवित-सत्ता-वाद' का ही एक रूप है। प्रकृति को देख कर आदि-काल के मानव के मन में भय, आतक, आश्चर्य होना स्वाभाविक था। इन मानसिक-भावनाओ के कारण वह प्रकृति से ऐसे डरने लगा जैसे किसी जानदार से डरता था, उनकी इस प्रकार भक्ति करने लगा जैसे किसी अपनी जाति के किसी महान् व्यक्ति की करता था। सूर्य, पृथिवी, चाँद, वायु आदि प्राणवान् हैं, प्रकृति की सब शक्तियो में वैसी ही प्राणवान् सत्ता है जैसी मनुष्य में है—यह विचार धर्म की भावना का मूल-प्रवर्तक है। मैक्समूलर का कहना है कि आदि-मानव प्राकृतिक-तत्वों को प्राणवान् समझता था, यह वात भाषा की रचना से भी पुष्ट होती है। वह कहता था—सूर्य उदय होता है, अस्त होता है, फूल खिलता है, वायु चलती है। हम भी उसी अपने पूर्वजो की आदिकालीन परपरा के पीछे चलते हुए इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग करते हैं। इन सब प्रयोगो की आधारभूत भावना प्राकृतिक-जगत् को जीवित, प्राणवान् तथा चेतन समझना है।

मैरेट तथा मैक्समूलर का यह कहना कि आदिकालीन मानव ने ऊहा-पोह करके 'जीवित' या 'चेतन-सत्ता' के विचार को जन्म दिया, उस मानव को एक दार्शनिक तथा तार्किक वना देना है। अगर वह आदिकालीन मानव ही था, तो वह इतना तर्क कैसे करने लगा? इसके अतिरिक्त मैक्समूलर का यह कहना कि भाषा इस वात को पुष्ट करती है कि आदिकालीन-मानव प्रकृति को प्राणवान् समझता था, युक्तियुक्त नहीं है। आलकारिक तौर पर भी इस तरह की भाषा का प्रयोग

कया जा सकता है, और सूर्य को प्राणवान् न समझते हुए भी सूर्य उदय होता है—स प्रकार की भाषा का प्रयोग हो सकता है।

(ग) जीववाद तथा जीवित-सत्ता-वाद में भेद (Distinction between animism and animatism)—'जीववाद' (Animism) का अर्थ आत्माओं में विश्वास। जीवित तथा मृत देह के भेद को देख कर 'आत्मा' विचार का उदय हुआ। ये आत्मा अनेक हैं, अप्राकृतिक हैं, अदृश्य हैं, इन्हें य से स्पर्श नहीं किया जा सकता। आत्मा पूर्वज, भूत, प्रेत, जिन, राक्षस, शाच किसी भी रूप में हो सकता है; वृक्ष, पशु, पक्षी, चट्टान किसी में भी रह कता है। टायलर का कहना है कि आत्माओं के सबंध में इस विचार से ही धर्म ा विचार उत्पन्न हुआ, परन्तु धर्म का, ईश्वर का, अनेक ईश्वर या एक ईश्वर ा विचार उत्पन्न होने से पहले अच्छे आत्माओ और बुरे आत्माओ में भेद का चार उत्पन्न हो गया था। जैसे मनुष्य अच्छे तथा बुरे होते हैं, वैसे उनके आत्मा ी अच्छे तथा बुरे हो सकते हैं। इन अच्छे तथा बुरे आत्माओ के विचार से ही गवान् तथा शैतान का विचार उत्पन्न हुआ। विकासवादियों के कथनानुसार र्म इसी 'जीववाद' से उत्पन्न हुआ।

'जीवित-सत्ता-वाद' (Animatism) का अर्थ आत्माओ में नहीं, परन्तु ष्टि में चेतन-सत्ता में विश्वास है। आत्मा वैयक्तिक होती है, जो आदिवासी सृष्टि चेतन-सत्ता मानते हैं, वे इसे अवैयक्तिक मानते हैं। आत्मा अनेक हैं, जीवित, र्यात् चेतन-सत्ता अनेक नहीं है, अनेक वस्तुओं में यह एक है। आत्मा तथा चेतन-ता दोनो अप्राकृतिक तथा अदृश्य हैं—इस बात में दोनों में समानता भी है। त्मा सर्व-व्यापक नहीं है, हर-एक वस्तु में अलग-अलग है; चेतन-सत्ता सर्व-ापक है, हर-एक वस्तु में अलग-अलग न होकर एक ही जीवित अर्थात् चेतन-ता है। मैरेट तथा कौडरिंगटन के कथनानुसार आदिवासियो का 'मैना' का चार 'जीवित-सत्ता-वाद' का ही विचार है। इन लोगो का कहना है कि 'जीवित-त्ता-वाद' का विचार पहले था, उसके बाद हर वस्तु में अलग-अलग आत्मा के चार, अर्थात् 'जीववाद' का जन्म हुआ। 'मैना' अर्थात् 'जीवित-सत्ता' के विषय में ब से बडी बात इसका अवैयक्तिक होना है। 'मैना'-शब्द विशेषण के तौर पर भी युक्त होता है—विचित्र, आश्चर्यजनक आदि के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग ता है। जैसे पत्थर में कठोरता, घास में हरियावल पाई जाती है, वैसे सृष्टि में ना पायी जाती है, शक्ति पायी जाती है। एस्किमो जन-जाति के लोग दीर्घ-ीवन प्राप्त करने के लिए अपने कपडों में आग में से पत्थर का टुकडा सी लेते हैं। नका विचार है कि इस पत्थर में इसके 'मैना' के कारण ही आग का असर नहीं ता, और इसे अपने साथ रखने से हमें भी पत्थर का-सा दीर्घ-जीवन प्राप्त होगा।

शुरू-शुरू में जब 'जीववाद' (Animism) तथा 'जीवित-सत्ता-वाद' Animatism) उत्पन्न होते हैं, तब ये धर्म का अंग नहीं होते। आगे चलकर नसे धर्म की भावना उत्पन्न हो जाती है। 'जीववाद' तथा 'जीवित-सत्ता-वाद' एक

ही काल में भी साथ-साथ रह सकते हैं, अलग-अलग भी रह सकते हैं। यह हो सकता है कि एक जन-जाति 'जीववाद' को मानती हो, 'जीवित-सत्ता-वाद' को न मानती हो, यह भी हो सकता है कि कोई जाति 'जीवित-सत्ता-वाद' को मानती हो, 'जीववाद' को न मानती हो, यह भी हो सकता है कि कोई जाति 'जीवित-सत्ता-वाद' तथा 'जीववाद' दोनो को मानती हो। इससे इन दोनो का भेद स्पष्ट है।

(घ) दुरखीम, मैलिनोवस्की तथा रेडक्लिफ-ब्राउन का समाजशास्त्रीय-सिद्धान्त (Sociological theory of Durkheim and others)—टायलर तथा मैरेट ने धर्म पर इसकी उत्पत्ति के दृष्टिकोण से विचार किया है। दुरखीम तथा उसी की तरह के अन्य समाजशास्त्रियो का कहना है कि धर्म उत्पन्न किसी भी तरह क्यो न हुआ हो, हमें इसकी उत्पत्ति के तरीके की बहस में न पड कर यह देखना है कि धर्म का समाज में क्या 'कार्य' (Function) है, यह क्या-कुछ करता है? धर्म पर इसके कार्य की दृष्टि से तीन समाजशास्त्रियों ने विचार किया है—दुरखीम, मैलिनोवस्की तथा रैडक्लिफ-ब्राउन। इनके विचार क्या हैं?

(1) दुरखीम का सामूहिक-चेतना की सर्व-शक्तिमत्ता का विचार (Durkheim's omnipotence of the group-mind)—दुरखीम का कहना है कि आदिकालीन-मानव उत्सवों, त्यौहारो तथा सामाजिक मेल-जोल के अवसरों पर जब इकट्ठे होते थे, तब वे समूह की अद्वितीय, अलौकिक शक्ति का अनुभव करते थे। समूह मिल कर अनेक ऐसे काम कर सकता था जो अलग-अलग व्यक्ति करने में असमर्थ थे। इस दृष्टि से धर्म क्या है? धर्म है समूह तथा समाज के भौतिक तथा नैतिक दृष्टि से व्यक्ति की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होने की स्वीकृति।

दुरखीम ने अपने समाजशास्त्रीय विवेचन में धर्म को दो भागों में बाँटा है—'विश्वास' (Beliefs) तथा 'विधि-विधान' (Rituals)। 'विश्वास' दो तरह के हो सकते हैं—'पवित्र-विश्वास' (Sacred beliefs) तथा 'दूषित-विश्वास' (Profane beliefs)। इनमें से 'पवित्र-विश्वास' से धर्म तथा 'दूषित-विश्वास' से जादू-टोने का विचार उत्पन्न होता है। ये विश्वास चाहे पवित्र हों, चाहे दूषित, ये दोनो धर्म के विचारात्मक पहलू हैं। इन विचारात्मक पहलुओं के साथ-साथ धर्म का क्रियात्मक पहलू भी होता है जिसे 'विधि-विधान' (Rituals) कहते हैं। इस प्रकार धर्म में विचार तथा क्रिया दोनो मिल जाती हैं। ये विचार तथा क्रिया मिलकर धर्म के रूप में समाज में अपूर्व-शक्ति का सचार कर देते हैं, ऐसी शक्ति का जो व्यक्ति में अलग-अलग तौर पर नहीं पायी जाती। इसी शक्ति से प्रभावित होकर धार्मिक लोग ऐसे महान् कार्य कर जाते हैं जिन्हें देख कर हमें आश्चर्य होने लगता है। धर्म के आवेश में लोग आग में जल गये हैं, तलवार के घाट उतर गये हैं, ईंटों की दीवारों में जीवित चिने गये हैं।

(ii) मैलिनोवस्की का परिष्कृतिवाद (Malinowski's cathartic theory of religion)—मैलिनोवस्की का कहना है कि आदिकालीन-

मानव जब शिकार खेलने को निकलता था, या मछली पकड़ने के लिए नौका समुद्र में डाल कर चलता था, तो उसे सदा इस बात का भय बना रहता था कि वह लौट कर आयेगा या नहीं। वह हर समय ख़तरे से घिरा रहता था। अगर मनुष्य को हर समय किसी-न-किसी प्रकार का खतरा बना रहे या वह किसी भी मानसिक उद्वेग के कारण तनाव की हालत में रहे, तो वह कोई काम नहीं कर सकता। धर्म का काम उस काल के मनुष्य के इस मानसिक-तनाव, इस उद्वेगात्मक-स्थिति को दूर करना, इसे परिष्कृत कर देना था, उसके मनमें से निकाल कर मन को हल्का कर देना था। मनुष्य जब भगवान् के भरोसे सब-कुछ छोड़ कर चलता है, तब वह समझ लेता है कि अब उसके रास्ते के सब कांटे दूर हो गये। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि मनुष्य का मन जब भय आदि मानसिक उद्वेगों से डांवाडोल होता है, उस समय धर्म मनुष्य तथा पारलौकिक-शक्ति में एक ऐसा संबंध स्थापित कर देता है जिससे उसके मन की अशान्ति दूर हो जाती है।

(iii) रैडक्लिफ-ब्राउन का सामाजिक अति-जीवन का विचार (Radcliffe-Brown's theory of social survival)—रैडक्लिफ ब्राउन का कहना है कि धर्म का कार्य मनुष्य के मन में से भय आदि को निकालना नहीं, परन्तु उसके मन में अपने को समाज के ऊपर निर्भर कर देने की भावना को भर देना है। संसार की जद्दोजहद में मनुष्य अगर जीवित रहना चाहता है, तो सिर्फ अपने बूते पर तो बच नहीं सकता, उसे समूह का सहारा लेना पड़ता है। परन्तु समूह उसकी रक्षा करे इसके लिए व्यक्ति को भी तो समूह के लिए त्याग करना होगा। मुश्किल यह है कि समूह के लिए त्याग किये बिना व्यक्ति की रक्षा नहीं हो सकती, परन्तु फिर भी व्यक्ति समूह के लिए त्याग करने को तैयार नहीं होता, घबराता है। अगर हर व्यक्ति ऐसा ही करे, समूह के लिए कोई व्यक्ति त्याग न करे, तो न तो समूह बना रहे, न व्यक्ति की ही रक्षा हो सके। ऐसी हालत में, व्यक्ति तथा समूह दोनो के बने रहने के लिए, दोनो के 'अति-जीवन' (Survival) के लिए ऐसी विचार-धारा का होना जरूरी है जिसके कारण अगर समाज के लिए हितकर कार्यों के लिए व्यक्ति को अपने स्वार्थों का त्याग करना पड़े, तो वह इच्छा-पूर्वक करता रहे। यही विचार-धारा धर्म कहाती है। इस विचार-धारा में यह माना जाता है कि अगर व्यक्ति सामाजिक विधि-विधानों को, समाज के रीति-रिवाजों को न मानेगा, उन्हें न करेगा, तो वह दैवीय-शक्ति के कोप का भाजन बनेगा। दैवीय-कोप से बचने के लिए वह समाज के रीति-रिवाजों को, सामाजिक-प्रथाओं को जिनमें व्यक्ति को त्याग भी करना पड़ता है, इच्छा-पूर्वक करने लगता है। इस दृष्टि से रेडक्लिफ-ब्राउन का कहना है कि धर्म का काम व्यक्ति को अपने को समाज में जीवित रखने के लिए, अपने 'अति-जीवन' के लिए प्रेरित करना है।

समाजशास्त्रियों के उक्त तीनो विचारों के विषय में यही कहा जा सकता है कि इनमें से अलग-अलग कोई सर्वथा सत्य नहीं है। धर्म का काम उक्त तीनो

प्रकार का कहा जा सकता है। धर्म व्यक्ति के जीवन में असीम शक्ति का सचार भी करता है, उसकी मानसिक द्विविधा को भी दूर करता है और उसे अपने अति-जीवन के लिए सामूहिक-हित के कार्यों में स्वार्थ-त्याग के लिए भी प्रेरित करता है।

(ङ) वहु-देवता-वाद (Polytheism)—पारलौकिक या अलौकिक-सत्ता में विश्वास के जिन प्रकारो का हम उल्लेख कर आये हैं, उनके अतिरिक्त अलौकिक-सत्ता में विश्वास का एक अन्य रूप भी है जिसे 'वहु-देवता-वाद' कहा जाता है। ईजिप्ट, मैसेपोटामिया, ग्रीस, रोम, भारत आदि सभी देशों में इस प्रकार का अनेक दैवीय-सत्ताओ में विश्वास पाया जाता है। टायलर तथा अन्य विकासवादियो का कहना तो यह है कि अनेक दैवीय-सत्ताओ में विश्वास का विचार 'जीववाद' (Animism) का ही विकसित रूप है। पहले अनेक आत्माओं, भूत-प्रेतो में विश्वास का विचार पैदा हुआ, उसी से अनेक देवताओ के विश्वास का जन्म हुआ, परन्तु मानव-शास्त्री लोग विकासवादियो की इस विचार-धारा से सहमत नहीं हैं। अगर यह सिद्ध किया जा सके कि आदिकालीन सरल अर्थ-व्यवस्था के लोगो में, फल-मूल एकत्रित करने वाले लोगो में अनेक आत्माओ का विश्वास प्रचलित था, और कृषि तथा पशु-पालन की अर्थ-व्यवस्था के लोगो में अनेक देवताओ का विश्वास पैदा हो गया, तव तो विकासवादियों के सिद्धान्त की पुष्टि हो जाती है, परन्तु ऐसी कोई वात सिद्ध नहीं होती। आदिवासियो में अनेक आत्माओ की सत्ता में विश्वास के विना भी 'वहु-देवता-वाद' में विश्वास पाया जाता है।

(च) एक-देवता-वाद (Monotheism)—विकासवादियो का विचार है कि एक-देवता-वाद आदिकालीन-मानव की उपज न होकर वर्तमान-कालीन उपज है, परन्तु मानव-शास्त्री इस वात को नहीं मानते। मानव-शास्त्रियों का कहना है कि जीवित-जातियों में 'जीववाद', 'जीवित-सत्ता-वाद', 'वहु-देवता-वाद' तथा 'एक-देवता-वाद'—सभी एक-साथ पाये जाते हैं। अलौकिक-शक्ति के सम्वन्ध में इन चारों वादो का एक-साथ, एक ही समय में पाया जाना इस वात को सिद्ध करता है कि इनका एक-दूसरे से क्रमिक विकास नहीं हुआ, परन्तु या तो ये एक-साथ रह सकते हैं, या इनका भिन्न-भिन्न स्थानों से 'प्रसार' होता है, और ये सभी विचार एक जगह आकर इकट्ठे हो जाते हैं। विकासवादियो का यह कहना भी युक्ति-सगत नहीं प्रतीत होता कि एक-देवता-वाद वहु-देवता-वाद का ही परिणाम है क्योंकि यह भी सभव हो सकता है कि अनेक स्थानो के एक-देवता-वाद जव कहीं एक स्थान पर पहुँचे हो, तो वहाँ अनेक एको के मिलने से उन सव की पूजा चल पडने के कारण 'वहु-देवता-वाद' उत्पन्न होग या हो।

(छ) अनेकैक देवतावाद (Henotheism)—मैक्समूलर का कहना है कि कभी-कभी अनक देवताओं तथा एक देवता का विश्वास इकट्ठा भी रहता है। लोग अनेक देवताओ में विश्वास करते हैं, परन्तु उनमें से किसी

एक को सब से प्रधान मानते हैं, इसे 'अनेकैक' अर्थात् 'अनेको में एक'—(Henotheism) कहा जाता है। इस प्रकार की अनको में एक की पूजा वेद में सर्वत्र पायी जाती है। वेद में अनेक देवताओ का उल्लेख है, परन्तु उनमें इन्द्र को सबसे प्रमुख स्थान दिया जाता है। वेदो में अनेक देवताओ का वर्णन देख कर कई विद्वानो ने उनमें 'अनेक-देवता-वाद' का होना सिद्ध किया है, परन्तु वेदो का 'अनेक-देवता-वाद' विद्वानों के लिए एक समस्या है। वेद में जब सूर्य का वर्णन किया जाता है, तब उसे ही सब देवताओ का उत्पादक, सब देवताओ का मुख्य कहा जाता है, जब इन्द्र का वर्णन किया जाता है, तब इन्द्र को सभी-कुछ कह दिया जाता है। अगर वेदो में 'अनेक-देवता-वाद' होता, तो सब देवताओ का पृथक्-पृथक् नाम होने के साथ उनके गुणो का भी तो पृथक्-पृथक् ही वर्णन होता। ऐसी बात नहीं है। जो गुण एक देवता के हैं, वही सब गुण अन्य देवताओ के हैं। इस उलझन का समाधान करने के लिए मैक्समूलर ने वेदों के ईश्वरवाद को 'अनेकैकवाद' (Henotheism)[1] का नाम दिया है। उसका कहना है कि वे मानते तो अनेक देवताओ को थे, परन्तु जब किसी एक का वर्णन करने लगते थे तब उसी को सब-कुछ बना देते थे, और अन्य देवताओ को उससे हीन कहने लगते थे। यह बात किसी एक देवता के साथ न थी, सब देवताओ के साथ थी।

मैक्समूलर का यह सिद्धान्त वेदो का अनुशीलन करने से ठीक नहीं प्रतीत होता। इसका कारण यह है कि वेदो में अनेक-देवता न होकर एक ही देवता के अनेक नाम हैं। 'एक सद्विप्रा. बहुधा वदन्ति अग्नि यमं मातरिश्वानमाहु'—देवता तो एक ही है, परन्तु उसका भिन्न-भिन्न नामों से स्मरण किया जाता है। जैसे एक ही व्यक्ति को किसी सबध से पिता, किसी सबंध से पुत्र, किसी सबध से चाचा और किसी संबध से ताया पुकारा जाता है, इसी प्रकार वेदो में एक ही सत्ता को भिन्न-भिन्न गुणो के कारण भिन्न-भिन्न नाम दिये गये हैं। इस बात को न समझने के कारण पाश्चात्य-विद्वान् वेदो के एकेश्वरवाद को कभी 'बहु-देवता-वाद' और कभी 'अनेकैकवाद' कह देते हैं।

४ आदिकालीन धर्मों के समान-तत्त्व
(Common elements in religions)

संसार के आदिकालीन-धर्मों में अनेक समानताएं हैं। आदिकालीन-धर्मों का अध्ययन करते हुए इन समानताओं की तरफ ध्यान देना आवश्यक है, क्योंकि ये तत्व बहुधा वर्तमान-कालीन धर्मों में भी पाये जाते हैं। आदिकालीन-धर्मों के समान-तत्त्व निम्न हैं :—

(क) विधि-विधान तथा संस्कार (Ceremonials and Rituals)—सब धर्मों में संस्कार, विधि-विधान पाये जाते हैं, परन्तु यह समझना ग़लत है

---

1 Henotheism=Greek word *Henos*, one, *theos*, God (संस्कृत—द्यौ, दिव्य, देव)

ह सस्कारो तथा विधि-विधानो का सबध सिर्फ धर्म से है। विधि-विधान तथा स्कार का सवध धर्म से उतना नहीं है जितना बाह्य दिखावट तथा आडम्बर से । आडम्बर से, वाहर की टीप-टाप से मनुष्य पर प्रभाव पडता है। मनुष्य वय जो-कुछ है वह तो है ही, परन्तु मनुष्य मनुष्य तो सव वरावर हैं, जब तक ाडम्बर न किये जॉय, वाहर की शान-शौकत न दिखाई जाय, अपना वैभव न ादर्शित किया जाय, तब तक कोई रोव आसानी से नहीं मानता। इसीलिए ार्मिक तथा लौकिक कृत्यों में विधि-विधान, आडम्वर, टीप-टाप की जाती हैं। र्म के विधि-विधान तथा सस्कार तो प्रसिद्ध ही हैं, परन्तु लौकिक-कृत्यो में कम ाडम्बर नहीं किये जाते। हर देश का राष्ट्रपति पार्लियामेंट का उद्घाटन करता है, सजे-वजे घोडों की सवारियो पर रग-विरगे वाकी पगडी के सवार आगे-आगे भजव-सी शक्लें बनाये निकलते हैं—यह सब वाह्य उपचारो द्वारा रोब डालने का नरीका है, जो ससार में सब जगह पाया जाता है।

इस विधि-विधान में रोव को बढाने के लिए हर वात पर आवश्यकता से ज़्यादा बल दिया जाता है। किसी समारोह का उद्घाटन करना हो, तो सभापति अमुक जगह पर बैठेगा, उसके पास अमुक बैठ सकेगा, गद्दा होगा या कुर्सी होगी—सब बातो की छान-बीन करके सारा प्रोग्राम वनाया जाता है। धार्मिक-कृत्यो में इधर जल छिडकना, अग्नि के उत्तर में या दक्षिण में आहुति देना—ये सव करना पडता है। किस प्रकार किसी लौकिक या धार्मिक कृत्य को करना—इसके नियमो के अलावा इन दोनो प्रकार के कृत्यो में कई लाक्षणिक-कार्य भी करने आवश्यक होते हैं, जिनका अर्थ तो हमें पता नहीं होता, परन्तु उन्हें करना जरूरी होता है। विवाह के समय हिन्दुओ में नव-ग्रह पूजा है, और इसी प्रकार के अन्य विधि-विधानों के समय के अनेक कार्य हैं, जिनके करने से ही सस्कार पूर्ण कहा जा सकता है। इन सब से सस्कार में अलौकिकता का समावेश हो जाता है।

सस्कारों, विधि-विधानों के इस अलौकिक प्रभाव को देख कर ही दुरखीम (Durkheim) का कहना है कि इनके अलौकिक प्रभाव से ही धर्म का विचार उत्पन्न हो जाता है। पहले तो ये विधि-विधान लौकिक-उत्सवों, समारोहों में होते हैं, परन्तु इनसे जो सामूहिक-उत्तेजना उत्पन्न होती है, और उस उत्तेजना का मनुष्य पर जो चमत्कारी प्रभाव पडता है, वह अनहोनी कर गुजरता है, उससे धर्म का विचार जन्म ले लेता है। आदिवासियों में धर्म का स्वरूप विधि-विधान तथा सस्कारों के सिवाय क्या है? इन्हीं से तो उनका धर्म वनता है। लोई (Lowie) का कहना है कि विधि-विधान तथा सस्कारो में जो टीप-टाप तथा आडम्बर दिखाई देता है उसका धर्म से कोई सवध नहीं। टीप-टाप से मनुष्य स्वभावत प्रभावित होता है—सिर्फ इसीलिए टीप-टाप को शुरू करता है। असल में, दुरखीम तथा लोई दोनो का दृष्टिकोण ठीक है। जब लोग विधि-विधानो में मिल कर काम करते हैं, तब उससे धर्म का विचार उत्पन्न हो जाता है—दुरखीम का यह विचार भी ठीक है, और धार्मिक विधि-विधानों की धार्मिकता

से लोग इतने आकर्षित नहीं होते, जितने उसकी वाहर की टीप-टाप से जिसका धर्म से कोई सम्वन्ध नहीं आकर्षित होते हैं—लोई का यह विचार भी ठीक है।

कई लोगों का कहना है कि विधि-विधानो, सस्कारो का उद्भव किन्हीं विशेष उद्देश्यों से होता है। उद्देश्य मुख्य है, उस उद्देश्य को अपने में लिए वंठने वाला विधि-विधान गौण है। यह वात हो सकती है, परन्तु मानव-शास्त्रियो का कहना है कि संसार की आधुनिक तथा प्राचीन मानव-जातियो के विधि-विधानो को देखने से तो यह प्रतीत होता है कि इन विधि-विधानो, सस्कारो का उद्देश्य सव जगह गौण दिखाई देता है, विधि-विधान, सस्कार, तथा उनका वाह्य रूप ही मुख्य दिखाई देता है। उदाहरणार्थ, डकोटा, क्रो आदि जन-जातियो में 'सूर्य-नृत्य' एक विधि है, संस्कार है। अगर किसी मतलव से, किसी उद्देश्य से, किसी प्रयोजन से यह प्रारभ हुआ था, तो इन सव जन-जातियों का प्रयोजन एक ही होना चाहिए था, परन्तु ऐसी वात नहीं है। डकोटा जन-जाति में इसका उद्देश्य शिक्षा की दीक्षा को सफलतापूर्वक प्राप्त करना है, क्रो जन-जाति में इसका उद्देश्य चचा का अपने भतीजे के वध का वदला लेना है। विधि-विधानो के वाह्य रूप के एक होते हुए भी उनके उद्देश्य—उनके आन्तरिक रूप में भेद होना सिद्ध करता है कि जो महत्व बाह्य विधि-विधान का है, वह उसके आन्तरिक उद्देश्य का, प्रयोजन का नहीं है।

(ख) समाधि तथा हर्षातिरेक (Vision and Ecstasy)—ससार के प्राय· सभी आदिकालीन धर्मों में ऐसे मनुष्य पाये जाते हैं जिन्हें इन्द्रियातीत अनुभव होते हैं। हमें जो-कुछ अनुभव होता है, अपनी ज्ञानेन्द्रियो से अनुभव होता है, उन्हें इन वाह्य इन्द्रियो को वन्द कर देने से अनेक प्रकार के अनुभव होते हैं जो हम लोगो को नहीं होते। अपने यहाँ इस अवस्था को समाधि की अवस्था कहा जाता है। इस अवस्था में मनुष्य को अपार हर्ष तथा आनन्द का अनुभव होता है। प्रत्येक मनुष्य को यह अवस्था प्राप्त नहीं होती। अपने यहाँ योगी लोग समाधि की अवस्था में चले जाते हैं जहाँ उन्हें इस ससार का अनुभव नहीं रहता, उस अलौकिक ससार का अनुभव होता है। यह अनुभव रहस्यमय होता है। हम पहले धर्म की उत्पत्ति के सवध में हाउर (Hauer) के रहस्यवाद का वर्णन कर आये हैं। उसका कहना है कि धर्म की उत्पत्ति इसी प्रकार के रहस्यमय अनुभवों का परिणाम है। जिन लोगो के ऐसे अनुभव होते हैं उन्हें लोग वडी श्रद्धा-भक्ति से देखते हैं।

जन-जातियो में इस प्रकार के अनुभवो के अनेक रूप हैं। साइवेरिया की जन-जातियो में कोई-कोई व्यक्ति आध्यात्मिक-शक्तियो के 'माध्यम' (Medium) वन जाते हैं। आजकल पश्चिम में जो 'प्रेतात्मवाद' (Spiritualism) चला हुआ है, प्रेतात्मा किसी माध्यम में आनी है [illegible]
है, निर्देश देती है, लगभग इसी प्रकार की वात साइवे[illegible]
इतना है कि पश्चिम के 'प्रेतात्मवादी' मृत व्यक्ति को
में आना मानते हैं, साइवेरिया के लोग मृतात्मा [illegible]

नयन्त्रण करने वाली शक्तियों में से किसी शक्ति का माध्यम को वशीभूत करके उसके द्वारा अपने को प्रकट करना बताते हैं। जब यह शक्ति 'माध्यम' को अपने वश में कर लेती है, तब वह अपनी बात नहीं कहता, उस शक्ति की बात कहता-करता है। अमरीकन-इडियनो में यह नहीं माना जाता कि माध्यम पर कोई बाह्य-शक्ति अधिकार प्राप्त कर लेती है, वे मानते हैं कि जिसमें आध्यात्मिक-शक्ति होती है, उसे 'जागते में स्वप्न'—जागृत-स्वप्न—(Dreams and hallucinations) दिखाई देते हैं, और इन स्वप्नों का भिन्न-भिन्न अर्थ होता है। कई जातियो में एक अन्य प्रकार के आध्यात्मिक अनुभव पाये जाते हैं। उनमें कोई खास-खास देवी-देवता किसी व्यक्ति के शरीर को चुन लेता है। जैसे किसी को मृगी आ जाये और वह मृगी में फड़फड़ाता है, सारा शरीर तन जाता है, वायु में पत्ते की तरह शरीर काँपता है, इसी प्रकार इस देवी-देवता के शरीर में प्रवेश कर लेने से शरीर काँपने लगता है, और उसके बाद से वह शरीर उस देवता के ही अर्पण हो जाता है। ऐसा व्यक्ति पुरुष भी हो सकता है, स्त्री भी हो सकती है। आदि-वासियों में ऐसे व्यक्ति को शमन (Shaman) कहते हैं। जब से उसके शरीर में यह शक्ति प्रवेश कर जाती है तब से वह अनुभव करता है कि उसके देह में बर्फ के टुकड़े-जैसा कुछ अद्भुत पदार्थ है। कैलिफोर्निया की अनेक जन-जातियों में धार्मिक-जीवन में प्रविष्ट होने का यही मार्ग माना जाता है। जिनके शरीर में इस प्रकार देवी-देवता रहते हैं, वे उस ससार तथा इस ससार के बीच एक प्रकार का आदान-प्रदान करते रहते हैं, उस ससार के सदेशो को इस ससार तक पहुँचाते रहते हैं। लोग उनके पास अपने मृतक सबधियों की इच्छाओ को जानने के लिए जाते रहते हैं। जिन लोगों को इस प्रकार के आध्यात्मिक अनुभव होते हैं, उन्हें एक विशेष शक्ति प्राप्त होने के कारण उच्च-स्तर का माना जाता है। अधिकतर जन-जातियो में इस शक्ति को प्राप्त करना अच्छा माना जाता है, कई में बुरा भी माना जाता है। वे कहते हैं कि यह शक्ति स्वय प्राप्त हो जाय तो ठीक, नहीं तो इसके प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। कई लोग कृत्रिम उपायों से इस शक्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। वे इसके लिए मादक-द्रव्यों का सेवन करते हैं—कोई भाँग, कोई धतूरा, कोई तबाकू पीता है।

(ग) धार्मिक विश्वास, आख्यान, सृष्टि-रचना तथा धर्म-विज्ञान (Beliefs, Mythology, Cosmology and Theology)—फल-मूल एकत्रित करने वाली सरल आर्थिक-व्यवस्था से लेकर कृषि तथा पशु-पालन की विकसित अर्थ-व्यवस्था तक सब प्रकार की आदिवासी जन-जातियो में अपने-अपने धर्म के सबध में कुछ निश्चित विश्वास पाये जाते हैं, अपने-अपने ढग की सृष्टि की रचना सबधी कुछ कल्पनाएँ पायी जाती हैं। सरल सामाजिक व्यवस्था में ये 'विश्वास' (Beliefs) तथा 'सृष्टि-रचना' (Cosmology)-सबधी ये कल्पनाएँ कुछ लोगो तक सीमित न होकर हर किसी की जबान पर होती हैं, सब कोई जैसे अपने पूर्वजो से इन्हें सुनता आया है, वैसे आगे सुनाता जाता है। क्योंकि

सरल आर्थिक-व्यवस्थाओं में वर्ग तथा श्रेणी भेद नहीं उत्पन्न हुआ था, श्रम-विभाग भी नहीं उत्पन्न हुआ था, इसलिए इस अर्थ-व्यवस्था में विशेषज्ञ भी अभी नहीं उत्पन्न हुए थे। विकसित अर्थ-व्यवस्था में तो पुरोहितों की एक श्रेणी उत्पन्न हो जाती है जिसका काम धार्मिक-विश्वासो तथा सृष्ट्युत्पत्ति-संबधी कल्पनाओ का ही अध्ययन करना होता है, परन्तु सरल आर्थिक-व्यवस्थाओ की समाज में इस प्रकार का वर्ग उत्पन्न नहीं हुआ होता। यही कारण है कि यद्यपि आदिकालीन समाज में हर-कोई धर्म की बातो को जानता होता है, तो भी उनकी बातो में निश्चितता नहीं होती, सब की बातें एक-दूसरे से अनेक अशो में भिन्न होती हैं क्योंकि हर-एक व्यक्ति जो-कुछ परंपरा से सुनता आया है, उसमें कुछ थोड़ा-बहुत अपना पुट भी जोड देता है। ज्यो-ज्यो समाज सरल से विकसित आर्थिक व्यवस्था की तरफ बढता है, त्यो-त्यो जैसे अन्य क्षेत्रो में श्रम-विभाग का नियम काम करने लगता है, वैसे इस क्षेत्र में भी उन्हीं कामो को करने वाले पैदा हो जाते है, ऐसे लोग जिनका काम ही दिन-रात धार्मिक विधि-विधानो के साथ मगजपच्ची करना होता है। इन्हीं को 'पुरोहित' (Priests) कहते हैं। ये पशु-पालन तथा कृषि-सबंधी आर्थिक-व्यवस्था की उपज हैं। ये लोग अब तक चले आ रहे विधि-विधानो, धार्मिक-विश्वासो, सृष्ट्युत्पत्ति-सबधी कल्पनाओ की अनिश्चितता को दूर कर इन्हें निश्चित रूप देने लगते है, इन्हें एक शृखला में बाँधने लगते हैं। पुरोहित वर्ग के इसी प्रयत्न का परिणाम 'धर्म-विज्ञान' (Theology) है। पुरोहित-वर्ग का काम आदि-काल से चले आ रहे धार्मिक विश्वासो को एक निश्चित सूत्र में बाँध देना है। इस काम के लिए वे 'आख्यानों' (Mythology) तथा 'दन्त-कथाओं' (Folktales) का सहारा लेते है। यह 'विश्वास' क्यो ठीक है? क्योंकि इसके सबध में यह 'आख्यान' या यह 'दन्त-कथा' है! 'सृष्टि-रचना' इस प्रकार क्यो हुई? क्योंकि इसके सबध में अमुक 'आख्यान' या अमुक 'दन्त-कथा' है! एक तरह से समाज में प्रचलित विश्वासो तथा सृष्ट्युत्पत्ति-संबधी कल्पनाओ को पुष्ट करने के लिए पुरोहित-वर्ग आख्यानों तथा दन्त-कथाओं की रचना करता है।

मानवशास्त्री का काम प्रत्येक जन-जाति के विश्वासो, उसकी सृष्ट्युत्पत्ति संबंधी कल्पनाओ का अध्ययन कर यह पता लगाना है कि इन विश्वासो तथा सृष्टि-कल्पनाओं को पुष्ट करने के लिए उनमें क्या-क्या आख्यान तथा दन्त-कथाएँ पायी जाती हैं क्योंकि सब जन-जातियो की ये सब बातें अलग-अलग है। इनका पता लगाने से उस जन-जाति के 'धर्म-विज्ञान' (Theology) का पता लग जाता है। आख्यानो, दन्त-कथाओ तथा धर्म-विज्ञान का काम सिर्फ जन-जाति के विश्वासो तथा सृष्टि-रचना-सबंधी कल्पनाओं को ही पुष्ट करना नहीं होता, इनका काम दुःख तथा संकट-काल में जन-जाति को ढांडस बँधाना भी होता है। अगर कोई जन-जाति किसी समय सकट में पड जाती है, तो धर्म की कहानियाँ ही उसका एकमात्र सहारा होती हैं। इन धार्मिक आख्यानो का काम लोगो का दिल-बहलाव करना ही नहीं, उनमें देवी-देवताओ तथा अपने पूर्वजो के सकट-काल के ... कौन

कर, या किस प्रकार सकट के समय पूर्वजो का उद्धार हुआ था—यह सब-कुछ बतला कर व्यक्तियो तथा जातियो में बल-सचार करना भी होता है।

(घ) पाधा तथा पुरोहित (Shaman and Priest)—आदिवासियों में प्राय धार्मिक-कृत्यो के विशेषज्ञों का दो प्रकार का वर्ग पाया जाता है—एक निम्न-स्तर का जिसे 'पाधा' (Shaman) कहा जाता है, दूसरा उच्च-स्तर का जिसे 'पुरोहित' (Priest) कहा जाता है। फल-मूल एकत्रित करने वाली सरल अर्थ-व्यवस्था में धर्म-कार्य करने वालो के पेशो का श्रम-विभाग नहीं हुआ था। हर जन-जाति में दो-चार व्यक्ति ऐसे होते थे जो अपना अन्य काम-घधा भी करते थे, और मौका पडने पर धार्मिक-कृत्यो को भी कर देते थे। इन्हें दूसरे लोग अतिरिक्त कार्य के लिए कुछ दे छोडते थे। परन्तु ज्यो-ज्यो आर्थिक-व्यवस्था सरल से विषम होने लगी, त्यो-त्यों इन कार्यों के विशेषज्ञ भी उत्पन्न होने लगे, ऐसे लोग जिनका काम ही धार्मिक विधि-विधान में लगे रहना था। यह श्रेणी 'पुरोहित-वर्ग' (Priests) की थी। पाधा तथा पुरोहित दोनो का काम मनुष्य तथा पारलौकिक-शक्ति में माध्यम के रूप में काम करना होता था। कई जन-जातियो में ये दोनों श्रेणियाँ अलग-अलग पायी जाती हैं, कई में सिर्फ पाधा और कई में सिर्फ पुरोहित पाये जाते हैं।

(ङ) धर्म तथा आचार-शास्त्र (Religion and Ethics)—मानवशास्त्रियो का कहना है कि आदिकालीन सरल अर्थ-व्यवस्था के समाजों में धर्म तथा आचार का वह अटूट सबंध नहीं दिखाई देता, जो विकसित अर्थ-व्यवस्था के समाज में दिखाई देता है। विकसित समाज में तो धर्म का काम सदाचार तथा दुराचार, अच्छाई तथा बुराई का सघर्ष दिखाते हुए मनुष्य को सदाचार तथा अच्छाई के लिए प्रेरित करना है। इन विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ में देवी-देवताओ तथा पारलौकिक शक्तियों का काम मनुष्य को सदाचार के लिए प्रेरित करना, और जो सदाचार का जीवन न बिताये, उसे अपने दुष्कार्यों के लिए दडित करना है। एक तरह से पारलौकिक शक्तियो का काम मानव-समाज के नित-नित के काम में शमनो तथा पुरोहितो को माध्यम बना कर हर समय दखल देना है। आदिकालीन सरल अर्थ-व्यवस्था में ये पारलौकिक शक्तियाँ मनुष्य के कामों में दखल नहीं देतीं। संभवत इसका कारण यह है कि इन समाजों में अभी पुरोहित-वर्ग उत्पन्न नहीं हुआ होता, और इन शक्तियो का मनुष्य के हर काम में दखल देने का विचार इस पुरोहित-वर्ग का ही उत्पन्न किया हुआ होता है। यद्यपि आदिकालीन समाज में धर्म तथा आचार-शास्त्र अलग-अलग हैं, परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि आदिकालीन-समाज में आचार-शास्त्र के पीछे धर्म का बल नहीं होता, तो कोई भी बल नहीं होता। आदिकालीन-समाज में समाज की विचार-धारा ही आचार-शास्त्र के पीछे खडा बल होता है। जिसे समाज में बुरा समझा जाता है, उसे देवी-देवताओ के दण्ड के भय से बुरा समझने के स्थान में, वे समाज द्वारा बुरा समझे जाने के कारण उसे बुरा समझते हैं, जिसे समाज अच्छा समझता है, उसे देवी-

देवताओ द्वारा पुरस्कृत होने के कारण अच्छा समझने के स्थान में समाज द्वारा अच्छा समझे जाने के कारण ये उसे अच्छा समझते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि अभी आख्यान, दन्त-कथाएँ, धर्म-शास्त्र आदि उत्पन्न नहीं हुए होते, इसलिए आचार-शास्त्र को सहारा देने वाला इस प्रकार का धर्म भी नहीं उत्पन्न हुआ होता। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि आदिकालीन सभी समाजों में सदाचार पर बल दिया जाता है।

४ जादू की परिभाषा

[क] फ्रेजर की व्याख्या—"जादू मनुष्य के विश्वासो तथा व्यवहारो के उस सग्रह को कहते हैं जिन पर किसी प्रकार की आलोचना, दुबारा परख या लेना-छोडना नहीं हो सकता।"

[ख] मैलिनोवस्की की व्याख्या—"जिस परिणाम की मनुष्य आशा लगाये बैठा है उसके लिए आशापूर्ण इच्छा करते हुए बैठना जादू कहाता है। जब इच्छित परिणाम को प्राप्त करने के लिए और-कोई चारा नहीं रह जाता, तब जादू के साधन से उस परिणाम को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। जादू के जोर से देवी-देवताओ तथा पारलौकिक-शक्तियो को अपने वस में किया जाता है, धर्म के द्वारा उन्हें प्रार्थना तथा उपहारो से प्रसन्न किया जाता है।"

६ जादू, धर्म तथा विज्ञान

हम इस अध्याय के शुरू में लिख आये हैं कि ससार की घटनाओ पर जब इस दृष्टि से विचार किया जाता है कि भौतिक-ससार के पीछे की अलौकिक-शक्ति के सामने हमें झुक कर चलना है, तब 'धर्म' पैदा हो जाता है, जब इस दृष्टि से विचार किया जाता है कि इस अलौकिक-शक्ति या शक्तियो को हम अपने आधीन कर सकते हैं, जैसा चाहें इनसे करा सकते हैं, तब 'जादू' पैदा हो जाता है। 'धर्म' तथा 'जादू'—दोनो का अलौकिक-शक्तियो से सबध है, परन्तु धर्म में इस अलौकिक-शक्ति के सामने अपने को समर्पित कर देना होता है, जादू में तत्र-मत्र-यत्र से इस शक्ति को अपने काबू में करना होता है। इस दृष्टि से 'धर्म', 'जादू' तथा 'विज्ञान' की तुलना एक मनोरजक विषय है। जैसे 'धर्म' तथा 'जादू' का सबध है, वैसे 'जादू' तथा 'विज्ञान' का भी सबध है। 'जादू' से

[क] "Magic is an inventory of beliefs and forms of behavior which are not subject to criticism, recheck and elimination" —*Frazer*

[ख] "Magic is the wishful thinking over hopeful behavior Magical processes are utilized when people cannot proceed with other material techniques Through magic, deities and supernatural powers are *controlled*, while through religion, they are *pleased* by presenting sacrifice to them as well as by offering prayer"—*Malinowski*

होता है, और इससे वे वर्षा लाने का प्रयत्न करते हैं। खोंड जन-जाति के लोग वर्षा लाने के लिए मनुष्य की वलि चढाते हैं और समझते हैं कि जैसे वलि के मनुष्य के आँसू निकलते हैं, खून बहता है, वैसे वलिदान के साथ-साथ वर्षा पडने लगेगी। टिहरी-गढ़वाल की रोलटा जन-जाति के लोग वर्षा लाने के लिए किसी व्यक्ति को इतना कष्ट देते थे जिससे उसके आँसू बहने लगते थे, कभी-कभी वह गला घुटने से मर तक जाता था। अव इस प्रथा को कानूनन रोक दिया गया है।

जादू में फ्रेजर के कथनानुसार दूसरा सिद्धान्त 'ससर्ग' (Contact) का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के आधार पर जो जादू बनता है उसे फ्रेजर ने 'ससर्गज-जादू' (Contagious magic) कहा है। उदाहरणार्थ, किसी को नुकसान पहुँचाने के लिए उसके बाल, नाखून, टट्टी-पेशाब, कपडे का टुकडा आदि लिये जाते हैं। इनको जला दिया जाय तो जिसके ये हैं, उसे अवश्य नुकसान पहुँचेगा—यह समझा जाता है। इसका कारण यह है कि इनका उस व्यक्ति से ससर्ग होता है, सवध होता है। समझा यह जाता है कि जिसका नाखून है, जिसका वाल है, जिसका कपडा है, उसका इनसे कट जाने पर भी सवध वना रहता है। इतना ही नहीं, अगर उसकी-सी शक्ल की मूरत बना कर उसे कूएँ में फेंक दिया जाय, तब भी यही समझा जाता है कि शक्ल की समानता या उसके ससर्ग के कारण उस व्यक्ति को भी नुकसान पहुँचता है। 'ससर्ग' के जादू के प्रभाव का एक अच्छा उदाहरण प्रसिद्ध गायक तानसेन था। कहा जाता है कि तानसेन ने ग्वालियर के पास एक गाँव में ब्राह्मण के घर जन्म लिया था। उसका जन्म-नाम तन्ना था। सगीत से उसे प्रेम था, उसने उस्ताद गौस से शिक्षा पायी थी और क्योंकि उस्ताद को इनसे अत्यन्त प्रेम था, इसलिए उन्होंने जीभ से जीभ लगा कर इन्हें दीक्षा दी थी। इसीसे तानसेन ब्राह्मण से मुसलमान हो गये। उस्ताद ने जीभ से जीभ लगा कर इन्हें शिक्षा इसलिए दी ताकि 'ससर्ग' से उनका प्रभाव तानसेन में आ जाय।

उक्त दोनों प्रकार के वर्गीकरण मे, चाहे वह 'समानता के नियम' (Law of similarity) पर आश्रित हो, चाहे 'ससर्ग के नियम' (Law of contact) पर आश्रित हो, कार्य-कारण का नियम काम करता माना जाता है और क्योंकि यह समझा जाता है कि कारण का कार्य तथा कार्य का कारण के प्रति खिचाव है, इसलिए इन दोनों प्रकार के जादुओं को फ्रेजर ने 'सह-सचारी-जादू' (Sympathetic magic) का नाम दिया है।

८ आदिकालीन धर्मो तथा जादुओ के समान-तत्व
(Common elements in Primitive Religions and Magics)

आदिकालीन धर्मों तथा जादुओं का अध्ययन करने से कुछ वातें ऐसी दीख पडती हैं जो धर्मो तथा जादुओं में समान हैं। इसका यह भी कारण है क्योंकि आदिकालीन-समाज में धर्म तथा जादू रल-मिल गये हैं। आदिकालीन-समाज में ही नहीं, वर्तमान जन-जातियो तथा हमारे धर्म में भी इन दोनों का

इतना सम्मिश्रण हो गया है कि धर्म की बातो में जादू की और जादू की बातो में धर्म की बातें घुस गई है। हम ऐसी कुछ बातो का यहाँ वर्णन करेंगे —

(क) प्रार्थना तथा मन्त्र (Prayer and magic formula)—आदिवासियो में पारमार्थिक-शक्ति के साथ दो तरह से सबंध स्थापित किया जा सकता है—प्रार्थना द्वारा तथा जादू के मत्रो द्वारा। प्रार्थना में व्यक्ति देवता को सम्बोधित करके उसके सम्मुख अपनी विनती रखता है, उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है। विन्नेवेगो जन-जाति के लोग तडित्-पक्षी की प्रार्थना करते हुए कहते हैं—"हे तडित्-पक्षी, मैं तुम्हारे सम्मुख हाथ में तम्बाकू लेकर खडा हूँ। मेरी यह तुच्छ भेंट स्वीकार करो। जैसे तुमने मेरे दादा-परदादा को आशीर्वाद दिया था, उन्हें समृद्ध किया था, वैसे मुझे भी समृद्ध करो।" किसी-किसी जन-जाति में कुछ निश्चित मत्र बोले जाते है, इन मत्रो के शब्द जैसे-के-तैसे बोलने से ही अभीष्ट की सिद्धि होती है, मत्रो में हेर-फेर करने से अभीष्ट सिद्ध नहीं होता। मैलेनेशिया में समझा जाता है कि उत्पादन-शक्ति के मत्र के प्रयोग के बिना खेत में खेती ही नहीं हो सकती। इन्हीं लोगों के सामने ईसाई-पादरियो के खेत बिना मत्रों के लहलहा रहे होते है, परन्तु ये लोग बिना मत्र-प्रयोग के खेती नहीं करते। जीवन के प्रत्येक कार्य के लिए कई जन-जातियो में किसी-न-किसी प्रकार के मत्र के प्रयोग करने की पद्धति है। ये मत्र जादू का प्रभाव रखते है। इन मत्रो में उलट-फेर से काम बिगड जाता है।

(ख) भविष्य-कथन (Divination)—आदिवासियो में जिन व्यक्तियो पर भूत-प्रेत या कोई आत्मा आती है, वे भविष्यवाणी किया करते है। यह समझा जाता है कि स्वय भगवान् उनके द्वारा बोलते है। डेल्फी का ग्रीक देवता भी इसी प्रकार का भविष्यवाणी करता था। आफ्रीका, पोलिनेशिया, साइबेरिया आदि में इस प्रकार की देवता द्वारा भविष्यवाणियाँ करने की प्रथा पायी जाती है। धर्म की इस प्रकार की भविष्यवाणियो की तरह जादू के जगत् में भी भविष्यवाणियाँ होती हैं। साइबेरिया तथा मगोल जन-जातियो में यह माना जाता था कि बारहसिंघे की कन्धे की हड्डी को आग पर सेंकने से वह फट कर आवाज़ करती है। इस आवाज से पुरोहित शुभ तथा अशुभ को बतला सकता है। कई जन-जातियों के लोग जानवरों के पेट को चीर कर उनकी आँतो की स्थिति को देख कर भविष्यवाणी करते है। एस्किमो जन-जाति के लोग रोगी के सिर पर रस्सी बाँध देते है और फिर बतलाते है कि यह बचेगा या मरेगा। पश्चिमी आफ्रीका की ईव जन-जाति अडे पर थूक कर उसे छत पर फेंकती थी। अगर वह टूट जाता तो इसे अशुभ, अगर नहीं टूटता तो इसे शुभ लक्षण माना जाता था। हमारे यहाँ बिल्ली का रास्ता काटना, उल्लू दीखना आदि अशुभ लक्षण माने जाते है। इस प्रकार धर्म तथा जादू के क्षेत्र में भविष्यवाणी का स्थान समान है।

(ग) निषेधाज्ञाएँ (Taboos)—जैसे 'टोटम' अग्रेज़ी भाषा का शब्द न होकर अमरीकन-इडियन जन-जातियों का शब्द है, वैसे 'टेबू' भी अग्रेज़ी

भाषा का शब्द न होकर पौलीनेशियन भाषा का शब्द है। 'टैबू' का पौलीनेशियन भाषा में अर्थ है—'निषिद्ध'। प्रत्येक धर्म में कुछ बातो के लिए निषेधाज्ञाएँ होती है और आदिवासी लोग इन निषेधाज्ञाओ का कानून की तरह पालन करते है। भेद यह है कि कानून को लोग तोडने का प्रयत्न करते है, परन्तु जिस बात को धर्म में निषिद्ध कहा गया है उसके पास नही फटकते। 'टैबू' एक तरह का आदिवासियो का बिना लिखा कानून है। इसका जो उल्लघन करता है, उसे दड देने की व्यवस्था समाज नहीं करता, उसका आत्मा स्वय उसे भीतर से करोचता है। निषिद्ध बात को करने वाले को अलौकिक शक्तियो से दड मिलने का सदा भय बना रहता है।

जादू-सबधी आज्ञाओ को दो भागों में बाँटा जा सकता है—विधि तथा निषेध, ऐसा करो, ऐसा न करो। निषेधाज्ञाओ को, ऐसा न करो—इसे 'टैबू' कहा जाता है। 'टैबू' के तीन उद्देश्य हो सकते है—और इसलिए तीन प्रकार के 'टैबू' हो सकते है—'उत्पादनात्मक' (Productive), 'सरक्षणात्मक' (Protective) तथा 'प्रतिबन्धात्मक' (Preventive)। खेती के सबध में जो निषेधाज्ञाएँ है उनका उद्देश्य खेती की बाधाओ को दूर करना होता है, इसलिए उन्हे 'उत्पादनात्मक' कहा जा सकता है, पुरुषो, स्त्रियो तथा बच्चो को अमुक-अमुक स्थान पर जाने की निषेधाज्ञाओ का उद्देश्य इनकी खतरे से रक्षा होता है, इसलिए इन्हें 'सरक्षणात्मक' कहा जा सकता है, किन्हीं-किन्हीं व्यक्तियो के सपर्क में आने से मना किया जाता है, इन निषेधाज्ञाओ का उद्देश्य इन व्यक्तियो को दूसरो को कष्ट पहुँचाने से रोकना होता है, इसलिए इन्हें 'प्रतिबन्धात्मक' कहा जा सकता है।

निषेधाज्ञाएँ समाज मे क्यो पैदा होती है—इस सबध मे कई विचार है। इनमें वुंड्ट, फ्रॉयड तथा रैडक्लिफ-ब्राउन के विचार उल्लेखनीय है। मानव-शास्त्रियो के लिए इनके विचार जानना आवश्यक है। वे विचार क्या है?

(1) वुन्ड्ट का विचार—जो लोग जादू में विश्वास करते है, उन्हे जादू की शक्ति से डर लगा रहता है। हम पहले लिख आये है कि आदिवासी हर वस्तु में 'मैना' की सत्ता मानते है, 'मैना' अर्थात् उस वस्तु की शक्ति। जिस वस्तु को निषिद्ध, वर्जित, टैबू माना जाता है, उसके 'मैना' में यह शक्ति होती है कि अगर वह निषिद्ध वस्तु खाने की है तो उसे खाने से वह वस्तु खाने वाले को दण्ड देती है, अगर निषिद्ध वस्तु देखने-सुनने की है तो उसे देखते-सुनने से मनुष्य दण्ड का भागी हो जाता है। इसी कारण वुन्ड्ट (Wundt) का कहना है कि आदिवासियो की दृष्टि में 'टैबू' में कुछ आन्तरिक-शक्ति होती है, जादू की-सी शक्ति, जिसके कारण उससे वे लोग भयभीत रहते है। इसमें तो सन्देह नहीं कि अलौकिक-शक्ति को सभी एक महान् शक्ति मानते है। शक्ति होने के कारण वह खतरनाक भी हो सकती है। जहाँ शक्ति होगी वहीं खतरे की सभावना है, इसलिए वहीं 'टैबू' की, उस शक्ति के क्रोध से बचे रहने की भावना पैदा हो जाती है।

(ii) फ्रायड का विचार—फ्रॉयड (Freud) ने एक पुस्तक लिखी है 'टोटम एण्ड टैवू'। इस पुस्तक में उसने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि 'गण-चिह्न' (Totem) तथा 'निषेधाज्ञा' (Taboo) का आपस में सबध होता है। फ्रॉयड का कहना है कि प्राय सब 'निषेधाज्ञाओं' (Taboos) को दो भागो में बांटा जा सकता है—खाने के, और यौन-सबध के। इस पशु को नहीं खाना, इस फल को नहीं खाना। कोई सूअर का मास नहीं खाता, कोई शलजम नहीं खाता। इसी प्रकार इस जगह शादी-व्याह नहीं करना—यह भी एक 'टैवू' है, भाई-बहन में शादी नहीं होती, समान गोत्र वालो में शादी नहीं होती। फ्रॉयड का कहना है कि इन दोनो प्रकार की निषेधाज्ञाओ का मनोविश्लेपणवादी कारण हैं और इन 'निषेधाज्ञाओ' (Toboos) का 'गोत्र-चिह्नों' (Totems) के साथ सबध है। वह कैसे ?

खाने तथा यौन-सबध के निषेध के सबध में फ्रायड का कहना है कि इन दोनो का उद्भव 'पितृ-विरोधी भावना-ग्रन्थि' (Oedipus Complex) है। यह 'भावना-ग्रन्थि' क्या है ? मनोविश्लेषणवादियो का कहना है कि बालक माता से प्रेम करता है, पिता से घृणा करता है, बालिका माता से घृणा करती तथा पिता से प्रेम करती है। 'इडीपस' एक ग्रीक बालक था जो बचपन में मरने के लिए छोड दिया गया था, परन्तु किसी तरह बच गया। अन्त में उसने अपने पिता को मारा और माता से यह न जानते हुए कि वह उसकी माता है, उसने शादी कर ली। इसी से इस भावना-ग्रन्थि का नाम 'पितृ-विरोधी-ग्रन्थि' (Oedipus Complex) रखा गया है। फ्रॉयड का कहना है कि आदि-काल में परिवार या गोत्र का जो मुखिया होता था वह अपने पाशविक-बल से सब पर कठोर शासन करता था। समूह में जितनी स्त्रियाँ होती थीं, वे सब उसी की मानी जाती थीं, वह सब का उपभोग करता था। उसके पुत्र जब बडे हो जाते थे, तो अपने पिता के इस कठोर शासन के प्रति विद्रोह कर देते थे और सब मिल कर उसे मार डालते थे। वे उसे मार ही नहीं देते थे, परन्तु उसकी शक्ति को अपने में लाने के लिए उसे काट-काट कर उसको बोटियो को खा भी डालते थे। इसके बाद उसकी स्त्रियो को वे अपना बना लेते थे। यह सब-कुछ कर लेने के बाद उन्हें अपने कृत्य से घृणा होती थी, पश्चात्ताप होता था। इस घृणा तथा पश्चात्ताप को कैसे दूर किया जाय ? उन्होंने अपने पिता की हत्या की थी। अब वे किसी पशु को अथवा किसी वनस्पति को अपने पिता के स्थान में मानने लगते थे और उस पशु का मारना तथा उस वनस्पति या फल का खाना निषिद्ध कर देते थ। इस प्रकार खाने की निषेधाज्ञाओं का प्रारभ हो जाता है। यह पशु अथवा वनस्पति उनके पिता की सूचक है, उस पिता की जिसे उन्होंने ईर्ष्यावश मार दिया था, उसकी बोटियाँ खा ली थी। पिता क्योंकि उन्ही के गोत्र का था इसलिए उसके चिह्न—'गोत्र-चिह्न' (Totem) को—पशु या वनस्पति को न खाने की 'निषेधाज्ञा' (Toboo) प्रचलित हो जाती थी। फ्रॉयड का कहना ह कि पुत्र पिता को मारे—यह भावना आदि-काल के

के लिए स्वाभाविक थी। इसे रोकने के लिये पिता-समान पशुओ तथा वृक्षो के फलो के खाने की निषेधाज्ञाओं का प्रारभ हुआ। इसी प्रकार पुत्र ने पिता को जो मारा तो ईर्ष्यावश मारा। वह आदिकालीन क्रूर पिता सव स्त्रियो का स्वामी था। अब पुत्र उसका स्थान लेना चाहता था। आदिकालीन-मानव के लिए अपने पिता की स्त्रियो को अपना लेना स्वाभाविक था। इसे रोकने के लिए यौन-सबधी 'निषेधाज्ञाओ' (Toboos) का प्रचलन हुआ जिनके अनुसार भाई-बहन, लडका-माँ आदि शादी-व्याह नहीं कर सकते, इसे 'अनाचार' (Incest) कहते हैं।

खाने-पीने तथा यौन-सबधी उक्त प्रकार की निषधाज्ञाएँ सर्वत्र प्रचलित है, इसमें तो कोई सदेह नहीं, परन्तु फ्रॉयड ने उनका जो कारण बतलाया है वह कहाँ तक ठीक है, यह नहीं कहा जा सकता। कई मानवशास्त्री इस कारण से सहमत नहीं है। मॅलिनोवस्की (Malinowski) का कहना है कि आदि-वासियो में पिता के विरोध में भावना हो और इसलिए 'पितृ-विरोधी-भावना-ग्रन्थि' (Oedipus complex) अवश्य पैदा हो जाती हो, यह बात जन-जातियो का अध्ययन करने से पुष्ट नहीं होती। उदाहरणार्थ, अनेक जन-जातियाँ 'मातृ-प्रधान' (Matriarchal) होती हैं। उनमें, पिता के प्रति पुत्र की जो द्वेष-भावना पैदा हुआ करती है, वह पिता के स्थान में मामा के प्रति होती है। ऐसी हालत में यह कैसे कहा जा सकता है कि पुत्र में पिता के प्रति ईर्ष्या की भावना होती है, क्योंकि 'मातृ-प्रधान' जन-जातियों मे तो बालक पिता को कुछ गिनता ही नहीं है। जो भी पिता की तरह आचरण करेगा, हुकूमत करेगा, उसकी माता से ज्यादह सपर्क बनायेगा, उसके प्रति पुत्र मे ईर्ष्या पैदा हो जाना स्वाभाविक है, और इन निषेधाज्ञाओ का उत्पन्न होना उसी के कठोर व्यवहार से होता है।

(iii) रैडक्लिफ-ब्राउन का विचार—रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) हर बात का समाजशास्त्रीय समाधान देते हैं, 'टैबू' का भी उन्होंने समाजशास्त्रीय समाधान ही दिया है। इनका कहना है कि समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए कुछ बातो का करना-न करना आवश्यक होता है, इसी दृष्टि से निषेधाज्ञाएँ भी प्रचलित की जाती हैं। एक ही रक्त के लोगो में विवाह सबध से समाज में व्यवस्था नहीं रह सकती, इसलिए इस प्रकार के विवाहो को वर्जित किया गया है। यौन-सबधो के विषय में जो बात कही जा सकती है, वह अन्य भी वर्जित तथा निषिद्ध बातो के विषय में कही जा सकती है, केवल उस पर गवेषणा करने की जरूरत है कि ऐसी निषेधाज्ञा क्यो चलाई गई।

(घ) बलिदान (Sacrifice)—धर्म तथा जादू की दृष्टि से देखा जाय तो बलिदान को भी इन दोनों दृष्टियो से देखा जा सकता है। धर्म की दृष्टि से जब बलि-दान दिया जाता है, तब देवता को प्रसन्न करने के लिए, उसकी कृपा का पात्र बनने के लिए दिया जाता है, परन्तु जादू की दृष्टि से बलिदान का अर्थ होता है देवता के साथ एक तरह का सौदा करना। हम तुम पर बलि चढाते है, इसके बदले तुम्हें हमारी इच्छा पूर्ण करनी होगी—जादू में यह दृष्टि प्रधान होती है। कोई-

कोई अपनी जीभ काट कर चढा देते हैं, कोई अपना हाथ काट देता है, कोई-कोई वलि चढाने वाले, वच्चो को पकड कर उन्हें वलि चढा देते है।

(ङ) जन्तर तथा जड-देवता (Amulets and Fetish)—आदिवासियो में जन्तर का वड़ा महत्व है। यह समझा जाता है कि इन जन्तरो, तावीजो में अलौकिक शक्ति होती है। जन्तर की शक्ति ऐसे ही मानी जाती है जैसे जलाना आग की शक्ति है। जन्तर अपनी शक्ति से अपने-आप काम करते हैं। जो जन्तर या तावीज धारण करता है, जन्तर उसकी अपने-आप रक्षा करता है। जन्तर को शक्तिशाली वनाने के लिए उसमें मतर फूंकना पडता है। इस प्रकार के प्रयोग आज भी हमारे समाज में वहुत चल रहे है। 'जड-देवता' (Fetish)-शब्द का प्रयोग सवसे पहले एक पुर्तगाली अन्वेषक ने पश्चिमी-आफ्रीका की नीग्रो जाति की लकडी की मूर्तियों के लिए किया था। वे लोग लकडी की मूर्तियाँ वना कर उनकी श्रद्धा-भक्ति से पूजा करते थे। इस दृष्टि से किसी भी जड अथवा चेतन वस्तु की इस भाव से पूजा कि वह किसी महान् शक्ति को आधार है 'फेटिश-पूजा' कहाता है। प्राय. 'फेटिश' जड ही होता है। कई जन-जातियो में शिकार पर निकलने से पहले व्यक्ति अपने भाले को लिए उससे वातें करता वैठा रहता है। वह भाले को सम्वोधित करके उसे कहता है कि मुझे तुझ से कितना प्यार है, मैं तेरे लिए क्या-क्या करने को तैयार हूँ। 'फेटिश' की पूजा करते-करते जव काफी समय गुजर जाता है, तव उसे आराम कराया जाता है, यह समझा जाता है कि वह थक गया है, इसे सोने दिया जाय। अपने यहाँ देवी-देवताओ को निल्हाया, भोग-लगाया जाता है, और मनुष्य के-से सव काम उनसे कराये जाते हैं। ये सव आदिवासियो के-से 'फेटिश' के अवशेष हैं। अपने देश में मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा करना भी अन्य जातियो के समान जड-देवता की पूजा का ही एक रूप है।

(च) रक्षक-देवता या वली (Tutelary or guardian spirit)—जैसे मनुष्य का अपने गुरु से निकट का सवध होता है, वैसे आदिवासियो का विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति उपवास, तपस्या, कठोर व्रत आदि से सरक्षक देवता को सतुष्ट कर उससे तादात्म्य स्थापित कर सकता है। उसके सामने यह सरक्षक देवता प्रकट होता है। जव यह सरक्षक-देवता एक वार सिद्ध हो जाता है तव समय-समय पर आवश्यकता पडने पर यह भगत के कष्टो को दूर करने के लिए प्रकट होता रहता है और उसे कष्टो से वचाता रहता है। धर्म की दृष्टि से सरक्षक देवता का यही विचार जव जादू का रूप धारण करता है तव रक्षा का काम कोई जिन, दैत्य या राक्षस करता है। कोई महात्मा एक वाल दे जाता है जिसके जलाने से दैत्य प्रकट होता है, उसे जो-कुछ कहा जाय वह सव-कुछ दैत्य को गुलाम की तरह करना पडता है। कभी-कभी वाल की जगह अगूठी से यह काम लिया जाता है। अगर वाल, अगूठी या ऐसी ही कोई चीज जिसके आधीन वह जिन, दैत्य या राक्षस होता है, खो जाये, तो जादूगर

है। मंत्रों के साथ जन्तर, तावीज का भी इस्तेमाल होता है। 'माध्यम' का प्रयोग करना इस धर्म की मुख्य विशेषता है। ये 'माध्यम' आत्माओं की क्या इच्छा है—यह बतलाया करते हैं। खोई हुई चीजों का पता तथा लोगों के प्रश्नों के उत्तर भी ये देते हैं।

(ख) न्यू मैक्सिको तथा एरीज़ोना के प्यूब्लो इंडियनों के धर्म का नमूना—इस धर्म में 'माध्यम' का प्रयोग नहीं किया जाता, 'भविष्य-कथन' को कोई महत्व नहीं दिया जाता, धार्मिक-कृत्यों में स्नायु-रोगियों तथा 'शमनों' को भी कोई स्थान नहीं है। प्यूब्लो इंडियनों में अनेक जन-जातियां हैं, जिनमें एक जन-जाति जूनी कहाती है। जूनी जन-जाति का सामाजिक-संगठन लौकिक-आधार पर खड़ा न होकर धार्मिक-आधार पर खड़ा है। जैसे ईसाइयों के कैथोलिक सम्प्रदाय में पोप ही उनका शासक है, वैसे जूनी-संगठन में पुरोहित-वर्ग सारे संगठन को चलाता है। पुरोहित-वर्ग ने साल का पंचांग बनाया होता है और साल भर किसी-न-किसी प्रकार का विधि-विधान चला करता है। हिन्दुओं में जैसे आज द्वादशी है, फिर पूर्णिमा है, कभी नव-रात्र है, और हिन्दुओं का पंचांगों से जकड़े हुए जीवन का संचालन पुरोहित लोग करते हैं, वैसे ही जूनी जन-जाति के जीवन का हाल है। इनके विधि-विधान का मुख्य लक्ष्य 'उत्पादन-शक्ति' की आराधना करना है ताकि इनके रेतीले मैदानों में भारी वर्षा हो, खेत हरे-भरे हों, पुत्र-पौत्रों से घर सदा भरा रहे। बीमारी से बचने, ख़तरे को पार करने तथा शिकार में सफलता के लिए प्रार्थनाएँ की जाती हैं, परन्तु वर्षा का वर्णन इन प्रार्थनाओं में भी पाया जाता है क्योंकि 'उत्पादन-शक्ति' की आराधना इनके धर्म का मुख्य अंग है।

जूनी जन-जाति में धर्म एक सामूहिक-कृत्य है, वैयक्तिक-कृत्य नहीं। कोई आदमी वैयक्तिक तौर पर किसी प्रकार का धार्मिक-कृत्य नहीं करता। जब भी किसी को किसी प्रकार का धार्मिक-कृत्य करना होता है, तो उसे उस कृत्य को सामूहिक तौर पर ही करना पड़ता है। अगर कोई ख़ास अपने लिए किसी कृत्य को करता है, तो उस पर जादूगरी का आरोप लगाया जाता है। पारलौकिक-शक्ति के साथ संपर्क स्थापित करने का साधन वैयक्तिक तौर पर कुछ करने के स्थान में सामूहिक तौर पर धार्मिक-कृत्य को करना है। सब लोग मिले-जुले हों और सब के भले के लिए धार्मिक-कृत्य किया जाय—इनमें यही धर्म का सही तरीका है। तो क्या मनुष्य को वैयक्तिक तौर पर आध्यात्मिक-शक्ति प्राप्त ही नहीं होती? जूनी जन-जाति में यह समझा जाता है कि मनुष्य को वैयक्तिक तौर पर भी आध्यात्मिक-शक्ति तभी प्राप्त होती है, जब वह पुरोहितों के किसी वर्ग का सदस्य होता है, समूह का अंग होता है। जो समूह का अंग नहीं होता, उसे आध्यात्मिक-शक्ति भी प्राप्त नहीं होती। इस दृष्टि से इन लोगों में साइबेरियनों की तरह 'शमन' नहीं होते क्योंकि 'शमन' तो उस व्यक्ति को कहते हैं जिसे व्यक्ति-रूप में आत्मा अपना माध्यम चुनता है। साइबेरियन तथा जूनी धर्म के भेद

के विषय में यह कहा जा सकता है कि जहाँ साइबेरियन-धर्म वैयक्तिक है, वहाँ जूनी-धर्म सामुदायिक है।

(ग) भारत की जन-जातियो के धर्म––किसी समय यह समझा जाता था कि भारत की जन-जातियों में धर्म का विचार नहीं है, परन्तु उसके बाद यह कहा जाने लगा कि उनमें 'जीववाद' (Animism) पाया जाता है। उदाहरणार्थ, कोरवा जन-जाति के लोग खेती का एक अलग, वर्षा का एक अलग, पशुओ की देख-रेख करने वाला एक अलग देवता मानते है। पड़ोसियो के साथ उनके व्यवहार को नियन्त्रित करने वाला उनका देवता अलग ही है। देवता शुभ तथा अशुभ दोनो प्रकार के होते है। शुभ की उपासना का कोई फायदा नहीं, क्योंकि वह कोई नुकसान नहीं पहुँचाता, अशुभ ही तो नुकसान पहुँचाता है, उसी को सन्तुष्ट करना होता है, इसलिए कहा जाता था कि भारत की आदिवासियो के 'जीववाद' में अधिकतर अशुभ देवताओ की पूजा का ही विधान मिलता है। कहीं नाग की पूजा, तो कहीं खून पीने वाली किसी देवी की पूजा। भारत की जन-जातियो के धर्म के विषय मे हट्टन (Hutton) का कहना है कि इन्हे 'जीववाद' (Animism) कहने के स्थान में 'जन-जातीय-धर्म' (Tribal religions) कहना अधिक उपयुक्त है क्योकि इनका हिन्दू-धर्म से इतना गहन सबध है कि अगर हिन्दू-धर्म को 'जीववाद' न कहकर हिन्दुओं का धर्म कहा जाता है, तो इन्हें भी 'जीववाद' न कहकर जन-जातियो का धर्म कहना चाहिए। हट्टन का यह कहना तो नहीं है कि हिन्दू-धर्म और जन-जातियो के धर्म में भेद नहीं है, परन्तु वह इस बात पर अवश्य जोर देता है कि ये दोनों एक-दूसरे में इतने रल-मिल गये है कि कहीं-कहीं इनको एक-दूसरे से अलग-अलग करना कठिन हो जाता है। उसका कहना है कि हिन्दू-धर्म ने जन-जातियो के धर्म को बहुत अधिक अश में आत्मसात् कर लिया है, उनकी अनेक बातों को अपना लिया है, और जन-जातियों के धर्मों में अब भी बहुत-कुछ ऐसा मसाला बचा हुआ है कि जिसे अभी तक हिन्दू-धर्म ने आत्मसात् नहीं किया। एलविन (Elwin) भी हट्टन से सहमत है। उसका भी कहना है कि हिन्दू-धर्म तथा जन-जातियो के धर्मों में भेद करना कठिन है। घुर्ये का (Ghurye) तो यहाँ तक कहना है कि हिन्दू-धर्म तथा जन-जातियो के धर्म में कोई भेद ही नहीं है, जन-जातियाँ सिर्फ हिन्दू-धर्म के निम्न-स्तर के लोगों का नाम है, इन जन-जातियो की हिन्दुओं से अलग सत्ता ही नहीं है, इन्हें 'जीववादी' या 'आदिवासी' कहने के स्थान में 'पिछडे हुए हिन्दु' कहना अधिक उपयुक्त है। घुर्ये का कथन अत्युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है क्योकि आदिवासियो तथा हिन्दुओ एव उनके धर्मो में कुछ आधारभूत भेद भी दिखाई देते है। यह हो सकता है कि मिशनरी स्पिरिट में कुछ हिन्दुओ के उद्योगों का परिणाम यह हो रहा हो कि आदिवासी अपने धर्म को छोड कर हिन्दू धर्म को अपनाते जा रहे हो, और उनके धर्म तथा हिन्दू धर्म में भेद कम होता दीखता हो, परन्तु जैसा एलविन ने कहा है, आदिवासी तो जिन देवी-देवताओं को पूजते चले आ रहे है, उन से दो-चार अधिक

ये देवी-देवताओं को पूजने में भी उन्हें कोई एतराज नहीं दीखता, इसलिए
पने देवताओ के साथ हिन्दुओं के देवी-देवताओं को भी पूजने लगे हैं, परन्तु
भी इन दोनों में भेद बना ही हुआ है। हट्टन ने तो इस भेद को दर्शाने के
ए आदि-वासियों के धर्म की कुछ विशेष-विशेष वातों का उदाहरण भी दिया
। उदाहरणार्थ, आदिवासियों के कई धर्मो में दूसरे का सिर काट लाना (Head-
unting) महत्व की वस्तु है। नागा लोगो में जो युवा दूसरो का सिर काट
गता है वह विवाह का अधिकारी समझा जाता है। इसी प्रकार 'नर-वलि'
(Human sacrifice) भी कहीं-कही महत्वपूर्ण धार्मिक-सस्कार है। फिर भी
इसमें सन्देह नहीं कि ज्यो-ज्यो ये जन-जातियाँ हिन्दुओं के सपर्क में आती जाती
है, त्यो-त्यों इनके धार्मिक विचारो, विधि-विधानो में पहले से भेद आता जाता है।
इसका दो तरह का परिणाम है। एक तो इसका अच्छा परिणाम है। अगर वे
इस सपर्क के परिणाम स्वरूप घृणित धार्मिक-कृत्यो को छोड दें, दूसरो का सिर
काटना, नर-वलि चढाना आदि का त्याग कर दें, तो अच्छा है, परन्तु इस सपर्क
का एक बुरा परिणाम भी हो सकता है। इस सपर्क के परिणामस्वरूप आदिवासियो
का धर्म ही नष्ट हो सकता है। प्रयत्न यह होना चाहिए कि इनके धर्म की
आधारभूत बातें बची रहें क्योकि उनमें कई अच्छी बातें भी पायी जाती हैं।

अशुद्धि-पत्र

[ERRATA]

पुस्तक छपते हुए मात्राएं प्राय टूट जाती हैं। इस प्रकार मात्राओं के टूटने को हमने अशुद्धि नही माना। इनके अतिरिक्त जो अशुद्धिया रह गई है वे निम्न हैं —

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८५	३१	मौस्टेरियन	मूस्टीरियन
९५	२,५,९,१०,११,१६, १७,२१,२५,२६,३२,	मौस्ट्रियन	मूस्टीरियन
९५	३	Moustrian	Mousterian
९६	८,१२	मौस्ट्रियन	मस्टीरियन
१०९	५	मानम	मानव
१०९	६	वानव	मानव
१६३	१०,३३	Leptorrhine	Leptorhine
१६३	११,३४	Mesorrhine	Mesorhine
१६३	११,३५	Platyrrhine	Platyrhine
२७८	५	विचरो	विचारो
२८१	४	Evolutionalism	Evolutionism

शब्द-सूची तथा शब्दानुक्रमणिका

(GLOSSARY AND WORD-INDEX)

नामानुक्रमणिका
(NAME INDEX)